भोट-भारतीय-ग्रन्थमाला —११

श्रीमञ्जुश्रीयशोविरचितस्य परमादिबुद्धोद्धृतस्य
श्रीलघुकालचक्रतन्त्रराजस्य
कल्किना श्रीपुण्डरीकेण विरचिता टीका

विमलप्रभा

[प्रथमो भागः]



भोट विद्या संस्थानम्

सम्पादकः टिप्पणीकारश्च
प्रो० जगन्नाथ उपाध्यायः
भू० पू० जवाहरलालनेहरूरिसर्चफेलो पालिविभागाध्यक्षचरश्च
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये
वाराणस्याम्

केन्द्रीय उच्च तिब्बती-शिक्षा-संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्दे २५३० तमे
ख्रेस्ताब्दे १९८६ तमे

BIBLIOTHECA INDO-TIBETICA SERIES NO. XI

VIMALAPRABHĀṬĪKĀ

OF

KALKI ŚRĪ PUṆḌARĪKA

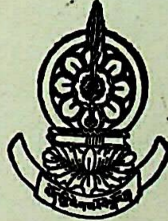
ON

ŚRĪ LAGHUKĀLACAKRATANTRARĀJA

by

ŚRĪ MAÑJUŚRĪYAŚA

[Vol. 1.]



Critically Edited & Annotated with Notes

By

JAGANNATHA UPADHYAYA

Former Professor & Head, Department of Pali

Sampurnananda Sanskrit University

&

Former Nehru Research Fellow

CENTRAL INSTITUTE OF HIGHER TIBETAN STUDIES

SARNATH, VARANASI

2530 B. E. 1986 A. D.

Bibliotheca Indo-Tibetica Series-XI
Chief Editor : VEN. SAMDHONG RINPOCHE
Principal
Central Institute of Higher Tibetan Studies
Sarnath, Varanasi

First Edition : 550 Copies
Price : (1) Hardbound Rs. 70.00
(2) Paperback Rs. 60.00

Published by :
Central Institute of Higher Tibetan Studies
Sarnath
Varanasi-221007 (India)

Printed by
Ratna Printing Works, Kamachha, Varanasi

भोट-भारतीय-ग्रन्थमाला —११

श्रीमञ्जुश्रीयशोविरचितस्य परमादिबुद्धोद्धृतस्य
श्रीलघुकालचक्रतन्त्रराजस्य
कल्किना श्रीपुण्डरीकेण विरचिता टीका

विमलप्रभा

[प्रथमो भागः]



सम्पादकः टिप्पणीकारश्च
प्रो० जगन्नाथ उपाध्यायः
भू० पू० जवाहरलालनेहरूरिसर्चफेलो पालिविभागाध्यक्षचरश्च .
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये
वाराणस्याम्

केन्द्रीय उच्च तिब्बती-शिक्षा-संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

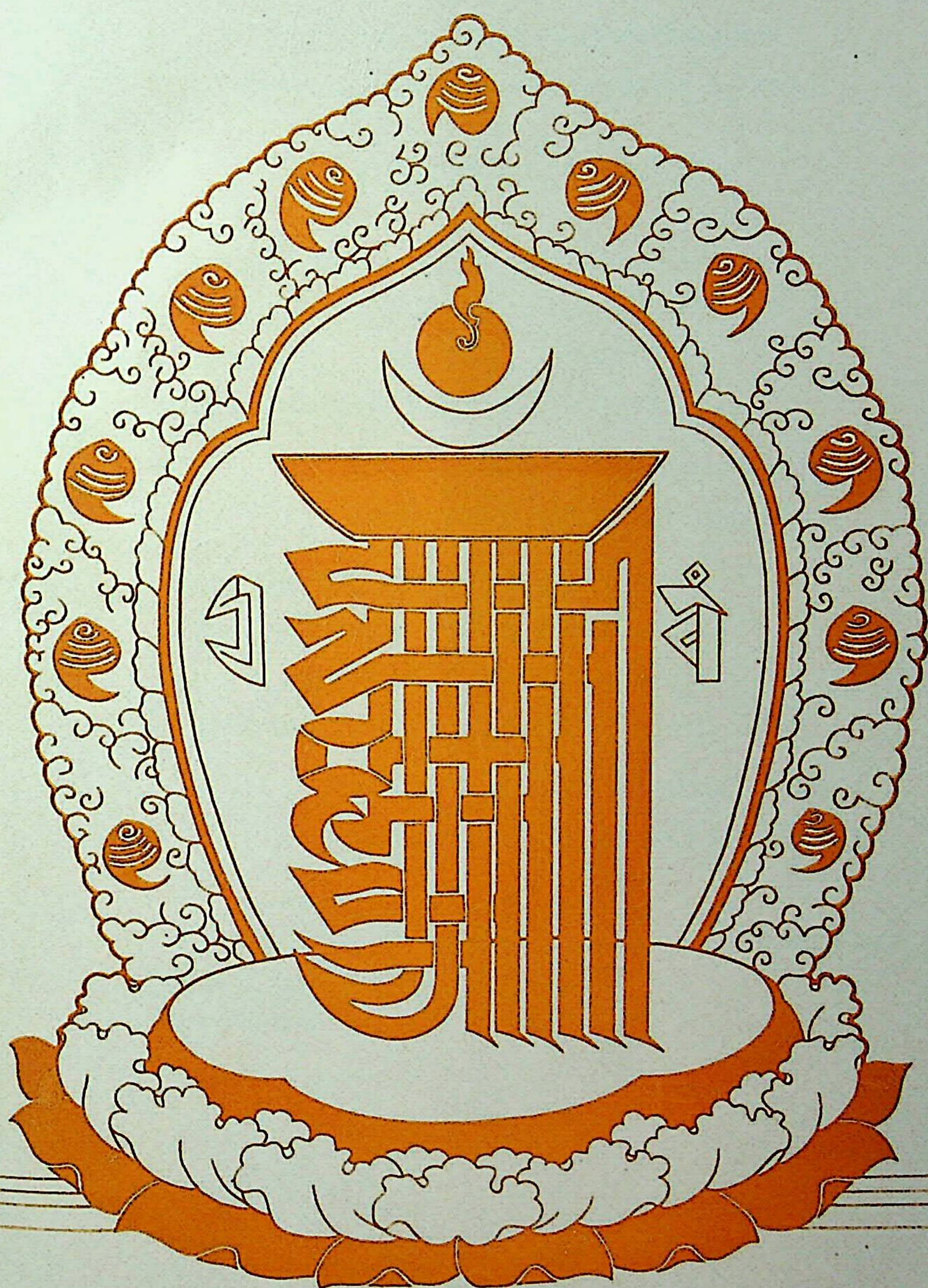
बुद्धाब्दे २५३० तमे खैस्ताब्दे १९८६ तमे

भोटभारतीयग्रन्थमाला ११
प्रधानसम्पादकः-भिक्षु समदोङ् रिन्पोछे
प्राचार्यः
केन्द्रीय उच्च तिब्बती-शिक्षा-संस्थानस्य
सारनाथ, वाराणसी

प्रथमं संस्करणम् : ५५० प्रतिरूपाणि
मूल्य : (१) सजिल्द : रु० ७०.००
(२) अजिल्द : रु० ६०.००

प्रकाशकः
केन्द्रीय उच्च तिब्बती-शिक्षा-संस्थान
सारनाथ
वाराणसी-221007 (भारत)

मुद्रकः
रत्ना प्रिन्टिग वर्क्स, कमच्छा, वाराणसी





परम-पावन-चतुर्दश-दलाई-लामा
शासनधरसागरः

गयाशीर्षे वज्रासनसमीपे श्रीकालचक्राभिषेक-महामण्डले

परमपावन-शासनधरसागराय दलाईलामामहाभागाय

विमलप्रभा-समर्पणम्

यत् सद्धर्मप्रवर्तनाय विहितं चक्रं पुरा तायिना
पोताला-शिखरात् तदुद्गतमहो लामादलाईश्रितम् ।
हिंसामोहपरे परार्थविमुखे कोटिद्वयाधिष्ठिते
लोके साधयितुं हितं विजयते श्रीकालचक्रं हि तत् ।।

कालचक्राभिषेकेण प्राच्यपाश्चात्त्यदेशयोः ।
अपास्य विषमां चर्यां पाविता लक्षशो जनाः ।।

तस्मै चक्रधराय शासनविदे संस्कृत्य या चार्प्यते
टीका सा विमलप्रभा विगलिता यत्नेन संयोजिता ।
प्रज्ञा या करुणान्विताऽतिसहजा तन्मुद्रयाऽऽलिङ्गिता
लोकाः सन्तु परस्य दुःखहतये मञ्जुश्रिया दर्शिताः ।।

कल्किना पुण्डरीकेण लोकनाथेन निर्मिता ।
बहोः कालाद् विलुप्ता सा जगन्नाथेन दीपिता ।।

उपाध्यायो जगन्नाथः

बुद्धाब्दे २५२९ मिते
मार्गशीर्ष-पूर्णिमायाम्

༄༅། །གང་ཞིག་སྔོན་དུས་སྨོབ་ས་ལས་དམ
པའི་ཆོས་ཀྱི་ཕྱིར་དུ་འཁོར་ལོ་བསྐོར་བ་དེ། །
ཨེ་མ་གྲུ་འཛིན་རྩེ་ནས་རྒྱ་མཚོའི་བླ་མ་ལ་བརྟེན་གོང་
དུ་འཕེལ་བར་གྱུར།།
སྨོངས་དང་འཚོ་བ་ལ་ཞེན་གཞན་དོན་རྒྱབ་ཕྱོགས
མཐའ་གཉིས་ལ་ནི་ལྷག་གནས་པའི།།
འཇིག་རྟེན་ལ་ནི་ཕན་པ་སྒྲུབ་ཕྱིར་དཔལ་ལྡན་དུས་ཀྱི་འཁོར་
ལོ་དེ་ནི་རྣམ་པར་གནས།།
དུས་ཀྱི་འཁོར་ལོའི་དབང་ཆེན་གྱིས། །ཤར་དང་ནུབ་ཀྱི་ཡུལ་
གཉིས་ཀྱི། །
སྤྱོད་པ་མ་མཉམ་རྣམ་བསལ་ནས། །སྐྱེ་བོ་འབུམ་ཕྲག
དགའ་བར་མཛད། །

རྣམ་པར་ཉམས་པའི་འགྲེལ་པ་དྲི་མ་མེད་པའི་འོད་དེ་འབད

པས་ཡང་དག་སྦྱར། །

བསྟན་པ་རྫོགས་ཤིང་འཁོར་ལོ་འཛིན་པ་དེ་ལ་ལེགས་པར

སྦྱར་ཏེ་དབུལ་བར་བྱ། །

ཤེས་རབ་སྙིང་རྗེའི་རྗེས་ཞུགས་ཤིན་ཏུ་ལྡན་སྐྱེས་ཕྱུག་རྒྱ

མ་དེས་ཡོངས་སུ་འཕྲུལ།།

འཇམ་དཔལ་གྱིས་བསྟན་འཇིག་རྟེན་འདི་ནི་གཞན་གྱི་སྡུག

བསྔལ་འཇོམས་ཕྱིར་ཉིད་སྒྱུར་ཅིག།

རིགས་ལྡན་པདྨ་དཀར་པོ་སྟེ། །འཇིག་རྟེན་མགོན་གྱིས་

བསྐྲུན་པ་དེ། །

རིང་མོ་ཞིག་ནས་རྣམ་པར་ཉམས། །འཇིག་རྟེན་མགོན

པོས་གསལ་བར་བྱས།།

ཀ་ལཱ་མགོ་ཧྲི་རྡོ་རྗེ་གདན་སྐྱོ་ཉེ་འགྲམ་དུ་དཔལ་དུས་ཀྱི་

འཁོར་ལོའི་དབང་གི་དཀྱིལ་འཁོར་ཆེན་པོའི་དབུས་སུ་

༄ མཆོག་ཏུ་དྲི་བྲལ་ ༄ རྒྱལ་དབང་ཏཱ་ལཱའི་བླ་མ་བསྟན་

འཛིན་རྒྱ་མཚོའི་ཞབས་ཀྱི་པདྨོའི་དྲུང་དུ་དྲི་མ་མེད་པའི་

འོད་འདི་ཕྱོངས་སུ་འབུལ་ལོ།། ||

प्रकाशकीय

प्रायः आधुनिक इतिहासज्ञ विद्वानों की मान्यता है कि पालि-त्रिपिटक ही प्राचीन एवं प्रामाणिक बुद्धवचन हैं और महायान तथा तन्त्रपिटक बाद के विकास हैं, किन्तु परम्परागत बौद्ध विद्वान्, विशेषतः तिब्बती-परम्परा, इसे मानने के पक्ष में नहीं है। इनके मतानुसार महायान-पिटक और मन्त्र-पिटक (सूत्र और तन्त्र) सर्वथा प्रामाणिक बुद्धवचन हैं।

इधर आधुनिक गवेषणाओं के फलस्वरूप अनेक दुर्लभ ग्रन्थ एवं प्राचीन ग्रन्थों के सन्दर्भ उपलब्ध हुए हैं। इनके तटस्थ अध्ययन से तिब्बती-परम्परा की उक्त मान्यता की पुष्टि हुई है।

तन्त्र-विद्या उत्कृष्ट अध्यात्मविद्या है। तन्त्र-शास्त्रों का यदि विधिवत् गुरु-परम्परा से सम्यग् अध्ययन एवं मनन किया जाए तो प्रतीत होगा कि उनमें मान्य बौद्ध धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों से विपरीत कुछ भी नहीं है। तन्त्रों के बारे में प्रायः सामान्य लोगों में अत्यधिक विप्रतिपत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। कुछ लोग इन्हें जादू-टोना मात्र समझते हैं, किन्तु वास्तविकता सर्वथा इससे भिन्न है। तन्त्र-विद्या केवल बाह्य भौतिक या ऐहिक उपलब्धियों का साधनमात्र नहीं है, अपि तु इसमें उत्कृष्ट बुद्धत्व एवं लोकोत्तर निर्वाण की प्राप्ति के क्षिप्र फलदायी उपाय प्रदर्शित हैं।

यह सही है कि उन उपायों का सामान्य जनों में खुले-आम प्रकाशन नहीं किया जाता, क्योंकि इससे लाभ की अपेक्षा हानि की ही अधिक सम्भावना रहती है। अतः पात्रता का विचार कर गुरु योग्य शिष्यों को इस विद्या को प्रदान करता है। इसलिए तन्त्र-विद्या गुह्य-विद्या कही जाती है।

तन्त्र-सम्बन्धी भ्रान्तियों के निरास के लिए तथा उनका दुरुपयोग रोकने के लिए यह आवश्यक है कि पूरी सावधानी बरती जाए और तन्त्र-ग्रन्थों पर उत्कृष्ट कोटि का शोध, वैज्ञानिक सम्पादन एवं प्रकाशन कार्य हो।

श्रीकालचक्रतन्त्र न केवल अनुत्तरतन्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, अपि तु समस्त अन्य तन्त्रों से पृथक् यह एक विशेष प्रकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। ऐसा होने पर भी यह अन्य तन्त्र और सूत्र प्रस्थानों से गहरे रूप से अन्तःसम्बद्ध है। इसके अध्ययन से न केवल तन्त्र-विद्या की विशिष्टताओं पर ही प्रकाश पड़ता है, अपि तु तत्सम्बद्ध अनेक स्वतन्त्र विद्या-शाखाओं का भी सुस्पष्ट परिज्ञान होता है, जैसे—खगोल-विद्या, भूगोल, ज्योतिष, आयुर्वेद, शिल्प-विद्या आदि।

श्रद्धा और विश्वास की दृष्टि से भी यह तन्त्र इस कलिकाल के लिए सर्वथा उपयुक्त माना गया है। प्रस्तुत श्रीलघुकालचक्रतन्त्रराज और उसकी विस्तृत विमलप्रभा टीका इस वाङ्मय का हृदय एवं सार है। इसके वैज्ञानिक संस्करण का प्रकाशन निःसन्देह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। इस कार्य की विगत अनेक वर्षों से अपेक्षा की जा रही थी, किन्तु ग्रन्थ की विशालता, दुरूहता एवं गम्भीरता के कारण कोई विद्वान् इस कार्य को सम्पन्न करने का साहस नहीं जुटा पा रहा था।

प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय बौद्ध धर्म और दर्शन के विश्रुत विद्वान् ही नहीं हैं, अपि तु भारत में बौद्ध विद्याओं के प्रचार-प्रसार में इनका महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक योगदान रहा है। इधर इन्होंने बौद्ध तन्त्र-विद्या के अध्ययन की ओर ध्यान दिया है। हम प्रो० उपाध्याय के आभारी हैं, जिन्होंने इस कार्य को सम्पन्न करने का संकल्प लिया और वर्षों के अथक परिश्रम के फल-स्वरूप इस कार्य को सम्पन्न कर हमें भोट-भारतीय-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का अवसर प्रदान किया है। इस महत्त्वपूर्ण और अब तक अप्रकाशित विमलप्रभा ग्रन्थ का पहली बार प्रकाशन करके संस्था अपने को गौरवान्वित समझती है।

यह भी अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि बोधगया में श्रीकालचक्रतन्त्र के अभिषेक के पुनीत अवसर पर विश्वगुरु परम-पावन दलाई लामा जी के कर-कमलों में समर्पित कर इसका प्रकाशनोद्घाटन हो रहा है। आशा है इससे जिज्ञासु विनेय जनों को तन्त्र-विद्या के अधिगम, शोध एवं अध्ययन में सहायता प्राप्त होगी।

दिसम्बर २६, १९८६

भिक्षु समदोङ् रिन्पोछे
प्राचार्य
केन्द्रीय उच्च तिब्बती-शिक्षा-संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

དཔར་སྐྲུན་པའི་ཆེད་བརྗོད།

༄༅།། རིང་རབས་ཀྱི་མཁས་དབང་ལོ་རྒྱུས་རིག་པར་གཙིགས་སུ་མཛད་པ་རྣམས་ཀྱིས་པ་ལིའི་སྡེ་སྣོད་གསུམ་འབའ་ཞིག་སྟོན་བྱུང་དང་སངས་རྒྱས་ཀྱི་བཀའ་ཚད་ལྡན་ཡིན་གྱི། ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་སྡེ་སྣོད་དང་རྒྱུད་སྡེ་རྣམས་ཕྱི་རབས་སུ་ཡར་རྒྱས་ཕྱིན་པའི་གསར་རྩོམ་ཡིན་པར་བཞེད་མོད། བརྒྱུད་ལྡན་གྱི་ནང་པའི་མཁས་པ་སྤྱི་དང་ཁྱད་པར་བོད་ཀྱི་བརྒྱུད་འཛིན་རྣམས་གོང་གསལ་གྱི་བཞེད་པ་དག་ཁས་མི་ལེན་པར་མ་ཟད། ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་སྡེ་སྣོད་དང་རྒྱུད་སྡེ་མཐའ་དག་སངས་རྒྱས་ཀྱི་བཀའ་ཚད་ལྡན་དུ་འདོད་པ་ཡིན།

བར་སྐབས་རིང་རབས་ཀྱི་ཉམས་ཞིབ་པ་མང་པོས་འབད་བརྩོན་གྱིས་འཚོལ་ཞིབ་བྱས་པའི་འབྲས་བུར་དུས་རབས་ཆེས་སྔ་བའི་རྙེད་དཀའི་དཔེ་རྙིང་མང་པོ་རྙེད་པ་དང་དེ་དག་གཙོ་བོའི་བློས་ཉམས་ཞིབ་བརྟག་དཔྱད་བྱས་པའི་གྲུབ་དོན་རྣམས་རང་རེའི་སྔོན་སྲོལ་གྱི་བཞེད་རྒྱུན་ལ་རྒྱབ་རྟེན་བྱུང་ཡོད།

གསང་སྔགས་ཀྱི་རིག་པ་འདི་ནི་ནང་དོན་རིག་པ་ཁྱད་འཕགས་ཤིག་ཡིན་པར་མ་ཟད་བརྒྱུད་ལྡན་བླ་མ་ལས་ཉན་ཏེ་ཐོས་བསམ་ཚད་ལྡན་ཞིག་བྱེད་པ་ཡིན་ན་སྔགས་ཀྱི་རིག་གཞུང་དུ་ནང་པའི་ཆོས་ལུགས་གྲུབ་མཐའ་དང་འགལ་བའི་དོན་གནད་ཅི་ཡང་མེད་པའི་ངེས་པ་རྙེད་ཐུབ། གསང་སྔགས་ཀྱི་སྐོར་ལ་སྐྱེ་བོ་རང་འགའ་བ་མང་པོར་སྒྲོ་བསྐུར་གྱི་ལོག་རྟོགས་སྣ་ཚོགས་ཤིག་ཡོད་པར་མངོན་ཞིང་། ལ་ལས་སྔགས་ཞེས་པ་མིག་འཕྲུལ་དང་སྒྱུ་མའི་གཞུང་ཙམ་དུ་འཁྲུལ་པའང་ཡོད་མོད། དངོས་དོན་དུ་དེ་ལས་

ལྡོག་སྟེ་གསང་སྔགས་ནི་ཕྱིའི་དངོས་པོ་ཙམ་མམ་ཚེ་འདི་ཁོ་ནའི་བདེ་དོན་སྒྲུབ་བྱེད་ཙམ་མ་ཡིན་པར་བླ་མེད་རྫོགས་བྱང་གོ་འཕང་དུས་ཆེས་ཐུང་ངུའི་ནང་ཐོབ་པར་བྱེད་པའི་ཐབས་ཚང་ལ་མ་ནོར་བ་སྟོན་པར་བྱེད་པ་ཡིན། ཆེས་ཟབ་པའི་ཐབས་ཚུལ་དེ་དག་རྒྱུད་མ་སྨིན་པའི་སྐྱེས་བུར་ཁྲོམ་བསྒྲགས་སུ་སྟོན་ན་དགེ་ཆུང་ཉེན་ཆེའི་སྐྱོན་དུ་མ་འབྱུང་སྲིད་པས་རྒྱུད་སྡེ་རྣམས་ལ་གསང་སྔགས་ཀྱི་ཐ་སྙད་བྱེད་པ་ཡིན། དེས་ན་གསང་སྔགས་ཀྱི་ཆོས་ལ་ལོག་རྟོག་དང་ཉེས་སྤྱོད་འབྱུང་ཉེ་བ་དག་དོགས་ཟོན་ཆེན་པོས་འགོག་ཐབས་བྱ་གལ་ཆེ་ཞིང་། དེའི་སྐད་དུ་ཁུངས་ལྡན་གྱི་རྒྱུད་སྡེའི་གསུང་རབ་རྣམས་ལ་ཉམས་ཞིབ་ཚད་ལྡན་བྱས་ཏེ་ཚན་རིག་དང་མཐུན་པའི་ཞུ་སྒྲིག་དང་དཔར་སྐྲུན་བྱ་གལ་ཤིན་ཏུ་ཆེ་བར་མཐོང་།

དཔལ་དུས་ཀྱི་འཁོར་ལོའི་རྒྱུད་འདི་ནི་སྔགས་བླ་མེད་ཀྱི་ནང་ནས་ཤིན་ཏུ་གལ་ཆེ་བ་ཞིག་ཡིན་པར་མ་ཟད་རྒྱུད་སྡེ་གཞན་དང་བཤད་སྒྲོ་ལ་མི་མཐུན་པའི་གྲུབ་མཐའི་རྣམ་བཞག་དུ་མ་ཞིག་སྟོན་པ་དང་ཆབས་ཅིག་རྒྱུད་སྡེ་གཞན་ཀུན་དང་འབྲེལ་བ་གཏིང་ཟབ་ཡོད་པ་ཞིག་ཡིན་པར་བརྟེན་གཞུང་འདི་ལ་ཐོས་བསམ་བྱེད་ན་གསང་སྔགས་ཀྱི་ཁྲིད་ཆོས་དུ་མ་རྟོགས་ནུས་པ་དང་། ལྷག་པར་གཞུང་འདིར་མཁའ་དབྱིངས་གོ་ལའི་རིག་པ་དང་། ས་གཞིས་རིག་པ། སྐར་རྩིས། ཚའི་རིག་བྱེད། བཟོ་རིག་པ་སོགས་ཐུན་མོང་དང་ཐུན་མིན་གྱི་རིག་གནས་རང་དབང་བ་མང་པོ་ཞིག་ཀྱང་རྟོགས་ནུས་པ་ཡིན། དད་པ་དང་ལྡན་པའི་བརྒྱུད་འཛིན་རྣམས་ཀྱིས་རྒྱུད་སྡེ་འདི་ཉིད་སྙིགས་མའི་དུས་འདིར་ཕྱིན་ཆད་འཕྲིན་ལས་ཀྱི་སྒྱུར་ཁྱད་ཁྱད་པར་དུ་འཕགས་ཤིང་ཤིན་ཏུ་དགོས་མཁོ་ཆེ་བ་ཞིག་ཡིན་པར་ཡིད་ཆེས་བྱེད་ཀྱི་ཡོད།

དཔལ་དུས་ཀྱི་འཁོར་ལོའི་བསྡུས་རྒྱུད་ཀྱི་རྒྱལ་པོ་དང་དེའི་འགྲེལ་བཤད་རྒྱས་པ་དྲི་མ་མེད་པའི་འོད་འདི་ནི་རྒྱུད་སྡེ་འདིའི་གཞུང་ལུགས་ཐམས་ཅད་ཀྱི་སྙིང་པོའམ

ཙ་བ་ལྷ་བྲ་ཡིན་སྐབས་འདི་ཉིད་དེང་དུས་དང་མཐུན་པའི་དག་ཞུས་དང་དཔར་སྐྲུན་བྱེད་རྒྱུ་ཧ་ཅང་གལ་གནད་དང་ཕན་ཐོག་ཆེ་བ་གདོན་མི་ཟ་བས་དེ་འདྲའི་ལས་དོན་ཞིག་འགྲུབ་ན་སྙམ་པའི་རེ་འདུན་འདས་པའི་ལོ་མང་པོ་ཞིག་ནས་བྱེད་བཞིན་ཡོད་ཀྱང་གཞུང་འདི་ཤིན་ཏུ་ཟབ་ཅིང་རྒྱས་ལ་རྟོགས་པར་དཀའ་བས་མཁས་པ་སུས་ཀྱང་རྩོལ་འདིར་འཇུག་པའི་སྤོབས་པ་བྱེད་མ་ནུས།

སློབ་དཔོན་ཆེན་པོ་འཇིག་རྟེན་མགོན་པོ་མཆོག་ནི་ནང་པའི་ཆོས་དང་མཚན་ཉིད་ལ་མཁས་པའི་གྲགས་པ་ཁྱབ་པ་ཙམ་མ་ཡིན་པར་འཕགས་ཡུལ་དུ་ནང་པའི་རིག་གནས་བསྐྱར་གསོ་ཁྱབ་སྤེལ་ལ་གྱི་ལས་དོན་ཐོག་ཐུགས་འཁུར་ཆེན་པོ་གནང་མཁན་གྱི་ལོ་རྒྱུས་དང་ལྡན་པའི་སྐྱེས་བུ་ཞིག་ཡིན་པ་ཁོང་གིས་ཉེ་ཆར་ལོ་འགའ་ཤས་ནས་གསང་སྔགས་ཀྱི་སྐོར་གསན་བསམ་གཏིང་ཟབ་གནང་བ་དང་མཉམ་དུ་གཞུང་ཆེན་འདི་ཉིད་དག་ཞུས་དཔར་སྐྲུན་གནང་རྒྱུའི་ཐུགས་འདུན་དམ་བཅའ་གནང་སྟེ་ལོ་གྲངས་དུ་མའི་རིང་གྲུས་དྲག་གི་བརྩོན་པ་ལྷོད་མེད་གནང་བའི་འབྲས་བུར་ལས་དོན་འདི་ཡོངས་སུ་གྲུབ་སྟེ་འདི་ག་མཐོ་སློབ་ཀྱི་འཕགས་བོད་པོད་ཕྲེང་གྲངས་བཅུ་གཅིག་པའི་ཁོངས་སུ་དཔར་སྐྲུན་ཞུ་རྒྱུའི་གོ་སྐབས་བསྟུལ་བ་འདིར་ཁྲི་བོས་ཁྲིང་ལ་ལེགས་སོ་ཞུ་རྒྱུ་དང་། གལ་གནད་ཆེ་ཞིང་སྟོན་ཆད་དཔར་དུ་མ་བསྐྲུན་པའི་གསུང་རབ་འདི་བོད་ཀྱི་མཐོ་སློབ་ནས་ཐོག་མར་དཔར་སྐྲུན་ཞུ་རྒྱུའི་གོ་སྐབས་བྱུང་བ་འདིར་ཡི་རང་དང་དགའ་སྤོབས་ཆེན་པོ་ཡོད།

ཕྱི་ལོ་ ༡༩༨༤ ལོར་གནས་མཆོག་རྡོ་རྗེ་གདན་དུ་དུས་ཀྱི་འཁོར་ལོའི་དབང་ཆེན་གྱི་སྐབས་དེར་ལྷར་བཅས་སྲིད་ཞིའི་གཙུག་རྒྱན་༧གོང་ས་༧སྐྱབས་མགོན་ཆེན་པོ་མཆོག་གི་ཕྱག་གི་པད་མོར་ཡོངས་སུ་ཕུལ་ཏེ་དཔར་སྐྲུན་དབུ་འབྱེད་གནང་བ་ནི་ཤིན་ཏུ་སྐལ་བ

བཟང་བ་ཞིག་ཡིན་པ་དང་། ཚུལ་འདིས་དོན་གཉེར་ཅན་གྱི་གདུལ་བྱ་རྣམས་ལ་ཟབ་མ་སྔགས་ཀྱི་རྒྱུད་དོན་རྟོགས་པ་དང་། ཉམས་ཞིབ་དང་། གྲོས་བསམ་བྱེད་པར་ཕན་ཐོགས་ཡོང་བའི་རེ་འདུན་དང་བཅས་ལྷ་རཀམས་འི་དབུས་བོད་ཀྱི་ཆེས་མཐོའི་སློབ་ཁང་གི་སློབ་སྤྱི་ཟམ་གདོང་པ་དགེ་སློང་བློ་བཟང་བསྟན་འཛིན་གྱིས་ཕྱི་ལོ་ ༡༩༨༦ ཟླ་བ་ ༡༢ ཚེས་ ༢༦ བཟང་པོར་བྲིས།། ། །

पुरोवाक्

सुविदितमेवैतद् यद् बौद्धतन्त्राणां सामान्यतश्चतुर्धा विभागः क्रियते, तद्यथा—क्रिया, चर्या, योगः, अनुत्तरयोगश्च। तत्रानुत्तरयोगस्तावत् सर्वेभ्यः श्रैष्ठ्यमावहति। अनुत्तरयोगं विहाय त्रयोऽप्यन्ये त्रिभागा यद्यप्यल्पमहत्त्वा इव प्रतीयन्ते, तथापि ते अनुत्तरयोगभूम्यधिगतये सोपानभूता इवातो न कथञ्चिन्न्यूनमहत्त्वाः। अथ चानुत्तरायां स्थितौ त्रयोऽप्येते साहाय्यमाचरन्तोऽनुत्तरयोगाविनाभूता एवोपकारका भवन्तीति।

एतदपि सुविदितमेव यद् बौद्धतन्त्रसम्बद्धाः संस्कृत-ग्रन्था अनेकशताब्दीतः पूर्वमेव भारतवर्षतो विलोपमागताः। अतस्ते बहोः शतकान्नात्र समुपलभ्यन्ते। सौभाग्याद् भारतोपकण्ठे नेपालराष्ट्रे कतिपये बौद्धतन्त्रग्रन्थाः संस्कृतभाषायां समुपलभ्यन्ते। एतेषामन्वेषणं नाम सुमहत् कष्टसाध्यं कार्यम्। प्रायशः पञ्चाशद्वर्षतः पूर्वमेव वङ्गप्रदेशीयाः प्रातःस्मरणीया राजा-राजेन्द्रलालमित्र-महामहोपाध्यायहरप्रसादशास्त्रि-प्रबोधचन्द्रबागची-प्रमुखाः, अथ च महापण्डितराहुलसांकृत्यायनप्रभृतयोऽन्ये च विद्वांसोऽसकृन्नेपालं भोटदेशं च गत्वा ततोऽनेकान् दुर्लभान् महत्त्वपूर्णांश्च ग्रन्थान् समानीतवन्तः। विगतेषु दशाधिकवर्षेषु मयाऽपि वारचतुष्टयं नेपालयात्रां कृत्वाऽमुष्मिन् अन्वेषणकर्मणि कश्चन लघीयान् प्रयासोऽनुष्ठितः। तद्वशादद्य यावदनेकेऽनुपलब्धा अपरिचिताश्च ग्रन्थाः समुपलब्धाः। तेषु कालचक्रं नाम तन्त्रं प्राचीनं सुविशदं सर्वतन्त्राणामाकारभूमिरिवास्ते। एतस्य तन्त्रराजस्य टीकाऽपि बृहदाकारा विमलप्रभा नाम पूर्वमनुपलब्धैवासीत्। पञ्चपटलात्मकमिदं मूलतन्त्रं तस्य टीकाऽपि विमलप्रभा पञ्चपटलात्मिकैव। किन्तु न हस्तलिखितभाण्डागारेषु व्यक्तिगतसङ्ग्रहेषु वा काचिदेकाऽपि प्रतिः परिपूर्णा समुपलभ्यते। तत्र पञ्चमपटलस्य टीका तु नाद्य यावन्निःशेषा समुपलब्धा। मयाऽप्येतस्याः कतिपय एवांशाः समधिगताः।

श्रीलघुकालचक्रतन्त्रस्य विमलप्रभाटीकायाः कस्तावत् प्रवर्तनकाल इति मीमांसाप्रसङ्गे मूले टीकायां च यत्र तत्र प्रस्तूयमानं किञ्चिद् वृत्तं दृश्यते। टीकानुरोधेन परमादिबुद्धादेव प्रवचनमुपलभ्य दशबलेन खलु कालचक्रं नामेदं लघुतन्त्रं व्याकृतम्। तच्च तन्त्रं कलापदेशे पुनः मञ्जुश्रिया निगदितम्। तत्र टीका च पूर्वं राज्ञा सुचन्द्रेण लिखिता, या कलेवरेण षष्टिसाहस्रिकाऽऽसीत्। तामाधारीकृत्य पुण्डरीकेण कल्किना एषा द्वादशसाहस्रिका विरचिता। एषा च टीका सर्वेषां बौद्धतन्त्राणां सारसूचिकेव, अथ च सर्वतन्त्राणां यत् प्रतिपाद्यं वज्रपदं वज्रयानं वा तस्य भेदयित्री समस्ति। परम्परानुरोधेन एतट्टीकानुरोधेन वा वज्रयानं तावत् शास्त्रा बुद्धेनैव व्याकृतम्। वज्रसत्त्वा बोधिसत्त्वाश्चास्य वज्रयानस्य सङ्गीतिकारका अभूवन्। एतस्मिन् विषयेऽस्ति येषां वैमत्यम्, तेषां कुबुद्धिनिवारणायापि टीकैषा पुण्डरीकेण विनिर्मिता। एतस्या वैशिष्ट्यं प्रकाशीकुर्वता कथितं

तेन यन्निर्वाणपारार्थिनां जनानां कृते सुखपूर्वकं विघ्नौघस्य द्रुतलङ्घनाय शीघ्रगामिनी नौकेव प्रज्ञा, यस्या वाहकमिदं कालचक्रयानं नाम तन्त्रम्। अत एव बौद्धनयेषु परात्परत्वं निर्धारयता कालचक्रतन्त्रप्रतिपाद्यं परमसुखपदं सर्वतः समुत्कृष्टमिति तत्र प्रवेशो नितान्तं कष्टकर इत्युक्तं द्वितीयपटलमूले टीकायां च। परात्परत्वेऽयं क्रमः—बुद्धेऽनुरागः, ततः श्रावकप्रत्येकबुद्धयानयोः, ततो वज्रयाने हेतुफलात्मके, ततः क्वचिद् आलम्बनशून्यतायां निरालम्बकरुणात्मिकायां कालचक्रतन्त्रप्रतिपाद्यभूतायां महामुद्राख्यायां प्रवेशः।

विमलप्रभानुरोधेन सीतानद्या उत्तरे भागे भगवता बुद्धेनेदं तन्त्रं समुपदिष्टम्। अस्य तन्त्रस्य यथा सम्यक् प्रामाण्यं संरक्षितं स्यात् तथा वज्रपाणिना नामसङ्गीतिं प्रमाणीकृत्य एतत्तन्त्रं संगृहीतम्। यतो हि नामसङ्गीतेः सर्वमन्त्रनये नीतार्थत्वं ख्यातम्, अतस्तदानुकूल्येन कालचक्रतन्त्रस्यापि प्रामाण्यं सुस्थिरम्। कालचक्रतन्त्रस्य वैशिष्ट्यं ख्यापयतोक्तं विमलप्रभायाम्—"ये परमादिबुद्धं न जानन्ति ते नामसङ्गीतिं न जानन्ति, ये नामसङ्गीतिं न जानन्ति ते वज्रधरज्ञानकायं न जानन्ति, ये वज्रधरज्ञानकायं न जानन्ति ते मन्त्रयानं न जानन्ति, ये मन्त्रयानं न जानन्ति ते संसारिणः सर्वे वज्रधरभगवतो मार्गरहिताः" (पृ० ५२)। एवं परमादिबुद्धो मोक्षार्थिभिः सच्छिष्यैः श्रोतव्यः सद्गुरुणा चोपदेष्टव्यः। एतदनुरोधेन परमादिबुद्धः कालचक्रो भगवान् वज्रसत्त्वः।

इदं कालचक्रतन्त्रं कुत्र प्रादुरभूदिति जिज्ञासायां श्रीधान्यकटकमेवेदम्प्रथमतया समुपस्थितं भवति, तद्धि मन्त्रयानस्योत्सभूमिः, तस्य मन्त्रयानस्योपजीव्यभूतमिदं कालचक्रतन्त्रं नाम। अतो हि यद्यपि सामान्येन श्रीधान्यकटकमेव कालचक्रस्यापि देशनाभूमिरिति सम्भावयितुं शक्यते, तथापि मन्त्रयाने कालचक्रस्य वैशिष्ट्यं तस्य देशनागाम्भीर्यं ख्यापयति। एतद् रहस्यं विवरीतुमेव विशेषेणाधाराधेयसम्बन्धविधया 'एवं' इत्यस्य प्राधान्येन व्याख्यानं कालचक्रे तन्त्रे समुपलभ्यते। तत्र 'ए'-कारो जङ्गो गगनालोकः, तत्र 'वं'-कारः काव्यव्यूहो वज्रधृग् बुद्धः। तस्मिन् एकारसिंहासने स्थितो बुद्धो वंकारः कालचक्रस्य देशनां करोति। एतस्यातिगम्भीरतत्त्वस्य देशनास्थानस्य भौतिकदृष्ट्या निर्धारणं न तथा महत्त्वाधायकं यथा विनेयजनानां समुत्कृष्टाशयानामान्तर आधाराधेयभावनिर्देशः। एतादृशानामेव विनेयानां मध्ये आन्तरं तावत् कालचक्रप्रवर्तनं नाम किञ्चित्। तद्धि अनपेक्ष्य बाह्यस्थानवैशिष्ट्यं यत्र कुत्रापि व्याकृतमेतद् भवेत्। अत एव स्वीकृत्यापि श्रीधान्यकटकस्य भौतिकं महत्त्वं कालचक्रतन्त्रे विमलप्रभायां च परमादिबुद्धवज्रधातुमहामण्डले वज्रसिंहासने 'एकारे' स्थितो यो 'वंकारः', तेनैव कालचक्रतन्त्रप्रवर्तनं संकेतितम्। अत एव च बाह्याध्यात्मभेदेन स्थानस्यापि व्याख्यानं विमलप्रभायामुपलभ्यते। अत एवास्मिन् तन्त्रे संकेतितः शम्भलदेशः कलापग्रामः अडकवतीत्यभिधानेन पृथिव्यां भौतिकं स्थानं भवेन्न वेति नानिवार्यम्।

इत्थमेवास्य कालचक्रस्य देशनाया यो हि याचकोऽध्येषकः सङ्गीतिकारकश्च, स कलापग्रामस्य स्वामिनः सूर्यप्रभस्य विजयादेवीगर्भसम्भूतः पुत्रः सुचन्द्रनामा राजा। एवंविधः कुत्रचिन्न दृश्यते कालचक्रतन्त्रं विहायान्यतन्त्रेषु, यो गर्भोत्पन्नः कश्चन स्यात्। एतदाक्षेपमपाकर्तुं विमलप्रभायां शाक्यमुनेः शुद्धोदननरेन्द्रसुतस्य महामायादेवीगर्भसम्भूतस्यापि देशकत्वं सुचन्द्रेण समानमेवेति प्रतिबन्द्युत्तरं प्रदाय राद्धान्ते यो हि देशको बुद्धः,

तस्य को हि बुद्धभाव इत्यस्योत्तरं व्याहरता बुद्धो विगतमलं चित्तमिति मारश्च समलं चित्तमित्यभिहितम्। यश्च बाह्ये बुद्धस्य मारभङ्ग उच्यते, स सत्त्वानां स्वचित्तप्रतिभास एवेति समुदाजह्रे। इत्थं यथा शाक्यकुले मातृकुक्षिसम्भूतः सिद्धार्थः, तथैव शम्भल-विषयेऽपि गर्भसम्भूतो वज्रपाणिः सुचन्द्रः। एतत्सकलदृष्टान्तदार्ष्टान्तिकव्याजेन कालचक्र-तन्त्रं हि नितान्तं सुगम्भीरम्, तस्य महत्त्वं च न स्थानदृष्ट्या न वा गर्भजाताजातदृष्ट्या समाकलयितुं युज्यत इति गम्भीरं रहस्यं प्रकटीकृतम्।

इत्थं शास्त्रानुरोधेन सम्प्रदायपरम्परानुरोधेन च कालचक्रतन्त्रस्योद्गमः प्रस्तावितः। इतिहासदिशा चाप्येतस्योद्गमकालनिर्धारणं नैवातिदुष्करम्। यतो हि कालचक्रतन्त्रमूले टीकायां चानेकानि साक्षिभूतानि वृत्तानि लिखितान्युपलभ्यन्ते, यद्वशात् कालनिर्धारणं सुशकम्। उपवर्णितं मूले टीकायां च इस्लामधर्मस्य प्रवर्तनम्, मुस्लिमयवनानां चार्यदेशे साक्षाद् दृष्टमिवाक्रमणम्, अविलम्बविगतमिव वा। तथा हि—

> आद्याब्दात् षट्शताब्दैः प्रकटयशनृपः शम्भलाख्येऽभविष्यत्,
> तस्मान्नागैः शताब्दैः खलु मखविषये म्लेच्छधर्मप्रवृत्तिः।
>
> तस्मिन् काले धरण्यां स्फुटलघुकरणं मानवैर्वेदितव्यम्,
> सिद्धान्तानां विनाशः सकलभुवितले कालयोगेऽभविष्यत्॥ (पृ० ७७)

कालचक्रतन्त्रस्य एतच्छ्लोकानुरोधेन तट्टीकानुरोधेन च आद्याब्दो भगवतो बुद्धस्य धर्मदेशनाकालः, तस्मात् षट्शताब्दयनन्तरं सीतानद्युत्तरे शम्भलाख्ये देशे महायशा मञ्जुश्रीः प्रकटो भविष्यति। तस्माद् अष्टशताब्दयनन्तरे 'मख' इति नाम्ना वर्तमाने काले 'मक्का' इति ख्याते प्रदेशे म्लेच्छधर्मस्य इस्लामधर्मस्य प्रवर्तनं स्यात्। तस्मिन् काले ज्यौतिषसिद्धान्तानां ब्रह्म-सौर-यवनक-रोमकाणां चतुर्णामपि विनाशो भविष्यति। तस्मिंश्च काले बौद्धेतरतीर्थिकानां सिद्धान्ता निःशेषतां गमिष्यन्ति। किन्तु कालचक्र-तन्त्रवशाद् बौद्धसिद्धान्तस्य विनाशो न स्यात्। तस्मिन् काले स्फुटलघुकरणं मानवैर्वेदि-तव्यम् इति तत्रोल्लिखितम्। स्फुटलघुकरणं स्फुटं कुर्वताऽग्रे ज्योतिषे प्रतिषष्टिसंवत्सरं नवं नवं ध्रुवकं विधीयमानं भवति, तद्वशाच्च कालगणनां विधाय को हि म्लेच्छकाल इति निश्चेतुं पार्यते। उक्तं च तत्रैव—

> वह्नौ खेऽब्धौ विमिश्रं प्रभवमुखगतं म्लेच्छवर्षं प्रसिद्धम्
> ऊनं म्लेच्छेन्द्रवर्षं करफणिशशिना शेषमर्काहतं च।

इत्यादिना

इत्थं बुद्धस्य प्रवर्तनकालात् षट्शतवर्षपश्चाद् मञ्जुश्रीकालः। तदानीं करणे ध्रुवः, तस्मादष्टशतवर्षपश्चाद् म्लेच्छकालः, तस्माद् द्व्यशीत्यधिकशतेन (१८२) हीनोऽजकल्की कालः। अनेन च अजेन लघुकरणं विशोधितम्। इत्थं करफणिशशिना (१८२) शेषम् अर्का (१२)-हतं स्यात्, अथ च चैत्रादिमासैः अधरयुग(४)-हतम्। खाग्निचन्द्रैः (१३०)-विभक्तं सद् लब्धं भूमिप्रविष्टं मासपिण्डं त्रिंशत्तिथिगणितार्थं भवति। म्लेच्छवर्षस्फुटी-करणार्थम् अन्यदप्येकं हस्तलिखितपुस्तकं लभ्यते कालचक्रानुसारिगणितमिति नाम्ना। एकमात्रं समुपलब्धायां तस्यां प्रतौ को हि म्लेच्छकाल इति लिखितम्। तस्य प्रथमपत्रम्

अनेकशश्छिन्नं वर्तते, तथापि महत्त्वाधायकः कश्चित् संकेतो लभ्यते। उट्टङ्कितं च तत्र 'शकाब्दः १०९१ म्लेच्छवर्षं.......शुद्धवर्षं ३६४ अशुद्धमासगणं ४३६८ शुद्धमासगण ४५०२ इत्यादि। उपरि समुद्धृतं 'वह्नौ खेऽब्धावि'ति श्लोकं स्पष्टीकुर्वति कालचक्रानुसारिगणितग्रन्थे योगभागादिप्रकारः प्रदर्शितः, तदनुरोधेन म्लेच्छवर्ष-विक्रमीय-संवत्सरयोरन्तरं ६८० वर्षं पर्यवस्यति। ज्ञायते च विक्रमीय ६७९ श्रावणे हिजरीसंवत्सरः प्रारभ्यते। इत्थमनायासेनावबोद्धुं शक्यते यद् वर्षद्वयस्यान्तरेण हिजरीसंवत्सरप्रारम्भकाल एव कालचक्रविमलप्रभोक्तो म्लेच्छकालः। विमलप्रभानुसारम् अस्मिन्नेव म्लेच्छवर्षे 'म्लेच्छो मधुमती (मुहम्मदः) रह्मणावतारो (रहमानावतारो) म्लेच्छधर्मदेशको म्लेच्छानां तायि(ज्जि)नां (ताज़िकानां) गुरुः स्वामी' (वि० प्र० १.२७, पृ० ७८)।

एतदनुसारं निर्धारित एव कालः किञ्चिदन्तरं कृत्वा मुहम्मदगजनीबादशाहस्य आक्रमणकालः। एतस्मिन् काले कथमिव अत्रत्यधर्माणां विनाशो भविष्यतीति सुविशदं समुल्लिखितं विमलप्रभायाम्। म्लेच्छाक्रमणेभ्यो धर्मं परिरक्षितुं कथं कालचक्रतन्त्रस्य प्रचारः स्यादित्यपि कानिचिद् इतिहासदृशा महत्त्वपूर्णानि वृत्तानि टीकायां लिखितानि सन्ति। एतद्वृत्तानुरोधेन तन्त्रमिदं प्रायशो हिजरीवर्षस्य प्रारम्भकालस्य सम्यग् वर्णनं करोति। अस्मिन् ग्रन्थे टीकायां च न केवलं 'मक्का'-प्रदेशस्य संकेतः, अपि तु बगदादनगर्यां यथा युद्धमभूत्, तस्यापि संकेतो लभ्यते। उक्तं च विमलप्रभायाम्—'तस्मिन् काले देवानां दानवानां म्लेच्छानां क्षितितलनिलयं वागदायां नगर्यां रौद्रं युद्धं भविष्यती'ति। अथ च म्लेच्छाक्रमणैः बौद्धास्तदन्ये च संरक्षितास्तदैव स्युर्यदा कालचक्रानुरोधेन तेषां मतं जीवनं च स्यादिति। उक्तं यशोराज्ञा—'इह मयाऽस्मिन् कालचक्रभगवतो मण्डलगृहे प्रवेशः कर्तव्यो लौकिक-लोकोत्तराभिषेको दातव्यः' इति। (वि० प्र० उपोद्घातः, पृ० २७)।

कालचक्रतन्त्रदेशनाया इतिहासदृष्ट्या यथा संगतिः अर्हत्त्वं च विवृतं भवति, तथैव तन्त्रस्यास्य के प्रवक्तार इत्यपि मूले टीकायां च निर्दिष्टं विद्यते। प्रवक्तृषु प्रथमतया आदिबुद्धः, ततो दशबलः, अनन्तरं मञ्जुश्रीः। परमादिबुद्धदेशितस्य दशबलेन अल्पतन्त्रतया व्याकरणम्, तदेव कलापग्रामे मञ्जुश्रिया निगदितम्, तदेवेदं कालचक्रलघुतन्त्रं ख्यातम्। एतत्तन्त्रमधिकृत्य सुचन्द्रेण सर्वयानसाधारणी षष्टिसहस्रपरिमाणा विमलप्रभा विरचिता। अस्याष्टीकायाः पूर्वतो वैशिष्ट्यं तस्य मूलतन्त्रानुसारिवज्रपदभेदकत्वमिति। उक्तं च लोकनाथेन पुण्डरीकेण स्वविमलप्रभायां यत् तेन सुगतव्याकृतस्यैव मञ्जुश्रीबोधितस्यैव तत्त्वजातस्य व्याख्यानं कृतम्। विमलप्रभाया वैशिष्ट्यं व्याकुर्वता तेनोक्तम्—

अस्मिन् तन्त्रे मया टीका सुगतव्याकृतेन वै।
मञ्जुश्रीचोदितेनैव लोकनाथेन लिख्यते॥

(वि० प्र०, पृ० ११)

अस्य कालचक्रतन्त्रस्यावतारणे बुद्धबोधिसत्त्वयोर्मध्ये देशकाध्येषकसम्बन्धोऽविरोधेन सम्पन्नो भवति निर्माणसम्भोगकायैः। अत्र च निर्मितकायो वज्रपाणिः सुचन्द्रः

सर्वसत्त्वानुपकर्तुं तथागतमध्येषितवान्। तथागतेनापि सीतानद्युत्तरे शम्भलादिषु षण्णवत्यादिग्रामनिवासिनां चित्तविशुद्धिं दृष्ट्वा वज्रपदप्रकाशकं द्वादशसाहस्रिकं तन्त्रं देशितम्। इत्थमेव द्वादशसाहस्रिकात् तन्त्राद् लघुतन्त्रकरणाय वज्रकुलाभिषेकं प्रदाय तथागतेन मञ्जुश्रीर्व्याकृतः। वज्रकुलाभिषेकवशात् सर्ववर्णानाम् एककल्ककरणेन सुचन्द्रो यशः कल्कीति नाम्ना ख्यातः। यत्प्रक्रियानुरोधेन यशः कल्की जातः, तथैव पुण्डरीकोऽपि द्वितीयः कल्की। वज्रकुलजातत्वाद् यथा यशो वज्रकुली तथा पुण्डरीकोऽपि। अनन्तरमस्मिन्ननेके कल्किनो वज्रकुलिनश्च जाताः, ये बुद्धमार्गप्रदर्शका अभूवन्। तत्र चन्द्र-सुरेश्वर-तेजी-सोमदत्त-सुरेश्वर-विश्वमूर्ति-सुरेशान-यशः-पुण्डरीक-सूर्यप्रभ-सुचन्द्र-क्षितिगर्भ-यमान्तक-जम्भक-मानक-खगर्भ-लोकनाथ-यमादि-दशक्रोधप्रभृतयः सर्वे निर्मिताः सन्तो बुद्धमार्गप्रदर्शका भवन्ति। इत्थमेव त्रयोदशसंख्याकाः कल्किगोत्रे जाताः, तत्र यशः कल्की, कल्की पुण्डरीकः, भद्रकल्की, रक्तपाणिः, विष्णुगुप्तः, अर्ककीर्तिः प्रमुखाः।

मन्ये, एतावन्ति नामानि न केवलं रहस्यभूतानि, अपि तु इतिहासदृशा गवेषणीयानि सन्ति।

भाषासम्बन्धिनो विचाराः—तन्त्राणां भाषाविषयेऽपि विमलप्रभाकाराणामस्ति मतविशेषः। यद्यपि तन्त्रशास्त्राणां ग्रथने सर्वत्रैवार्थदृष्ट्या यथा गाम्भीर्यं तथा व्याकरणदृष्ट्या भाषाशैथिल्यं दृश्यते। विशेषतो बौद्धा आदित एव अर्थशरणा आसन्, न शब्दशरणाः, तथापि विमलप्रभाकारैः सप्रसभं शब्दशरणत्वं खण्डितम्। भगवद्वचनान्युद्धृत्योट्टङ्कितं तेन—

येन येन प्रकारेण सत्त्वानां परिपाचनम्।
तेन तेन प्रकारेण कुर्याद् धर्मस्य देशनम्॥

योगी शब्दापशब्देन धर्मं गृह्णाति यत्नतः।
देशशब्देन लब्धेऽर्थे शास्त्रशब्देन तत्र किम्॥

एतादृशानि समर्थनावाक्यान्युदाहृत्य बुद्धदेशनाभाषावैविध्यं चोल्लिख्यान्ते स्वाभिमतं प्रकटीकृतम्—"क्वचिद् वृत्तेऽपशब्दः, क्वचिद् वृत्ते यतिभङ्गः, क्वचिद् वर्णस्वरलोपः, क्वचिद् वृत्ते दीर्घो ह्रस्वः, ह्रस्वोऽपि दीर्घः, क्वचित् पञ्चम्यर्थे सप्तमी, चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, क्वचित् परस्मैपदिनि धातावात्मनेपदम्, आत्मनेपदिनि परस्मैपदम्, क्वचिदेकवचने बहुवचनम्, बहुवचने चैकवचनम्, पुंल्लिङ्गे नपुंसकम्, नपुंसके पुंल्लिङ्गम्, क्वचित् तालव्यशकारे दन्त्यमूर्धन्यौ, क्वचिन्मूर्धन्ये दन्त्यतालव्यौ, क्वचिद् दन्त्ये तालव्यमूर्धन्यौ चे"त्यादि-सन्दर्भवाक्यैः। किमत्र बहु वक्तव्यम्—एतत् सम्पादितं सविमलप्रभकालचक्रतन्त्रपुस्तकमेव प्रमाणं सुधीभिरवधेयम्। व्याकरणवासनावासितचित्तानां सम्पादकानां समक्षमपि संस्करणकृत्यमेतद् भाषादृष्ट्याऽपि किञ्चिद् दुःसहं भवति।

तत्त्वसम्बन्धिनो विचाराः—अस्य कालचक्रतन्त्रस्य परमाभिधेयमाविष्कुर्वता 'मुद्रायोग' एव तावत् प्रधान इति विमलप्रभायामुक्तम्। एतच्च महामुद्रापदं चतुर्थं परमाक्षरम्, तदेव प्रज्ञाज्ञानं चोच्यते। एतच्चतुर्थमक्षरतत्त्वं येन न लब्धं तेन सक्षरमेव

सौख्यं लभ्यते, यच्च दुःखस्यैव निदानम्। मोक्षप्राप्तिकामनया साम्राज्यसुखं प्राप्तोऽपि विद्वान् तत्यजति, अविद्वांश्च संसारसुखमप्राप्तोऽपि निरन्तरं तदर्थं चेष्टते। अस्ति चास्य तन्त्रस्य लक्ष्यमनक्षरसुखावाप्तिर्नाम। एतदवाप्तुमेव प्रज्ञाज्ञानेन संवलितं नितान्तं च परिशुद्धं सच्चित्तमपेक्षितं भवति। अत एव कालचक्रतन्त्रानुरोधेन ज्ञानाग्निना चित्तस्य मलमात्रं सर्वं दग्धं भवति, न च दग्धं भवति तस्य प्रभास्वरत्वम्। अत एवानुत्तरायां भूमौ तथाविधं चित्तमुत्पादयितव्यं यद् वज्रपदेनाकलितं मन्यते। अस्मिन् कर्मणि चास्ति मानवानां देहस्यापि माहात्म्यम्। यतो हि तत्र सामान्यतया विशिष्टं चित्तं नावाप्तुं शक्यते, किन्तु भावनोपायैरनेकविधैस्तदवाप्तुं शक्यते। यथा काष्ठस्थोऽपि वह्निः नैव सुतरां दृश्यते, स एवारणिपाणिमन्थनाद् दृश्यो भवति, तद्वदेव देहस्थललनारसनानाड्योरेकयोगेन प्रबलश्चित्ताभासो लब्धुं शक्यते। देहस्य माहात्म्यं ख्यापयता देह एव कालचक्रमिति व्याख्यातम्, यतो हि कालो महासुखलक्षणः, तेनोत्पादितं भवति निरावरणं स्कन्धधात्वायतनादिकम्, तदेव योगिनः शरीरं चक्रमिति। अतो हि पृथिव्यादिकं समस्तं स्व-स्ववर्णैरस्मिन् शरीरे ज्ञातव्यं भवति।

सुविदितमेव तन्त्रेषु उत्पत्तिक्रम उत्पन्नक्रमश्चेति तन्त्रसाधनार्थम्। उत्पत्तिक्रमे च सन्ति क्रिया-चर्या-योगानां विशेषेण प्रयोगाः, तत्र देहस्य माहात्म्यं सुविदितम्। तत्रोत्पन्नक्रमस्तु नितान्तं प्रज्ञास्वभावो महामुद्रायोग एव सः। कालचक्रतन्त्रसाधनया स एवोत्पन्नक्रमयोगः सम्पन्नो भवति।

विमलप्रभाकारेणायं कालचक्रयोगः सुविशुद्धक्रमयोगनाम्नाऽभिहितः, अन्यक्रमेभ्यश्चास्य वैशिष्ट्यमपि ख्यापितम्। तन्मतेनायं वीरक्रम-स्वाधिष्ठानक्रमाभ्यां भिन्नः सुविशुद्धिक्रम एव। इदं कालचक्रतन्त्रस्य स्वकीयं प्रस्थानम्। वीरक्रमे प्राणक्षयमात्रं न बाह्यदेहादिकमवलम्ब्य योगः। स्वाधिष्ठानं च केवलं शून्ये त्रैधातुकदर्शनम्। अतो हि बुद्धैर्मोक्षायान्यतमो मार्गः सुविशुद्धक्रम एव सन्दर्शितः। सुविशुद्धक्रम एव प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रम्। तदप्यद्वयमात्रं न तत्र द्वैतलेशोऽपि। अत एव चेदं तन्त्रं निरन्वयम्। द्वैते प्रज्ञापक्ष उपायपक्षश्च सान्वयः, किन्त्वस्मिन्नसौ निरस्तः। अत एव प्रज्ञोपायात्मकं योगतन्त्रं नामाद्वयतन्त्रम्। अस्मिन्नद्वययोगतन्त्रे योगशब्दो नोपायार्थवाचकः, नापि प्रज्ञार्थवाचकः, अपि तु प्रज्ञोपायार्थवाचकः। स चाद्वयसमापत्तावेव सम्भवति। एतदर्थजातं प्रमाणीकर्तुं विमलप्रभायां तथागताभिप्रायोऽप्युदाहृतः—

योगो नोपायकायेन नैकया प्रज्ञया भवेत्।
प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग उक्तस्तथागतैः॥ (वि० प्र० उपोद्घाते, पृ० १८)

एतदेवोपसंहरतोक्तं विमलप्रभाकारेण—

"अतो यस्मिन् तन्त्रे प्रज्ञोपायात्मकोऽभिधेयो भवति, न तत्तन्त्रं प्रज्ञातन्त्रं नोपायतन्त्रं परमार्थतः। लोकसंवृत्या दशज्ञानादिभेदेन धातुस्कन्धविशुद्धितः प्रज्ञोपायपक्ष उक्तो मृदुसत्त्वाशयवशात् तथागतेनेति।''''तस्मात् प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं योगतन्त्रं निरन्वयं कालचक्रं परमार्थसत्यत इति।'' (वि० प्र०, पृ० १८)।

कालचक्रतन्त्रस्य वैशिष्ट्यं वज्रपदसंनिवेशेनापि प्रकटितं भवति। लोकसंवृत्या परमार्थतश्च द्विधा वज्रपदमभिधीयते। तत्र प्रथमं लौकिकसिद्धिदायकम्, अपरं महामुद्राफलसिद्धिदायकं भवति। विदित एव योगियोगिन्यादितन्त्रभेदैः उद्देश-निर्देश-प्रतिनिर्देश-महानिर्देशादिप्रकारैस्तन्त्राणां व्याख्यानभेदः। एतैः सर्वविधैरेव प्रकारभेदैर्वज्रपदमेव प्रकटितं भवति। उक्तं च विमलप्रभायाम्—

'अस्मिन्नादिबुद्धे वज्रपदं प्रकटमुद्देश-निर्देश-प्रतिनिर्देशैर्भगवता प्रकाशितम्, अस्यैव साधनाय महामुद्राभावना धूमादिनिमित्तमार्गः प्रकाशितः" इति। (वि० प्र० उपोद्घाते, पृ० १९)।

अयं च वज्रयोगो महामुद्रायोगेन सम्यग् आकलितो भवति। महामुद्रया च सहजं तत्त्वं नितरां निबद्धमास्ते। अत एव सहजमुद्रेति महामुद्राया अपरं नाम। मुदं हर्षं लाति राति वेत्यभिधया सामान्येन कर्ममुद्रा ज्ञानमुद्रा च गृह्यते। महामुद्राया इदं महत्त्वं यत् तत्र कर्ममुद्रा परित्यक्ता ज्ञानमुद्रया च सा रहिता भवति। एतादृशम् आलम्बनम् अधिगत्यैव केवलं प्रज्ञाकरुणयोर्योगाद् अनालम्बनं सहजं तत्त्वम् अधिगतं भवति। एतत् सकलं सौख्यपरिपूर्णं सद् अवतिष्ठते। प्रयोगक्रमेण महामुद्रा साधकैरधिगता क्रियते। प्रयोगबुद्ध्या सा यद्यपि साधकैरुत्पाद्यते, तथापि न उपादानकारणत्वेन किञ्चिद् आध्रियते वा अपनीयते वा। परमाण्वादिकारणसामग्रीभिर्द्रतोऽप्यन्विता च न भवति। अत एव सा सर्वाकारा सर्वलक्षणव्यञ्जनानुव्यञ्जनैः समन्विता च सती प्रतिबिम्बनिभा प्रतिसेनोपमा मात्रं जायते। प्रतिसेनोपमात्वेनैव इयं स्थितिः बुद्धत्वमधिकरोति। अस्य प्रयोगस्याधिष्ठानं चित्तमेव। तदेव बोध्यावाहकत्वाद् बोधिचित्तमित्युच्यते। अत्रैव प्रज्ञोपायात्मको योगः अनेकैः संवरैः रक्षितः काय-वाक्-चित्त-ज्ञानैः ऐक्यं भजते। अथ च महामुद्रात्मकं गन्धर्वनगराकारं "एवं"-कारस्वरूपं ज्ञानज्ञेयाभिन्नं अद्वयम् अक्षरसुखमनुभूयते। प्रयोगावस्थायां एतस्य एकं स्थानं वज्रमणौ अर्करूपे रजसि, द्वितीयं च शशिभूते उष्णीषशुक्रे अधिगन्तुं युज्यते। एतत्सर्वमपि अद्वयं सुखजातं अस्मिन्नेव देहे प्रकटं भवति। तदानीम् अयमेव वज्रधरस्य बुद्धस्य देहो भवति। यथा बहिः सूर्यप्रचारेण दण्डपलादिविभागः क्रियते, तथैवाध्यात्मनि प्राणसंचारेण विभागः क्रियते। स च चक्राश्रित एव। अत एव एतत् सकलं कालचक्रशब्देन ख्यापितं भवति। अस्मिंश्च देहे कायत्रयं चक्ररूपेण संस्थितम्। एतेषां परिज्ञानमेव महासुखचक्रम्। इत्थं यथा बाह्ये सूर्यो द्वादशराशिषु वर्षसंक्रान्तिभेदेन भ्रमति, तथाध्यात्मनि प्राणशक्तिः प्रतिदिनं द्वादशराशिषु द्वादशसंक्रान्तिभेदेन भ्रमति। एवंक्रमेण प्रज्ञोपायात्मकस्य आदिबुद्धस्य स्वदेहे ज्ञानं भवति। अत एव इहैव जन्मनि बुद्धत्वं लभ्यम्। कालचक्रतन्त्रयोगस्य माहात्म्यं ख्यापयता विमलप्रभायामुक्तम्—"इह त्रैलोक्ये सुरभुजगनृणां मध्ये योगी नास्ति यः समर्थः पूरयितुं चन्द्रादित्यौ स्वदेहे" इति कालचक्रैकवीर एव तथाविधः।

कालचक्रस्य गभीरं तत्त्वं महामुद्रासाधनमिति पूर्वमुक्तम्। तदीयं किं हार्दमिति सप्रमाणं प्रकाशयितुं ग्रन्थटीकानुरोधो नितरामपेक्षितः। सम्पूर्णकालचक्रतन्त्रं साक्षात् परम्परया वा अद्वयवादमेव प्रथयति। तद्धि शून्यताकरुणास्वरूपम्, अथ च तस्मिन्नेकस्मिन्

ज्ञानं ज्ञेयश्चैकमूर्तिः, तद्धि प्रज्ञा, सा च निराकारा साकारेति उभयथा परिचीयते। इत्थंभूतया निराकारया साकारया च प्रज्ञया अक्षरसुखरूपं परमादिबुद्धतत्त्वं समालिङ्गितमास्ते। इदं चाक्षरसुखं लौकिकालौकिकभूमौ अनन्तसौख्यादिप्रकारैः मण्डितम्, अथ च उत्पत्तिविनाशरहितम्। एषा सा प्रकृष्टा भूमिः या बुद्धानां बोधिसत्त्वानां जन्मभूमिः कर्मभूमिश्च। एतत् सकलमपि तत्त्वदृशा अद्वयमेव। एतद्धि तत्त्वं निर्माणसम्भोगधर्मकायैः विदितम्, अथ च अतीतानागतप्रत्युत्पन्नकालैश्च संविदितं भवति। एतत् सकलं लक्षणजातं संहृत्य अस्मिन् कालचक्रयाने आदिबुद्धत्वेन वा परमादिबुद्धत्वेन वा उपस्क्रियते। सुविदितमेव तन्त्रविदां विदुषां यत् पूर्वोक्तलक्षणानुलक्षणमण्डितं तत्त्वं न कश्चिद् देवो वा देवातिदेवो वा, तद्धि तत्त्वं विशिष्टं योगभूमिमात्रम्, तदेव परिचाययितुं अस्मिन् तन्त्रे षोडशाकारभेदभिन्नो वज्रयोगः। अतः कालचक्रमित्युक्तः। अस्यैव श्रीकालचक्रस्य वज्रयोगस्य संवृति-परमार्थसत्याभ्याम् अभिधानं सकलेऽस्मिन् तन्त्रे विधीयते। केनचित् पाण्डित्याभिमानिना विदुषा आचार्येण वा एतत्तत्त्वं व्याकर्तुं न शक्यत इति मत्वा विमलप्रभाकार आत्मानं लोकनाथमिति मत्वा मञ्जुश्रिया चोदितं सुगतव्याकृतं च वज्रयोगं महामुद्रापरपर्यायं व्याख्याति। उक्तं टीकायाम्—

"अस्य श्रीकालचक्रस्य वज्रयोगस्य सर्वतः।
सत्यद्वये स्थितस्यास्याभिधानं वाचकं भवेत्॥
अस्मिन् तन्त्रे मया टीका सुगतव्याकृतेन वै।
मञ्जुश्रीचोदितेनैव लोकनाथेन लिख्यते"॥इति।

अयं च वज्रयोगः सत्त्वव्याख्यानदृष्ट्या वज्रसत्त्वः। स च ज्ञानज्ञेययोरद्वयः, किन्तु चतुर्भिर्योगैः समन्वितः सन् चतुर्धा स्फुटो भवति। तत्र चत्वारो योगाः शुद्धज्ञानैकयोगः, चित्तधर्मैकयोगः, वाक्सम्भोगैकयोगः, कायनिर्माणयोगश्च। एनामेव अशुचिदेहप्रतिमामाधाय एतैरेव योगचतुष्टयैः जिनरत्नप्रतिमां विदधति, तद्वशाच्च अयं सम्पूर्णो मानवदेह एव वज्रसत्त्वायमानः सहजां सत्त्वार्थक्रियां करोति। अत एवायं देहो महासुखावासोऽपि कथ्यते। इदमेव च वज्रसिंहासनम्, अच्छेद्याभेद्यमण्डलविधानात्। अत्रैव च "एवं"-कारोऽपि, यतो हि एकारे आकाशधातौ काय-वाक्-चित्त-ज्ञानात्मकस्य "वं"-कारस्य योगो भवति। वज्रसत्त्वस्येदमधिष्ठानं बुद्धरत्नकरण्डकत्वेनापि व्यवह्रियते परमाक्षरसुखरूपत्वात्, इदं बुद्धरत्नं वज्रमणि-पद्माभ्यां समवेतत्वान्मञ्जूषाभूतं करण्डकमिव। तदेव उद्घाटितं भवति एतेन तन्त्रराजेन श्रीकालचक्रेण। एतद्धि करण्डकं स्वस्मिन् लौकिकलोकोत्तरसत्यद्वयम् आश्रयति। सत्त्वानां लौकिकसिद्धिसाधनाय मण्डलचक्रविकल्पभावनाः क्रियन्ते। अयमेवोत्पत्तिक्रमः। अयमेव च केवलं लौकिकदृष्ट्या सत्यम्। धूमादिनिमित्तमाश्रित्य प्रवर्तितेन निर्विकल्पचित्तेन उत्पत्तिविरहितेन मुखभुजवर्णसंस्थानादिकल्पनारहितेन महामुद्रासिद्धिः क्रियते। अयमेवोत्पन्नक्रमः सहजो निर्विकल्पो वज्रयोगो यः कालचक्रतन्त्रस्य प्रमुखं प्रतिपाद्यम्।

इत्थं कालचक्रतन्त्रं नाम प्रज्ञोपायात्मको योगो यो मया पूर्वं संक्षिप्य लिखितः। तत्र कालः करुणाशून्यताभ्यां निर्मिता मूर्तिः, या सत्यदृष्ट्या संवृतिरेव। शून्यता च चक्रम्। अथ च कालो महासुखलक्षणः परमाक्षरः, तेनोत्पादितं स्कन्धधात्वादिकम्, किन्तु

न सावरणम्, अपि तु सर्वथा निरावरणं तदेव च चक्रमिवेदं शरीरम्, तदेव कालचक्रम्। अथ च अक्षरसुखज्ञानं प्रज्ञा वा कालः, स च करुणात्मकः, चक्रं च समस्तं ज्ञेयाकारं जगत्, श्रीश्च शून्यात्मिका प्रज्ञा। इत्थंभूतः कालचक्रो भगवान् उच्यते, मारक्लेशभञ्जनार्थम् ऐश्वर्यादिगुणसम्भारार्जितत्वाद्धेतोः।

एतस्य कालचक्रवज्रयोगस्य नितान्तं दुष्करत्वाद् विघ्नबहुलत्वाच्च अनायासेन लौकिकविघ्ननिवारणार्थं योगिनीध्यानमनिवार्यमिव भवति। श्रीयोगिनीनां स्थानमप्यस्मिन्नेव कलेवरस्थितकुलिशमणिगृहे वर्तते, तत्र प्रवेशाय द्वात्रिंशल्लक्षणाङ्को गुरुरपि अपेक्षितो भवति।

अस्य च कालचक्रतन्त्रप्रवर्तनस्येदमपि महत्त्वाधायकमुद्देश्यं यद् ये द्वीन्द्रियसुखाभिलाषिणः सत्त्वाः कामोपभोगरहितानि शीलानि नानुवर्तन्ते, तेषां स्वचित्ताभिप्रायेण इहैव जन्मनि बुद्धत्वलाभाय इदं तन्त्रं फलप्रदं भवति। एतदर्थं च पुण्यज्ञानसम्भारो नितरामपेक्षितो भवति। न हि कुकर्मणि रता अत्र प्रवेशमधिकुर्वन्ति। किन्तु ये प्राग् हिंसासुरापानादिपञ्चानन्तर्यरौद्रकर्माण्यपि कृतवन्तः सन्ति, तेऽप्यस्मिन् मन्त्रयाने मन्त्रचर्यापरायणाः सन्तो बुद्धत्वं लभेयुरिति लक्ष्यमनुगन्तारोऽधिकारिणः। उक्तं च—

"चाण्डालवेणुकाराद्याः पञ्चानन्तर्यकारिणः।
जन्मनीहैव बुद्धाः स्युर्मन्त्रचर्यानुसारिणः॥ इति।

एतादृशाधिकारलाभे निमित्तं बोधिसत्त्वानां परार्थपरायणत्वमेव। यतो हि मन्त्रनये प्रवेशलाभाय समयसंवरग्रहणं नाम शीलसमाधिसम्पन्नत्वमनिवार्यं भवति।

अस्य कालचक्रतन्त्रस्य उपरि प्रदर्शितं सकलमपि विषयजातं स्ववैशिष्ट्यं ख्यापयति। उपक्रमोपसंहाराभ्यां यथा समञ्जसं तथाऽत्र प्रयासो दृश्यते। सुविदितमेव नेयार्थनीतार्थत्वाभ्यां शास्त्रप्रतिपाद्यनिर्धारणं नाम। कालचक्रे तु नेयार्थनीतार्थनिर्धारणे गुरूपदेश एव प्रमाणमिति स्वीकृतम्। इत्थमेव सामान्येन परमार्थसंवृतिसत्याभ्यां द्विधा देशना तन्त्रवादिभिरपि स्वीक्रियते, तथापि अनयोरैक्यमधिगत्य प्रज्ञोपायात्मको वज्रयोगः परमाक्षर आदिबुद्धो निरन्वयः कालचक्रो भगवान् वज्रसत्त्वः, स च स्वाभाविककायसम इति तन्त्रम्। स्वाभाविककाय एव फललक्षणे मन्त्रनये सहजानन्दः सहजकायो नीतार्थत्वेन निश्चितो भवतीति कालचक्रतन्त्रस्य विशेषः। इत्थमेवात्र एकक्षणाभिसम्बोधिर्नाम परमाक्षरसुखलक्षणाभिसम्बोधिरिति कालचक्रविद्भिः स्वीकृतम्। प्रसङ्गतः तर्कबाहुल्येन एकक्षणो नैव भवतीति प्रतिष्ठापितम्। तेषां चानुकूलमप्रतिष्ठितनिर्वाणमिति कथनं न तथा सम्यक् तत्त्वावबोधकं यथा भवनिर्वाणाप्रतिष्ठितमिति कथनम्। तन्त्रेषु चतुर्थं प्रज्ञाज्ञानं महामुद्राभावना धूमादिमार्गैः स्वीकृतः, किन्तु स वज्राचार्यपारम्पर्येण लब्ध इति नाङ्गीक्रियते। अत एव कालचक्रतन्त्रे वीरक्रमं स्वाधिष्ठानक्रमं नैव स्वीकृत्य विशुद्धक्रमोऽङ्गीकृतः, येन महामुद्रासिद्धिदायकं परमादिबुद्धतन्त्रं प्रकटं स्यात्। कालचक्रतन्त्रस्यैतद् रहस्यपूर्णं वैशिष्ट्यं न व्यासेनेह विवृतम्; एतत् सर्वम् अर्थजातं विमलप्रभाया अवसानखण्डे सविस्तरं विवेचयिष्यते। इह चाग्रे विमलप्रभायाः संस्करणे सम्पादने च कासां हस्तलिखितानां प्रतीनामुपयोगः कृतः, एतत् सर्वम् आङ्गलभाषायां प्रस्तुते उपोद्घातेऽग्रे सूचितम्, तत्तु तत्रैवावलोकनीयम्।

PREFACE

The Buddhist Tantra is specifically known to be in four orders as, Kriyā, Caryā, Yoga and Anuttarayoga. Foremost of these is the Anuttarayoga. As of auxillary nature the three other orders must not be considered to be less significant, rather they are the successive steps which are leading upward are conducive to the highest ground of Anuttarayoga. In an implied order, all of these together call for unprecedented bliss.

It is a fact that Tāntrika texts of Buddhist import in Sanskrit became non-existent in India before several centuries, so that not a trace of these has been found for a very long time. Fortunately, there has been a basic shift in this field since many Tāntrika works of Buddhism were discovered in Nepal in the vicinity which posed enormous difficulty in scientific investigation in the beginning. But about fifty years ago, a great many scholars of Bengal procured precious manuscripts from Nepal and Tibet. Some of these illustrious men were Rajendra Lala Mitra, Mm. Hara Prasad Shastri and Prabodha Chandra Bagchi. There have also been scholars from out of Bengal as Mahāpaṇdita Rāhula Saṅkṛityāyana and others who brought such inexhaustible treasure, During recent ten years, I have made four attempts to bring rare texts from Nepal and, thus, contribute to the field of exploration. Presently, there are many rare mss. in my possession among which the Kālacakra Tantra is most conspicuous in point of antiquity, size and as a treasure of all the tantras. Its perceptive commentary *Vimalaprabhā*, literally of immaculate light, was not available till the present time. The work and commentary both are in five books (Paṭala) each.

It may appear strange that despite an unusual response neither the work nor its commentary have been found completely in any collection. The fifth paṭala of the commentary remained, entirely obscure till it has been recovered by me partially.

While determining the age of the composition of the Vimalabrabhā-Tīkā of the abridged Kālacakra Tantra, we glimpse through relative episodes implicit in its chronology. The ṭikā dwells on the transmission of Buddha's expositions upto Daśabala who prophesied the small Kālacakra Tantra based on the original expositions of the Ādi Buddha. This Tantra was further delineated by Mañjuśrī in the Kalāpa Deśa (unidentified). In former days the commentary of this Tantra had been done by King Sucandra

in 60,000 ślokas, Puṇḍarīka wrote another commentary in 12,000 Ślokas which was based on the former. This commentary gives the essence of the Buddhist Tantras. It defines the terms Vajra, Vajrapada and Vajrayāna in all components. The Vajra tradition avers, that it had been enunciated by Śāstā Buddha. The Vajrasatva Bodhisatvas had organised the Vajrayāna Saṁgīti. Puṇḍarīka made his work for the obliteration of the confusion of such who hold a different view. In true essence, bliss or nirvāṇa which dispels obscuration and obtains the angelic grace is the effulgent prajñā (transcendent wisdom) which is inculcated by the Kālacakra devices. Among all the Buddhist ways it is surely the fastest way to derive supreme pleasure, but entrance into the path is vigorously fortutious. This is ardently laid in the second paṭala of the commentary which focuses on an interdependent objectivity, what relates to this dimension, the interdependence, is a systematic experience—faith in Buddha, Śrāvakas and the Pratyekabuddhas, the cause (hetu) and effect (phala), logic of the Vajrayāna and ultimately foreseeing the non-entity of substratum assimilate the objectless compassion (Karuṇā which makes entrance into mahāmudrā, the integration or realisation of śunyatā very real.

The Vimalaprabhā narrates that the specific tantra had been discoursed by the Tathāgata Buddha in the north of the Śitā River. The Credentials of the tantra were put to trial by Vajrapāṇi who convened a council to authenticate the text for transmission. It was called Nāmasaṁgeti. As being literally disposed (nītārtha), the total mantra-naya was very well established in the nāmasaṁgīti. The same authenticity was conveyed by the Kālacakra. The Vimalaprabhā is full of praise of its saving phenomena, "ye paramādi Buddham na jānanti, te nāmasaṁgītim na jānanti, ye nāmasaṁgītim na jānanti, te Vajradhara jñānakāyaṁ na jānanti, ye vajradhara-jñāna kāyaṁ na jānanti te mantrayānaṁ na jānanti, ye mantrayānaṁ na jānanti te saṁsāriṇaḥ sarve Vajradhara bhagavato mārgarahītāḥ (p. 52)."

Those who are desirous of salvation must be exhorted by the illustrious guru. The work plainly asserts that the Ādi Buddha is the same as Kālacakra and the Vajrasatva.

While we think of the region where the Kālacakra arose, we first of all think of Śrī Dhāñyakaṭaka. That, indeed, is the place where mantrayāna originated and the Kālacakra is an offshoot of the mantrayāna; according to this logic the tantra might have been cast here. The commentary suggests a spiritual as well as a profane origin. There are indications in it to have been preached at Kalāpa-grama or, Aḍakavatī in the Śambhala country. Spiritually, the toponomy is irrelevant. Its spirituality is mani-

fest in the term "Evaṁ" in which "E" is the Vajrasiṁhāsana on which is the "Vaṁkāra" seated. From this it may be inferred that the Kālacakra Tantra was discoursed by the Ādi Buddha Sucandra, the son of the Lord of Kalāpa-grāma, Sūryaprabha and his consort Vijayādevī convened the council for the deliverance of Kālacakra. Thus, this tantra traces, a human pedigree also of the Śākya Sage as having been born of King Śuddhodana and Mahāmāyā Devī who preached the esoteric method. In the allegorical sense, Buddha represents the "Psych" in all its luminosity as against the tempter (Māra) who is grounded in impurities. What, therefore, calls for effacement of Māra is the emanation of the Buddha Mind. From this simple analogy of Buddha and Sucandra Vajrapāṇi the commentator replies the objection of some tāntrika scholars that the esoteric methods are only divinely instilled. Efficacy of birth and place do not count for the transmission of the Kālacakra.

The historicity of the tantra has also been clearly established on acute chronology. The mūla Vimalaprabhā Ṭīkā describes the early Islamic history as found in any competent work. The events are so graphically cast that they appear to have been taking shape before the very eyes of the commentator,

"Ādyābdāt Ṣaṭaśatābdaiḥ prakaṭayaśaḥnṛpa
Śambhalākhye bhaviṣyati/,
Tasmānnāgaiḥ Śatābdaiḥ Khalu makhaviṣaye
mlecchadharmapravṛittiḥ//
Tasminkāle dharaṇyām sphuṭalaghukaraṇam
mānavairveditavyaṁ,
Siddhānām Vināśaḥ Sakalabhuvi tale
Kālayoge Bhaviṣyati." (p. 27).

The word "Ādya" stands for the appearance of Tathāgata Buddha. After six hundred years of his appearance the illustrious Mañjuśrī would be born in the north of the Sītā River in Śambhala and eight hundred years thenceforth would grow in the land of Makha (Mecca in Arabia) a community of the Mlecchas). At that time the principles of jyotiśa like the Brahma, Saura, Yamanaka and Romaka would vanish and those hostile to the Buddha will perish. But Buddhists would be saved on the term of practising the Kālacakra Tantra. Such a time called for the wisdom of "Sphuṭalaghu Karaṇam", a jyotiṣa specification about which it has been said,

"Vahnau khe' bdhau vimiśraṁ
prabhavamukhagataṁ mlecchavarṣaṁ prasiddhaṁ/
Ūṇam mlecchendra varṣam karaphaṇaśaśinā Śeṣamarkāhatam ca//

Thus, after a period of 600 years from the birth, of the Buddha, the period of Mañjuśrı-Yaśa occurred when the karaṇa had been Dhruva; from that after 800 years there began the Mleccha era, thereafter subtracting 182 years occurred kalki era, calculated astronomically. The period is further calculated into 130 years. In order to explain the mlecchavarśa I have obtained another small manuscript based on the calculations of the Kālacakra named "*Kālacakrānusārigaṇitaṁ*" which on its first folio states that the era points to śaka-varṣa 1091. In Vikrama Saṁvat 679 the Hijri era began. The commentary speaks of this period to be mlecchakāla, whence in V. S. 679 the Hijri era began. In this chronological structure there had been a military march of King Mahamud of Ghazni (C. 1025 A. D.). During the march there will be great holocast resulting in moral crisis. Alongwith the notable events the method of escape from the orgies has also been stipulated. According to Vimalaprabhā, the era was so called Mleccha Madhumat. Among the details of the Hijri era, we, subsequently find Mecca being referred and a great war taking place in Baghdad. The commentary states that there will be (or took place) a terrible war among the Devas, Dānavas and Mlecchas in the city of Baghdad. At that time only the spiritual message of the Kālacakra would save them, So sayeth the Lord (Yaśa), "I must enter the maṇdala hallowed by the Lord Kālacakra and perform consecration (abhiṣeka) for the joy of the mundane and the transcendent worlds."

The semblance of Kālacakra from the historical angle in giving details of real situations is further comprehended in telling the names of the preceptors who preached the Tantra. The order is : Ādi Buddha, Daśabala and Mañjuśrī Yaśa, Daśabala had abridged the tantra and thereupon Mañjuśrī preached at Kalāpa a minor tantra (laghu tantra). Taking this work as a "base Sucandra wrote a comprehensive commentary in 60,000 Ślokas which was abridged by Puṇdarika in 12,000 Ślokas called the Vimalabrabhā. The special trait of this commentary is that it fully delineates the *Vajrapada*,

"Asmin tantre mayā ṭikā
Sugata Vyākṛteṅa vai,
Mañjuśrīcoditenaiva lokanāthena likhyate
(V. P., P. 1)

In the transmission of the Kālacakra, Buddha and Bodhisatva stand for the guru and śiṣya as in the nirmāṇa and sambhoga kāyas. Here, the physical bodied Vajrapāṇi Sucandra propitiates the Buddha for the prosperity of the beings. The Tathāgata heeds the prayer and preaches the illuminating tantra to the people of Śambhala, dwellers of the village like

ṣaṇvatī to the north of the Sītā knowing them to be pure in thought. For simplification of the tantra Tathāgata enjoined up on Mañjuśrī to put the tantra in 12,000 Ślokas in the form of laghutantra. For the initiation in Vajra Kula and the object of synthesising (Ekakalka) the people of diverse castes Sucandra yāśa became known as kalki. By the same process by which Kalki came up on earth, Puṇḍarīka became the second Kalki. There had been, thus, a whole lineage of Kalki of the Vajrakula who preached the good law. We may recall some of them to be as Candra, Sureśvara, Tejī, Somadatta, Sureśvara, Viśvamūrti. Sureśān, Yaśah, Puṇḍarīka, Sūrya-prabha, Sucandra, Kṣitigarbha, Yamāntaka, Jaṁbhaka Mānaka, Khagar-bha, Lokanātha, Yamādi, Daśakrodha who had physical emanations and who showed the Buddha's path. There had been, thus, 13 Kalkis, foremost of whom were Yaśa, Puṇḍarīka, Bhadrakalki, Rakatapāṇi, Viṣṇugupta and Arkakīrti. These names while evoking mystery are to be historically investigated.

Language Analysis :

The Vimalaprabhā has tacit views on language. It is a commonplace experience that the usual tāntrika texts are deep in meaning but imperfect in syntax and grammar. More especially, the Buddhists have from the beginning been philosophers and seldom etymologists. The *Vimalaprabhā* exegesists have totally rejected the efficacy of rhetorical techniques.

"Yena yena prakāreṇa satvānāṁ Paripācanaṁ,
Tena Tena prakāreṇa kuryad dharmasya deśanām /
Yogiśabdopaśabdena dharmaṁ gṛhnāti yatnataḥ,
Deśaśabdena labdhe' rthe śāstrāśabdena tatra·kim //

So, in prose also : "Some terms have corrupt words that are vague, some are definitely mistakes of some kind, some have consonantal or vowel lapses, some have wrong morphology, some have long for short and some short for long, in declension, some terms use the locative (saptamī) for ablative (pañcamī), ṣaṣṭhī (genetive) for dative (caturthī), some verbs are in the ātmanepada which should have been used as in the parasmaipada, some singulars are in plurals, some plurals in singulars, there are examples of neuter used for masculine and the masculine in place of neuter genders, sibilants are seen interchangeably used defying their character". Such instances are so common that they even after the textual restoration obtrude on the grammarian.

Mudrā-Yoga

While conceding the various esoteric stages we come to the invincible principles of unification (mudrā-yoga). As ultimate realisation it is comprehended as intuitive wisdom, Prajñā-jñāna, Mahāmudrā, Caturtha Para-

mākṣara). Those who do not have the access to it, only have perishable prosperity alternating with misery. The desirous of freedom even cast away the joy of kingdom, if he is capable to understand. The unwary notwithstanding the attainment of worldly pleasures still hanker for them. The aim of this tantra is achievement of incessant bliss. For its attainment a most capable mind must be developed. The Supreme thrust of the Kālacakra is ultimate wisdom (prajñā) which is immaculate and perfect. The owner of such pure mind has all the inherent defilements burnt within, what remains still ablaze is the luminosity (prabhāsvartvam). Therefore, such a pure mind is to be cultivated by constant constraint up on our activities. That is the method of the Vajrapada.

Physical body does have a unique part in developing the mind. There are special minds grown perfect by the esoteric method-meditation as the best of these which develops the insight. Just as we do not see fire exist in wood but that which is produced by rubbing the araṇis with the hands, in a similar way the essential (pure) mind can open up by unifying the psychic nerves Lalanā (Prajñā) and Rasanā (Upāya) culminating into the effulgent Vajrapada,

Since Kāla is great bliss, the Skandhas, dhātus and āyatanas mark "cakra" (wheel) in the body of their inception into it. The yogi perceives all these in his own body. We find special practices of utpanna and sampanna krama, In the former Kriyā, Caryā and yoga are envisaged and the latter jesticulates state of prajñā alongwith mahāmudrā. The mahāmudrā yoga is verily, the objective of the Kālacakra Siddhānta. The commentator of *Vimalaprabhā* calls it the order of Kālacakra, a superior and much subtler order. This varies from the Virakrama and Svādhiṣthāna Krama. Buddha discoursed on a unified method of prajñopāyātmaka yoga, where the term yoga does not mean simply method or wisdom but both together, a basic concept known as the Buddha Vacana.

> "Yogo nopāyakāyena naikāyā Prajñayayā bhavet/
> Prajñopāyasamāpattiryoga uktastathāgataiḥ//
> (V. P., P. 18)

In Conclusion

"Ato yasmin tantre prajñopāyātmako-abhidheyo bhavati, na tattantraṁ prajñātantraṁ nopāya tantraṁ paramārthataḥ. Lokasaṁvṛtyā daśa jñānādibhedena dhātuskandhaviśuddhitaḥ, prajñopāyapakṣa ukto mṛdusatvāśaya-vaśāt tathāgateneti .... tasmāt prajñopāyātmakaṁ tantraṁ yogatantraṁ niranvayaṁ kālacakraṁ paramārtha satyataḥ". (VP. P. 18).

The wisdom of Kālacakra Tantra may be further known from the inclusion in it of Vajrapada which is of the nature of two truths, empiricism

and transcendence. First of these bestows worldly prosperity and the other is conducive of śūnyatā-jñāna, the great symbol for spiritual unification or Mahāmudrā. The real meaning of Vajrapada defys schismatic expositions and points to Vimalaprabhā for advice, q.v :

"Asminnādibuddhe Vajrapadaṁ prakaṭamuddeśanirdeśapratinirdeśai-rbhagavatā prakāśitaṁ, asyaiva sādhanāya mahāmudra bhāvanā dhūmādi-nimittamārgaḥ prakāśitaḥ,"

(V. P. P. 19)

Mahāmudrā consummates the Vajrayoga. With the Mahāmudrā Sahaja (as in nature) is closely enjoined. Thus, mahāmudrā is also called Sahaja Mudrā. The word "mudaṁ", pleasure connotes pleasure of the divine and is connected with mudrā-Generally, mudrā means karma-mudrā or jñāna-mudrā and the leaving off the two is believed to be purposive of accomplishing true nature by unifying the female principle (prajñā). Such a vision of Mahāmudrā does not conjure amorousness. The yogī carries over with the signs and forms through seeming shadows (pratibiṁba prati-senopamaśca) so that he does not experience the tramels of composition and dissolution, endowed by many "Saṁvaras", vows. By the unity of body (Kāya), speeeh (Vāk), mind (citta) and jñāna (wisdom)—he attains the unity of Supreme Wisdom which evolves the Buddha Mind.

The yogi realises the bliss of the mahāmudrā even in the present body which is of the nature of "without duality" (advayaṁ), without construction of any kind and as having been transcended to a world of other reality, the city as of the Gandharvas. The yogī experimenting within the body obtains in one place "Vajra-maṇi" that is in the form of sun appearing in rajas (menstruous excretion) and at other as "Usnịṣa-śukra" (Sperm) which appears to be moon. All this means unity of great pleasure realised physically. The body at such extraordinary moment is only the material form of the Vajradhara, Buddha.

As time is divisible in daṇḍa and pala, clockwise, depending on the sun, so the vital breath (Prāṇa) takes to an innate spiritual segmentariness through the breaths. Since these rest on cakras, the whole system is based on the Kālacakra. Symptomatically, the three kāyas are inset in the form of Cakras in the body, to know which is to know "Mahāsukha-cakra", what we see in the external world as the sun moving and making round the year and seasons up on twelve stars (rāśis), the vital energy of spirit also does move round them. In this way is the Ādi-Buddha to be visualised inside the body as integrating the great wisdom and skill. So it is impossible to achieve enlightenment (Buddhatva) in this life. The supremacy of the kāla-cakra as an esoteric system finds great praise in the *Vimalaprabhā* :

"Iha trailokye surabhujagaṇaṇāṁ madhye yogī nāsti yaḥ samarthaḥ pūrayitum candrādityau syadehe". In the three worlds where live the gods, vipers and men we do not see a single yogi who can unite the sun and the moon in the physical body. This may accomplish the kālacakra warrior, (Kālacakraikavīra) alone. Basically the Kālacakra recommends mahāmudrā to be the focal point in practice. The treatise is both in tradition and actuality a monist (advayavādin). The prajñā can be prognosicated both in "form" and "formless" states; Mahāmudrā provides ground for total bliss, where evolution and destruction do not exist, where the three kinds of emanations are conceived in the Trikāya assemblage of nirmāṇa-saṁbhoga Dharma, Tatvas, where the past, the incipient and the present are understood to be one and where the numerous Buddhas and Bodhisattvas are born and play their parts in the Kālacakra of the Yogabhūmi. A synthesis has been drawn on these for which it justifies its name. It contains the specific metaphysically postulated emperics—transcendental dimensions alongwith the Vajrayoga esoteric system. The commentary says :

"Asya Śrī-Kālacakrasya Vajrayogasya Sarvataḥ
Satyadvaye Sthitasyābhidhānaṁ Vācakaṁ Bhavet/
Asmin tantre mayā ṭīkā sugatavyākṛitena vai,
Mañjuśrīcoditenaiva lokanāthena likhyate//

From an ontological assumption the Vajrayoga symbolises vajrasatva in the linear concept of the six satvas as Vajrasatva-mahāsatva-Bodhisatva-Samayasatva-Vajrayogasatva Kālacakra meant for the good of the sentient beings. Having drawn up on these analogies the commentary points to the function of the four categories of yoga with which the Vajrasatva may have to be closetted. These categories are :

1. Śuddhajñānaika Yoga,
2. Cittadharmaika Yoga,
3. Vāksambhogaika Yoga, and
4. Kāyanirmāṇa Yoga.

Thence, two technical methods are to be pursued, one called the "Maṇḍalacakra-Vikalpabhāvanā and the other contextually known as the "Mahāmudrā Siddhi". These are the very senews of the Sahaja Vajra-Yoga where the body becomes the repository of great bliss (Mahā Sukha) illuminated in maṅḍala and Vajra-Siṁhāsana. As the *E*, which signifies the ākāśa becomes a component of Kāya, Vāka, Citta and Jñāna, expressed by "Vaṁkāra." "The whole becomes an agglomeration (Karaṇda). This is the mystery which Kālacakra has bared.

The text offers a conceptual image of kāla as being of the nature of a synthesis of phenomenal Karma and Śunyata which truely symbolises

Cakra, what is great bliss, Kāla, the scatheless (Paramākṣara) weaves out the skandhas and dhātus, but is not of form but "formless", The body is like the wheel and thus the kālacakra shou'd be known, Wisdom of the indestructible to be as prajñā, also kāla but that what is compassionate and wheel as the symbol of all the knowable world. Bliss is śūnyātmikā prajñā, and the world is symbolised by Cakra. The abstruse nature of the Kālacakra-vajrayoga needs the grace of yoginī to encounter the obstacles for which meditative practices are to be performed. This should be done with the help of a virtuous guru.

The turning of the Kālacakra and transmission of its message is of the vital significance. Those whose desires remain unsatiated and who are unable to be chaste in the practice of morals can be greatly benifitted by the idea of being enlightened in this life. For this acquisition of virtues (Puṇya-Sambhāra) and of perceptivity (Jñāna-Saṁbhāra) are to be aimed at. But those who are moral wrecks cannot be permitted into the path. If, howwever, someone who habituated to heinous criminal acts swears earnestly to shun from the immoral acts completely he can with that vow practise the caryā of the mantra-naya. This is stated as, "Caṇḍālaveṇukārādyāḥ pāñcānantaryakāriṇaḥ / Janmanīhaiva Buddhāḥ Syurmantracaryānusāriṇaḥ //

(V. P., P. 15)

For being authorised to practise Samaya-Saṁvara to be able to perform good to others and live a moral and meditative life the Bodhisatvas have to strive. The kālacakra, thus understood, is "Bhagvān. He is bhagvān for obliterating the evil and as he possesses all the qualities like "aiśvarya' the great prosperity).

Thematic peculiarities have been summarily given above to illustrate the responsiveness of the integrative Kālacakra. What the scriptures know as the literal (Nīta) and the adaptive (Neya) meanings, in the Kālacakra literal and symbolic truths (paramārthasaṁvṛiti Satyobhayam) have been drawn on the themes of the Kālacakra. Thus, the "Prajñā Opāyātmaka Vajra-Yoga" is manifested in it that belongs to Lord Vajrasatva. The Vajrasatva possesses the natural body and has access to the moment of ultimate bliss. Contextually, "bhava-nirvāṇa" in place of "apratiṣthita nirvāṇa has been transcribed. The Kālacakra does not accept the Vīrakrama and Svādhiṣthāna Krama, but only the viśuddha Karma for the inculcation of mahāmudrā, that which illumines the Paramādibuddha Tantra. More exhaustive analysis of the esoteric theme is yet, to be brought. A brief descriptive note on six mss. of the Vimalaprabhā Tīkā brought from Nepal which have been utilised in the present work is given below.

The Crttical Apparatus :

The six manuscripts utilised in the editing of Vimalaprabhā Ṭīkā with the original Śrī-Laghukālacakra-tantra-rāja are designated as Ka, Kha, Ga, Gha, Ṅa and Ca and the variants have been provided from them. Besides the Tibetan translation of the Vimalaprabhā Ṭīkā has also been used and its important readings with Sanskrit equivalents provided and this has been designated as Bho. The Tibetan text used is of the sDe dGe edition publshed recently by Dharma Publications. In the margin of the pages T stands for this Tibetan text and the page number provided by its side indicates that it starts from the word existing in that line.

A brief descriptive note concerning the above mentioned six Sanskrit manuscripts of Vimalaprabhā Ṭīkā is given herewith :

Ka (क) *MS.*—The manuscript is preserved with Pandit Divya Vajra Vajracharya of Kathamandu, Nepal. The entire Ṭīkā (up to the fourth Paṭala) has been reconstructed from this manuscript. The manuscript has been scribed on Nepalese paper and consists of 332 pages. It is in the Devanāgarī Script. Here the commentary is available up to the fourth chapter only and the fifth chapter contains only the original verses. The first chapter contains commentary upto the 94th verse only. A special feature of this MS is that the original verses are followed by the commentary from the very beginning. In other manuscripts we do not find the verses, and only the commentary is given. While editing the text a coherence has been sought to make the verse compatible with the commentary.

Kha (ख) *MS*—The manuscript is preserved with Pandit Asha Kaji Vajracharya of Patna, Nepal. A microfilm copy of the manuscript was prepared at the instance of the Nepal German Manuscript Preservation Project on 13th August, 1978. The microfilm Reel (No. E 618/5, Running No. E. 13746) is preserved in National Archives, Nepal. There are 325 folios in total scribed on Nepalese paper in the format of 23.8 × 12.7 cm. with 9 lines on each page. The manuscript is in Newari-compounded Devanāgarī Script, The commentary available in this manuscript is up to the fourth chapter only. The commentary of the fifth chapter and its original verses are inextant. This manuscript, too, contains the commentary up to 94th verse of the first chapter only.

Ga (ग) *MS.*—Palm Leaf manuscript, in the National Archives. Kathmandu, Nepal;

C. No. 5-240
V. No. 9
Subject—Buddhist Tantra
Lines—6
Script—Newari
Size—48 × 5.5 cm.

The manuscript has been microfilmed by the Nepal German Manuscript Preservation Project, as Reel No. A 48/1. This version is incomplete. It commences from page 58 and runs up to page 364, but many leaves in between are missing. There are 262 leaves extant. In this MS. the commentary is available from 36th verse of the first chapter up to the 80th verse of the fifth chapter. The manuscript has the distinction of having much more text of the commentary than what is available in the Ka, Kha mss.

Gha (घ) *MS.*—Palm Leaf MS. in the National Archives, Kathmandu, Nepal.

C. No. 5-238
V. No. 68
Folios—157
Lines—9
Incomplete

Script—Newari
Size—32 x 4.5 cm.

The manuscript has been microfilmed by the Nepal German Mannscript Preservation Project, on 19th Oct., 1970, as Reel No. B. 31/16. The total No. of leaves given is 157, though there are 137 leaves extant. The commentary available here is from the beginning of the first chapter upto its 135th verse.

Ṅa (ङ) *MS.*—The manuscript is preserved in the National Archives, Kathmandu, Nepal. It is in the Devanāgarī Script and is incomplete. It contains commentary from the beginning of the first chapter, wherein it goes up to the verse No. 36th whence the Ga Manuscript commences.

C. No. 5-241
V. No.—15
Folios—153

Script—Devanāgarı

Ca (च) *MS.*—This Is a Palm Leaf Manuscript preserved in the Library of the Asiatic Society, Calcutta and bears the No. 10766. Its script has been mentioned as Archaic Bengali and due to its archaic character it is obscure in reading. This Ca MS. has been described as a complete text of the Vimalaprabhā Ṭikā and its special feature is that it contains the text of the commentary of the fifth chapter (Paṭala) too, whereas the other mss have not got the commentary of the fifth chapter.

Bho (भो.)—This refers to the famous sDe dGe edition Vol. No. 40, Text No. 1347, consisting Tibetan translation of Vimalaprabhā, published

by Dharma Publications, U, S. A., in 1981. The text begins from the main page No. 238 and in the margin of our text, its main page numbers have been given so that the scholars interested in further researches might consult the Tibetan translation conveniently. After the verse No. 149, the author has not commented upon the remaining verses of the first chapter and so the origianl verses have been given here. For them the marginal page references are from Vol. No. 28 of the sDe dGe edition.

Jagannath Upadhyaya

विषय-सूची

श्रीमञ्जुश्रीयशोविरचितः परमादिबुद्धोद्धृतः

श्रीलघुकालचक्रतन्त्रराजः

तस्य

वज्रकुलाभिषेकेण सर्ववर्णैककल्ककरणसमर्थेन

कल्किना श्रीपुण्डरीकेण कृता

विमलप्रभाटीका



ब्रजवल्लभ द्विवेदी
3-12-74

विमलप्रभा

[श्रीलघुकालचक्रतन्त्रराजटीका]

१. लोकधातुनाम प्रथमपटलः

(१) सन्मार्गनियमोद्देशः

[1a] ओँ[1] नमो मञ्जुनाथाय[2] ।

नमः श्रीकालचक्राय शून्यताकरुणात्मने । T 238
त्रिभवोत्पत्तिक्षयाभावज्ञानज्ञेयैकमूर्त्तये ॥

साकारा च (पि)[3] निराकृतिर्भगवती प्रज्ञा तयालिङ्गित
उत्पादव्ययवर्जितोऽक्षरसुखो हास्यादिसौख्योज्झितः ।
बुद्धानां जनकस्त्रिकायसहितस्त्रैकाल्यसंवेदकः
सर्वज्ञः परमादिबुद्धभगवान् वन्दे तमेवाद्वयम् ॥

बुद्धं सिंहासनस्थं त्रिभुवनमहितं[4] वज्रयोगं विशुद्धं
तत्त्वं कायप्रभेदैरभवभवगतं[5] षोडशाकारमेकम् ।
ज्ञानज्ञेयैकभूतं जिनवरसमयं द्वादशाकारमङ्गैः
सत्त्वार्थं[6] बोधिचित्तं जिनकुलिशपदं कालचक्रं प्रणम्य ॥

सर्वज्ञो ज्ञानकायो जिनपतिसहजो धर्मकायस्तथा
सम्भोगो निर्माणकायोऽपि दिनकरवपुः पद्मपत्रायताक्षः ।
योगः[7] शुद्धो[8] विमोक्षैर्गतभवविभवैः कायवाक्चित्तरागैः
प्रज्ञोपायाद्वयो यो नृसुरदनुनुतस्तं प्रणम्यादिबुद्धम् ॥

शून्यताज्ञानसंशुद्धं विशुद्धज्ञानमक्षरम् ।
अनिमित्तज्ञानसंशुद्धं धर्मात्मा(त्म)चित्तमद्वयम् ॥

वागप्रणिहितज्ञानशुद्धो मन्त्रोऽक्षयो ध्वनिः ।
एवमनभिसंस्कारज्ञानशुद्धो ह्यनाविलः ॥

१-२. घ. ॐ मञ्जुनाथाय नमः । ३. भो. Kyaṅ (अपि) । ४. ख. ०सहितं; भो. mChod (महितं); घ. ०महितं । ५. ख. ०भगावतं; ङ. ०भगवन् । ६. ख. घ. सत्यार्थं; भो. bDen Don (सत्यार्थं) । ७-८. क. योगशुद्धो ।

प्रज्ञोपायात्मको योगः संस्थानकायऋद्धिगः ।
वज्रसत्त्वो महासत्त्वो बोधिसत्त्वस्तथागतैः(तः) ॥

उक्तः समयसत्त्वो यो भावाभावक्षयो[१] विभुः ।
अनादिनिधनः शान्तो बोधिचित्तं प्रणम्य तम् ॥

निर्माणकायवाक्चित्त[२]ज्ञानैकं योगसंवरम्[३] ।
सम्भोगकायवाक्चित्तज्ञानैकं योगसंवरम् ॥

श्रीधर्मकायवाक्चित्तज्ञानैकं योगसंवरम् ।
सहजकायवाक्चित्तज्ञानैकं योगसंवरम् ॥

जाग्रत्स्वप्नसुसु(षु)प्तं न तुर्यं[४] द्वीन्द्रियजं सुखम् ।
न ज्ञानचित्तवाक्कायः चतु[५](:) स्थानेषु संस्थितम् ॥

कर्ममुद्रापरित्यक्तं ज्ञानमुद्राविवर्जितम् ।
महामुद्रासमुत्पन्नं सहजं नान्यथा सह ॥

विकल्पभावनातीतं महामुद्राक्षरं सुखम् ।
ग्राह्यग्राहकसंस्थानकल्पजल्पविवर्जितम् ॥

गन्धर्वनगराकारं प्रतिसेनास्वरूपकम् ।
प्रज्ञोपायात्मकं योगं [1b] एवंकारं प्रणम्य तम् ॥

परमाणुधर्मतातीतां प्रतिसेनास्वरूपिणीम् ।
सर्वाकारवरोपेतां महामुद्रां प्रणम्य ताम् ॥

जननीं सर्वबुद्धानां उत्पादक्षयवर्जिताम् ।
चर्यां[६] समन्तभद्रस्य विश्वमातां प्रणम्य ताम् ॥

आलिकालिसमापत्तिहूँफट्कारादिवर्जितम्[७] ।
अक्षरोद्भवकायञ्च कालचक्रं प्रणम्य तम् ॥

सर्वज्ञं[८] ज्ञानकायाख्यं मार्त्तण्डवपुषं विभुम् ।
पद्मपत्रायताक्षं तं तत्त्वं षोडशभेदतः[९] ॥

चतुःकायात्मकं[१०] बुद्धं वज्रसिंहासने स्थितम् ।
स्तुतं सुरासुरैर्नत्वा सुचन्द्राध्येषितं पुरा ॥

---

१. क. भावाक्षयो; भो. dÑos daṅ dÑos Med Zad Paḥi (०भावक्षय –) । २. 'चित्तं' इति अत्र श्लोके 'चित्त' इति । ३. 'संवरम्' इति अत्र श्लोकेषु '०सम्वरम्' इति । ४. ख. तुर्य्यं । ५. ख चतो; ङ चण्ड । ६. घ. धर्मां । ७. घ. ०विवर्जितं । ८. ख. सर्वज्ञ । ९. घ. षोडशानन्द० । १०. घ. चित्तकाया०; ङ. चण्डकाया० ।

शुद्धज्ञानैकयोगो जिनवरसमयश्चित्तधर्मैकयोगः
वाक्सम्भोगैकयोगस्त्रिभुवनमहितः कायनिर्माणयोगः ।
ज्ञानज्ञेयाद्वयोऽसौ गतभवविभवो वज्रसत्त्वश्चतुर्धा
प्रज्ञोपायात्मकं तं नृसुरदनुसु(नु)तं[१] वज्रयोगं प्रणम्य ॥

एकं पदं वज्रमणौ रजोऽर्के उष्णीषशुक्रे शशिनि द्वितीयम् ।
न्यस्तं सदाच्छेद्यमभेद्यमिष्टं भर्तुस्त्रिलोकमहितं शिरसा प्रणम्य ॥

वाय्वग्निवार्यवनिमण्डलमेरुपद्मचन्द्रार्कतेज उपरीश्वरमारमूर्ध्नि[२] ।
न्यस्तं पदं भुवनमातृपदेन सार्द्धं भर्त्तुः सुरेन्द्रनमितं शिरसा प्रणम्य ॥

एवं यो वज्रयोगोऽपरिमितसुगतैः सेवितो देशितश्च
सङ्गीतो बोधिसत्त्वैर्वरकुलिशधरैर्मन्त्रविद्भिः समस्तैः ।
तं योगं वक्तुकामोऽक्षरपरमसुखं कालचक्रे जडोऽहम्
आकाशे शीघ्रगामी व्रजति खगपतिः किं न यात्यन्यपक्षी ॥ यान्ति द्विरेफाः

यस्मिन् समस्तभुवनं प्रकटं च[३] देहे गीतं समन्त्रमलिबिन्दुधरैर्जिनेन्द्रैः[४] ।
तस्मिन् महाजलनिधौ प्लवितुं प्रविष्टः पारं प्रयामि यदि तत्र जिनानुभावः ॥

यद् व्याकृतं दशबलेन पुराल्पतन्त्रं गुह्याधिपस्य गदितात् परमादिबुद्धात् ।
तत् कालचक्रलघुतन्त्रमिदं कलापे मञ्जुश्रिया निगदितं सकलं मुनीनाम् ॥

टीका सुचन्द्रलिखिता सर्वयानार्थसूचिका ।
षष्टिसाहस्रिका याऽऽसीत् पुण्डरीकेण सा मया ॥

लिख्यते लघुतन्त्रस्य मूलतन्त्रानुसारिणी ।
ग्रन्थद्वादशसाहस्री सवज्रपदभेदिनी ॥

श्रुत्वा तन्त्रमिदं जिनोक्तविधिना [2a] सेकं गृहीत्वोत्तरम्[५]
योगी वा लघुतन्त्रराजमखिलं संज्ञानमार्गे स्थितः ।
त्यक्त्वा मानमनेकभोगविभवं चित्तं गुरोरर्पितो (गुरावर्पितम्)
बुद्धत्वाय परोपकारचरितः टीकां शृणोति प्रभोः[६] ॥

योऽभिज्ञारहितः करोति[७] महतीं[८] श्रीवज्रयाने स्थितः
शास्त्रानेकविकल्पधर्महृदयः पाण्डित्यवर्या(दर्पा)न्वितः[९] ।
टीकां सोऽन्धगजप्रमत्त इव तत् तन्त्रं स्वकं ध्वंसयेत्
शत्रोस्तन्त्रजयाय यत् स्थितमिदं मारस्य बन्धुः सदा ॥

१. ख. घ. ङ. ०दनुनुतं । २. ख. उपरिश्चर०; भो. sTeṅ du dBaṅ Phyug (उपरीश्वर०) । ३. ङ. स्व । ४. भो. समन्त्रआलि०; क. समन्त्रमालि०; ङ. ०मालि० । ५. ङ. गृहीत्वान्तरं । ६. ख. ०भो । ७. घ. स करोति । ८. क. महती । ९. ख. दर्पा०; भो. Dregs lDan (०दर्पान्वितः) ।

पाण्डित्येनाभिमानी जिनपतिवचनाज्ञानशीलः सदान्धः
टीकां कृत्वाग्रयाने प्रविशति नरकं पातयित्वा परान्धान् ।
कौकृत्यप्राणिघाताद्यकुशलपथिनि स्त्रीसुखाकृष्टचित्तः[1]
श्रीप्रज्ञासौख्यनष्टः कुलिशपदहतो बाह्यभोगाभिभूतः[2] ॥

शास्त्रास्वं[3] (शास्त्रैव) व्याकृता ये जिनपतिसुखदे वज्रयाने समस्ताः
टीकासङ्गीतिकारा वरकुलिशधरा मादृशा बोधिसत्त्वाः ।
ते[4]ऽस्मिन् बुद्धानुभावं सुरभुजगनृणां पाचनार्थं ब्रुवन्ति
पञ्चाभिज्ञा न येषामनृतमिति जिनेन्द्रा वयं ते ब्रुवन्ति ॥

नानाबुद्धिरनागतेऽध्वनि सदा तर्कादिशास्त्रार्पिता
बौद्धानां तर्कसङ्गमवशान्मिथ्या भविष्यत्यपि ।
तर्कादर्पितपा(या) तयेष्टविषये ये मार्गसन्देशकाः
तेषामेव कुबुद्धिदोषमथनी टीका मया लिख्यते ॥

रागानन्तजले विवेकरहितद्वेषादि(हि)[5] नक्राकुले
मोहोर्मिप्रधु(चु)रे[6] गतागतधनश्रीलोभवेलातटे ।
कौकृत्यादिवधादिकर्मवडवास्पा(स्या)वर्तरौद्रध्वनौ
टीका कर्णधरा भवद्रवनिधौ श्रीवज्रयाने सदा ॥

सत्सौख्यैर्द्रुतलङ्घनाय महतां मार्गेण सा नायिका
T 239 प्रज्ञा वातपटेन शीघ्रगमिनी निर्वाणपारार्थिनाम् ।
मारक्लेशसमूहनाशनपटो (:) संज्ञानचिन्तामणे-
स्त्रैलोक्याधिपतिन्वदान्त(त्वदातृ)रिमिका[7] (?) सर्वत्र सन्दर्शिका ॥

मुद्रा वज्रधरस्य सैक[8](सैव) महती सर्वज्ञसौख्यप्रदा
स्कन्धाद्यावरणप्रहीणविषया याप्त(ष्ट)[9] प्रसेनोपमा ।
त्यक्ता(क्त्वा) तां धनलुब्धवक्रहृदयां यः कल्पितां सेवयेत्[10]
बुद्धत्वाय तया विकल्पितधिया वा नीयते स च्युतिम्[11] ॥

[2 b] पापं रागविनाशतः प्रियतमा(द्) द्वेषा(द्वेषो) यतो जायते
द्वेषान्मोह इतः स्ववज्रपतनाच्चित्तस्य मूर्छा सदा ।

---

१. घ. श्रीसुखा० । २. क. वाक्यभोगा०; भो० Phyi yi (बाह्य०) । ३. क. ग. शास्त्रात्व । ४. ख. त । ५. ख. हि; भो. sGrul (अहि) । ६. भो. rab Maṅ (प्रचुरे) । ७. ख. ०न्वदान्तु०; घ. ०न्वदान्निमिके०; ङ. ०अधिपतिस्त्वदान्त-रिमिका । ८. भो. de Ñid gCig pu । ९. भो. brGyad (अष्ट) । १०. घ. शोधयेत् । ११. घ. च्युतिः ।

अन्यस्मिन् विषये प्रवृत्तिरखिलाऽसत्खानपानादिके
चित्तं तेन विडम्बितं हतसुखं षड्जन्मसु भ्राम्यते ॥

शब्दाशब्दविचारणा न महती सर्वज्ञमार्गार्थिनाम्
नानादेशकुभाषयाऽपि महतां मार्गे प्रवृत्तिः सदा ।
सत्त्वानामधिमुक्तिचित्तवशतः सर्वज्ञभाषा परा
अन्या व्याकरणे सुराहिरचिता शब्दादिवादार्थिनाम् ॥

अपशब्दादर्थमपि योगी गृह्णाति देशभाषातः ।
तोये पयो निविष्टं पिबन्ति हंसास्तदुद्धृत्य ॥

परमार्थतत्त्वविषये न व्यञ्जनस(श)रणता सदा महताम् ।
देशसंज्ञाभिरर्थे ज्ञाते किं शास्त्रशब्देन ॥

ज्ञानं तदेव भवति उदिते (उक्ता) यस्यापशब्दशब्दाः* स्युः ।
सर्वज्ञस्य न भाषा या सा प्रादेशिकी जगति ॥

परमाक्षरं चतुर्थं प्रज्ञाज्ञानं तदेव बुद्धानाम् ।
यत्तत्पुनस्तथेयं स्वमहामुद्रा जिनेनोक्ता ॥

क्षरति प्रज्ञासङ्गे यस्य सितं तस्य केन सुखवृद्धिः ।
मुकुलं वसन्तसङ्गे पतति फलं केन चूतस्य ॥

येनाक्षरं न लब्धं स क्षरसौख्यं समीहते दुःखी ।
सर्वो मृगप(य)ति[1] तोयं तृषितोऽपि न वा(चा)तको[2] भूस्थम् ॥

संसारसुखमनित्यमप्राप्तमपीहते महामूर्खः[3] ।
साम्राज्यसुखं प्राप्तं (प्तो) विद्वान् संत्यजति मोक्षाय ॥

वर्षावधेः कदाचित् सुरतर्तिं मृगप(य)ति मृगाहारी ।
पाषाणकणाहारी नित्यं पारावतः कुरुते ॥

उभयोस्तु न परमसुख (ं) सकृत्[4] सदा[5] शुक्रपाततो यद्वत् ।
तद्वत्तपश्वि(स्व) कामुकयोः स्वप्नजाग्रतोः क्षरणात् ॥

१. ख. मृगपति । २. ख. वातको । ३. क. महासुखः । ४-५. क. सुकृत् अनन्तरं सदा ।

* अपशब्दश्च शब्दश्च इति अपशब्दशब्दाः इति व्युत्पत्तिः भोटानुरोधेन कर्त्तव्या; एतेन अपशब्द-शब्दाभ्यामुभाभ्यामपि समानमेव ज्ञानं न भवति इति अर्थः स्फुटो भवति । शब्दः कञ्चिदपि न विषयं करोति इति भावः; यद्यपि 'क'. पुस्तके '०शब्दः शब्दाः' इति पाठः ।

सुप्तोऽपि सर्पदष्टो न जीवति शुक्त(क्र)[1]संग्रहाभावात् ।
यद्वत्तद्वद्दृष्टस्तपस्पतेनावलायोन्या (यद्वत्तद्वद्भ्रष्टस्तपस्पतिखलायोन्याः)*
दग्धं शिखिनैव शिलावल्कलसूत्रांशुकं भवति शुद्धम् ॥

यद्वत्तद्वत्पुंसां प्रज्ञाज्ञानेन सच्चित्तम्[2] ।
अग्निस्पर्शात् सूतः प्रपलाप(य)ति नाचलो भवति यद्वत् ॥

तद्वद्योनिस्पर्शाच्छुक्रं ह्यनयापि नो (ह्यनुपायिनो)[3] नित्यम् ।
औषध्यादिबलेन चलोऽपि[4] संबध्यतेऽग्निसम्पर्कैः ॥

यद्वत्तद्वत् प्रज्ञासम्पर्कैः शुक्रमतियोगैः ।
काष्ठस्थोऽपि सदाग्नि[3 a]र्न दृश्यते छेदभेदनोपायैः ॥

सरकाणु(अरणि)[5] मथनात्तत्स्थो[6] स दृश्यते यद्वत् ।
तद्वच्चित्ताभासो न दृश्यते कल्पभावनोपायैः ॥

तत्रैव दृश्यतेऽसौ ललनारसनैकयोगेन ।
मार्गरहितो न तत्त्वं प्राप्नोति तथागतेन यत् प्रोक्तम् ॥

षोडशचतुःप्रभेदं[7] विविधविकल्पादिमार्गेण ।
उत्पत्तिक्रममुक्तं हूँफट्कारादिकल्पनारहितम् ॥

उत्पन्नक्रमयोगस्तत्त्वं तत्त्वस्य साधनं नान्यत् ।
धूमादिनिमित्तेन प्राणायामेन[8] मध्यवाहेन ॥

विद्याव्रतेन वज्रपातेनैवोर्ध्वशुक्रेण ।
मार्गेणानेन सुखं योगी प्राप्नोति सर्वबुद्धानाम् ॥

परमाक्षराभिधानं सहजं वा सर्वदूतीनाम् ।
रूपादिसंकल्पनैर्मण्डलचक्रादिभावनाभ्यासैः ।
सिध्यति लौकिकसिद्धिः किं पुनरिष्टा महासिद्धिः ॥

मार्गः सद्गुरुप्रसादतो भवति शुद्ध(:) शिष्याणाम् ।
येषां सत्त्वेषु कृपा परकार्यशुभोद्यमो नित्यम् ॥

---

१. ख. शुक्ल । २. ख. सचित्तम् । ३. भो. Thabs daṅ Bral baḥi Khuba (ह्यनुपायिनो) । ४. क. वलोऽपि; भो. ḥGro ba de yaṅ (चलोऽपि) । ५. ख. ङ. सरकाण्ड; भो. gTsub śiṅ gTsub stan (अरणि) । ६. ख. ङ. ०स्थोऽपि । ७. घ. ०प्रभेदतो । ८. ङ. प्राणायात्मेन ।

* विभिन्नप्रतीषु भ्रष्टपाठ एवातो यथासम्भवं पाठो दीयते ।

अन्यस्मै दत्तमिदं सुमार्गरत्नं प्रमत्तसत्त्वाय ।
ह्रियते कुविषयचौरैः स्वगृहारण्यं प्रविष्टस्य ॥

विचिकित्साकौकृत्यनिद्रालस्यौद्धत्यचौरैश्च ।
आह्रियते सुमार्गरत्नं कुदु(ट्ठ)[1]म्बगहनं प्रविष्टस्य ॥

प्राणातिपात-मिथ्या-अदत्त-परदाररूक्षपैशुन्यम् ।
सम्भिन्नवचोऽभिध्या-व्यापाद-कुदृष्टिचौरैश्च ॥

सत्पापकोपपातक[2]हत्याद्रोहेन्द्रियाभिसंसक्तिः ।
पञ्चकपञ्चभिरेभिचौरै(भिश्चौरै) रत्नं सदा ह्रियते ॥

अत्यन्तखानपानैर्नानाभोगैरनेकचौरैस्तैः ।
वीर्यवतोऽपि ह्रियते प्रमादमूर्छां गतस्यैव ॥

स्वयमेव नहि[3] परीक्षक इतरस्य विटस्य प्रदर्शयेत् ज्ञातुम्[4] ।
भवति महार्घं(र्थं)[5] न भवति तद्वाक्यान्[6] मुञ्चते रत्नम् ॥

येभ्यः कारयति महारत्नपरीक्षां सुरत्नवेत्तृभ्यः ।
तेषां विशुद्धवाक्यैः स्वकीयरत्नं हि विज्ञेयम् ॥

मारः करोति विघ्नं रूपैः सम्बुद्धबोधिसत्त्वानाम् ।
पितृमातृदुहितृभगिनिपुत्रभ्रात्रिष्टभार्याणाम् ॥

तस्मात् सद्गुरुदत्तं सुमार्गरत्नं हि यत्नतः शिष्यैः ।
कर्तव्यमतिसुगुप्तं चौरकुटुम्बं(चौरं कुटुम्बं)[7] परित्यज्य ॥

वीरक्रमो न मार्गः स्वाधिष्ठानक्रमश्च मोक्षाय ।
सुविशुद्धक्रम [3b] एको मोक्षाय सन्दर्शितो बुद्धैः ॥

सौख्ये न संगृहीताः पञ्चानन्तर्यकारिणो येन ।
सेकार्थेन जिनेन्द्रः प्रज्ञोपायात्मके तन्त्रे ॥

वीरक्रमो न बाह्ये देहे प्राणक्षयो ह्यसावुक्तः ।
स्वाधिष्ठानं[8] शून्ये त्रैधातुकदर्शनं नाम ॥

संसारे निःसारे बुद्धत्वं फलं तत्क्षयात् ततः पुंसाम् ।
कदलीफलमिव पक्वं कदलीनाशेन सम्भवति ॥

---

१. ख. ट्ठ; ङ. ड्ड; भो. ट्ठ । २. ख. ङ. ०उपपापक । ३. ख. वहि ; क. वह्नि । ४. क. ज्ञात्रम् । ५. ङ. महार्थं । ६. ग. ङ. ०वाक्यम् । ७. घ. चौरै ऋक्षकुटुम्बं । ८. ख. ०न ।

वृश्चिककुलीरसत्त्वा यस्याः स्युस्ते विनाशिनस्तस्याः ।
एवं भवति विनाशि तद्योगविलं मायायाः ॥

अद्वयमव(च)लमनन्ध(न्व)यमिष्टं परमाक्षरं महारागे[1] ।
भावाभावाभ(ा)वं ज्ञानं सत्त्वं समन्तभद्रञ्च ॥

अरणो महारणश्च सहजः श्रीबोधिचित्तबिन्दुधरः ।
श्रीकालचक्रवज्रः प्रज्ञोपायात्मको योगः ॥

करुणाशून्यतामूर्तिः कालः संवृतिरूपिणी ।
T 240 शून्यताचक्रमित्युक्तं कालचक्रोऽद्वयो मतः ॥

अस्य श्रीप्राप्तये शीघ्रं योगिनीचरणं सदा ।
यो योगी ध्यायते नित्यं तस्य विघ्नक्षयो भवेत् ॥

शत्रुः* सिंहो गजेन्द्रो हविरुरगपति[2]स्तस्कराः पाशवश्वः[3] (बद्धाः)
क्षुब्धाम्भोधिः पिशाचा मरणभयकरा व्याधिरिन्द्रोपसर्गः ।
दारिद्र्यं स्त्रीवियोगः क्षुभितनृपभयं वज्रपातोऽर्थनाशः
नाशं तस्य प्रयान्ति स्फुटमपि चरणं यः स्मरेद् योगिनीनाम् ॥

मातङ्गस्प(स्य)[4]न्दनाश्च[5] प्रचु(व)रनरवरैः सर्वसन्नद्धकायैः
संग्रामे सेर्ण[6](शल्य) चक्रासिधनुरिषुकरैः शत्रुभिर्हन्यमानः ।
सर्वारींस्तान् स्वशस्त्रैर्दिशि विदिशि गतान् मृत्यदान् रौद्ररूपान्
जित्वा पादौ समन्ताल्लभति जययशो यः स्मरेद् योगिनीनाम् ॥

आकुर्वन् सिंहनादं सुविकृतवदनस्तीक्ष्णदंष्ट्राकरालो
ना[7](ला)ङ्गूलं स्फालमानः कुटिलदृढनखो खोत[8](खात)मत्तेभकुम्भः ।
क्रुश्वो[9](क्रुद्धो) बालारुणाक्षो ललदसिरसनः केशरी(—) हन्तुकामः
यः पादौ योगिनीनां स्मरति भयहरौ तस्य दूरं प्रयाति ॥

नीलाभः पिङ्गनेत्रः प्रचुरमदजलापूरितो गण्डयुग्मा
उत्पाट्य[10] मोटयन् वै[11] विविधतरुवरान् मेघवद् गर्जमानः ।
बन्धं कृत्वा प्रवरगजपतिर्भेदयन् दन्तकोट्योः
यः पादौ योगिनीनां स्मरति भयहरौ मु[4a]च्यते तस्य कायम् ॥

---

१. घ. ङ. ०रागं । २. ख. ०द्भविरुरग० । ३. ख. ङ. पाशबन्धाः । ४. ख. ०स्य । ५. ०भो. rta (अश्व) । ६. ख. ङ. सेल्ल । ७. ख. त्मा । ८. ख. खात; भो. rab tu ḥGems (खात) । ९. ख. क्रुन्धो; भो. rab Khros (क्रुद्धो) । १०-११. ख दुत्पाटन् मोटयन्धै; भो. rTsad nas ḥByuṅ Śiṅ rab tu Grugs Byed (उत्पाटयन् मोटयन् वै); घ. ०मोटयन्तो ।
*. ङ. शक्रः ।

स्फर्यज्ज्वालः[1] समन्ताद् दिशि विदिशि महासर्वधूमान्धकारो
ग्रामाररोपेक[2](रण्यैक) दाहा[3] उडुपतनमिवामुञ्चमानः स्फुलिङ्गात्(न्)[4] ।
सत्त्वानां सर्वकालं मरणभयकरः सर्वदिग्प्राप्त(व्याप्त)वह्निः
यः पादौ योगिनीनां स्मरति भयहरौ तस्य शीतत्वमेति ॥

क्रुद्धो नीलाञ्जनाभः कुटिलगतितनु(ः) रौद्रस्फु(फू)त्कारयुक्तः
द्रंष्ट्रावक्रो द्विजिह्वो मरणभयकरो वायुवेगः प्रचण्डः ।
सम्प्राप्तः क्रूरदृष्टिः प्रकटकृतफणो दंशमानः फणीन्द्रः
यः पादौ योगिनीनां स्मरति भयहरौ तस्य नाशं प्रयाति ॥

आरण्ये दुष्टचित्ताः करतलधनुषाः पूरिताः कर्णवाणा[5]
रुद्ध्वा सन्मार्गभूमिं दिशि विदिशि गताः सेल्लचक्रासिहस्ताः ।
सम्प्राप्ता रौद्रनेत्राः पथिकजनवरं[6] तस्करा लुण्ठमानाः
यः पादौ योगिनीनां स्मरति भयहरौ तस्य दूरीभवन्ति ॥

बद्धा (ः) पाशैर्निबद्धोऽङ्घ्रिकमलयुगले पूरितः शृङ्खलाभिः
जिह्वाकण्ठौष्ठशुष्कः शुभजलविरहाच्छुष्ककायः क्षुधार्तः ।
आरक्षे (क्षै)[7] रक्षमाणो दिननिशिसमये स्वामिकोपाज्ञया वै
यः पादौ योगिनीनां स्मरति भयहरौ सोऽप्यतो मुक्तिमेति ॥

आरूढोऽम्भोधियाने क्षुभितजलनिधौ चण्डवातैरनन्तैः
आवर्तं नीयमाने मकरझषकुलै[8]रब्धिचौरैर्निरुद्धे ।
दुष्टैर्मुक्ताग्नितैलैरनवरतमहावह्निवृष्टौ समन्तात्
यः पादौ योगिनीनां स्मरति भयहरौ सोऽप्यतः पारमेति ॥

फेत्कारै[9]र्भीमनादैर्ज्वलदनलमुखैः कर्त्तिकाशुक्तिहस्तैः
वेताडा(ला) भीषयन्तो दशदिशि वलये संस्थिताः क्रूरचित्ताः ।
मांसाहाराः क्षुधार्त्ता नररुधिररताः शुष्ककाया विवस्त्राः
यः पादौ योगिनीनां स्मरति भयहरौ तस्य कुर्वन्ति रक्षाम् ॥

नष्टाङ्गुल्यग्रवृत्तः प्रतिदिनहरतो[10] नष्टनासौष्ठकर्णः
पूयक्लिन्नव्रणेभ्यः प्रवहति बहुशो वक्र(क्त्र)[11]कपठाङ्घ्रिहस्ते ।
संत्यक्तो बन्धुवर्गैर्मृतकतनुरिव क्लिन्नगन्धप्रभावाद्
रोगैर्मुक्तः भवति सुचरणौ यः स्मरेद् योगिनीनाम् ॥

---

१. ख. स्फुर्य० । २. ख. ग्रामारण्यैक । ३. ख. दु । ४. ख. ०न् । ५. क. कल्लबाणा । ६. भो. rGyu ba (चरं) । ७. ख. ०क्षै । ८. ख. ममकरस० । ९. भो. Phaṭ (फट्) ? । १०. क. ङ. प्रतिदिनकुचितो । ११. ख. वक्त्र ।

सज्वालैस्तीक्ष्णदं [4 b]ष्ट्रैः फणिहरिस(श)*रभव्याघ्रमातङ्गवक्त्रैः
चक्रासीषु त्रिशूलांकुशकुलिशकरैः सर्वदिक्ष्विन्द्रदूताः।
बोधौ ध्यानैकनिष्ठं परमसुखगतं साधकं तर्जयन्ति
ये नाशं तेऽस्य यान्ति स्वमनसि चरणं यस्य योगेश्वरीणाम् ॥

वार्षे भारं वहत्यानगरमपि वनात् कर्दमापूर्णमार्गे
हेमन्ते वस्त्रहीनो व्रजति हिमपथं याति देशान्तरं च।
ग्रीष्मे सूर्यांशुतप्तं सभयमरुपथं निर्जलं यो दरिद्रः
तैर्दुःखैर्मुक्तकामी भवति सुचरणौ ध्यायतां योगिनीनाम् ॥

कक्षाक्षिश्रोत्रनासामुखतनुर(स्र)वतस्तीव्रमायाति गन्धो
दौर्भाग्यं सर्वकालं सुरतविरहितं सर्वनारीवियोगात्।
द्वेषः स्त्रीणां सदा स्यादशुभफलवशात् येषु तेषां समस्तं
सौभाग्यं वर्णरूप सुखवरदपदं ध्यायतां योगिनीनाम् ॥

द्रोहात् क्षुब्धो नरेन्द्रः प्रलययम इवात्यन्तमारैकनिष्ठः
सैन्यं संप्रेषयन् यो मरणभयकरं येषु भृत्येषु शीघ्रम्।
तेषां सोऽपि प्रशान्तो भवति हि वरदः सर्वसम्मान[1]दानैः
सर्वत्रैलोक्यनाथं सु(स्व)[2] मनसि चरणं ध्यायतां योगिनीनाम् ॥

येषां वज्रप्रपातः क्वचिदपि नभसः स्त्रीप्रसङ्गाच्च नित्यम्
मृत्युं मूर्च्छां विरागं पुनरपि कुरुते जन्मजन्मान्तरेभ्यः।
तेषां सोऽपि प्रशान्तो भवति निधनतां याति भूयो न जन्मी
श्रीकर्मज्ञात(न)दिव्याग[3](म्बुज)कुलिशपदं ध्यायतां योगिनीनाम् ॥

येषां सर्वार्थनाशो भवति दिननिशं स्त्रीप्रसङ्गे विरागात्
भूयो जात्यन्तरैः स प्रभवति बहुशो वासनाश्लिष्टचित्तात्।
सर्वार्थैः सोऽविनाशी भवति जिनवरैः पूजितं संस्तुतं यत्
प्रज्ञानां विश्वरूपं ह्यसमसमपदं ध्यायतां योगिनीनाम् ॥

योगिन्योऽर्के[4]न्दुराहुत्रिविधपथगताः पिङ्गलेडावधूत्यो
भावाभावप्रणष्टौ समगतिचरणौ तौ तयोर्ज्ञानकायः।
एकोऽसावक्षरं तत् सहजसुखपदं तौ तदेव स्मरेद् यः
अत्रोक्तं तस्य शीघ्रं सकलभयहरं स्यात् फलं जन्मनीह ॥

स्थानं श्रीयोगिनीनां कुलिशमणिगृहं तत्प्रवेशाय [5a] मार्गो
निःक्लेशी(शो) नष्टमारो गदित इह मया स्तोत्रपूर्वो जिनोक्तः।

१. क. सर्वसह; भो. Pho Ña (०दूत)। २. भो. Raṅ Yid la (स्व)।
३. भो. Chu sKyes (अम्बुज) ४. ख. ०र्क्के।
*. घ. सु।

येषां मार्गो विनष्टोऽनृततमसि सदा मारसङ्गैर्गतानां
तेऽनेनायान्त्वदूरं कुलिशमणिगृहं लब्धमार्गेण पुंसाम् ॥

द्वात्रिंशल्लक्षणाङ्गो गुरुरिह जगतः संस्थितो धर्मचक्रे
देवानां मौलिचूडामणिकरनिकरैश्चुम्बितः पादपद्मः ।
सन्मार्गं दर्श(र्शयं)मानो दिवसकर इव ध्वस्तसर्वान्धकारो
ध्यात्वा धूमादिमार्गैः सहजसुखपदं कालचक्रो भवेत् सः ॥

यो देवाहिनरासुरेन्द्रमुकुटैः संघृष्टपादाम्बुजः
सम्यग्ज्ञानदिवाकरस्त्रिजगतः श्रीधर्मचक्रे स्थितः । T 241
मारक्लेशमृगप्रचण्डवधकः श्रीशाक्यसिंहः सदा
टीकां तत्कृपया लिखामि जगतस्तत्प्रज्ञया चोदितः ॥

ककारात् कारणे शान्ते लकाराच्च लयोऽत्र वै ।
चकाराच्चलचित्तस्य क्रकारात् क्रमबन्धनात् ॥

कालोऽक्षरसुखज्ञानमुपायः करुणात्मकः ।
ज्ञेयाकारं जगच्चक्रं श्री(:) प्रज्ञा शून्यतात्मिका ॥

अस्य श्रीकालचक्रस्य वज्रयोगस्य सर्वतः ।
सत्यद्वये स्थितस्यास्याभिधानं वाचकं भवेत् ॥

अस्मिन् तन्त्रे मया टीका सुगतव्याकृतेन वै ।
मञ्जुश्रीचोदितेनैव लोकनाथेन लिख्यते ॥

बालपण्डितमूर्खाणां तन्त्रे गुह्यप्रकाशिका ।
हिता मातेव पुत्राणां सुखार्थं सर्वदेहिनाम् ॥

सन्मार्गं वज्रसत्त्वस्य यया[1] विन्दन्ति योगिनः ।
तस्मात् सा लिख्यते क्षिप्रं टीकेयं विमलप्रभा ॥

इति मूल[2]तन्त्रानुसारिण्यां द्वादशसाहस्रिकायां
लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां विमलप्रभायां
सकलमारविघ्नविनाशतः परमेष्टदेवतासन्मार्गनियमोद्देशः[3]
प्रथमः ॥ १ ॥

---

१. क. मया । २. ख. शूल । ३. भो. mDor bsDus pa Chen po (०महोद्देशः) ।

(२) तन्त्रदेशनोद्देशः

इह प्रथमं तावन्मूलतन्त्रा[1]नुसारेणाभिधेयाभिधानसम्बन्धादिकं लघुतन्त्रादिव्याकरणमुच्यते, पश्चाल्लघुतन्त्रे प्रयोजन-प्रयोजनादिकञ्चेति। इह प्रथमं तावदभिधेयाभिधान-सम्बन्ध-प्रयोजन-प्रयोजनप्रयोजनान्यभिसंवीक्ष्य[2] वैनेयजनानां नियमरहितानां [5b] स्वचित्ताभिप्रायेणेह जन्मनि बुद्धत्वफलप्रदम्। महासुखावासे परमादिबुद्धवज्रधातुमहामण्डले वज्रसिंहासनस्थेन बुद्धबोधिसत्त्वक्रोधराजदेवनागदेवतादेवतीगणपरिवृतेन त्रैधातुकवन्दितचरणारविन्देन त्रैधातुकैकचक्रवर्त्तिना परमादिबुद्धेन निरन्ध(न्व)येन[3] श्रीकालचक्रभगवता सुचन्द्राध्येषितेन† द्वादशसाहस्रं परमादिबुद्धं निरन्वयं[4] कालचक्रं तन्त्रराजं* वज्रधरज्ञानकायसाक्षिभूतया नामसङ्गीत्यालिङ्गितं सर्वतन्त्रेषु वज्रपदसाक्षिभूतम्, उद्घाटितबुद्धरत्नकरण्डकम्, लौकिकलोकोत्तरसत्याश्रितं चतसृभिः सम्बोधिभिश्चतुर्वज्रैः परिशुद्धं चतुःकाय-षट्कुल-द्वादशसत्य-षोडशतत्त्व-षोडशशून्यता-षोडशकरुणात्मकाभिधेयवाचकम्, लौकिकदशलोकोत्तरेकादशाभिषेकप्रकाशकम्, कर्ममुद्रा-ज्ञानमुद्रा-महामुद्रालौकिकलोकोत्तरसिद्धिप्रकाशकम्, लोकधात्वध्यात्माभिषेकसाधनज्ञानपञ्चपटलात्मकम्, पञ्चकल्पात्मकं वा, नरादिसकलसत्त्वानां सम्यक्सम्बुद्धत्वलाभाय[5] सन्देशितम्। अतो लघुतन्त्रसङ्गीतिकरणाय मञ्जुश्रियस्तथागतव्याकरणम्, अनागतेऽध्वनि ब्रह्म-ऋषीणां वैनेयार्थं मम टीकाकरणाय च, अन्येषां यमान्तकादीनां तन्त्रदेशनार्थम्, सम्भलविषयादिषवति-(षण्णवति)[6] कोटिग्रामनिवासिनां सर्वसत्त्वानां च मार्गलाभायेति।

इह परमाणुसन्दोहपूर्वङ्गमो लोकधातुः, लोकधातुपूर्वङ्गमाः सत्त्वाः, सत्त्वपूर्वङ्गमोऽभिषेको लौकिकलोकोत्तरश्च, अभिषेकपूर्वङ्गमं पुण्यसम्भारं मण्डलचक्रभावनाभ्यासमकनिष्ठभुवनपर्यन्तं लौकिकसिद्धिसाधनम्, लौकिकसिद्धिपूर्वङ्गमं पुण्यज्ञानसम्भाराभ्यां पूर्वजन्मशून्यताकरुणासंवृतिनिरालम्बवासनाबलेन परमाणुसन्दोहातीतं मण्डलादिविकल्प[6a] भावनारहितं महाज्ञानमुद्रासिद्धिसाधनमिति।

अतः प्रथमो लोकधातुकल्पः, ततोऽध्यात्मकल्पः, ततोऽभिषेककल्पः, ततो लौकिकसिद्धिसाधनाकल्पः, ततः परमाक्षरज्ञानसाधनाकल्पः। एवं यथानुक्रमेण पञ्चकल्पात्मकं तन्त्रराजं पञ्चपटलात्मकं वा। अनु (अत्र) प्रज्ञोपायात्मको वज्रयोग आदिबुद्धो निरन्वयः कालचक्रो भगवानभिधेयः। स चानया पञ्चपटलस्वभावतयाऽवस्थितः।

लोकधातुपटलः। प्रथमं तावल्लोकधातुपटलः सर्वज्ञेत्यादिदेशकस्वभावतयाऽवस्थितः, स्थाननिर्देशस्वभावतयाऽवस्थितः, महापर्वतसम्पत्स्वभावतयाऽवस्थितः, अध्येषकस्वभावतयाऽवस्थितः, वज्रयोगाभिधेयाभिधानप्रयोजनप्रयोजनादिपृच्छास्वभावतयाऽव-

---

१. क. घ. ङ. ०मन्त्रा०। २. ख. च. ०संवीक्ष्य; क. ०संबोध्य।
३. क. निरन्धयेन। ४. क. निरन्धयं। ५. ख. ०संबुद्धलाभाय।
६. ख. ०दिषण्णवति।
†—* भो. (सुचन्द्राध्येषितेन परमादिबुद्धं द्वादशसाहस्रनिरन्वयं कालचक्रतन्त्रराजं)।

स्थितः, पञ्चाक्षरमहाशून्यादिविश्वो(बिम्बो)त्पादमण्डलाभिषेकाध्येषणस्वभावतयाऽवस्थितः, देशकप्रतिवचनस्वभावतयाऽवस्थितः, लोकधातुमन्त्रग्रहनक्षत्रसत्त्वप्राणाद्युत्पादसंग्रहस्वभावतयाऽवस्थितः, वाय्वादिमण्डलसमुद्रद्वीपशैलसंख्यास्वभावतयाऽवस्थितः, मञ्जुश्रीव्याकरणस्वभावतयाऽवस्थितः[1], एकत्रिंशद्भवस्वभावतयाऽवस्थितः, महाचक्रवर्त्त्युत्पादस्वभावतयाऽवस्थितः, सूक्ष्मतरादिश्वासदिनमानादि[2]स्वभावतयाऽवस्थितः[3], सिद्धान्तकरणज्योतिर्गणितस्वभावतयाऽवस्थितः, मध्यनाडीश्वासेभ्यो ग्रहचरणजन्मनक्षत्रचरणस्वभावतयाऽवस्थितः, द्वादशाकारराशिपृथ्वीगोलकस्वभावतयाऽवस्थितः, स्वरोदयादिस्वभावतयाऽवस्थितः, राह्वादिभूमिबलस्वभावतयाऽवस्थितः, दुर्गभेदरक्षणयन्त्रस्वभावतयाऽवस्थितः, चक्रवर्त्तिद्वादशभूमिखण्डभ्रमणस्वभावतयाऽवस्थितः म्लेच्छधर्मोत्पाटनबुद्धधर्मप्रतिष्ठापनस्वभावतयाऽवस्थितः, सकलसत्त्वानां लौकिकलोकोत्तरसिद्धिमार्गदानस्वभावतयाऽवस्थितः, मञ्जुश्रीलोकेश्वरपृष्ठाग्रतो देशकस्वभावतयाऽवस्थितः, महाचक्रवर्त्यादिकल्किपर्यन्तं नराणां परमायुःस्वभावतयाऽवस्थितः ॥ इति लोकधातुपटले ॥

ततोऽध्यात्मपटले प्रथमं गर्भाधानसं(6b)ग्रहस्वभावतयाऽवस्थितः, रजः[4]शुक्ला(क्रा)लयविज्ञानज्ञान[5]संयोगस्वभावतयाऽवस्थितः, प्रत्येकैकमासेन गर्भोत्पादस्वभावतयाऽवस्थितः, मत्स्यादिदशावस्थास्वभावतयाऽवस्थितः, चतुःकायचतुर्वज्रशुद्धिस्वभावतयाऽवस्थितः, चतसृभिः सम्बोधिभिः गर्भोत्पत्तिस्वभावतयाऽवस्थितः, षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रश्वास - (द्वा)स[6]प्रति[7]नाडीसहस्र-षष्ठो (ष्ठ्यु)[8]त्तरत्रिशत[9]सन्धिप्रदेश-षड्धातु-षड्रस-षडिन्द्रिय-षड्विषय - षट्कर्मेन्द्रियविषय-षड्विज्ञान-षट्संस्कार-षड्वेदना-षट्संज्ञा-षड्रूप - षड्ज्ञान - षट्चक्र-षण्मण्डलाध (ऊ)[10]र्धं(र्ध्वं)[11]स्वभावतयाऽवस्थितः, नाभ्यब्जा[12]दिदलेषु नासारन्ध्रयोः पञ्चस्कन्ध-पञ्चधातु-वामसव्यमण्डलप्रवाहस्वभावतयाऽवस्थितः, मध्यमायां सकलतन्त्रनिर्गमस्वभावतयाऽवस्थितः, प्राणादिवायुस्वभावतयाऽवस्थितः, धातुभ्यो देवताचिह्नोत्पादस्वभावतयाऽवस्थितः, चन्द्रार्काग्न्यरिष्टस्वभावतयाऽवस्थितः, कर्मविपाकषड्गतिषूत्पादस्वभावतयाऽवस्थितः, नाडिकादिग्रहणचरणच्छेदस्वभावतयाऽवस्थितः । एवं मध्यमाप्रवेशानन्दादिभिररिष्टमरणवञ्चनस्वभावतयाऽवस्थितः, बाह्यलौकिककार्यसाधनस्वभावतयाऽवस्थितः, सर्वदर्शनानुमानपरीक्षास्वभावतयाऽवस्थितः, नानासत्त्वानुमतधर्मप्रतिष्ठानस्वभावतयाऽवस्थितः ॥ इत्यध्यात्मपटले॥ T 242

ततोऽभिषेकपटले प्रथमं गुरुपरीक्षास्वभावतयाऽवस्थितः, उत्तमाधममध्यमशिष्यपरीक्षासंग्रहस्वभावतयाऽवस्थितः, कर्मप्रसरसाधनाय ग्रामादिदिशि[13](ग्वि)भागभूम्यादिलक्षणस्वभावतयाऽवस्थितः, कुण्डहोमद्रव्याक्ष[14]सूत्रासनकीलककलसरजःसूत्रयन्त्रन्यास-

---

१. च. पुस्तके अयमंशो नास्ति । २. च ०दिनमान० । ३. ख. अत्र 'मञ्जुश्रीव्याकरणस्वभावतयाऽवस्थितः' इत्यंशस्य पाठः पुनरागतः, तद्धि भोटे नास्ति । ४. क. रजं । ५. भो. अयं नोपलभ्यते । ६. ख. घ. च. द्वा । ७. भो. अयं नोपलभ्यते । ८. ख. ०ष्ठ्यु० । ९. ख. च. ०त्रिशत० । १०–११. ख. ऊर्ध्वं । १२. ख. ०ज्ञा । १३. ख. ०दिग्वि० । १४. ख. ०क्ष० ।

लक्षणस्वभावतयाऽवस्थितः, भूमिपरिग्रहमण्डलालेख्य(खन)दशतत्त्वपरिज्ञानस्वभावतयाऽवस्थितः, लौकिकलोकोत्तरा[7a]भिषेकदानस्वभावतयाऽवस्थितः, सर्वप्रतिष्ठासमाधिस्वभावतयाऽवस्थितः, समयचक्रे[१] मेलापकसमयपूजास्वभावतयाऽवस्थितः, षट्त्रिंशत्कुलदेवीमुद्रादृष्टिचिह्नसमयसंकेतजात्यादिस्वभावतयाऽवस्थितः, मण्डलचक्रविसर्जनस्वभावतयाऽवस्थितः, महानद्यादौ स्वस्वगृहे रजोगणचक्रविसर्जनपूजास्वभावतयाऽवस्थितः, श्रीगुरुसर्वदानैः [२]सन्तोषणस्वभावतयाऽवस्थितः ॥ इत्यभिषेकपटले ॥

ततः **साधनापटले** प्रथमं रक्षाचक्रादिमुखविशुद्धिस्व[३]हृच्चन्द्रबीजरश्मिभिस्तथागतस्फरणस्वभावतयाऽवस्थितः, अनुत्तरपूजा-पापदेशना-पुण्यानुमोदना-त्रिशरणगमनात्मनिर्यातन-बोधिचित्तोत्पादन-मार्गाश्रयण-शून्यतालम्बनादिस्वभावतयाऽवस्थितः, उत्पत्तिक्रमेण *मण्डलराजाग्री[४](ग्र)कर्मराजाग्री[४](ग्र)† बिन्दुयोगसूक्ष्मयोगादिसाधनस्वभावतयाऽवस्थितः, बाह्यलौकिकसिद्धिसाधनस्वभावतयाऽवस्थितः, यज्ञादिवेदान्तगुह्यतत्त्वज्ञानषडङ्गयोगादिसाधनस्वभावतयाऽवस्थितः, दानादिपुण्यसम्भारस्वभावतयाऽवस्थितः, प्रत्यक्षपरोक्षचित्तभावनास्वभावतयाऽवस्थितः ॥ इति साधनापटले ॥

ततो **ज्ञानपटले** प्रथमं शरीरास्थ्यादि[५]धातुविशुद्धिमण्डलस्वभावतयाऽवस्थितः, कायवाक्चित्तषट्कुलदेवतास्वभावतयाऽवस्थितः, आदि-कादि-षण्मन्त्रकुलस्वभावतयाऽवस्थितः, षट्त्रिंशत्प्रज्ञोपायतन्त्रस्वभावतयाऽवस्थितः, प्रज्ञोपायक्रियायोगानुविद्धमहासंवरषट्चक्रवर्त्तिस्फुरण[६]स्वभावतयाऽवस्थितः, चतुर्थाभिषेकपरमाक्षरमहामुद्राज्ञानसिद्धिसाधनस्वभावतयाऽवस्थितः, ज्ञानमण्डलस्फरणस्वभावतयाऽवस्थितः, बोधिचित्तसेवासाधनस्वभावतयाऽवस्थितः, सर्वाकारज्ञानज्ञेयात्मिकामहामुद्रासिद्धिस्वभावतयाऽवस्थितः, सर्वंकायवाक्चित्तकृत्यपरीक्षास्वभावतयाऽव[7b]स्थितः, चतुरशीतिसहस्रधर्मस्कन्धदेशनास्वभावतयाऽवस्थितः, बुद्धक्षेत्रसंहारस्वभावतयाऽवस्थितः, आकाशधातौ सुमेरुपरमाणुरजःसमैर्बोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैः सार्द्धं विहरणस्वभावतयाऽवस्थितः[७], बुद्धक्षेत्रोत्पा[८]दस्वभावतयाऽवस्थितः, बुद्धक्षेत्रे वज्राधिष्ठानस्वभावतयाऽवस्थितः, नानाधिमुक्तिसत्त्वाशयवशेन धर्मदेशनास्वभावतयाऽवस्थितः, रसरसायनादिशरीरसिद्धिसाधनस्वभावतयाऽवस्थितः, परमाक्षरसुखेन सर्वसत्त्वार्थकरणस्वभावतयाऽवस्थितः, धर्मसंग्रहगणितसंज्ञासंग्रहस्वभावतयाऽवस्थितः, पञ्चाक्षर-षडक्षर-महाशून्य-बिन्दुशून्य-स्तुतिस्वभावतयाऽवस्थितः ॥ इति ज्ञानपटले ॥

---

१. ख.० चक्र० । २. घ. पुस्तके अत्र एवं पठितम्—"अनुत्तरपूजा-पापदेशना-पुण्यानुमोदन-त्रिशरणगमनात्मनिर्यातन-बोधिचित्तोत्पादन-मार्गाश्रयेण शून्यता-श्रीगुरुस्सर्वदानैः" । तद्धि भो. पुस्तके च अन्येषु पुस्तकेषु च साधनपटले एव विद्यते, तस्यानुसारं अत्र पाठो दत्तः ।

३. घ. 'स्व' नास्ति । ४. भो. mChog (अग्र) । ५. ख. ०स्थादि० ।

६. ख. स्फरण । ७-८. भो. पुस्तके चतुर्थांशः तृतीयांशतः पूर्वं पठितः ।

†—* ङ, मण्डलराजाश्रीकर्मराजाश्री ।

अत उक्तादनेन क्रमेण पञ्चपटलस्वभावतयाऽवस्थितः **कालचक्रो** भगवानत्राभिधेयः[१] । अस्य प्रतिपादकं (:) पटलसमूहं (:) तन्त्रराजमभिधानम् । अनयोरभिधेयाभिधानयोः परस्परं वाच्यवाचकलक्षणः सम्बन्धः । वाच्यो भगवान् **कालचक्रः** पञ्चपटलस्वभावतयाऽवस्थितः, वाचकं **कालचक्रमभिधानं** पञ्चपटलात्मकम् । अथ आदिबुद्धो भगवान् वाच्यः । वाचकमादिबुद्धमभिधानमिति वाच्यवाचकलक्षणः । अभिधेयाभिधानसम्बन्धः । अतो मण्डलप्रवेशाल्लौकिकाभिषेकदानेन पुण्यसम्भारार्थकरणं प्रयोजनम्, महाप्रज्ञाचतुर्थलोकोत्तराभिषेकदाननिरन्वयमहामुद्रासिद्धिलाभाय पुण्यज्ञानसम्भारार्थकरणं प्रयोजनप्रयोजनमिति ।

एतान्येवाभिधेयलक्षणान्यभिसंवीक्ष्य वैनेयजनानां **नियमरहितानां स्वचित्ताभिप्रायेणे**ति । नियमः श्रावककोटिसंवरः पञ्चकामोपभोगरहितः शीलसंवर इति, तेन रहिता नियमरहिताः, तेषां स्वचित्ताभिप्रायः पञ्चकामोपभोगाभिलाषः, तथा द्वीन्द्रियेण महासुखाभिलाष इति स्वचित्ताभिप्रायो नियमरहितानामिति । अनेन [8a] स्वचित्ताभिप्रायेणेह **जन्मनि बुद्धत्वफलप्रदमि**ति । इह जन्मनि मनुष्यजन्मनि बुद्धत्वफलप्रदं तन्त्रराजम्, न पुनर्देवादिपञ्चगतिषु जन्मनि, तत्कस्य हेतोः ? अकर्मभूमिजातित्वादिति । T 243
इह देवादीनामपि मनुष्यजन्मलाभाद्[२] बुद्धत्वफलप्रदं भविष्यतीति नियमो भगवतः । **पुण्यज्ञानसम्भाराभ्यां षड्धात्वात्मकेन महापुरुषपुङ्गवेने**[३]ति । न चान्यथा कुकर्मणि मनुष्यजन्मनीह बुद्धत्वफलप्रदं भविष्यतीति नियमस्तथागतस्य ।

अथास्मिन् मन्त्रयाने बुद्धभगवतोक्तम्, तद्यथा—

"चण्डालवेणुकाराद्याः पञ्चानन्तर्यकारिणः ।
जन्मनीहैव बुद्धाः स्युर्मन्त्रचर्यानुचारिणः" ॥

इति भगवतो वाक्यं सत्यम्[४] । इह जन्मनि यत् प्राक्कृतं पञ्चानन्तर्यादिकं रौद्रं कर्म तदस्मिन् मन्त्रयाने महामुद्राक्षरसुखसमाधिना ध्वंसयित्वाऽपरागन्तुकाकुशलाप्रवेशाय वज्रधर्मोदयगृहे चतुर्मारविघ्नादिप्रवेशद्वारेषु मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षादिबोधिपाक्षिक[५]धर्मकपाटं दत्वा तत्र वज्रसत्त्वं साधयित्वा महामुद्रया सार्द्धं पञ्चानन्तर्यकारिणोऽपीह जन्मनि बुद्धत्वफललाभिनो भवन्तीति तथागतनियमः, न पुनर्मन्त्रयाने प्रविष्टाः सन्तः पञ्चानन्तर्यादिकं रौद्रं कर्म कुर्वन्तोऽपीह जन्मनि बुद्धत्वफललाभिनो भवन्तीति तथागतसम्मतम् । इह यानत्रयेऽपि भगवतो वाक्यम्—"आदौ कल्याणं मध्ये कल्याणं पर्यवसाने कल्याणम्" इति भगवतो वचनात् । न[६] मन्त्रयाने प्रविष्टाः सन्तः पापं कर्म कुर्वन्तोऽपि बुद्धत्वफललाभिनो भवन्तीति तथागतनियमः ।

---

१. ख. ०भिधेयः । २. ख. पुस्तके नास्ति । ३. क. पुङ्गलेन; भो. Gaṅ Zag (पुङ्गव) । ४. ख. सिद्धम् । ५. क. पुस्तके '०दिबोधिपाक्षिक' इति नास्ति ।
६. घ. पुस्तके 'न' इति नास्ति । भोटानुसारमपि 'न' पाठः समीचीनः ।

अथेह मन्त्रयाने भगवतोक्तं योगिनां मांसभक्षणम्, तदेव प्राणातिपातेन सदा भवति। कदाचित् प्राणातिपातेन विनाशं (ो) भवति। यदि भक्षको नास्ति वधकोऽपि न विद्यते। अतो भक्षकवधकयोः प्राणातिपातः स्यात्। इह प्रत्यहं समयचतुष्टयं मन्त्रिणा कर्त्तव्यमिति तथागतनियमः। तत्सत्यम्, त(य)स्मात्[1] कारणान्निमित्तसावद्येन प्राणातिपा[8b]तो भवति, तस्मात् कारणात् योगिनामनिमित्तं निरवद्यं गोकुलादिकं[2] भक्ष्यं भगवतोक्तम्। इह यस्मिन् देशे यदभक्ष्यं यदविक्रयं लोकानां गोकुलादिकं स्वकर्मणा मृतं संग्रामे कुकर्मणि मारितं स्वदोषेण वा तस्करादिकं तत्सर्वं योगिनां भक्ष्यम्। तथागतेनोक्तम्—"न द्रव्यैः क्रीतं न पित्रादि-यज्ञादिकार्ये मारितं सनिमित्तं मांसं भक्ष्यम्" इति। तथागतेनोक्तम्—"अथ प्रत्यहं समयचतुष्टयं यत् कर्त्तव्यम्, तन्निरवद्यैर्गोकुलादिभिः पञ्चभिर्वैरोचनादिभिः[3] पञ्चभिः सर्षपप्राणगुलिकाः प्रत्यहं समयसेवार्थं कर्तव्याः"। मद्यं स्त्री सदा निरवद्या भावनाय अमूर्च्छाधर्मेणोक्ता। मूलतन्त्रेऽपि भगवानाह, तद्यथा—

"देवस्वभयपितृ(त्रि)ष्टसिद्ध्यर्थं विक्रयाय च।
नापराधी हतः[4] सत्त्वो[5] दुर्दान्तैः पापकारिभिः॥

सावद्यं तस्य तन्मांसं क्रीतं भुक्तं समीहितम्।
अयाज्ञा(ञ्चा)पतितं पात्रे निरवद्यं तदेव हि॥

एकस्य प्राणिनो मांसं बहुभिर्भक्षितं वरम्।
नानेकप्राणिनां मांसं मनुजेनैकेन भक्षितम्॥

भोक्तव्यं योगयुक्तेन करुणामुत्पाद्य तत्त्वतः।
निर्विकल्पेन चित्तेन निरवद्यं नान्यदेव हि॥

कुलग्रहविनाशायान्नपानं च सर्वदा।
अकुशलाभिगमनं प्रोक्तं वज्रिणा तत्त्वदर्शिना॥" इति।

एवमुक्तक्रमेण नियमरहितानां **बुद्धत्वफलप्रदं** तन्त्रराजम्। बुद्धत्वं सर्वज्ञता-सर्वाकारज्ञता-मार्गज्ञता-मार्गाकारज्ञता-दशबल-वैशारद्यादिगुणविभूतयः, तां(ताः) ददातीति बुद्धत्वफलप्रदम्। **महासुखावास** इति। महासुखावासो धर्मधातुराकाशलक्षणोऽसंकीर्णो धर्मोदयो लोकोपमामतिक्रान्तः समन्तभद्रो महासुखावासः। **परमादिबुद्धवज्रधातुमहामण्डले**[6] निरन्वये ज्ञानज्ञेयैकलोलीभूते अच्छेद्येऽभेद्ये सर्वाकारधातुलक्षणे, आदर्शप्रतिसेनातुल्ये। तस्मिन् वज्रधातुमहामण्डले **वज्रसिंहासनस्थेन**। वज्रसिंहासन[7](ं)चन्द्रसूर्याग्निमण्डलमच्छेद्यमभेद्यम्। एकारो वा आकाशधातुर्वज्रसिंहास[9a]नम्, तस्मिन् स्थितो वज्रसिंहा-

---

१. ख. यस्मात्। २. क. गोक्वादिकं; ख. गोक्ष्वादिकं; भो. Go Kul La Sogs Pa (गोकुलादिकं) अयं तु सर्वत्र। ३. ख. ०दि०। ४-५. क. हतत्सत्त्वो; ख. हतः सत्त्वो। ६. ख. ०धातुमहामहामण्डले। ७. क. ०सन; ख. ०सनं।

सनस्थः ; कायवाक्चित्तज्ञानात्मको वँकारः, तेन वज्रसिंहासनस्थेन। **बुद्धबोधिसत्त्वक्रोधराजदेवनागदेवतादेवीगणपरिवृतेनेति।** बुद्धा अक्षोभ्यादयः, बोधिसत्त्वाः समन्तभद्रादयः, क्रोधराजा उल्ली(ष्णी)[1]षादयः, देवा ईश्वरादयः, नागा अनन्तादयः, देव्यो वज्रधात्वीश्वर्याद्याः, धर्मधात्वादयः, अतिनीलादयः, चर्चिका[2]दयः, गौर्यादयः, श्वानास्पा(या)दयः; एषां समूहो गणः; तेन परिवृतो देवतादेवीगणपरिवृतः, तेन देवतादेवीगणपरिवृतेनेति। **त्रैधातुकवन्दितचरणारविन्देनेति।** त्रैधातुकं कामरूपारूपम्, तेन वन्दितं चरणारविन्दं यस्यासौ त्रैधातुकवन्दितचरणारविन्दः, तेन त्रैधातुकवन्दितचरणारविन्देनेति। **त्रैधातुकचक्रवर्त्तिनेति।** त्रैधातुके धर्मचक्रं युगपद् यस्य प्रवर्तते, असौ त्रैधातुकचक्रवर्त्ती, तेन त्रैधातुकचक्रवर्त्तिनेति। **परमादिबुद्धेनेति।** परमादिबुद्धः एकक्षणपञ्चाकारविंशत्याकारमायाजालाभिसम्बोधिलक्षणोऽक्षरसुखः परमः, तेनादिबुद्धः परमादिबुद्धः, तेन परमादिबुद्धेनेति। **निरन्वयेनेति।** अन्वयः प्रज्ञोपायात्मको ग्राह्यग्राहकलक्षणो धर्मः, सोऽन्वयो निरस्तो येनाऽसौ निरन्वयः, तेन निरन्वयेनेति। **कालचक्रभगवतेति।** कालः परमाक्षरो महासुख(ल)[3]क्षणः, तेनोत्पादितं निरावरणं स्कन्धधात्वादिकं चक्रं यस्य शरीरम्, असौ कालचक्रः। अन्यच्च, प्रत्येकैकैकाक्षरेण—

काकारात्कारणे शान्ते लकाराच्च लयोऽत्र वै।
चकाराच्चलचित्तस्य क्रकारात् क्रमबन्धनात्॥

क्रमः कायादीनां बिन्दूनां च्यवनम्, तस्य बन्धः सहजसुखेनेति कालचक्रः। **भगवतेति।** T 244
मारक्लेशभञ्जनाद् भगः, सर्वज्ञैश्वर्यादिगुणसमूहः, स भगोऽस्यास्तीति भगवान्, तेन **कालचक्रभगवतेति।** **सुचन्द्राध्येषितेनेति।** शोभनश्चासौ चन्द्रश्चेति सुचन्द्रः, सर्वतथागतश्रोतृभूतः, वज्रेन्दु[4]विमलप्रभः, सर्वसत्त्वभाषान्तरेण तथागतोक्तधर्माणां संग्राहक [9b]त्वात् सर्वतथागतकर्णभूतः। **गुह्याधिपतिः।** गुह्यं श्रावकप्रत्येकयानयोरुत्तरं वज्रयानम्। तस्मिन् सङ्गीतिकारकत्वेनाधिपतिर्गुह्याधिपतिः, तथा बाह्ये लोकसंवृत्यो(त्या) गुह्यशब्देन[5] यक्षास्तेषामधिपतिः गुह्यकाधिपतिः, **अडकवतीनिवासी।** बाह्ये अडकशब्देन नष्टप्राणो मृतकसमूहः, सोऽस्यामस्तीति अडकवती श्मशानभूमिः, तस्यां महायक्षाः सत्त्वानां विहेठका अनेकविघ्नकर्त्तारः, तेषां वधकः। **अडकवतीनिवासीति।** अटव्यां मृगाधिपतिरिव अडकवतीनिवासी महायक्षाधिपतिरिति। अध्यात्मनि अडक इति षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रश्वासप्रश्वासानां षट्त्रिंशच्छतोनानां निरोधः, सोऽस्यामस्तीति धर्ममेघाभूमिः, तस्या निवासी अडकवतीनिवासी। मारक्लेशज्ञेयसमापत्त्यावरणयक्षाणां[6] वधको यक्षाधिपतिः। तथागतदेशितधर्मसिंहनादेन सर्वसत्त्वानां प्रत्येकरुतैर्धर्मप्रवर्त्तकः, तेन निर्मितकायेन वज्रपाणिना। **सुचन्द्रराजाध्येषितेनेति**[7]**।

१. क. उल्ली०; ख. उष्णी०। २. ख. चर्चिका। ३. ख. ०खल०। ४. ख. वज्रेन्द। ५. घ. गुह्यशब्देन उच्यते। ६. ख. ०यक्ष्याणां। ७. ख. ०राज्ञा०, घ. सुचन्द्राध्येषितेनेति।

द्वादशसाहस्रिकमिति। चतुरशीतिसहस्राधिकत्रिलक्षाक्षरसमूहं द्वात्रिंशदक्षरानुङ्गपा[1] (द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुभः) द्वादशसाहस्रिकमिति। **परमादिबुद्धमिति***। परमादिबुद्धा-भिधेयवाचकत्वात्, अस्याभिधेयस्याभिधानस्वभावतयाऽवस्थितत्वादिति। परमादिबुद्धं **कालचक्रम्**, कालचक्राभिधेयवाचकत्वात् कालचक्राभिधानमिति। **निरन्वयमिति†** निरन्वयाभिधेयवाचकत्वात्। इहान्वयः प्रज्ञापक्ष उपायपक्षश्च। सोऽन्वयो भिन्नपक्षो निरस्तो यस्मात् तत् तन्त्रं निरन्वयम्। प्रज्ञोपायात्मकं योगतन्त्रमित्यद्वयमुच्यते जिनेनेति।

इह प्रयोगा(प्रज्ञो)पायात्मकाभिधेये तन्त्रराजे प्रज्ञोपायपक्षभेदात् प्रज्ञोपायात्मकाभि-धेयाभावो[2] भवति[3], प्रज्ञोपायात्मकाभिधेयाभावात् अद्वयज्ञानाभावः, अद्वयज्ञानाभावाद् बुद्धत्वस्याप्यभावः[4], बुद्धत्वाभावात् संसार इति। इहाभिधानाभिधेयसम्बन्धेन विना प्रज्ञोपायात्मकोऽद्वययोगो वाच्यवाच[10a]कलक्षणो न भवति योगतन्त्र उपायनाम्नि। न च योगशब्द उपायार्थवाचकः प्रज्ञार्थवाचको वा। योगशब्दः प्रज्ञोपायार्थवाचक इति। तथा चाह—

"योगो नोपायकायेन नैकया[5] प्रज्ञया भवेत्।
प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग उक्तस्तथागतैः"॥

अतो यस्मिन् तन्त्रे प्रज्ञोपायात्मकोऽभिधेयो भवति, तत् तन्त्रं न प्रज्ञातन्त्रं नोपाय-तन्त्रं[6] परमार्थतः। लोकसंवृत्या दशज्ञानादिभेदेन धातुस्कन्धविशुद्धितः, प्रज्ञोपायपक्ष उक्तो मृदुसत्त्वाशयवशात् तथागतेनेति। एवं योगिनीनाम्न्यपि। इह योगे शीलमस्या-स्तीति योगी, एवं योगिनी च। अतो योगतन्त्रं योगिनीतन्त्रं च भवति, परापेक्षिकत्वा-दिति। तस्मात् प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं योगतन्त्रं निरन्वयं कालचक्रं परमार्थसत्यत इति। **वज्रधरज्ञानकायसाक्षिभूतया नामसङ्गीत्यालिङ्गितमिति**। आदिबुद्धाभिधानत्वात्। इह यथा नामसङ्गीतिरतीतानागतप्रत्युत्पन्नैस्तथागतैर्भाषिता भाषिष्यते भाष्यते तथा-दिबुद्धमपि। आदिशब्दोऽनादिनिधनार्थः। अनादिकाले अनादिबुद्धदेशितं देशयिष्यते देश्यत इति। नैकेन शाक्यमुनिना दीपङ्करतथागतेनापीति। अत्र वज्रपाणिराह—

"यातीतैर्भाषिता बुद्धैर्भाषिष्यन्ते ह्यनागताः।
प्रत्युत्पन्नाश्च सम्बुद्धाः यां भाषन्ते पुनः पुनः॥

मायाजाले महातन्त्रे या चास्मिन् संप्रगीयते।
महावज्रधरैर्हृष्टैरमेयैर्मन्त्रधारिभिः "॥ इति।

(ना० स० अ० प० १२,१३)

---

१. क. ख. ग. घ. ङ. द्वात्रिंशदक्षरानुङ्गपा। २-३. घ. पुस्तके इदं वाक्यं नास्ति। ४. क. ब्रह्मत्वस्या०। ५. घ. एकया। ६. घ. पुस्तके 'नोपायतन्त्रं' इति नास्ति। **—*. भो. सुचन्द्रराजाध्येषितेन। परमादिबुद्धमिति।
†. भो. द्वादशसहस्रमिति चतुरशीतिसहस्राधिकत्रिलक्षाक्षरसमूहं द्वात्रिंशदक्षरानुष्टपाद द्वादशसाहस्रिकमिति। निरन्वयमिति।

अतो **नामसङ्गीतिका**ध्येषणवचनात् सर्वतथागतैर्मन्त्रयानं देशितमिति। इह यत्समाजे दीपङ्करशाक्यमुनिमध्ये न केनचित् तथागतेन मन्त्रयानं देशितम्[1] (इति),[2] तत् तेन कालेन तेन समयेनेति। आर्यविषयधर्मदेशनाकालेन, आर्यविषयपर्षदो न देशितम्, चतुर्वर्णाभिमानाभव्यसत्त्वाशयवशादिति। न पुनरन्यकालेनान्यविषये लोकधातुपर्षदि न देशितमिति। अतस्तथागतप्रवचनात्। सर्वतथागता यानत्रयदेशकाः, अन्यथा सर्वज्ञताभावो वज्रयानादेशकत्वादिति। अतः सर्वे तथागता यानत्रयदेशकाश्चतुरशीति-(10b) सहस्र[3]धर्मस्कन्धदेशकाः सत्त्वाशयवशादिति, अतो वज्रधरज्ञानकायसाक्षिभूतया **नामसङ्गीत्यालिङ्गित**मिति।

सर्वतन्त्रराजेषु वज्रपदसाक्षिभूतमिति। इह वज्रयाने सत्त्वाशयवशेन सर्वतन्त्र-राजेषु वज्रपदं गुप्तम्, **चतुर्थं तत्पुनस्तथेति** तथागतवचनात्। चतुर्थं तृतीयं न भवति, चतुर्थमिति वचनात्, तत्पुनस्तथेति वचनात्। प्रज्ञाज्ञानं तदेव चतुर्थमतो भगवतो वचनात्। **वज्रपदं गुप्तमिति** सर्वतन्त्रराजेषु वज्रपदं प्रकटं न भवति, गुरुपारम्पर्य-क्रमेणावगन्तव्यम्; **तन्त्रं तन्त्रान्तरेण**[4] **बोधव्यमिति** तथागतवचनात्। इह मन्त्रनये द्विधा वज्रपदम्—एकं लौकिकसंवृत्या द्वितीयं परमार्थतः। तयोर्लोकसंवृत्या वज्रपदं मारणादौ समयसिद्धिदायकम्, परमार्थसत्येन वज्रपदं चतुर्थं तत्पुनस्तथा महामुद्रासिद्धि-फलदायकमिति। अत एवास्मिन्नादिबुद्धे वज्रपदं प्रकटमुद्देशनिर्देशप्रतिनिर्देशैर्भगवता प्रकाशितम्। अस्यैव साधनाय महामुद्राभावना धूमादिनिमित्तमार्गः प्रकाशितः। T 245

शून्ये एकाग्रमनः कृत्वा दिनमेकं परीक्षयेदिति। अतो भगवतो वचनात् परमादिबुद्धे वज्रपदं महामुद्राभावनामार्गो धूमादिकः प्रकटः, न गुरुपारम्पर्यक्रमेणागतः, नाधिष्ठानि(ष्ठितं)[5] गुर्वाज्ञयेति। अस्य च मार्गस्य प्रत्ययोऽस्ति, **अहर्नि**[6]**शं दिनमेकं परीक्षयेदिति** भगवतो वचनात्। इह न चान्यन्मन्त्रादिसाधनं धूमादिनिमित्तं विहाय दिनैकेन योगिना परीक्षणीयम्। निमित्तमपि त्रिधा—आदिनिमित्तम्, मध्यनिमित्तम्, अन्तनिमित्तञ्चेति। आदिनिमित्तं धूमादिमार्गः, षडङ्गयोगेन विश्व(म्ब)निष्पत्तिरक्षण-(रक्षरक्षण)[7]लाभः। मध्यनिमित्तं परमाक्षरक्षणैरष्टादशशतैरादिभूमिलाभः, पञ्चा-भिज्ञाऽदृष्ट्वा(ष्टा)[8]र्थसन्दर्शनं लौकिकसिद्धिप्राप्तिरिति। अनिमित्तं (अन्तनिमित्तं)[9] बुद्धत्वं वज्रधरत्वमेकविंशतिसहस्रैः षट्शताधिकैः परमाक्षरक्षणैर्द्वादशदशभूमिलाभात् महामुद्रा-सिद्धिरिति एतद् वज्रपदादिकं [11a] निमित्तपूर्वकं प्रकटं तन्त्रराजे परमादिबुद्धे भगवता देशितम्। अतः सर्वतन्त्रराजेषु **वज्रपदसाक्षिभूतं** तन्त्रं तन्त्रान्तरान्वेषका-नामिति।

१. ङ. न देशितम्। २. भो. S̄es (इति)। ३. क. पुस्तके 'सहस्र' शब्दो नास्ति।
४. क. तन्त्रानुसारेण; भो. rGyud gS̄an Dag Gis (तन्त्रान्तरेण)।
५. भो. Byin Gyis brLbs Pa (अधिष्ठितं)। ६. ख. ०श्नि०। ७. ख. ०क्षरक्षण; भो. ḥGur Ba Med Paḥi sKad Cig(अक्षरक्षण)। ८. भो. अदृष्टार्थ। ९. भो. अन्तनिमित्तं।

उद्घाटितबुद्धरत्नकरण्डकमिति बुद्धरत्नं परमाक्षरसुखं करण्डकं वज्रमणि-[१] पद्ममिति बुद्धरत्नकरण्डकम्,[२] तमेवोद्घाटितं येन तन्त्रराजेन तदुद्घाटितबुद्धरत्नकरण्ड-कमिति। **लौकिकलोकोत्तरसत्याश्रितमिति।** लौकिकसत्यं मण्डलचक्रविकल्पभावना लौकिकसिद्धिसाधनमुत्पत्तिक्रमेणेति। लोकोत्तरसत्यं धूमादिनिमित्तेन निर्विकल्पचित्तेन उत्पन्नक्रमेण महामुद्रासिद्धिसाधनमिति; उत्पन्नक्रमः सहजो निर्विकल्पः सर्वाकारो मुखभुजवर्णसंस्थानकल्पनारहित इति; अनयोः सत्ययोराश्रितं लौकिकलोकोत्तरसत्या-श्रितमिति मार्गद्वयदर्शनादिति।

चतसृभिरभिसम्बोधिभिश्चतुर्वज्रैः विशुद्धमिति[३]। एकक्षणाभिसम्बोधिः, पञ्चाकाराभिसम्बोधिः, विंशत्याकाराभिसम्बोधिः, मायाजालाभिसम्बोधिः, ए(आ)भिः परिशुद्धं गर्भजोत्पत्तिक्रमेण धूमादिबिम्बोत्पन्नक्रमेण, एवं चतसृभिरभिसम्बोधिभिः परिशुद्धमिति।

चतुःकाय-षट्कुल-द्वादशसत्य-षोडशतत्त्व-षोडशशून्यता-षोडशकरुणा[४]-लौकिक-लोकोत्तराभिषेककर्मज्ञानमहामुद्रासिद्धिमार्गप्रकाशकमिति[५]।

चतुःकायाः। शुद्ध-धर्म-सम्भोग-निर्माणा इति गर्भजस्य तुर्यसुसु(षु)सिस्वप्नजाग्रदव-स्थालक्षणाः। ते च बुद्धानां निरावरणा इति।

षट् कुलानीति। अक्षरसुखं ज्ञानधातुः, विज्ञानमाकाशधातुः, संस्कारो वायुधातुः, वेदना तेजोधातुः, संज्ञा तोयधातुः, रूपं पृथ्वीधातुरिति गर्भजानां सावरणानि,[६] बुद्धानाम् निरावरणानीति।

द्वादश सत्यानीति। अविद्या-संस्कार-विज्ञान-नामरूप-षडायतन-स्पर्श-वेदना-तृष्णा-उपादान-भव-जाति-जरामरणानीति द्वादशसत्यानि गर्भजानां सावरणानि, बुद्धानां निरावरणानीति। द्वादशसंक्रान्तिभेदेन[७] प्राणवायुप्रवाहात् सावरणानि गर्भजानाम्, बु[11b]द्धानां निरावरणानि, द्वादशाङ्गनिरोधादिति।

षोडश तत्त्वानीति। निर्माणकायो निर्माणवाक् निर्माणचित्तं निर्माणज्ञानम्, सम्भोगकायः सम्भोगवाक् सम्भोगचित्तं सम्भोगज्ञानम्, धर्मकायो धर्मवाक् धर्मचित्तं धर्मज्ञानम्, सहजकायः सहजवाक् सहजचित्तं सहजज्ञानमिति आनन्द-परम-विरम-

---

१. भो. पुस्तके 'मणि' इति नास्ति। २. क. बुद्धरत्नकम्। ३. घ. परिशुद्धमिति। ४-५. क. पुस्तके तु पूर्वं करुणातः····प्रकाशकमिति यावत् पाठ एतादृशः— '०करुणात्मकाभिधेयवाचकम्। लौकिकदशलोकोत्तरेकादशाभिषेकप्रकाशकम्। कर्ममुद्रा-ज्ञानमुद्रामहामुद्रालौकिकलोकोत्तरसिद्धिप्रकाशकम्' इति। द्वावप्यतुलनीयौ। ६. घ. सावरणानि षट् कुलानि। ७. घ. द्वादशसंक्रान्त्युत्तरं प्राणभेदेन।

सहजभेदेन षोडश तत्त्वानि[1] । गर्भजानां[2] सावरणानि षोडशार्द्धार्द्धबिन्दुमोचनत्वादिति, बुद्धानां निरावरणानि षोडशर्द्धार्द्धबिन्दुधरत्वादिति ।

षोडश शून्यतेति । कृष्णपक्षः सूर्यः प्रज्ञा ।

षोडश करुणेति[3] । शुक्लपक्षश्चन्द्रमा उपायः ।

शून्यतायास्त्रयो भेदाः—शून्यता महाशून्यता परमार्थशून्यता चेति । तत्र शून्यता पञ्चस्कन्धशून्यता, कृष्णप्रतिपदाद्याः पञ्च तिथयः । महाशून्यता पञ्चधातुशून्यता, षष्ठ्याद्याः पञ्च तिथयः । परमार्थशून्यता पञ्चेन्द्रियशून्यता, एकादश्याद्याः पञ्च तिथयः । तेन पञ्चदश तिथयः पञ्चदशशून्यता, अमापर्यन्तम् । अमान्तशुक्लप्रतिपत्-प्रवेशाद्यौ(प्रवेशयो)र्मध्ये षोडशी शून्यता सर्वाकारा ।

एवं **करुणा** त्रिधा—सत्त्वावलम्बिनी धर्मावलम्बिनी अनवलम्बिनी चेति । तत्र सत्त्वावलम्बिनी शुक्लप्रतिपदाद्याः पञ्च तिथयः । धर्मावलम्बिनी षष्ठ्याद्याः पञ्च तिथयः । अनवलम्बिनी एकादश्याद्याः पञ्च तिथयः, पूर्णिमापर्यन्तम् । पूर्णिमान्तकृष्णप्रतिपत्- T 246
प्रवेशाद्यौ(प्रवेशयो)र्मध्ये षोडशी करुणा । अनयोरैक्यत्वं षोडशशून्यताषोडशकरुणात्मकाभिधेयं तस्य वाचकमिति ।

लौकिकलोकोत्तराभिषेका इति । लौकिकास्तावत् उदकं मुकुटः पट्टं वज्रघण्टा महाव्रतं नाम अनुज्ञा कलशो गुह्यं प्रज्ञाज्ञानमिति । गर्भजानां लोकसंवृत्या दशाभिषेकाः—कायवाक्चित्तज्ञानधातुस्कन्धायतनकर्मेन्द्रियादिपरिशुद्ध्येति । लोकोत्तर एकादशतम[4]-श्चतुर्थ(:) तत् पुनस्तथेति नियमात्, महामुद्रा-परमाक्षरज्ञानलक्षणो गुरुवक्त्रं कायवागादिनिरावरणत्वेन शोधक इति ।

कर्मज्ञानमहा[12a]**मुद्रासिद्धिरिति** । कर्ममुद्रा स्तनकेशवती । ज्ञानमुद्रा स्वचित्तपरिकल्पिता । महामुद्रा विकल्परहिता प्रतिसेनास्वरूपिणीति । आसां त्रिविधा सिद्धिः—कामावचरा कर्ममुद्रासिद्धिः, रूपावचरा[5] रूपभवभावलक्षणा ज्ञानमुद्रासिद्धिः[6], भावाभावरहिता सर्वाकारवरोपेता महामुद्रासिद्धिरिति । एषां चतुःकायादीनां लौकिकलोकोत्तरमार्गप्रकाशकं(:) परमादिबुद्ध(:)मि(इ)ति ।

एवमुक्तक्रमेण लोकधात्वध्यात्माभिषेकसाधनज्ञानपञ्चपटलात्मकम्, पञ्चकल्पात्मकं वा नरादिसकलसत्त्वानां सम्यक्सम्बुद्धत्वलाभाय सन्देशितम् । समिति सम्यक्-प्रकारेण, (न)[7] वज्रपदगुप्तप्रकारेणेति । **अतः परमादिबुद्धाल्लघुतन्त्रसङ्गीतिकरणाय मञ्जुश्रियस्तथागतव्याकरणं ममैव च टीकाकरणाय, यमान्तकादीनां तन्त्रदेशनाय च ।**

---

१. घ. षोडशकरुणेति । २-३. घ. पुस्तके 'गर्भजानां' इत्यारम्य 'षोडशकरुणेति' पर्यन्तं पाठः नास्ति, किन्तु भो. क. आदिषु अस्ति । ४. ख. ०शम । ५-६. घ. पुस्तके इदं वाक्यं नास्ति । ७. ख. पुस्तके 'न' इति अधिकः ।

अनागतेऽध्वनि ब्रह्म-ऋषीणां वैनेयार्थं सम्भलविषयादि षस्म(षण्ण)वतिग्रामकोटि-निवासिनां सर्वसत्त्वानां महायानमार्गलाभायेति। अतो द्वादशसाहस्रिकात् **परमादि-बुद्धात्** लघुतन्त्रसङ्गीतिकरणाय **मञ्जुश्रीस्तथागतेन** व्याकृतः, अनागतेऽध्वनि सार्द्धत्रि-कोटीनां **ब्रह्म-ऋषीणां कलापग्रामनिवासिनां वैनेयार्थम्।** अहमपि लोकेश्वरो लघु-तन्त्रे टीकाकरणाय व्याकृतोऽन्यपि (न्येऽपि) त्रयोविंशति **क्रोधराजबोधिसत्त्वाः षण्णव-तिग्रामकोटिनिवासिनां सर्वसत्त्वानां** निर्माणकायेन लघुतन्त्रदेशकाः व्याकृता महायान-मार्गलाभायेति। महायानमार्ग इति **मञ्जुश्रियो** वज्रकुलेन कलशगुह्यप्रज्ञाज्ञानाभिषेकः, तस्य लाभाय महावज्रयान[1]मार्गलाभायेति। अतः कलशगुह्यप्रज्ञाज्ञानाभिषेकतः सर्व-वर्णानामेककल्को भवति। स कल्कोऽस्यास्तीति कल्की, तस्य गोत्रं कल्किगोत्रम्[2]। वज्रकुलाभिषेकतः सकलमन्त्रिणामिति नीतार्थः। एवं **मञ्जुश्रीर्य(य)शः कल्की** व्याकृ-तो[3]ऽस्य यशसो गोत्रेऽहं लोकेश्वरो द्वितीयः **कल्की** व्याकृत इति। एवं यथानुक्र[12b]मेण **यमान्तकादयो दशक्रोधराजाः क्षितिगर्भादयस्त्रयोदशबोधिसत्त्वाः**, तेषां त्रयोदशबो-धिसत्त्वानां यमान्तकादिक्रोधराजानामन्तरान्तरेण[4] व्याकृताः; **निर्माणकायेन षण्णवति-कोटिग्रामनिवासिनां** राजानः सकलसत्त्वानां तथागतधर्मप्रवर्तकाः. **म्लेच्छादिकुधर्मवि-ध्वंसका द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणाः** पञ्चाभिज्ञाद्यैश्वर्यगुणपरिपूर्णा इति। अतः **परमादि-बुद्धाल्लघुतन्त्रसङ्गीतिकरणाय मञ्जुश्रीव्याकरण मम टीकाकरणाय च यमान्तकादीनां धर्मदेशनायेति।**

इति मूलतन्त्रानुसारिण्यां द्वादशसाहस्रिकायां
लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां विमलप्रभायाम्
अभिधेया[5]भिधानसम्बन्धप्रयोजनप्रयोजनसंवीक्ष्य
भगवतस्तन्त्रदेशनोद्देशो द्वितीयः ॥ २ ॥

(३) देशकाध्येषकमूलतन्त्रलघुतन्त्रसम्बन्धोद्देशः

**इदानीं पुनर्देशका[6]ध्येषकसम्बन्धोऽत्रोच्यते। कदाचित् पूर्वापरतन्त्रटीकाऽश्रु-तस्य वचनं भविष्यति। इह ननु वज्रयाने अडकवतीनिवासी महायक्षाधिपतिर्महाबो-धिसत्त्वो वज्रपाणिस्तथागतस्याध्येषकः सङ्गीतिकारश्च, कथं सम्भलविषयकलापग्रामा-धिपतेः सूर्यप्रभस्य विजयादेवीगर्भसम्भूतः सुचन्द्रो राजाध्येषकः; क्वचित् तन्त्रान्तरे न श्रूयते, न व्याकृत इति*; परस्परं देशकाध्येषकसम्बन्धो विरुद्धः? तस्मादुच्यते। इह हि यत् केनचिद्वक्तव्यं मन्त्रनये गर्भोत्पन्नस्तथागतस्याध्येषको न भवति, तन्न;

---

१. क. ख. महायान। २. घ. पुस्तके नास्ति। ३. घ. कृतो। ४. क. ०मन्तरारेण।५. घ. पुस्तके अत्र 'अभिधेयादिति वचनात्' अन्तः कृतः; भो. पाठेऽपि सम्पूर्णं वाक्यमस्ति। ६. ख. ०शको।

**—*, घ. पुस्तके नास्ति; अथ च भो. आदिषु अस्ति।

कस्माद् ? भगवतोऽपि गर्भोत्पन्नत्वात् । इह मन्त्रनये यदि गर्भोत्पन्नस्तथागतस्याध्ये-
षको न भवति सङ्गीतिकारश्च, तदा शाक्यकुले शुद्धोदननरेन्द्रस्य महामायादेवीकुक्षिस-
म्भूतः शाक्यमुनिः सर्वज्ञो देशको न स्यात्, गर्भोत्पन्नत्वादिति । अथ कस्यचिद्वचनं प्राक्
तेन मारभङ्गः कृतः; बोधिरुत्पादिता तत्सर्वज्ञो धर्मदेशकोऽभूत्, पश्चात् परिनिर्वृतस्य
पुनर्गर्भावक्रमणाभाव इति वचनात् परमविरोधः, स्वयमसिद्धस्य परसाधकत्वात् । इहादौ
बुद्धत्वाभावेन[1] कोऽपि मारभङ्गं [13a] करोति देवासुरमनुष्याणां मध्ये । आद्यभिसम्बुद्धो-
ऽपि न करोति, सर्वावरणाभावात् । युगपच्च न करोति, यस्मिन् क्षणे मारस्तस्मिन् क्षणे
बुद्धत्वं न स्यात्, सावरणचित्तात् । यस्मिन् क्षणे बुद्धत्वं तस्मिन् क्षणे मारो नास्ति,
निरावरणचित्तादिति । किञ्चान्यत्, इह कर्मभूम्यां भगवतो विना नान्यस्य नारीगर्भ-
जानस्य द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणान्यशीत्यनुव्यञ्जनानि द्वात्रिंशद्वर्णापरिमण्डलं षडभिज्ञो
भवति, तस्मात् मारो नाम सत्त्वानां संसारचित्तं वासनामलः, बुद्धत्वं नाम संसारवासना-
रहितं चित्तम् । तथा च भगवानाह प्रज्ञापारमितायाम्—"अस्ति तच्चित्तं यच्चित्तम- T 247
चित्तम्" इति (अष्ट०, पृ० ३) । प्रकृतिप्रभास्वरं तदेव संसारवासनारहितम्, अतो
मारः समलं चित्तम्, बुद्धो विगतमलं चित्तम् । इह बुद्धस्य बाह्ये यो मारभङ्गः स
सत्त्वानां स्वप्नवत् स्वचित्तप्रतिभास इति । परमार्थतस्तथागतहृदयं पञ्चमे पटले
विस्तरेण वक्तव्यमिति ।

इह संसारे सत्त्वार्थाय बुद्धबोधिसत्त्वानां प्रवेशः संसारिणामवाच्यः । उक्तं यम-
दूतैर्यमराज्ञा च सत्त्वार्थं नरकप्रवेशकाले मम लोकेश्वरस्य स्तोत्रम्—

"ये मुक्ता भवबन्धनैरपि भवं गृह्णन्ति सत्त्वार्थिनः
कालात् कर्मफलं त्यजन्ति न हि तत् शून्यार्थसन्देशकाः ।
संज्ञा नानलदग्धचित्तकलुषाः सम्यक् कृपार्द्राः सदा
तान् सत्त्वार्थरतानतर्कचरितान् बुद्धान् नमामा(मो) वयम् ॥" इति ।

अतः सत्त्वार्थं प्रति बुद्धबोधिसत्त्वानां गर्भप्रवेशो नरकगमनं वा बालजनैर्वितर्क-
यितुं न शक्यते । एकोऽपि बोधिसत्त्वो दशपारमितानिर्यातो दशभूमीश्वरो दशवशिताप्राप्तः
त्रैसाहस्रमहासाहस्रे[2] लोकधातावनेकनिर्माणकायैर्बोधिसत्त्ववैनेयानां सत्त्वानां बोधिसत्त्व-
धर्मं देशयति, न स महाबोधिसत्त्वोऽनेकः । एवं बुद्धो भगवान् पूर्वप्रणिधानबलेन पुण्य-
ज्ञानसम्भारपरिपूर्णः सर्ववैशारद्याद्यैश्वर्यगुणसम्पन्नो बुद्धक्षेत्रे त्रैसाहस्रमहासाहस्रेषु
लोकधातुष्वनन्तानन्तमायानिर्माणकायैर्निरावरणैरनन्ता [13b] नन्तसत्त्वानामनन्तानन्तरु-
तैर्नानाध्येषकैरध्येषितः सन् सर्वज्ञभाषया सर्वसत्त्वरुतप्रवर्तिन्या लौकिकलोकोत्तरं धर्मं
देशयति । न[3] (स)[4] सर्वज्ञोऽनेकः । यथा कश्चिन्मायापुरुषोऽनेकमायारूपाणि निर्मापयति,
तेन तानि निर्मितरूपाणि वृक्षान्युन्मूलयन्ति, पर्वतशिखराण्यपि चालयन्ति, महादेव[5] रूपा-

१. ख. ङ. बुद्धत्वभावेन; क. बुद्धलाभे न । २. घ. पुस्तके 'महासाहस्रे' इति
नास्ति । ३-४. ख. न स । ५. क. सहदेव; भो. Lha Chen Po (महादेव) ।

णीव विष्णुमि(रि)व देवदत्तादिकं बन्धयन्ति, न स मायापुरुषोऽनेकः; एवं बुद्धबोधिसत्त्वानां मायानिर्माणकायैस्त्रिभवे सत्त्वार्थं इति । तेन सर्वसत्त्वानां लौकिकलोकोत्तरधर्मदेशनाय बुद्धो भगवान् प्राक् द्वादशभूमीश्वरो महामायाधरो विद्वान् महामायेन्द्रजालिकः, आर्यविषयलुम्बिन्यां शाक्यकुले शुद्धोदननरेन्द्रस्य महामायादेवीकुक्षिसम्भूतः सिद्धार्थकुमार इति । सम्भलविषयेऽपि कलापग्रामे सूर्यप्रभस्य विजयादेवीगर्भसम्भूतो दशभूमीश्वरो वज्रपाणिः सुचन्द्र इति । बुद्धो भगवान् बुद्धक्षेत्रे लौकिकलोकोत्तरधर्मदेशनार्थं शाक्यमुनिर्जातो द्वादशभूमीः(मिः) साक्षात्कृतेति । शीतानद्युत्तरे सुचन्द्रवैनेयानां षण्णवतिकोटिग्रामनिवासिनां परमादिबुद्धतन्त्रराजेन सम्यक्सम्बुद्धमार्गलाभाय सुचन्द्रो राजाऽभूत् बोधिसत्त्वो वज्रपाणिरिति । अनयोर्बुद्धबोधिसत्त्वयोर्देशकाध्येषकसम्बन्धो निर्माणकायैः सम्भोगकायैर्वा पूर्वापराविरोधतः । तेन निर्मितकायेन वज्रपाणिना सुचन्द्रराज्ञा सर्वसत्त्वानां लौकिकलोकोत्तरसिद्धिसाधनार्थं तथागतोऽध्येषितः । तथागतेनापि शीतानद्युत्तरे सम्भलादिविषयेषु षण्णवतिकोटिग्रामनिवासिनामासन्नभव्यतां चित्तविशुद्धिं दृष्ट्वा वज्रपदमुद्घाटनरहितं[1] वज्रपदप्रकाशकं द्वादशसाहस्रिकं परमादिबुद्धं सन्देशितम् । अस्मात् द्वादशसाहस्रिकतन्त्रराजात् लघुतन्त्रकरणाय, मूलतन्त्रराजदेशनाय च अनागतेऽध्वनि सार्द्धत्रिकोटीनां ब्रह्म-ऋषीणां परिपाकं दृष्ट्वा षण्णवतिकोटिग्रामनिवासिनां च तथागतेन मञ्जुश्रीर्व्याकृतो वज्र[14a]कुलाभिषेकेण सर्ववर्णानामेककल्ककरणाय यशः कल्कीति । अहमपि टीकाकारः पुण्डरीको द्वितीयः कल्की व्याकृतः । अतो मम (तः) पश्चात् यमान्तकादयो व्याकृता इति । अत्र भगवानाह—

"आद्याब्दात्[2] षट्शतैर्वर्षैः सम्भलाख्ये भविष्यति ।
ऋषीणां पाचनार्थाय मञ्जुघोषो यशो नृपः ॥

अस्य तारा महादेवी पुत्रो लोकेश्वरोऽब्जधृक् ।
सुचन्द्र तव[3] वंशे मे शाक्यवंशसमुद्भवे ॥

वाग्मी वज्रकुले येन तेन वज्रकुली यशः ।
चतुर्वर्णैककल्केन कल्की ब्रह्मकुलेन न[4] ॥

एवं मया श्रुताऽनेन ऋषिणां धर्मदेशना ।
परश्रुतान्न सर्वज्ञ इति वादो भविष्यति ॥

येन येन प्रकारेण सत्त्वानां परिपाचनम् ।
तेन तेन प्रकारेण कुर्याद्धर्मस्य देशना(म्)[5] ॥

योगी शब्दापशब्देन धर्मं गृह्णाति यत्नतः ।
देशशब्देन लब्धेऽध्वे (र्थे)[6] शास्त्रशब्देन तत्र किम् ॥

१. क. वज्रपदानुद्घाटनरहितं । २. भो. Lo ḥDi nas (अद्याब्दात्) ।
३. घ. तद् । ४. क. च. भो. Min (न) । ५. ख. ०नाम् । ६. भो. Don (अर्थे)—यद्यपि विभिन्नपुस्तकेषु 'अध्वे' इति पाठो दृश्यते तथापि सार्थकत्वात् भोटे च उपलब्धत्वात् 'अर्थे' इत्येव समीचीनम् ।

यथा रत्नस्य मेदिन्यां नामभेदः पृथक् पृथक् ।
देशदेशवशात् प्रोक्तो रत्नभेदो न च क्वचित् ॥

एवं मे शुद्धधर्मस्य नानासङ्गीतिकारकैः ।
सत्त्वाशयवशात् प्रोक्ता नाना संज्ञा पृथक् पृथक् ॥

तेनेदं लघुसारार्थं सर्वज्ञेत्यादि मे मतम् ।
श्रीतन्त्रं स्रग्धरावृत्तैस्त्रिशच्चाधिकद्वि(द्वा)शतैः ॥

पटलैः पञ्चभिः पूर्णं वादिराट् देशयिष्यति ।
सङ्गीतिकारकश्चायं टीकाकारः सिताब्ज[1]धृक् ॥

तन्त्रेऽस्मिन् ऋषिकुलादीनां बुद्धमार्गप्रकाशकः ।
चन्द्रः सुरेश्वरस्तेजी सोमदत्तः सुरेश्वरः ॥

विश्वमूर्त्तिः सुरेशानः यशः पुण्डरीकः क्रमात् ।
सूर्यप्रभो[2] गतो राजा विघ्नशक्रः (त्रुः) स निर्मितः[3] ॥

वज्रपाणिः सुचन्द्रस्त्वं क्षितिगर्भो यमान्तकः ।
सर्वनिवरणविष्कम्भी जम्भको मानकः क्रमात् ॥

खगर्भो मञ्जुघोषश्च लोकनाथा यथाक्रमात् ।
यमार्यादिदशक्रोधा बोधिसत्त्वास्तदन्तरे ॥ T 248

कल्किगोत्रे भविष्यन्ति त्रयोदशाऽन्ये क्रमेण ते ।
यशः कल्की च गोत्रं च कल्की पुण्डरीकस्ततः ॥

भद्रकल्की तृतीयश्च चतुर्थो विजयस्तथा ।
सुमिन्द्रो (त्रो)* रक्तपाणिश्च विष्णुगुप्तश्च सप्तमः[4] ॥

अर्ककीर्तिः सुभद्रश्च [14b] समुद्रविजयोऽजः[5] ।
कल्की द्वादशमः सूर्यो विश्वरूपः शशिप्रभः ॥

अनन्तश्च महीपालः श्रीपालो हरिविक्रमः ।
महाबलो[6]ऽनिरुद्धश्च नरसिंहो महेश्वरः ॥

---

१. ख. सिताङ्ग । २-३. अस्य भोटपाठः किञ्चित् अन्यविधः—ḥDas Paḥi rGyal Po Ñi Maḥi Ḥod De Ni bGegs dGraḥi sPrul Pa sTe (सूर्यप्रभो गतो राजा स विघ्नशत्रोः निर्मितः) । * भो. gśes gÑen bZaṅ Po (सुमित्रो) । ४. क. सप्रभः; भो. bDun Pa (सप्तमः) । ५. क. ध्वजः; भो. rGyal dKaḥ (अजः)—प्रथमपटलस्य २७ श्लोकस्य विमलप्रभायां अजकल्की इति दृश्यते, तस्य भोटानुवादः—Rig lDan rGyal dKaḥ । ६. ख. मलो ।

अनन्तविजयः कल्की यशः कल्की ततः पुनः।
तस्य पुत्रो महाचक्री रौद्रकल्की भविष्यति।
म्लेच्छधर्मान्तकृद्वाग्मी परमा(मः] स्व[1]समाधिना॥

येन सूर्यरथादीनां[2] वाग्मी शास्ता[3] भविष्यति।
सुचन्द्र मूलतन्त्रे त्वं[4] तेन सङ्गीतिकारकः॥

टीकाकारस्त्वमेवात्र सत्त्वानां परिपाचकः।
लघुतन्त्रे मञ्जुघोषः[5] टीकाकारोऽब्जधृक् स्वयम्" ॥ इति।

मूलतन्त्रे यथोक्तक्रमेण बोधिसत्त्वाः क्रोधराजा व्याकृताः, षण्णवतिग्रामकोटीनां[6] चक्रवर्त्तिनो मन्त्रनये देशकास्तथागतेन व्याकृता इति। अतस्तथागतनियमात् द्वादशसाहस्रिकं मूलतन्त्रराजम्, सम्भलादिविषयभाषान्तरैः पुस्तके लिखित्वा षष्टिसाहस्रिकां[7] टीकाञ्च[8] सुचन्द्रराज्ञा षण्णवतिकोटिग्रामनिवासिभ्यः प्रकाशितम्। एतदेव तदधिमुक्तैः सत्त्वैः श्रुतं वाचितं धारितं स्वचित्ते, परेभ्यश्च विस्तरेण संप्रकाशितम्। अतस्तन्त्रदेशनाकालात् द्वितीयवर्षे मण्डलचक्र-ऋद्धिं दर्शयित्वा निर्माणकायेन यस्मादागतः, तत्रैव सम्भोगकायेन गतः, सत्त्वानां सिद्धिहेतवे। ततः सुरेश्वरेण वर्षशतं यावत् तन्त्रदेशना कृता; एवं तेजिना सोमदत्तेन सुरेश्वरेण विश्वमूर्त्तिना सुरेशानेन च। अस्य सुरेशानस्य खगर्भस्य निर्मितकायस्य विश्व[9]मातादेवीगर्भे मञ्जुश्रीर्यशो राजाऽभूत्, तस्मिन् बोधिसत्त्वसिंहासने धर्मदेशको वर्षशतं यावत्। ततो वर्षशते पूर्णे सति तथागतव्याकरणाधिष्ठानबलेन ऋषीणां परिपाचनाकालं दृष्ट्वा पञ्चाभिज्ञाबलेन सन्मार्गलाभं ज्ञात्वा यशोराज्ञा नियमं दातुकामेन सर्वेषामामन्त्रणं कृतम्।

कलापग्रामदक्षिणेन मलयोद्यानं द्वादशयोजनायामं कलापग्रामतुल्यम्। तस्य पूर्वेण उपमानसं[10] सरं[11] द्वादशयोजनायामम्, पश्चिमेन पुण्डरीकसरं तद्वत्प्रमाणम् [15a]। तयोर्द्वयोर्मध्ये मलयोद्यानम्[12]। मलयोद्यानमध्ये[13] सुचन्द्रराज्ञा कृतं कालचक्रभगवतो मण्डलचक्रं पञ्चरत्नमयपरिघटितदेवतादेवत्यात्मकं चतुरस्रं चतुःशतहस्तायामम्। बाह्ये कायमण्डलं चतुरस्रं चतुर्द्वारं चतुस्तोरणश्मशानाष्टविभूषितं पञ्चप्राकारवेष्टितम्। बाह्ये पृथिव्यादिचतुर्वलयवज्रावलीभूषितम्, वज्रावलिपर्यन्तं अष्टशतहस्तायामम्। कायमण्डलार्द्धमानमध्ये चतुरस्रं वाङ्मण्डलम्, चतुरस्रं[14] चतुर्द्वारं चतुस्तोरणभूषितम्, पञ्चप्राकारवेष्टितम्। वाङ्मण्डलार्द्धमानं[15] चित्तमण्डलं चतुरस्रं चतुर्द्वारं चतुस्तोरण-

---

१. ख. ०श्च। २. क. सूरथा०; ख. सूर्यादी०; भो. Ñi Maḥi (सूर्य)। ३. क. ख. ग. शास्त्रा। ४. घ. पुस्तके नास्ति। ५. घ. मञ्जुवज्रश्च; ख. ०च। ६. घ. नवतिक्रम०। ७. ख. ०स्रिकं। ८. घ. पुस्तके 'टीकां' इति नास्ति। ९. घ. पुस्तके 'विश्व' इति नास्ति। १०-११. भो. Ñe Baḥi Yid Kyi mTsho(उपमानसंसरं)। ११-१३. घ. पुस्तके 'मलयोद्यानम् मलयोद्यानमध्ये' इति नास्ति। १४. क. ख. ग. ङ. पुस्तकेषु नास्ति। १५. घ. पुस्तके 'मानं' इति नास्ति।

भूषितं त्रिःप्राकारवेष्टितम्। तदर्द्धेन ज्ञानचक्रम्, षोडशस्तम्भोपशोभितम्। एतदर्द्धेनाष्टदलकमलम्, कमलत्रिभागा कर्णिका। एवं कायवाक्चित्तमण्डलानि सर्वलक्षणपूर्णानि हारार्द्धहारसंयुक्तानि। रत्नपट्टिकावेदिका वकुलिकासहितानि दर्पणार्द्धचन्द्रघण्टा[१]-विराजितानि।

अस्मिन् त्रिमण्डलात्मके मण्डलगृहे फाल्गुनपूर्णिमायां सूर्यरथप्रमुखानां सार्द्धत्रिकोटीनां ब्रह्म-ऋषीणां यशोराज्ञा नियमो दत्तः—"हे सूर्यरथादयो ब्रह्म-ऋषयः शृणुत, मम वचनं सर्वज्ञसम्पत्करम्[२]। इह चैत्रपूर्णिमायां मया युष्माकं वेदस्मृतिनियमपालकानां शासनं दातव्यम्। तेन ये नानादेशान्तरे कुलीना ब्राह्मणास्ते पृथक् कृत्वा भवद्भिर्माम् दर्शनीयाः"। तेन वाक्येन[३] नानादेशप्रचारेण विचार्यमाणाः परस्परविरोधेन सर्वेऽपि ते पतिताः कापालिकभक्तगोमांसमहिषमांसभक्षणेन मद्यपानेन मात्रादिग्रहणेन देशव्यवहारेण। एवं तेषां विरोधं दृष्ट्वा यशो राज्ञोक्तम्—"इह मयास्मिन् कालचक्रभगवतो मण्डलगृहे प्रवेशः कर्तव्यो युष्मभ्यो लौकिकलोकात्तराभिषेको दातव्य इति। अन्यच्च ममाज्ञया भवद्भिर्वज्रकुलेन सार्द्धं खानपानं कर्तव्यं विवाहसम्बन्धश्चेति। अथ ममाज्ञां यूयं न कुरुत तदास्मदीयान् षण्णवतिकोटिग्रामान्* त्यक्त्वा यत्र कुत्र[15b]चिद्भवतां प्रतिभावि[४](ति) तत्र भवन्तो गच्छन्तु। अन्यथाष्टशते वर्षगते सति युष्मत्पुत्रपौत्रादयो म्लेच्छधर्मे प्रवृत्ति[५] कृत्वा सम्भलादिषण्णवतिमहाविषयेषु म्लेच्छधर्मदेशनां करिष्यन्ति। म्लेच्छदेवताविषविल्वा[६](विस्मिल्लाह्)मन्त्रेण कर्त्तिकया ग्रीवायां पशुं हत्वा तत[७]स्तेषां स्वदेवतामन्त्रेणाहतानां पशूनां मांसं भक्षयिष्यन्ति, स्वकर्मणा मृतानां मांसमभक्षं करिष्यन्ति, सोऽपि धर्मो युष्माकं प्रमाणम्, "यागाधेयशवः[८] (यागार्थाः पशवः) सृष्टाः" इति स्मृतिवचनात् (मनु०, ५।३९) म्लेच्छधर्मवेदधर्मयोर्विशेषो नास्ति प्राणातिपाततः। तस्मात् युस्मत्-कुले पुत्रपौत्रादयः तेषां म्लेच्छानां प्रतापं दृष्ट्वा संग्रामे[९] मारदेवतावतारं[१०] वाऽनागतेध्वनि अष्टवर्षशते गते सति म्लेच्छा भविष्यन्ति। तेषु म्लेच्छेषु जातेषु सत्सु षण्णवतिकोटिग्रामनिवासिनोऽपि चतुर्वर्णादयः सर्वे म्लेच्छा भविष्यन्ति, "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इति (म०भा०, व०प०,अ० ३१३, श्लो० ११७) ब्रह्म-ऋषिवचनात्। इह म्लेच्छधर्मे वेदधर्मेऽपि देवतापित्र(त्र्य)र्थं प्राणातिपातः कर्तव्यः, क्षत्रधर्मेऽपि च, "तर्पयित्वा पितॄन् देवान् खादन् मांसं न दोषभाग्" इति (याज्ञ०, आचा०, १७९) ब्राह्मणवचनात्; तथा

"दोषं तत्र न पश्यामि यो दुष्टे दुष्टमाचरेत्" इति।

---

१. क. ०चन्द्रचन्द्रघण्टा। २. ख. सम्पत्करं; क. सम्यकतरं भो. Phun Sum Tshogs Pa Byed Pa (सम्पत्करं)। ३. ङ. बाह्येन।
४. ख. ०भाति। ५. ख. प्रकृतिं। ६. ख. विषविल्वा; भो. Bi Śi Milla (विषिमिल्ला)। ७. ख. तत्र। ८. ख. यागाधेयशवः; घ. यागार्थे पशवः।
९-११. घ. संग्राममारदेवतावतारं। ७. घ. ङ. च।

*. घ. पुस्तके पायशः 'षण्णवति' स्थाने 'नवति' इति पाठः।

एवं वेदधर्मं प्रमाणीकृत्य म्लेच्छधर्मपरिग्रहं करिष्यन्ति। तेन कारणेनानागतेऽध्वनि[1] म्लेच्छधर्माप्रवेशाय[2] युष्मद्भ्यो मया नियमो दत्तः, तस्माद् भवद्भिर्ममाज्ञा कर्तव्या" इति।

T 249 एवमुक्तेनानेन यशो राज्ञो वचनेन सदण्डाज्ञासहितेन शिरसि विद्युत्पतितैरिव ब्रह्म-ऋषिभिः सूर्यरथ उक्तः—"हे सूर्यरथ, त्वं यशो नरेन्द्रं विज्ञापय—नास्माकं वज्र-कुलाभिषेकधर्मप्रवृत्तिर्वेदोक्तजातिधर्मं विहायेति। तस्माद् वयं तवाज्ञया वरमार्यविषयं गमिष्यामः, शीताहिमवतोर्दक्षिणं लङ्काद्वीपान्तरम्" इति[3]। तेषां ब्रह्म-ऋषीणां वचनेन सूर्यरथो यशो नरेन्द्रं विज्ञापयति—"हे महाराजाधिराज, परमेश्वर, द्वात्रिंशन्महापुरुष-लक्षणाशीत्यनुव्यञ्जनाङ्गपरिपूर्ण, श्रीशाक्यकुलतिलक, परमका[16a]रुणिक, करुणां कुरुष्व कुशलधर्मे[4] प्रवृत्तानाम्। अथास्माभिरवश्यं तवाज्ञा कर्तव्या। तदा वयं वज्रकु-लाभिषेकप्रवृत्तिं न करिष्यामः। तवाज्ञया वरं शीतानदीदक्षिणे हिमवतो लङ्काद्वीपस्य मध्ये आर्यविषयं गमिष्यामः" इति।

अथ[5] सूर्यरथवचनात् यशोराजा आह—"शीघ्रं सम्भलविषयान्निर्गच्छन्तु भवन्तो येन शीतानद्युत्तरे षण्णवतिकोटिग्रामनिवासिनः सर्वे सत्त्वाः प्राणातिपाताद्यकुश-लकर्मपथान् परित्यज्य कालचक्रभगवतोऽधिष्ठानेन सम्यक्ज्ञानमार्गलाभिनो भविष्यन्ति" इति।

तेन यशोराजाज्ञया सर्वे अमी ब्रह्म-ऋषयः कलापग्रामान्निर्गताः; दशमे दिने वनान्तरं प्रविष्टाः। तेषां वनमध्ये प्रविष्टानां पञ्चाभिज्ञाबलेन यशोराज्ञा ज्ञातम्, यथैषां ब्रह्म-ऋषीणां आर्यविषये गमनेन षण्णवतिकोटिग्रामनिवासिनां सर्वसत्त्वानां वैषम्यचित्तं भविष्यति, इह येन कारणेन वज्रयानोक्तः सम्यग्ज्ञानमार्गो न भवति, तेन कारणेन अमी ऋषयः श्रीयशोराज्ञो भयेन स्वस्थानं परित्यज्य[6] स्वकुटुम्बादि[7] गृहीत्वा आर्यविषयं गताः। सर्वे मोक्षार्थिन इति क्षत्रियादयो जनाश्चिन्तयन्तो दुर्भगा भविष्यन्ति, गम्भीरो-दारधर्माभाजने[8] अभव्यचित्तात्[9]। एवं[10] सर्वजनानां स्वचित्ताभिप्रायं ज्ञात्वा यशोनरेन्द्रः सर्वविष्णुब्रह्मरुद्रकुलमोहनं नाम समाधिं समापन्नः। तेन समाधिना देवताधिष्ठानबलेन सर्वे ते ऋषयस्तस्मिन्नेव वने मोहिताः सन्तस्तस्मिन् वननिवासिभि स(श)बरादिभिः सर्वे ऋषयो बन्धयित्वा पुनरेव महामण्डलगृहमानीताः, यशोनरेन्द्रस्य पादमूले प्रक्षिप्ताः सन्तः प्रबुद्धा यशोनरेन्द्रं पश्यन्ति। तदेव मण्डलगृहं मलयोद्याने तं दृष्ट्वा विस्मयमापन्ना इदं वचनमाहुः—"अहो महाश्चर्यमिदम्, वयं महावनादप्रबुद्धाः सन्तः केनानीता महामण्डल-गृहे"? इत्येवमेतद्वचनं श्रुत्वा ब्रह्म-ऋषीणां यशोराज्ञो मन्त्रिणा निर्मितकायेन सागरम-तिनोक्तम्—"हे सू[16b]र्यरथादयो ब्रह्म-ऋषयो मा विस्मयं कुरुत। अयं यशोराजा

१. घ. पुस्तके 'अध्वनि' इति नास्ति। २. घ. ०धर्मप्रवेशाय। ३. क. ख. ग. ङ. ०द्वीपोत्तरमिति। ४. ख. स्वधर्मे; भो. Raṅ Raṅ Gi Rigs Kyi Chos La (स्वस्वकुलधर्मे)। ५. घ. ततः। ६-७. घ. परित्यागेन कुम्भानि। ८. घ. अभाजनानां। ९-१०. घ. पुस्तके नास्ति।

प्रादेशिको न भवति। कोऽपि महाबोधिसत्त्वो युष्माकमनुग्रहार्थी बुद्धाधिष्ठानेनाभूत्, तस्मादस्य पादयोः शरणं गत्वा आदिबुद्धतन्त्रराजे लौकिकलोकोत्तरसिद्धिसाधनमार्गाभिषेकाध्येषणं कुरुत" इति ।अथ तेन सागरमतिवचनेन बुद्धाधिष्ठानेन सूर्यरथादयो ब्रह्म-ऋषयः प्रबुद्धा इदं वचनमाहुः—"साधु साधु सागरमते, येन ते वचनेनास्माकं चित्तप्रबोधोऽभूत्, तस्मादिदानीं रत्नत्रयशरणं गत्वा कालचक्रतन्त्रराजे लौकिकलोकोत्तरसिद्धिसाधनमार्गाभिषेकाध्येषणां कुर्याः[1], सकलसत्त्वानां सम्यक्सम्बुद्धत्वलाभायैहैव जन्मनि" इति। एवमुक्त्वा तैः ऋषिभिः ब्रह्मकुले सूर्यरथो राजामन्त्रितः—"हे सूर्यरथ, त्वं वेदादिशास्त्रैकपुस्तकसर्वलौकिकलोकोत्तरशास्त्रप्रमेयग्राहकहृदयः, तेनास्माकमध्येषणावचनेन यशोराज्ञोऽध्येषणां कुरु। वयमपि मण्डलपूर्वङ्गमं शरणं गत्वा सर्वेऽध्येषणां करिष्यामः"।

अथ तेन ब्रह्म-ऋषिवचनेन सूर्यरथो रत्नसुवर्णमयैः पुष्पैर्मण्डलं कृत्वा यशोनरेन्द्रस्य पादमूले रत्नपुष्पाञ्जलिं प्रक्षिप्य जानुयुग्मेन भूगतेन हस्तयुग्मेन शिरसि गतेन ब्रह्म-ऋषिभिः सार्द्धं यशः पादौ प्रणम्य दक्षिणं जानुमण्डलं पृथिव्यां संस्थाप्य ललाटे करपुटं दत्वा यशोनरेन्द्रमध्येषयति—"देशयतु भगवांस्तन्त्रराजमादिबुद्धम्, यस्मिन् बुद्धत्वाय पञ्चानन्तर्यकारिणोऽपि व्याकृता इहैव जन्मनि वज्रधरभगवता परमाक्षरसुखेन संगृहीता महामुद्रालाभिनो व्याकृताः। इमं षड्द्वादशसाहस्रिकं आदिबुद्धं सुचन्द्रराज्ञस्तथागतेन देशितम्। तदेवाल्पग्रन्थेनादिबुद्धमल्पतन्त्रराजं सङ्गीतिं कृत्वा देशयतु ब्रह्म-ऋषीणां शास्ये(स्ते)[2]" इति। अथ सूर्यरथाध्येषणं श्रुत्वा ब्रह्म-ऋषीणामधिमुक्तिचित्तवशात् तथागताधिष्ठानबलेन लघुसङ्गीतिकार[17a]कत्वेन स्रग्धरावृत्तैः सर्वज्ञदेशकादिसंग्राहकैस्तन्त्रराजं देशयति।

तेषां च सुशब्दवादिनां सुशब्दग्रहविनाशाय अर्थशरणतामाश्रित्य क्वचिदवृत्तेऽपशब्दः; क्वचिद् वृत्ते यतिभङ्गः; क्वचिदविभक्तिकं पदम्; क्वचिद्वर्णस्वरलोपः; क्वचिद् वृत्ते दीर्घो ह्रस्वः, ह्रस्वोऽपि दीर्घः; क्वचित् पञ्चम्यर्थे सप्तमी, चतुर्थ्यर्थे षष्ठी; कुत्रचित् परस्मैपदिनि धातावात्मनेपदम्, आत्मनेपदिनि परस्मैपदम्; क्वचिदेकवचने बहुवचनम्, बहुवचने एकवचनम्, पुल्लिङ्गे नपुंसकम्, नपुंसके पुल्लिङ्गम्; क्वचित् तालव्यशकारे दन्त्यमूर्द्धन्यौ; क्वचित् मूर्द्धन्ये दन्त्यतालव्यौ; क्वचिद् दन्त्ये तालव्यमूर्द्धन्यौ। एवमन्येऽप्यनुसर्तव्यास्तन्त्रदेशकोपदेशकेनेति। तथा मूलतन्त्रे भगवानाह—

"सुचन्द्र सर्वबुद्धानां देयं नित्येष्टवस्तुकम्।
शिष्येभ्यश्च[3] गुरूणाञ्च भार्यादुहितृपुत्रकम्[4]॥

गन्धो भवति मेदिन्यां तोये रूपं रसोऽनले। T 250
वायौ स्पर्शोऽक्षरे शब्दो धर्मधातुर्महानये*॥

१. घ. कुर्म्मः। २. ख. शास्ते। ३. क. ०भिश्च। ४. घ. ०पूर्वकं।
*. ख. ०नवे; घ. ०नभो।

गन्धधूपादिदीपेभिः खानपानादिवाससैः ।
पूजयित्वा महामुद्रां* गुरौ[1] ददति[2] सत्सुतः" ॥

इत्येवमादयोऽन्येऽपि[3] पशब्द्या(ब्दा)योगिनावगन्तव्या आगमपाठादिति । एवं टीकायामपि सुशब्दाभिमानना[4] शा(य)लिखितव्यं मयाऽर्थशरणतामाश्रित्येति[5] । अथ येन येन प्रकारेण कुलविद्यासुशब्दाभिमानक्षयो भवति, तेन तेन प्रकारेणार्थशरणतामाश्रित्य बुद्धानां बोधिसत्त्वानां धर्मदेशना देशभाषान्तरेण शब्दशास्त्रभाषान्तरेण मोक्षार्थम् ।

इति मूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
देशकालाध्येषकमूलतन्त्रलघुतन्त्रसम्बन्धोद्देशः
तृतीयः ॥ ३ ॥

(४) देशकाध्येषकसाधनोद्देशः

इदानीं मञ्जुश्रीनिर्मितयशोनरेन्द्रसूर्यरथदेशकाध्येषकादिसम्बन्धादिना लघुतन्त्रराजं वितनोमीति । इह महाश्रीमति कालचक्रमण्डलगृहे पूर्वद्वा[17b]रावसाने महामणिरत्नमण्डपे महारत्नसिंहासनस्थो देवासुरनागनिर्मितकायैः षण्णवतिमहाराजकुलप्रसूतैर्महारत्नमुकुटबद्धैः कोटिकोटिग्रामाधिपतिभिर्नमस्कृतचरणारविन्दः सर्वतथागतप्रज्ञामूर्त्तिः सूर्यरथाध्येषितो यशोनरेन्द्रः सूर्यरथमिदमवोचत्—"साधु साधु सूर्यरथ, येन त्वं ब्रह्मऋषिकुलादीनां सर्वसत्त्वानां सम्यक्सम्बुद्धत्वमार्गलाभाय परमादिबुद्धतन्त्रराजसद्भावं श्रोतुं मत्तः समुद्यतः । तेन साधु ते इदं यत् परमादिबुद्धतन्त्रराजसद्भावं लौकिकलोकोत्तरसिद्धिसाधकं कालचक्रवज्रयोगं त्वया पृष्टं तत्सर्वमहं देशयामि; सङ्गीतिकारकत्वेन त्वमप्येकाग्रमनाः शृणु प्राग्व्याकृततथागताधिष्ठानबलेन लघुतन्त्रराजसद्भावं प्रज्ञोपायात्मकं योगं[6] श्र(स्र)ग्धरावृत्तसङ्गीत्या महातन्त्रराजादुद्धार्यमाणम् । सम्यक्सम्बुद्धसुचन्द्रदेशकाध्येषकसम्बन्धेन मया[7] यशो राज्ञो इति । अथ मञ्जुश्रीभगवान्निर्मितकायो यशोनरेन्द्रो देशकादिसंग्रहवृत्तं प्रथमं परमादिबुद्धात् तथागतेन व्याकृतमाह—

सर्वज्ञं ज्ञानकायं दिनकरवपुषं पद्मपत्रायताक्षं
बुद्धं सिंहासनस्थं सुरवरनमितं मस्तकेन प्रणम्य ।
पृच्छेद्राजा सुचन्द्रः करकमलपुटं स्थापयित्वोत्तमाङ्गे
योगं श्रीकालचक्रे कलियुगसमये मुक्तिहेतोर्नराणाम् ॥ १ ॥

१-२. घ. गुरोर्ददति । ३. ख. ०प्य० । ४. ख. वाण । ५. 'मयार्थशरणतामाश्रित्य' इत्यतः घ. पुस्तकं खण्डितम् । ६. ख. पुस्तके नास्ति । ७. क. ख. महा ।
*, ख. सदा मुद्रां ।

इह तन्त्रराजे देशकादीनां संग्रहार्थमिदमादिवृत्तं भगवता सङ्गीतमिति। अत्र देशकादयः देशकः, स्थानम्, महापर्षत्, अध्येषकः, धर्मदेशना, प्रयोजनप्रयोजनप्रयोजनमिति[१]। एषु देशकसंग्रहस्तावत् **सर्वज्ञं ज्ञानकायं दिनकरवपुषं पद्मपत्रायताक्षं बुद्धमित्येभिस्त्रयो**-विंशत्यक्षरैर्देशकसंग्रहः कृतो भगवता। **सिंहासनस्थमित्येभिः** पञ्चाक्षरैः स्थानसंग्रहः कृतः। **सुरवरनमितमित्येभिः** सप्ताक्षरैर्महापर्षत्संग्रहः कृतः। **मस्तकेन प्रणम्य पृच्छेद्राजा सुचन्द्रः करकमलपुटं स्थापयित्वोत्तमाङ्गे** इत्येभिरष्टाविंशत्यक्षरैरध्येषकसंग्रहः कृतः। **योगं श्रीकालचक्रे कलियुगसमये** इत्येभिश्चतुर्दशाक्षरैः(स)द्धर्मदेशनासंग्रहः कृतः। **मुक्तिहेतोर्नराणामित्येभिः** सप्ताक्षरैः प्रयोजनप्रयोजनप्रयोजनसंग्रहः कृतः। इत्येभिर्यथानुक्रमेण चतुरशीत्यक्षरैर्देशकस्थानमहापर्षद्-अध्येषकधर्मदेशनाप्रयोजनप्रयोजनप्रयोजनसंग्रहः मूलतन्त्रराजादुद्धृत्य मञ्जुश्रीभगवता तथागतव्याकृतेनेति।

ननु सर्वतन्त्रराजेषु "एवं मया श्रुतम्" इत्यादिना वज्रधरभगवतो 'विजहार'-स्थाननिर्देशस्तथागतेनोक्तः, कथमिदं तन्त्रराजं सर्वज्ञम् इत्यादिना "एवं मया"-आदि रहितं बुद्धभगवता सन्देशितं भवति? "एवं मया"-आदि-विजहार-स्थाननिर्देशाभावादिदं तन्त्रराजं बुद्धभगवता देशितं न भवतीह कस्यचित् संज्ञाव्यञ्जनशरणाश्रितस्य वचनं भविष्यति। तस्मादुच्यते। इह यद्वक्तव्यमनागते[19b][२]ऽध्वनि बालजनैर्व्यञ्जनसंज्ञा-शरणाश्रितैः सर्वतन्त्रराजेषु "एवं मया श्रुतम्" इत्यादिना वज्रधरभगवतो विजहार-स्थाननिर्देशस्तथागतेनोक्तः। तन्न, कस्मात्? धर्मदेशकस्यार्थशरणतामाश्रितत्वात्, सङ्गीतिकाराणामपि नानादेशभाषान्तरेण सङ्गीतिकरणादिति। इह यदि "एवं मया श्रुतम्" इत्यादिना संस्कृतवचनेन कण्ठताल्वादिप्रयत्नतो जनितेन प्रादेशिकेन तथागतस्य धर्मदेशना, तदा चतुरशीतिसहस्रधर्मस्कन्धाननेककालैरपि तथागतो देशयितुं न शक्नोति; सङ्गीतिकारकश्च लिखितुं प्रादेशिकैकसंस्कृतवचनादिति। इहानन्तनिर्माणकायाभावाद-नन्तानन्तलोकधातुषु अनन्तानन्तसत्त्वरुतैर्युगपच्च धर्मदेशको न स्यात्, चतुरशीतिसहस्र-धर्मस्कन्धदेशनाभावात् सर्वज्ञो न भवति? न चैवम्, इहाप्रमाणो बुद्धः, अप्रमाणो धर्मः, अप्रमाणः सङ्घः; अतस्तथागतवचनात् नैकः सर्वज्ञो देशकः। नैका सर्वज्ञभाषा या सर्व-सत्त्वरुतैरर्थप्रतिपादिका; नैको विजहारस्थाननिर्देशः। नैकः श्रावकसङ्घोऽध्येषकः तथागत-स्येति। T 251 इह सत्त्वानां नानाधिमुक्तिवशादनेकः सर्वज्ञः, अनेका सर्वज्ञभाषा, अनेकं विजहार-स्थानम्, अनेका अध्येषकाः, अनेका धर्मदेशनेति। अतः सर्वतन्त्रदेशना न "एवं मया श्रुतम्" इत्यादिना एकदेवभाषया कण्ठताल्वादिप्रत्य(य)[३]त्नतो जनितया तथागतस्येति। इह प्रथमं तावत् श्रावकनये मगधभाषया धर्मदेशना पिटकत्रयादौ; तद्यथा—"इत्यपि(इति पि) सो भगवा सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नः(न्नो) सुगतो लोकविदू[४] अन्न(नु)त्तरो" इत्यादिना धर्मदेशना। तथा शीतानद्युत्तरे चम्पकविषये कोटिग्रामभाषया धर्मदेशना। तद्यथा—"अकर्षु,[५] षक,[६] गगल्कु,[७] जिरामक,[८] विजिरिट्का,[९] दुदुरूपक" इत्यादिना

१. ख. प्रजनन०। २. क. पुस्तके '19a' इति रिक्तपत्रम्। ३. ख. ०प्रय०। ४. ख. ०विदु; क. विद्। ५. भो. अकर्ष्णु। ६. ख. ष्णक; ङ. त्वखष्टक; भो. खुष्णुक। ७. भो. पल्कु। ८. ख. भो. जिणमक। ९. भो. ०ट्कु।

(धर्मदेशना)[1] । तथा रुक्मस्योत्तरे[2] सुरस्यविषये कोटिग्रामभाषया ध[20a]र्मदेशना; तद्यथा—अकमयसत्[3] (द), बलदत्त[4] विरट, मनिक, अकुट, वरदत्त, जिगित(ति)[5] वरदत्त" इत्यादिना धर्मदेशना। एवमनेकदेशविषया यानत्रयदेशना तथागतस्य, नैकया "एवं मया श्रुतम्" इत्यादिना संस्कृतभाषयेति।

अथ संस्कृतभाषयापि सङ्गीतिकारकैर्लिखितेषु तन्त्रराजेषु कुत्रचित् "एवं मया श्रुतम्" इत्यादिना विजहारस्थाननिर्देशः, कुत्रचिन्न। प्रथमं तावत् "एवं मया श्रुतम्" इत्यादिना विजहारस्थाननिर्देशः पञ्चविंशतिसाहस्रिके श्रीसमाजे षोडशसाहस्रिके मायाजाले इत्याद्यनेकतन्त्रराजेषु, कुत्रचिन्नास्ति। प्रथमं तावत् द्वादशसाहस्रिके परमादिबुद्धे षट्त्रिंशत्साहस्रिके योगानुविद्धे महालक्षाभिधाने। एवमनेकतन्त्रराजेष्वपि। तथा मूलतन्त्रराजेषु तथा तदुद्धृतेष्वपि लघुतन्त्रेषु कुत्रचिद् "एवं मया" आदिना देशना, कुत्रचिन्न स्यादिति। इह श्रीसमाजे* भगवानाह—"एवं मया श्रुतमेकस्मिन् समये भगवान् सर्वतथागतकायवाक्चित्तवज्रयोषिद्भगेषु विजहार" इति। (भा०च०, पृ० ९० ए, पंक्ति २)। विजहारस्थाननिर्देशः एवं मायाजालेऽपि "एवं मया श्रुतम्" इत्यादिना विजहारस्थाननिर्देशः। एवमन्येष्वपि मूलतन्त्रलघुतन्त्रराजेषु विजहारस्थाननिर्देश इति।

इह परमादिबुद्धे भगवानाह—

"सर्वज्ञो ज्ञानकायो यो मार्त्तण्डवपुरव्ययः।
पद्मपत्रायताक्षः श्रीबुद्धः सिंहासने स्थितः॥

कायवाक्चित्तरागात्मा वज्रसत्त्वोऽधिदेवता।
कायवाक्चित्तरागेण कायवाक्चित्तमण्डले॥

अभेद्यो वज्रयोगोऽसौ कालचक्रोऽक्षरः सुखः।
अनादिनिधनो बुद्ध आदिबुद्धो निरन्वयः॥

सर्वतो वज्रसौभाग्यः सर्वतो विश्वसंवरः।
द्वादशाकारसत्यार्थः षोडशाकारतत्त्वधृक्"॥

(श्रीकालचक्रगर्भ नाम तन्त्र, भा० क; पंक्ति बी १, ३)

इत्यादि विजहारस्थाननिर्देशः परमादिबुद्धे। तथा षट्त्रिंशत्साहस्रिके योगानुविद्धे भगवानाह—

"डाकिनीवज्रपद्मस्थ एकोऽसावधिदेवता।
सहजानन्दरूपेण संस्थितास्त्रिभवात्मनि"॥

( )

इत्या [20b]दिना विजहारस्थान निर्देशो योगानुविद्धे। तथा लक्षाभिधाने भगवानाह—

---

१. ख. धर्मदेशना इति अधिकः। २. ख. रुह्रस्यो०; भो. रुक्मस्यो०। ३. ख. अकमपसत्; भो. अकमयसत्। ४. ख. बलद्दत्त। ५. भो. जिगिति।

* सर्वतथागतकाय-वाक्-चित्तरहस्यो गुह्यसमाज नाम महाकल्पराजः।

"रहस्ये सर्वदूतीनां सर्वसत्त्वात्मनि स्थितः ।
सर्वदूतीमयः सत्त्वो वज्रसत्त्वो महासुखः" ॥
(   )

इत्यादिना विजहारस्थाननिर्देशः । स च गुरूपदेशादवगन्तव्य इति ।

तथाध्येषकः श्रीसमाजे—"अथ स वज्रपाणिर्वज्रधरभगवताधिष्ठितः सन्नेवमाह—

'देशयतु[1] भगवान् महातन्त्रराजं सर्वतन्त्रनिरुत्तरम् ।
सर्वबुद्धानां श्रीसमाजं सर्वबुद्धाभिधानकम्' ॥ इति ।
(   )

एवमादिना वज्रपाणेरध्येषणा; एवं मायाजालेऽपि वज्रपाणिरध्येषकः प्रसिद्धो नामसङ्गीत्यामिति । इह परमादिबुद्धो अध्येषकः सत्त्वानां क्लेशनाशाय भगवता चोदितः सन्—

"कायवाक्चित्तयोगेन शास्तुः पादाम्बुजद्वयम् ।
रत्नपुष्पैः समभ्यर्च्य सपुष्पाञ्जलिना पुनः ॥

शिरसा जानुयुग्मेन भूगतेन प्रणम्य च ।
ततो भूम्यां समस्थाप्य दक्षिणं जानुमण्डलम् ॥

ललाटे करपुटं दत्वाऽध्येषणा कुरुते नृपः ।
देशयित्वाखिलं शास्ता सर्वतन्त्रनिरुत्तरम् ॥

आदिबुद्धं सदा सर्वं सिद्धिसन्दोहलक्षणम् ।
योगं श्रीकालचक्रेऽस्मिन्नालिके(का)लिसमन्विते ॥

एकक्षणाभिसम्बुद्धं चतुःक्षणविभेदितम् ।
चतुर्बिन्दुधरं तत्त्वं भिन्नं षोडशभेदतः ॥

शून्यं ज्ञानं च बिन्दुं च वरं वज्रधरं महत् ।
पञ्चाक्षरं महाशून्यं बिन्दुशून्यं षडक्षरम् ॥

बुद्धदेवासुरानेव बाह्ये देहे परेषु च ।
पुरुषं प्रकृतिष्वेवं पञ्चविंशति(त)मं परम् ॥

देहे विश्वस्य मानं यत् त्रैलोक्योत्पत्तिकारणम् ।
भुक्ति देवासुरादीनां सर्वमेतत् यथा स्फुटम्" ॥

---

१. क. देशयन्तु ।

इत्येवमाद्यध्येषणा सुचन्द्रराज्ञः परमादिबुद्धे। तथा योगानुविद्धे (तन्त्रे) विश्वरूपिणी आह—

"श्रीविश्वरूपिणी नत्वा पृच्छते वज्रभैरवम्।
तन्त्रं योगानुविद्धं किं वज्रसत्त्वः परं सुखम्"॥

इत्याद्यध्येषणा योगानुविद्धे।

तथा लक्षाभिधाने वज्रवाराही आह—

"प्रणम्य वज्रवाराही हेरुकं त्रिभवात्मकम्।
तन्त्रं लक्षाभिधानं किं[21a]वज्रसत्त्वः परं सुखम्"॥

इत्याद्यध्येषणा लक्षाभिधाने। एवमन्येष्वपि तन्त्रराजेषु योगिनाऽध्येषणा ज्ञातव्येति। अतो भगवतोऽनन्तधर्मदेशकत्वात् बौद्धैर्न वक्तव्यम्—"एवं मया श्रुतम्" इत्यादिना सर्वतन्त्रराजेषु विजहारस्थाननिर्देश इति। अनेन प्रादेशिकसंस्कृतवचनेन बुद्धोऽपि प्रादेशिको भवति, सर्वसत्त्वरुतस्वभाविन्या सर्वज्ञभाषया विना।

T 252 इहार्यविषये शब्दवादिनां तीर्थिकानां पण्डितानामभिमानं दृष्ट्वा बालमतीनां बौद्धानामभिप्रायः, यथा ब्रह्महरिहरादयः संस्कृतवक्तारो ब्राह्मणवैष्णवशैवादीनामिष्टदेवता, तथाऽस्मदीया इष्टदेवता बुद्धबोधिसत्त्वाः संस्कृतवक्तारो भवन्तीति। इह न च ते अनेन प्रादेशिकसंस्कृतवचनेन सर्वसत्त्वरुतैर्धर्मदेशकाः सङ्गीतिकारका भवन्ति, बुद्धबोधिसत्त्वाः सर्वज्ञभाषया विना। अतो देवजातिप्रतिबद्धा प्रादेशिका बुद्धबोधिसत्त्वानां न स्यादिति, नानासत्त्वरुतधर्मदेशकत्वात्।

इह मन्त्रनये एकसंज्ञा न भावः, एकस्यापि भावस्यानेकाः संज्ञाः, संज्ञाबहुत्वात्। न चैका संज्ञा प्रधाना स्यात्, सर्वसंज्ञानात्मका[१]भावप्रतिपादकत्वात्। यथा स्त्री-नारी-युवतीत्यादीनां नैका स्त्रीसंज्ञा प्रधाना स्यात्, सर्वासां स्तनकेशवतीभावप्रतिपादकत्वात्; तथा एकार-रहस्य-पद्म-धर्मोदय-खधातु-महासुखावास-सिंहा(हा)सन-भग-गुह्य-संज्ञानां मध्ये नैका एकारसंज्ञा प्रधाना, सर्वासां सर्वाकारशून्यताप्रतिपादकत्वात्। तथा वंकार-महासुरत(सुख)-महाराग-सहज-परमाक्षर-बिन्दु-तत्त्व-ज्ञान-विशुद्धचित्त-संज्ञानां मध्ये न एका वंकारसंज्ञा प्रधाना, सर्वासां महामुद्रा-सहजानन्दाक्षरसुखप्रतिपादकत्वादिति। एवमेकार-वंकारयोः सर्वाकारवरोपेता शून्यता, सर्वधर्मनिरालम्बकरुणाऽभिन्नबोधिचित्त-भावप्रतिपादकत्वात्। एवंकारो वज्रसत्त्वो बोधिचित्तं कालचक्रः [21b] आदिबुद्धः प्रज्ञोपायात्मको योगः ज्ञेयज्ञानात्मकः अद्वयः अनादिनिधनः शान्तः समाजः संवर एवमाद्यनेकसंज्ञाभिः प्रज्ञोपायात्मकोऽद्वयो योगो निरन्वयो योगिनाऽवगन्तव्य इति। इह यत् समाजादौ तन्त्रराजे एकारो वंकारस्तन्त्रादौ भगवता निरुक्तिरूपेण निर्दिष्टः, तद् देवानां देवरुतेन पाचनाय सङ्गीतिकारेणापि तन्त्रादौ लिखितम्; अतोऽस्याक्षरद्वयस्य समाजादौ

---

१. ख. संज्ञानाल्पका०।

तन्त्रराजे लुप्तिर्नेष्यते। न चेदक्षरद्वयं भगवता ताल्वादिना देशितम्, न चाश्रुत्वा सङ्गीतिकारेण लिखितमिति। अतोऽस्याक्षरद्वयस्य नीतार्थं उच्यते—

पूर्वोऽकारः खधातुर्गुह्यकमलम्, ततो विसर्गः सूर्यो रजः, ततोऽकारो राहुविज्ञानं सुखाधिष्ठितम्, ततोऽनुस्वारः चन्द्रः शुक्रम्। अनयोरकारयोः खधातु-राहुविज्ञानयोर्मध्ये विसर्गः सूर्यः रजः इत्वमा[1]पद्यते। ततो विसर्गे सूर्यरजसि उत्वमापन्ने सति परमार्थसत्ये गुणाभावः, गुणाभावाद् यणादेशः स्यादिति। पर-अकारेण राहुविज्ञानेन सह्त्वम्, अनुस्वारः चन्द्रशुक्रेण संयोगः, अतो वंकारः। तथा पूर्वोऽकारः खधातुर्गुह्यकमलं सप्तम्यन्तो अकारः पर-इकारेण सह गुणी भवति, अत एकारः। अस्मिन्नेकारे खधातौ आधारे वंकार आधेय विसर्गाकारानुस्वारसूर्यराहुचन्द्ररज आलयविज्ञानशुक्रात्मको[2] मध्ये[3] बाह्ये देहे परे चावगन्तव्य इति। इह मूलतन्त्रे भगवानाह—

"एकारे मध्यवंकारः सर्वबुद्धसुखालयः।
खधातौ वज्रसत्त्वोऽयं कायवाक्चित्तयोगतः॥

कायो बिन्द्विन्दु शुक्रं च वाग्विसर्गो रजो रविः।
चित्ताकारस्त्वमी प्रोक्ता एखधातौ व्यवस्थितः॥

कायवाक्चित्तयोगेन कायवाक्चित्तमण्डले।
कायवाक्चित्तरागेण संस्थितस्त्रिभवात्मनि"॥

इत्यनेन हेतुना देवानां परिपाचनाय सम्यक्सम्बुद्धत्वलाभाय च समाजादिके तन्त्रराजे "एवं मया [22a] श्रुतम्" *इत्यादिना विजहारस्थाननिर्देशः तथागतेनोक्त इति। "एवम्" इत्यनया संज्ञया यो भावः श्रीसमाजादावुक्तः, स एव भावो लक्षाभिधानादौ तन्त्रराजे "रहस्य" इत्यादिना तथागतेनोक्तः, स च गुरूपदेशात् तन्त्रतन्त्रान्तरे सन्ध्याभाषान्तरेणावगन्तव्य इति। अत्र मूलतन्त्रे भगवानाह—

"सन्ध्याभाषं तथा नैव रुतं चैव तथा न च।
नेयार्थं न च नीतार्थं[4] तन्त्रं षट्कोटिलक्षणम्"॥

अतो भगवतो वचनान्नैका संज्ञा प्रधाना स्यादिति।

इह मन्त्रनये[5] त्रिविधः प्रत्ययो भगवतोक्तः—प्रथमं तावत् तन्त्रप्रत्ययः, ततो गुरुप्रत्ययः, तत आत्मप्रत्ययः। एभिस्त्रिभिः प्रत्ययैः परिशुद्धः सम्यक्सम्बुद्धमार्गो भवति; अन्यथा त्रिभिः प्रत्ययैर्विना यो मार्गो गुरुणा कथ्यते, शिष्यस्य सम्यक्सम्बुद्धत्वफलदायको न भवति, शिष्यस्य श्रद्धाजडत्वात्। लौकिकं फलं भवति संवृतिसत्येनेति। इह तन्त्रान्तरे भगवता प्रतिज्ञा कृता—विकल्परहितं चित्तं कृत्वा दिनमेकं परीक्षयेत् निमित्तम्, यदि

१. अत्र ख. पुस्तके एकोऽधिकः 'मा' शब्दः। २. क. ख. ०शुक्रामेको; भो. ०शुक्रात्मको। ३. भो. rTen Pa (आधारः)। ४. ख. नेयार्थं। ५. ङ. मन्त्रयाने।

* इति यावत् ङ पुस्तके त्रुटितम्।

तन्त्रोक्तविधिना गुरूपदेशेन शिष्यस्य प्रत्ययो न भवति, तदा भगवतो मृषा वचः। अथ गुरुस्तन्त्रोक्तविधिना शिष्यस्य मार्गदायको न भवति, तदा न भगवतः प्रतिज्ञा मृषा भवति, गुरोर्मार्गापरिज्ञानात्, विपरीताविशुद्धमार्गभावनाप्रतिपादकत्वादिति। इह न चान्यन्मण्डलचक्रसाधनानिमित्तं दिनमेकं परीक्षयेत्, धूमादिनिमित्तं विहाय भगवतो वचनमिति।

अत्र त्रिकुलात्मके तन्त्रराजे कायवाक्चित्तकुलात्मकोऽभिधेयः त्रिमुखः, चतुःकुलात्मके कायवाक्चित्तज्ञानात्मकोऽभिधेयश्चतुर्मुखः; T 253 ज्ञानैकेन[1] कुलेन सह चतुःकुलात्मकं तन्त्रं भवति, अभिधेयश्च। तथा पञ्चकुलात्मकं स्वभावैकेन सार्द्धं षट्कुलात्मकं भवति। अत्र चतुःकुलात्मके तन्त्रे चतुःकुलात्मकोऽभिधेयः सूर्य-चन्द्र-राहु-अग्नि [22b] रजः-शुक्र-चित्त-ज्ञानैकयोग इति। इह नामसङ्गीत्यां प्रकटः सङ्गीतो वज्रयोगस्तथागतेनेति प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे त्रयस्त्रिंशत्तमादिश्लोकत्रयेण; तद्यथा—

"वज्रसूर्यमहालोको वज्रेन्दु[2]विमलप्रभः।
विरागादिमहारागो विश्ववर्णोज्ज्वलप्रभः॥

*सम्बुद्धवज्रपर्यङ्को बुद्धसङ्गीतिधर्मधृक्।
बुद्धपद्मोभवः श्रीमान् सर्वज्ञज्ञानकोशधृक्॥

विश्वमायाधरो राजा बुद्धविद्याधरो महान्।
वज्रतीक्ष्णो महाखड्गो विशुद्धः परमाक्षरः"॥ इति।

(ना० स० ८।३३, ३४, ३५)

अतो भगवतो वचनात् चतुःकुलात्मकोऽभिधेयो वज्रसत्वो विशुद्धधर्ममन्त्रसंस्थापना[3]त्मकः कालचक्रो भगवानिति। एवं पञ्चकुलात्मकः स्कन्धधातुभेदेन। तथा मायाजाले भगवानाह—

"पञ्चाननः पञ्चशिखः पञ्चचीरकशेखरः।
महाव्रतधरो मौञ्जी ब्रह्मचारी व्रतोत्तमः"॥

(ना० स० ८।१७, १८)

एवं स्कन्धधातुभेदेन षट्कुलात्मकोऽभिधेयः; शतकुलात्मकोऽपि वक्त्रभेदेन[4] भगवतोक्त इति विशुद्धधर्मधात्वन्तिमश्लोकपादेन सार्द्धं आदर्शज्ञानस्तवे प्रथमश्लोकेन; तद्यथा—

---

१. ख. घ. स्वभावैकेन। २. ख. वज्रेन्दु; क. वज्रेन्द्र। ३. ख. पुस्तके 'ना' इति नास्ति। ४. ङ. चक्र०।

* घ. पुस्तके अत्र ३९-४० पत्रयो क्रमव्यत्ययो जातः।

"वज्रभैरवभीकरः ।
क्रोधराट् षण्मुखो भीमः षण्णेत्रः षड्भुजो बली ।
दंष्ट्राकरालकङ्कालो हलाहलशताननः" ॥ इति ।
(ना० स० ६।२५; ७।१)

अतो भगवतो वचनात् तन्त्रतन्त्रान्तरेष्वभिधेयस्त्रिमुखश्चतुर्मुखः पञ्चमुखः षण्मुखः शतमुखोऽवगन्तव्य इति ।

इह समाजादिके एकारेण यत् स्थानं भगवतोक्तं तदेव स्थानं रहस्येत्यादिशब्देन लक्षाभिधानादिके भगवतोक्तम् । यो वंकारेणाभिधेय उक्तः स एव महासुखशब्देन वज्रसत्त्व उक्त इति । एवमुक्तक्रमेण चतुःकुलात्मके परमादिबुद्धे षट्कुलात्मके चतुःकुलात्मकोऽभिधेयः षट्कुलात्मकश्चेति । सर्वज्ञेत्यादिभिः त्रयोविंशत्यक्षरैर्भगवतोद्दिष्टः शून्यताकरुणाभिन्नो[1] बोधिचित्तवज्रो महासुख इति । इह सिंहासनशब्देनाकाशधातुः सर्वाकारः [23a], तस्मिन् सिंहासने स्थितः सिंहासनस्थः । बुद्ध इति वज्रसत्त्वः । योग इति महार्थः परमाक्षर इति । असौ योगो नामसङ्गीत्यां वज्रधातुमण्डलस्तवे चतुर्दशश्लोकैः सङ्गीतः—

"तद्यथा भगवान् बुद्धः सम्बुद्धोऽकारसम्भवः ।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यो महार्थः परमाक्षरः ॥

महाप्राणो ह्यनुत्पादो वागुदाहारवर्जितः ।
सर्वाभिलापहेत्वग्र्यः सर्ववाक्सुप्रभास्वरः" ॥
(ना० स० ५।१, २)

इत्यादिना

"महाविद्योत्तमो नाथो महामन्त्रोत्तमो गुरुः ।
महायाननया[2]रूढो महायाननयोत्तमः" ॥
(ना० स० ५।१४)

इति पर्यन्तं सर्वतन्त्रान्तरेषु[3] असावभिधेयो सङ्गीतः, मध्योत्तमसत्त्वाशयवशेनेति । तथा शून्यं ज्ञानं चेत्यादिभिश्चतुर्दशाक्षरैः षट्कुलात्मकोऽभिधेयः । स एव सङ्गीतो नामसङ्गीत्यामपि कृत्यानुष्ठानज्ञानस्तवे द्वितीयश्लोकेनोक्तः; तद्यथा—

"सर्वमन्त्रार्थजनको महाबिन्दुरनक्षरः ।
पञ्चाक्षरो महाशून्यो बिन्दुशून्यः षडक्षरः" ॥ इति ।
(ना० स० १०।२)

---

१. घ. ०करुणात्मको । २. क. रथा । ३. घ. ०तन्त्रराजेषु ।

अतोऽनन्तसंज्ञाभिः धर्मदेशकत्वाद् "एवं मया श्रुतम्" इत्यादिना देशितं तन्त्रराजं तथागतदेशितं भवति, रहस्येत्यादिना[1] सर्वज्ञादिना च देशितं तथागतदेशितं न[2] भवतीति बौद्धैर्न वक्तव्यम्, स्वसिद्धान्ते परसिद्धान्ते दोषग्रहणात् षष्ठी मूलापत्तिर्भवति। तस्मात् तन्त्रान्तरे पूर्वापरसम्बन्धं ज्ञात्वा गुणदोषा अवगन्तव्याः बुधैः। अन्यथाऽदृष्टदोषग्रहणादवीचिगमनं भवति दुष्टानार्याणां तथागतहृदयबाह्यभूतानां विषयेन्द्रियोपभोगासक्तानां[3] मिथ्याप्रलापिनामिति। एवमुक्तक्रमेण परमागमयुक्त्या पूर्वापराविरुद्धं सर्वज्ञेत्यादिना परमादिबुद्धं तन्त्रराजं भगवता सन्देशितमिति।

ननु यः सर्वज्ञः स एव बुद्धो भगवान्, द्वाभ्यां संज्ञाभ्यां एकभावप्रतिपादकत्वादिति भावः[4]; इदं किमर्थं पुनरुक्तवचनं भगवतो बुद्धमितीह कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति। तस्मादुच्यते—इह सत्य[23b]मेतद् वचनं यः सर्वज्ञः स बुद्धो भगवान् इति। किं तर्हि, अन्येऽपि हरिहरादयः सर्वज्ञत्वेन बालजनैः परिकल्पिताः। तेषां सर्वज्ञतानिराकरणाय सर्वज्ञो बुद्धो भगवान् इति वचनम्। इह नान्यः सर्वज्ञस्त्रैधातुके हरिहराणां[5] मध्ये यः सर्वधर्माणां सर्वसत्त्वरुतकैर्देशक इति। इह कस्मात् तेषां मध्ये सर्वज्ञः सर्वसत्त्वरुतकैः सर्वधर्मदेशको न भवतीत्युच्यते। इह षड्गतिसंसारे देवजातौ हरिहरादीनां सम्भूतत्वात्; बुद्धभगवतः संसारपारकोटिव्यवस्थितत्वादिति। इह नामसङ्गीत्यां तथागतेनोक्तं सुविशुद्धधर्मधातुस्तवे त्रयोदशमेन श्लोकेन; तद्यथा—

"संसारपारकोटिस्थः कृतकृत्यः स्थले स्थितः।
कैवल्यज्ञाननिष्ठ्यूतः प्रज्ञाशस्त्रविदारणः" ॥ इति।
(ना० स० ६।१३)

अतः सर्वज्ञो बुद्धो भगवान् बुद्धमिति पुनर्वचनं न भवतीति।

ननु यः सर्वज्ञः स एव ज्ञानकायः, किमर्थं ज्ञानकाय इति पुनर्वचनं भगवतः? तदेवोच्यते। इह यः सर्वज्ञः स एव ज्ञानकाय इति तत् सत्यम्। किं तर्हि, अन्येऽपि
T 254 बुद्धाः श्रावकप्रत्येकाः सन्ति; तेषां सम्यक्सम्बुद्धत्वनिराकरणाय सर्वज्ञो ज्ञानकायः सम्यक्सम्बुद्धो भगवान् ज्ञानकाय इति पुनरुक्तवचनं भगवतः। इह श्रावकप्रत्येकबुद्धानां मध्ये न कश्चिद् ज्ञानकायः सम्यक्सम्बुद्धोऽभूदिति। इह कस्मान्न श्रावकप्रत्येकबुद्धानां मध्ये कश्चित् सम्यक्सम्बुद्धोऽभूदित्युच्यते। इह श्रावकबुद्धानां सोपधिनिर्वाणे स्थितत्वादिति, सम्यक्सम्बुद्धस्य सर्वोपधिविनिर्मुक्तत्वात्। तथा च नामसङ्गीत्यां भगवतोक्तं प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे एकादशमश्लोकेन; तद्यथा—

"सर्वोपाधिविनिर्मुक्तो व्योमवर्त्मनि सुस्थितः।
महाचिन्तामणिधरः[1] सर्वरत्नोत्तमो विभुः" ॥ इति।
(ना० स० ८।११)

---

१. घ. रहस्यादिना। २. घ. पुस्तके 'न' इति नास्ति। ३. भो. Chags Pa (आसक्तानां); क. ०अशक्तानां। ४. घ. पुस्तके नास्ति। ५. ख. हरिहरादीनां। ५. ख. पुस्तके अत्र 'श्रेष्ठः' इत्यधिकः।

अतः सर्वज्ञो ज्ञानकायः सम्यक्सम्बुद्धो भगवान् ज्ञानकाय इति पुनरुक्तवचनं भगवत इति ।

ननु यो ज्ञानकायः [24a] स एव **दिनकरवपुरज्ञानान्धकारध्वंसकत्वात्**, किमर्थं पुनरुक्तवचनं दिनकरवपुरिति भगवत इति कस्यचिद् वचनं भविष्यति; तस्मादुच्यते—इह सत्यमिदं वचनं यो ज्ञानकायः स एव दिनकरवपुः, अज्ञानान्धकारध्वंसकत्वादिति। किं तर्हि, अन्येऽपि **विज्ञानवादिनो बौद्धाः** सन्ति, तेषां विज्ञानधर्मतानिराकरणाय ज्ञानकायो दिनकरवपुः विज्ञानधर्मतातीतः सम्यक्सम्बुद्ध इति पुनरुक्तवचनं दिनकरवपुरिति । इह **विज्ञानवादिनां** मध्ये कश्चिन्न ज्ञानकायो दिनकरवपुः सम्यक्सम्बुद्धोऽभूत्। इह कस्माद् **विज्ञानवादिनां** मध्ये कश्चिन्न च ज्ञानकायो दिनकरवपुः सम्यक्सम्बुद्धोऽभूदित्युच्यते ? इह **विज्ञानवादिनां** विज्ञानधर्मे स्थितत्वात्[1] सम्यक्सम्बुद्धस्य विज्ञानधर्मतातीतत्वादिति । तथा च **नामसङ्गीत्यां** तथागतेनोक्तं **प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्तवे** त्रयोविंतितमेन श्लोकेन; तद्यथा—

"विज्ञानधर्मतातीतो　　ज्ञानमद्वयरूपधृक् ।
निर्विकल्पो निराभोगस्त्र्यध्वसम्बुद्धकायधृक्" ॥ इति ।

(ना०स० ८।२३)

अतो ज्ञानकायो दिनकरवपुः सम्यक्सम्बुद्ध इति पुनरुक्तवचनं भगवतः ।

ननु यः तन्त्रेऽभिधेयः स ज्ञानकायो अरूपी, यश्च **पद्मपत्रायताक्षः** स रूपी; किमर्थं पद्मपत्रायताक्षमिति भगवतो वचनमिह कस्यचिदभिप्रायो भविष्यति; तस्मादुच्यते—इह हि यद् वक्तव्यं बालजनैः पद्मपत्रायताक्षः तन्त्रेऽभिधेयो रूपी, तन्न, इह पद्मशब्देन नीतार्थेनाकाशधातुरुच्यते, तस्मिन् पद्मे खधातौ पद्मपत्राणीव शतकुलदीर्घस्वभावत्वेनावस्थिताः सत्त्वा इति पद्मपत्राणि, तेषामन्तं यावत्; शताक्षीणि यस्य भगवत आयतानि स पद्मपत्रायताक्ष इति । इह **नामसङ्गीत्यामुक्तं** भगवता **आदर्शज्ञानस्तवे** षष्ठश्लोकेन; तद्यथा—

"वज्रज्वालाकरालाक्षो　　वज्रज्वालाशिरोरुहः ।
वज्रावेशो महावेशः शताक्षो वज्रलोचनः" ॥ इति ।

(ना० स० ७।७)

अतो भगवतो वचनात् पद्मपत्रा[24b]यताक्षः सम्यक्सम्बुद्धो भगवान् रूपरहित इति ।

तं **बुद्धं सिंहासनस्थम्**, सिंहासनं खधातुः; अपरं चन्द्रसूर्याग्निमण्डलं सिंहासनम्, तस्मिन् स्थितः सिंहासनस्थ इति । इह **मूलतन्त्रे** भगवानाह—

"ए-रहस्ये खधातौ वा भगे धर्मोदयेऽम्बुजे ।
सिंहासने स्थितो वज्री उक्तस्तन्त्राक्षरे मया ॥

---

[1] ख. व्यवस्थितत्वात् ।

वं-वज्री वज्रसत्त्वश्च वज्रभैरव ईश्वरः ।
हेरुकः कालचक्रश्च आदिबुद्धादिनामभिः ॥

नानाविषयसंज्ञाभिः स्थानमाधारलक्षणम् ।
आधेयश्च[1] मया प्रोक्तो नानासत्त्वाशयेन च ॥

सर्वज्ञो वज्रधृक् शास्ता बुद्धः[2] सिंहासने स्थितः ।
देशकः कालचक्रस्य सुचन्द्राध्येषितस्त्वया" ॥

अतः सर्वज्ञो बुद्धो भगवान् लौकिकलोकोत्तरधर्मदेशको देवासुरमनुष्याणां शास्ता परमकारुणिकोऽकारणवत्सलः सर्वावरणनिर्मुक्त इति ।

अतो हरिहरादीनामपि बुद्धो भगवान् शास्ता सर्वज्ञः । नान्यः कश्चित् त्रिसाहस्रमहासाहस्रे लोकधातुषु अनन्तानन्तसत्त्वानामनन्तानन्त[3]रुतकैर्युगपच्च लौकिकलोकोत्तरधर्मदेशकः । कस्मात् ? प्रादेशिकैकदेवजातौ सम्भूतत्वादिति, प्रादेशिकैकसंस्कृतवचनात् । न तेषां सा सर्वज्ञभाषा नानाधिमुक्तिकानां सत्त्वानां स्वस्वभाषान्तरेण लौकिकलोकोत्तरधर्मं[4] प्रतिपादयन्ती(ती)ति ।

इह मर्त्यलोके प्रत्यक्षं दृश्यते संस्कृतभाषया तैर्देशिता गीतासिद्धान्तपुराणधर्माः सर्वे प्रादेशिकाः चतुर्वेदाश्च । कुतः ब्रह्मक्षत्रियवेदाध्ययनतः । इह ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां वेदाध्ययनं कर्तव्यम्, न हि विट्शूद्रादिभिरिति । तथा गीतासिद्धान्तपुराणधर्मा ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रैश्चतुर्वर्णैः श्रोतव्या ब्राह्मणमुखतः, प्रव्रज्याग्रहणञ्च न कैवर्तादिभिरिति । अतो धर्मप्रतिषेधवचनान्तैर्देशिता धर्माः प्रादेशिकाः सर्वसत्त्वोपकारिणो न भवन्तीति । इह मर्त्ये येन कारणेन प्रादेशिकसंस्कृतभाषया नानाधिमुक्तिकानां सत्त्वानां नानारुतैर्लौकिकलो[25a]कोत्तरधर्मदेशनां कर्तुमशक्ताः, तेन विट्शूद्रादीनां प्रतिषेधं कुर्वन्ति । इह
T 255 मर्त्ये विट्शूद्रादिभिर्निकृष्टयोनिजातैर्वेदाध्ययनं न कर्तव्यम्, प्रव्रज्यादण्डग्रहणञ्चेति । "एकः शब्दः सुप्रयुक्तः स्वर्गे कामधुक्" (महा० भा० ६।१।८४) इति मिथ्याहङ्काराभिभूतानामभिप्रायः, सर्वज्ञभाषाऽभावात् । इह मर्त्ये[5] लोके[6] यदि सर्वे मनुष्या वेदगीतासिद्धान्ततर्कशास्त्रविदो भवन्ति शूद्रादयः, तदा ब्राह्मणानां को[7] गौरवं करिष्यति; विद्याधर्मज्ञानसाधारणपरिज्ञानात्, सर्वेषां गृहवासिनां संसारभोगासक्तानां विशेषगुणाभावात् । इति ज्ञात्वा दुष्ट-ऋषिभिर्द्रव्यलुब्धैः संस्कृतभाषया गीतासिद्धान्तपुराणाद्यो धर्माः पुस्तके लिखिताः; वेदाश्च मुखपाठेनाध्ययनीया इति नियमः कृतो बालजनानां महामोहजनक इति असर्वज्ञदेशनाभिप्रायः[8] । इह पूर्वकाले वेदगीतासिद्धान्तपुराणधर्मा न पुस्तके लिखिताः सन्ति; यतीनां मुखे तिष्ठन्ति; ततः पञ्चकषायकालवशात्

---

१. क. आदेयश्च; भो. Rten Pa ? (आधेयः) । २. ख. बुद्ध । ३. ख. ०नन्ते । ४. क. ०धर्मे । ५-६. ख. मर्त्यलोके । ७. ख. क । ८. ख. असर्वज्ञदेशना० ; क. असर्वज्ञादेशना० ।

पुस्तके* लिखिताः†, प्रज्ञाहीनत्वाद् यतिभिरिति। इह प्रादेशिकी हरिहरादीनां धर्मदेशना बौद्धैर्नानुमोदनीया सर्वसत्त्वकृपया रहिता, संसारदुःखदायिकी(नी) मिथ्याहङ्कारकारिणी जातिवादाभिमानिनीति।

इह त्रैधातुके ये सर्वज्ञेन सर्वज्ञभाषया देशिता धर्मा नानासत्त्वभाषान्तरेण सङ्गीतिकारकैः पुस्तके लिखिताः, वेदादिलौकिकार्थ[1]प्रतिपादकाः, यानत्रयार्थप्रतिपादकाः, लोकसंवृतिसत्येन परमार्थसत्येन देशिताः, सर्वसत्त्वानां[2] श्रवणायाध्ययनाय च, तदधिमुक्तिकाः सत्त्वास्तान् सर्वज्ञदेशितान् चतुरशीतिसहस्रधर्मस्कन्धान् लौकिकलोकोत्तरार्थप्रतिपादकान् शृण्वन्ति पठन्ति वाचयन्ति धारयन्ति परेभ्यश्च विस्तरेण संप्रकाशयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति, पूजयन्ति नानापुष्पैर्नानागन्धैर्नानाधूपैर्नानाचूर्णैर्नानावस्त्रै[3]र्नानाघण्टाभिर्नानापताकाभिर्नानाचामरैर्नानाछत्रैर्नानावितानैर्नानामुक्ताहारैर्नानारत्नैर्नानाप्रदीपैर्नानारत्नाभ[25b]रणैः पूजयित्वा तेभ्यः पञ्चाङ्गप्रणामं कुर्वन्ति। एवं ते सर्वज्ञदेशिता धर्माः परोपकारिणः अधिमुक्तिवशात् परोपकाराय न कस्यचिज्जात्यजातिवशात् ते विहिताः प्रतिषेधितास्तथागतेनेत्यद्यापि नान्तर्धानं गताः।

तिष्ठतु[4] तावदन्यविषयान्तरम्। इह तथागताभिसम्बुद्धे आर्यविषये भगवति परिनिर्वृते सति सङ्गीतिकारकैर्यानत्रयं पुस्तके लिखितं तथागतनियमेन[5](नयेन) पिटकत्रयं मगधभाषया, सिन्धुभाषया सुत्रान्तम्; संस्कृतभाषया पारमितानयं मन्त्रनयम्; तन्त्रतन्त्रान्तरं संस्कृतभाषया प्राकृतभाषया अपभ्रंशभाषया असंस्कृतशव(ब)रादिम्लेच्छभाषया इत्येवमादिः सर्वज्ञदेशितो धर्मः सङ्गीतिकारकैर्लिखितः। तथा बो(भो)टविषये यानत्रयं बो(भो)टभाषया लिखितम्, चीने चीनभाषया, महाचीने महाचीनभाषया, पारसिकदेशे पारसिकभाषया; शीतानद्युत्तरे चम्पकविषयभाषया, वानरविषयभाषया, सुवर्णाख्यविषयभाषया; तथा नीलनद्युत्तरे रुह्य[7](रुह्म)विषयभाषया सुरस्मा[8]विषयभाषया; एवं कोटिकोटिग्रामात्मकेषु षण्णवतिविषयेषु षण्णवतिविषयभाषया लिखितम्। एवं द्वादशखण्डेषु स्वर्गमर्त्यपातालेषु नानासत्त्वरुतैः सङ्गीतिकारकैर्यानत्रयं लिखितमिति। श्रावकैः श्रावकयानम्, प्रत्येकैः प्रत्येकयानम्, बोधिसत्त्वैः पारमितामहायानम्, मन्त्रमहायानम्, हेतुफलात्मकं नानासङ्गीतिकारकैः सत्त्वानां वैनेयार्थमिति। अनया नानासङ्गीतिकारकैर्नानाविषयभाषया लिखितागमयुक्त्या विचार्यमाणो बुद्धो भगवान् सर्वज्ञः सर्वज्ञभाषया धर्मदेशकः, नान्यो हरिहरादीति[8]।

अथ हरिहरादीनां मध्ये एभिर्गुणैः परिपूर्णः कश्चिदस्ति, सोऽप्यस्माकं वन्दनीयः पूजनीयो माननीय इति सर्वथा—

---

१. ख. ०लौकिकार्थे। २. ख. सर्वसत्त्वार्थं। ३. ख. पुस्तके अत्र 'नानादर्शैः' इति अधिकः पाठः; भो. पुस्तकेऽपि Me Loṅ sNa Tshogs (नानादर्शैः)। ४. क. ख. तिष्ठन्तु। ५. भो. Nes Pas (नियमेन)। ६. ङ. रुक्म; भो. Rugma (रुग्म)। ७. ङ. सुरम्मा; भो. Suramma (सुरम्म)। ८. क. हरिहरादीनमिति।

*-†. 'पुस्तकानि लिखितानि' इत्यभिप्रेत्य 'पुस्तके लिखिताः' इति प्रयोगः।

"भक्तिर्गुणेषु साधूनां न बुद्धे नेश्वरादिषु ।
अगुणेष्वपि या भक्तिः सा जडाऽशुभ[26a]कर्मजा ॥

सत्त्वोपकारिणो धर्मा[1] देशिताः प्राकृतैरपि ।
प्रिया[2] मेऽप्रिया[3]विद्वद्भिर्देशिता सत्त्वहिंसकाः ॥

मातापि राक्षसी लोके स्वपुत्रे भक्षणाशया ।
यस्या नास्ति दयाऽपत्ये कुतः तस्याः परे जने ॥

पितृमातृवधो यत्र धर्मो यागादिहेतुकः[4] ।
उक्तः स्वार्थपरैर्विप्रैः परेषां तत्र का कथा" ॥ इति ।

अतः सर्वज्ञो बुद्धो भगवान् सर्वसत्त्वकारुणिकः[5] सर्वज्ञः सर्वरुतैर्धर्मदेशकः, तथा सुचन्द्रो वज्रपाणिर्दशभूमीश्वरोऽध्येषकः सङ्गीतिकारक[6](श्च) परमादिबुद्धे प्रसिद्धः ।

इति मूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराज-
टीकायां विमलप्रभायां सर्वज्ञेत्यादिना
तन्त्रराजदेशक-अध्येषकसाधनोद्देशः
चतुर्थः ॥४॥

(५) देशकादिसंग्रहोद्देशः

इदानीं वज्रयोगसंग्रह उच्यते—**योगं श्रीकालचक्र** इत्यादि । इह मन्त्रनये लौकिकलोकोत्तरसत्यमाश्रित्य बुद्धभगवता द्विधा तन्त्रतन्त्रान्तरेष्वर्थो निर्दिष्टः—एको लोकसंवृत्या, द्वितीयः परमार्थत इति । तत्र यो लोकसंवृत्या निर्दिष्टः स नेयार्थः, यः परमार्थतः स नीतार्थः । एतौ द्वावर्थौ गुरूपदेशतोऽवगन्तव्यौ शिष्यैः ।

एवं सर्वतन्त्रान्तरेष्वभिधेयो द्विधा—एको लोकसंवृत्या, द्वितीयः परमार्थतः । यो
T 256 लोकसंवृत्या स वर्णभुजचिह्नसंस्थानलक्षणः, यः परमार्थसत्यतः स वर्णभुजचिह्नसंस्थानरहितः । अनयोर्यो लोकसंवृत्या देशितः, स बाह्येऽध्यात्मनि लौकिकसिद्धिसाधनाय स्वचित्तपरिकल्पनाधर्मो लौकिकसिद्धिफलदायक इति । यः परमार्थसत्येन देशितः, स लोकोत्तर-सर्वाकारवरोपेत-महामुद्रासिद्धिसाधनाय स्वचित्तपरिकल्पनाधर्मरहितः प्रत्यक्षः स्वचित्तप्रतिभासो योगिनां गगने प्रतिभाष(स)ते कुमारिकाया आदर्शादौ प्रतिसेनावदिति । इष्टार्थफलदः फलमक्षरसुखं ज्ञानचित्तम् । अनयोश्चित्तयोरेकत्वं प्रज्ञोपायात्मको

१. क. ख. धर्मो । २-३. च. पुस्तके 'प्रिया मेऽप्रिया मे' इति पाठः । ४. क. ख. ङ. च. ०हेतुके । ५. क. ०कारणेकः । ६. च. पुस्तके 'सङ्गीतिकारक' इति नास्ति ।

वज्रयोगो महार्थः परमाक्षर आदिबु[26b]द्धो निरन्वयः कालचक्रो भगवान् वज्रसत्त्वः सर्वतन्त्रान्तरे प्रसिद्ध इति; स एव भगवान् पारमितानये हेतुलक्षणे प्रज्ञापारमितायाः स्वाभाविककाय[1] इत्युक्तः। तथा अभिसमयालङ्कारकारिकायां चतुःकारित्रनिर्णये मैत्रेय आह—

"स्वाभाविकः सुसम्भोगो नैर्माणिकोऽपरस्तथा।
धर्मकायः सकारित्रः चतुर्धा समुदीरितः" ॥ इति।

(अ० स० १।१८)

स एव भगवान् मन्त्रनये फललक्षणे सहजानन्दः सहजकाय इत्युक्तो ग्राह्यग्राहकवर्जितो विज्ञानधर्मतातीतो भवनिर्वाणाप्रतिष्ठितो बुद्धानां समाजो देवीनां संवरश्च। अनेन ज्ञानकायेन सहजसमरसत्वमिति नीतार्थः। इहास्य वज्रयोगस्य निरन्वयस्य शाश्वतोच्छेदवर्जितस्य लोकोपमामतिक्रान्तस्य अस्ति-नास्ति-बुद्धिपरित्यक्तस्य कुमारिकाया आदर्शप्रतिसेनावत् स्वचित्ताकल्पितस्य प्रत्यक्षदृष्टस्य प्रत्ययार्थस्य सर्वाकारस्य गगनोद्भवस्य समन्तभद्रस्य सर्वेन्द्रियस्य सर्वसत्त्वात्मनि[2] स्थितस्य सहजानन्दस्य हेतुदृष्टान्तविवर्जितस्य भावाभावैकत्ववैधर्म्याद् दृष्टान्तो भवति सर्वय(प)क्षग्रहविनाशाय योगिनामिति।

यथा लौकिकदृष्टान्तः—घटवैधर्म्यात् खपुष्पं नास्ति सर्वाभावतः। एवं खपुष्पवैधर्म्यात् घटोऽस्ति सर्वभावतः। इत्यनयोः परस्परवैधर्म्याद् दृष्टान्तो भवति। एवमुच्छेदवैधर्म्याद् भवोऽस्ति सर्वभावतः, भववैधर्म्यादुच्छेदो नास्ति सर्वाभावतः[3]। उच्छेदशब्देन निर्वाणमभावलक्षणमिति। तथा लोको(त्तर)दृष्टान्तोऽनयोर्घटखपुष्पयोरेकत्व[4]वैधर्म्याद् भवति; अनयोर्घटखपुष्पयोर्लोकसंवृत्या एकत्वं नास्ति, परस्परविरोधात्। येन यत् सत् तदसन्न भवति, यदसत् तत् सन्न भवति, भावाभावस्वरूपतः[5]। येन सल्लक्षणं चित्तं भवति, तेनासल्लक्षणं चित्तं[6] न भवति; येनासल्लक्षणं चित्तं भवति, [*तेनासल्लक्षणं न भवति; येनासल्लक्षणं चित्तं भवति†], तेन सल्लक्षणं न भवति, विरोधादिति।

इह पुनः शून्यताकरुणात्मकस्य बिम्बस्य[7] [8]विशु[27a]द्धचित्तस्य कुमारिकाप्रतिसेनोपमस्य न रूपलक्षणम्, परमाणोरभावात्; नारूपलक्षणम्, शून्ये विद्यमानत्वात्। अतः संवृतिः शून्यतारूपिणी, शून्यता संवृतिरूपिणी; लोकोपमामतिक्रान्तत्वादस्ति तच्चित्तं यच्चित्तमचित्तं शाश्वतोच्छेदधर्मलक्षणापगतं शून्यताकरुणाभिन्नमिति। परमार्थसत्यत उभयचित्तयोर्वैधर्म्याद् "अस्ति-नास्ति-व्यतिक्रान्तो भावाभावक्षयो वज्रयोगोऽद्वयः" इति (   ) तथागतवचनं निरन्वयत्वात्। अत्र मूलतन्त्रे भगवानाह—

१. च. स्वभावकायः। २. च. सर्वात्मनि। ३. च. सर्वभावतः। ४. क. ०खपुष्पयोरेकरसत्व। ५. ङ. ०स्वभावतः। ६. च. पुस्तके अत्र 'चित्तं' इति नास्ति। ७. क. ख. विस्वस्य। ८. 'बिम्बस्य विशुद्धचित्त'योरन्तरे सर्वासु पुस्तकेषु अक्षरद्वयात्मकः कश्चित् शब्दो दृश्यते, यो हि अस्पष्टः।

*-† कोष्ठाङ्कितोंशः च. भो. पुस्तकयोः नास्ति।

"अस्ति-नास्ति-व्यतिक्रान्तो भावाभावक्षयोऽद्वयः।
शून्यताकरुणाभिन्नो वज्रयोगो महासुखः॥

परमाणुधर्मतातीतः शून्यधर्मविवर्जितः।
शाश्वतोच्छेदनिर्मुक्तो वज्रयोगो निरन्वयः" ॥ इति।

एवं तन्त्रान्तरेषु वज्रयोगस्तथागतेनोक्तो महामुद्रासिद्धिदायक इति। असौ विशुद्धो वज्रयोग एकक्षणाभिसम्बुद्धः सन् महार्थः परमाक्षरः सहजानन्दः, न कामभवे स्थितः, न रूपभवे स्थितः, नारूपभवे स्थितः; न कामनिर्वाणे स्थितः, न रूपनिर्वाणे स्थितः, नारूपनिर्वाणे स्थितः, भवनिर्वाणाप्रतिष्ठितत्वात्; नोभये स्थितः, परस्परविरोधात्। भवनिर्वाणयोनैक्यं(नैक्यं) छायातपयोर्यथा। यथाग्निर्नैरिण्या[1](र्नारण्यां) स्थितः, न सरकाण्डे स्थितः, न पुरुषहस्तव्यायामे स्थितः; एवं सर्वत्र वज्रयोगो बाह्येऽध्यात्मनि परे योगिनाऽवगन्तव्य इति।

इहैकक्षणाभिसम्बोधिर्नाम परमाक्षर(महा)[2]सुख[3]क्षण इति। असौ एकक्षण-सम्बुद्धः सर्वक्षणविभावको भवति श्वाससंख्यान्तं यावत्। ततः पूर्णस्तस्मिन् क्षणेऽभि-सम्बुद्धः सम्यक्सम्बुद्ध इति। इह यस्मिन् [3]पूर्णक्षणे सर्वतथागता अभिसम्बुद्धास्तस्मात् क्षणात् सर्वधर्माणां नोत्पादो न स्थितिर्न भङ्गः, निरन्वयत्वात्। यस्मिन्[4] क्षणे धर्माणा-मुत्पादो भवति, न तस्मिन् क्षणे स्थितिर्भङ्गः। इह यस्मिन् क्षणे स्थितिर्भवति तस्मिन् क्षणे न भङ्गो नोत्पादः। इह यस्मिन् क्षणे भङ्गः सर्वधर्माणां भवति तस्मिन् क्षणे नोत्पादो न स्थितिर्भवति। एवं यथानुक्रमेण सर्वधर्माणां क्षणोत्पादः क्षणस्थितिः क्षणभङ्गो न स्यादिति [27b] युगपच्च न सम्भवति, सर्वधर्माणां सत्येककाले उत्पादस्थितिभङ्गक्षणानां नैक्यम्। अथ यथानुक्रमेणोत्पादक्षणात् स्थितिक्षणः, स्थिति-क्षणात् भङ्गक्षणः, भङ्गक्षणादुत्पादक्षणो भवति। एतदेव परमार्थयुक्त्या न घटते।
T257 इह प्राक्क्षणादनिरुद्धादपरक्षणो न भवति, तथा निरुद्धान्न भवति। यथा न नष्टबीजा-दङ्कुरो नानष्टबीजादङ्कुरो भवति, एवं परमार्थसत्ताभावादेकक्षणो नास्ति, एकानेक-विरोधादिति। इह यद् "एकक्षणाभिसम्बुद्धः सर्वक्षणविभावक" इति ( ) तत् प्रथमं परमाक्षरसुखक्षणाभिसम्बुद्धः सन् एकविंशतिसहस्रषट्शतपरमाक्षरसुखक्षणभावकः। तदुपरि सर्वक्षणाभाव एकानेकरहितः, परमाद्वययोगो बुद्धानां परमार्थः, सत्ता[5]सत्ता-रहितत्वात्। यावल्लौकिकसत्ता तावदेकानेकविचारः, धर्माणां क्षणिकचित्तप्रतिभासात्; यदा क्षणधर्मरहितं चित्तं निःस्वभावमित्युच्यते। अतो निःस्वभावपक्षोऽपक्षो भगवतोक्तः।

पक्षो नाम भावोऽभावः, सदसत्, अस्ति-नास्ति, एकोऽनेकः, शाश्वत-उच्छेदः, भवो निर्वाणम्, रूपमरूपम्, शब्दोऽशब्दः, क्षणोऽक्षणः, रागोऽरागः, द्वेषोऽद्वेषः,

---

१. ङ. ०नैऋत्यां। २. भो. bDe Ba Chen Po (महासुख)। ३-४. क. पुस्तके 'पूर्णक्षणे' इत्यारभ्य 'यस्मिन्' पर्यन्तं नास्ति पाठः। ५. क. सत्त्वा।

मोहोऽमोह इत्येवमादि पक्षः, परस्परापेक्षिकत्वादिति। अनेन पक्षेण रहितमप्रतिष्ठितनिर्वाणं बुद्धानां निःस्वभावमिति।

एकानेकक्षणरहितं ज्ञानं तत्त्वमित्युच्यते जिनैः। तदेव सत्त्वानां स्वचित्ताशयवशाच्चतुर्विधं प्रतिभासते, षोडशाकारं च। आनन्द-परम-विरम-सहजभेदैश्चतुर्विधम्। ततः कायानन्दो वागानन्दश्चित्तानन्दो ज्ञानानन्दः। एवं कायपरमानन्दो वाक्परमानन्दश्चित्तपरमानन्दो ज्ञानपरमानन्दः। एवं कायविरमानन्दो वाग्विरमानन्दश्चित्तविरमानन्दो ज्ञानविरमानन्दः। एवं कायसहजानन्दो वाक्सहजानन्दश्चित्तसहजानन्दो [28a] ज्ञानसहजानन्दः। एवं षोडशाकारतत्त्वं यदा योगी वेत्ति तदा षोडशाकारतत्त्वविदित्युक्तो भगवता। तदेव तत्त्वं सहजकाय इत्युच्यते। ततो धर्मकायः, ततः सम्भोगकायः, ततो निर्माणकायः। एवं सहजवाक्, सहजचित्तम्, सहजज्ञानम्; धर्मवाक्, धर्मचित्तम्, धर्मज्ञानम्; सम्भोगवाक्, सम्भोगचित्तम्, सम्भोगज्ञानम्; निर्माणवाक्, निर्माणचित्तम्, निर्माणज्ञानमिति चित्ताधिमुक्तिवशात् सत्त्वानां प्रतिभासते।

षोडशाकारं तत्त्वमिति, स एव सहजकायः, शून्यताविमोक्षविशुद्धो ज्ञानवज्रः सर्वज्ञः, प्रज्ञोपायात्मको विशुद्धयोग इति। स एव धर्मकायोऽनिमित्तविमोक्षविशुद्धं चित्तवज्रं ज्ञानकायः प्रज्ञोपायात्मको धर्मयोग[1] इत्युक्तः। स एव सम्भोगकायः, अप्रणिहितविमोक्षविशुद्धं वाग्वज्रं दिनकरवपुः प्रज्ञोपायात्मको मन्त्रयोग इत्युक्तः। स एव निर्माणकायोऽनभिसंस्कारविमोक्षविशुद्धं कायवज्रं पद्मपत्रायताक्षः प्रज्ञोपायात्मकः संस्थानयोग इत्युक्तः। एवमेतं वज्रयोगं चतुर्विधं बुद्धं पृच्छेद् वज्रपाणिरिति। शून्यताविमोक्षविशुद्धो ज्ञानवज्रः प्रज्ञोपायात्मकः सहजकायः सर्वज्ञताप्राप्तः सर्वज्ञः सर्वदर्शितत्वात्। अनिमित्तविमोक्षविशुद्धः चित्तवज्रः प्रज्ञोपायात्मको धर्मकायः, मार्गाकारज्ञताप्राप्तो ज्ञानकायः, परमाक्षरसुखेनावस्थितत्वात्। अप्रणिहितविमोक्षविशुद्धो वाग्वज्रः प्रज्ञोपायात्मकः सम्भोगकायो मार्गज्ञताप्राप्तः, दिनकरवपुरनन्तानन्तसत्त्वरुतैर्युगपल्लौकिकलोकोत्तरधर्मदेशकत्वादिति। अनभिसंस्कारविमोक्षविशुद्धः कायवज्रः प्रज्ञोपायात्मको निर्माणकायः सर्वाकारज्ञताप्राप्तः पद्मपत्रायताक्षः, अनन्तानन्तनिर्माणकायैर्युगपत्सर्वाकारकायव्यूहर्द्धिस्फरणादिति। एवमेकक्षणाभिसम्बुद्धो ज्ञानवज्रः सर्वार्थदर्शी।

पञ्चाकाराभिसम्बुद्धः चि[28b]त्तवज्रः परमाक्षरसुखः; विंशत्याकारसम्बुद्धो वाग्वज्रो द्वादशाकारसत्यार्थः सर्वसत्त्वरुतैर्धर्मदेशकः; मायाजालाभिसम्बुद्धः कायवज्रः षोडशाकारतत्त्वविदनन्तमायाजालैः स्फारितकाय इति। इह चतुर्विधं चित्तवज्रं विशुद्धं चतुःकायलक्षणं भवति। दुर्वाररागमलावलिप्तोभयेन्द्रिया[2]त्मकतुर्यचित्ताभावचित्तं[3]

१. ख. धर्मात्मयोगः; भो. Chos Kyi bDag Ñid Kyi sByor Ba (धर्मात्मकयोगः)। २. भो. Bhaga Daṅ dBaṅ Po (भगेन्द्रियं)। ३. भो. bŚi Paḥi Sems Kyi dÑos Po Med Paḥi Sems (तुर्यचित्तस्याभावचित्तं)।

स्वाभाविककायः सर्वज्ञ इति। तमोऽभिभूतसुसु(षु)प्तचित्ताभावचित्तं धर्मकायो ज्ञानकाय इति। प्राणोत्पादितसदसत् स्वप्नचित्ताभावचित्तं सम्भोगकायो **दिनकरवपुरिति**। अनेकविकल्पभावसंज्ञाजाग्रच्चित्ताभावचित्तं निर्माणकायः **पद्मपत्रायताक्ष** इति। एष वज्रयोगो **ज्ञानपटले** विस्तरेण वक्तव्यः, अस्मिन् **लोकधातुपटले** उद्देशमात्रेणोद्दिष्ट इति।

एवं ज्ञानचित्तवाक्कायात्मकं योगं **पृच्छेत् श्रीकालचक्रे तन्त्रराजे**। किं भूते? **कलियुगसमये**। **कलियुगसमय** इति कोऽलिः **कलिः**, ककारादिव्यञ्जनपंक्तिरिति। ककारो मुखं सर्वव्यञ्जनानाम्, आदौ निर्दिष्टत्वात्; रजःस्वभावाद् वा वेदितव्य इति।
T 258 तथा अस्य **समयो**ऽसमयः, स्वरमेलापक इत्युच्यते। अत्र कोऽलिः—क् ख् ग् घ् ङ् च् छ् ज् झ् ञ् ट् ठ् ड् ढ् ण् प् फ् ब् भ् म् त् थ् द् ध् न् स्[1] ष् स्[2] क इति कोऽलिव्यंञ्जनपंक्तिः। अत्रासमयः—अ आ इ ई ऋ ॠ उ ऊ ऌ ॡ अं अः; अ[3] आ[4] ए ऐ अर् आर् ओ औ अल् आल् अं[5] अः[6]; ह हा य या र रा व वा ल ला ह[7] हः[8] इति असमयः स्वरमेलापकः। अस्मिन्नसमये कलिं युनक्तीति **कलियुगसमयः**, तस्मिन् **कलियुगसमये कालचक्रा**भिधाने आदिकादिप्रज्ञोपायात्मके योगतन्त्रे **आदिबुद्धे** निरन्वये **कालचक्र**मभिधेयं वज्रयोगं तन्त्रस्वभाव(त)यावस्थितं **आदिबुद्धं पृच्छेत् सुचन्द्र** इति धर्मदेशनासंग्रहः।

इदानीं प्रयोजनप्रयोजनप्रयोजनसंग्रह उच्यते—**मोक्षहेतोर्नराणामिति**। मोक्षहेतोर्नराणां प्रथमं तावत् मण्डलप्रवेशादिना सत्त्वार्थकरणं प्रयोजनं पुण्यसम्भारेण मण्डलचक्ररूपभावनाबलेन लौकिकसिद्धिसाधनमधिष्ठानभावनाबलेन च प्रयोजनं वीरक्रमाधिष्ठानक्रमेणेति। तत[9] उत्तरोत्तरं[10] प्रयोजनस्यापि प्रयोजनमिति प्रयोजनप्रयोजनम्। इह आकाशधातौ निर्विकल्पचित्तेन धूमादिनिमित्तेन महामुद्रासर्वाकारविश्वबिम्बरूपेण भावितेन परमाक्षरसुखसाधनेन बुद्धत्वं वज्रसत्त्वं चेति पुण्यज्ञानसम्भाराभ्यां नराणामिह जन्मनीति प्रयोजनप्रयोजनप्रयोजनसंग्रहः। एतत् **परमादिबुद्धयोग**मतीतबुद्धैर्देशितं वर्तमानैर्देश्यतेऽनागतैर्देशयिष्यते। अतीतवर्तमानानागतकालैरतीतवर्तमानानागतसमयैः पर्षद्भिरित्यनन्तानन्तबुद्धक्षेत्रेष्वनन्तानन्तसत्त्वानामनन्तानन्ततथागतैर्बुद्धत्वाय सन्देशितो देश्यते देशयिष्यतीति।

इति मूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां[2]
विमलप्रभायां देशकादिसंग्रहोद्देशः
पञ्चमः ॥ ५ ॥

---

१. ख. भो. पुस्तके चन्द्रबिन्दुरहितः; भो. पुस्तके 'सं' पश्चात् 'व्' इति अधिकः पाठः। २. ख. भो. श्। ३-४. भो. पुस्तके नास्ति। ५-६. भो. पुस्तके नास्ति। ७-८. भो. पुस्तके नास्ति। ९-१०. ङ. तदुत्तरोत्तरं। १०. ङ. पुस्तके अत्र 'द्वादशसाहस्रिकायां' इत्यधिकः पाठः।

(६) मण्डलाभिषेकादिसंग्रहोद्देशः

इदानीं सूर्यरथाध्येषितः सन् मञ्जुश्रीर्भगवान् निर्मितकायो यशो नरेन्द्रः परमादिबुद्धात् तथागतव्याकृतं सुचन्द्राध्येषणं द्वितीयवृत्तेनाह—

शून्यं ज्ञानं च बिन्दुं वरकुलिशधरं बुद्धदेवासुरांश्च
बाह्ये देहे परे च प्रकृतिषु पुरुषं पञ्चविंशात्मकं च ।
देहे विश्वस्य मानं त्रिभुवनरचनां भुक्तिदे देवासुराणाम्
एतद् व्याख्याहि सम्यक् त्रिदशनरगुरोर्मण्डलं चाभिषेकम् ॥ २ ॥

इहाध्येषणार्थत्वं[1] पञ्चाक्षरमहाशून्यं बिन्दुशून्यं षडक्षर-षट्कुलादीनां संग्रहार्थं भगवतोक्तमिति, तदिदं विवृणोमि शून्यमित्यादिना । इह प्रथममध्येषणावृत्तेन तन्त्रगुप्तार्थः प्रकाशितः सन् वक्ष्यमाणे सुगमो भवति बालमतीनाम्; तेनादौ टीकायां संक्षेपतो वक्तव्य इति ।

इह शून्यमित्याद्या(दि)भिः [29b] संज्ञाभिरदृष्टदृष्टभावाः प्रकाशिताः प्रत्येकेन्द्रियाणामगोचराः प्रत्येकेन्द्रियाणां गोचरा इति । सर्वत्रासति सति भावेऽपि संज्ञापूर्वको व्यवहारः खपुष्पादौ[2] घटादौ यथा । इह खपुष्पसंज्ञयोद्दिष्टोऽभावो न भावो भवति, एवं घटसंज्ञयोद्दिष्टो भावो नाभावो भवति; स्वसंज्ञया उक्त इति । एवं तन्त्रतन्त्रान्तरेषु शास्त्रसंज्ञाभिर्देशसंज्ञाभिर्मन्त्राक्षरसंज्ञाभिरेकैकाक्षरसंज्ञाभिर्ये[3] तथागतेन भावा निर्दिष्टाः सङ्गीतिकारकैश्च लिखितास्ते सर्वे योगिभिर्नेयार्थेन नीतार्थेनावगन्तव्याः । इहैकस्याप्यभावस्य भावस्य च नानासंज्ञाः । तस्मान्नानासंज्ञाभिर्निर्देशितस्यैकस्यापि भावस्य योगिभिः संज्ञाविकल्पो न कर्तव्यः, सद्गुरूपदिष्टस्य सुवर्णवत् सुपरीक्षितस्यार्थशरणताश्रितत्वादिति ।

इह शून्यादिसंज्ञाभिः षड्धातुरयं महापुरुषपुद्गलः संगृहीतः, शून्यं ज्ञानं च बिन्दुं वरकुलिशधरमित्येभिश्चतुर्दशाक्षरैः; तद्यथा—ज्ञानस्कन्धविज्ञानस्कन्धज्ञानधात्वाकाशधातुमनःश्रोत्रशब्दधर्मधातुदिव्येन्द्रियभगमूत्रस्रावशुक्रच्युतिश्च । एषां निरावरणता समरसत्वमेकलोलीभूतत्वं शून्यमित्युच्यते, न सर्वाभाव इति योगित्व(स्व)संवेद्यत्वात् । तदेवानाहतमुक्तं जिनैः । अस्यानाहतस्य संज्ञाचिह्नं सव्यवामपूर्वापरमध्ये कर्त्तिकाकारं रेखामात्रमनुच्चार्यं प्रथमाक्षरमहाशून्यमिति ।

ततो ज्ञानञ्चेति अत्र चकारः समुच्चयार्थ उद्दिष्टः, समुच्चयार्थप्रतिपादकत्वात् । ज्ञानमित्यनया संज्ञया तृतीयं शून्यमित्यवगन्तव्यम्; तद्यथा—वेदनास्कन्धतेजोधातुचक्षुरसपाणिगतिश्च । एषां निरावरणता समरसत्वमेकलोलीभूतत्वं ज्ञानं तृतीयाक्षरं महाशून्यमिति । अस्य संज्ञाचिह्नं मध्यानाहतचिह्नाद् दक्षिणे बिन्दुद्वयमनुच्चार्यमिति ।

१. ङ. ०ध्येषणावृत्तं । २. ङ. पूर्वपुष्पादौ ।
३. क. पुस्तके 'रेकैकाक्षरसंज्ञाभिर्ये' इति नास्ति ।

बिन्दुमित्यनया संज्ञया चतुर्थं शून्यमवगन्तव्यं पूर्वंचकारात्; तद्य [30a]था—संज्ञास्कन्ध-तोयधातु-जिह्वा-रूपपादादानञ्च। एषां निरावरणता समरसत्वमेकलोलीभूतत्वं बिन्दुमिति चतुर्थाक्षरमहाशून्यमिति। अस्य संज्ञाचिह्नं मध्यचिह्नाद् वामेन बिन्दुमेकमनुच्चार्यमिति।

वरकुलिशधरमिति। वरश्च वरश्च कुलिशधरश्च वरकुलिशधरम्, एकद्वन्द्वात्। पूर्वंचकाराद् अमी त्रयः शून्यसंज्ञाः स्युः। प्रथमवरसंज्ञा(ज्ञ)या द्वितीयशून्यमुक्तः; तद्यथा—संस्कारस्कन्धवायुधातुघ्राणसंस्पर्शवागिन्द्रियविट्स्रावाः। एषां निरावरणता
T259 समरसत्वमेकलोलीभूतत्वं वरमिति द्वितीयाक्षरशून्यम्। अस्य संज्ञाचिह्नं मध्यानाहतचिह्नात् पूर्वेण दण्डाकारं रेखामात्रमनुच्चार्यमिति[1]। द्वितीयवरसंज्ञया पञ्चमं शून्यमित्युक्तम्; तद्यथा—रूपस्कन्ध-पृथिवीधातु-कायेन्द्रिय-गन्धापाय्वालापाः। एषां निरावरणता समरसत्वमेकलोलीभूतत्वं वरमिति पञ्चाक्षरशून्यम्। अस्य संज्ञाचिह्नं मध्यानाहतचिह्नाद् पश्चिमेन हलाकृतिमनुच्चार्यमिति। एवमुक्तक्रमेण पञ्चभिरेकलोलीभूतैः पञ्चाक्षरो महाशून्यो वँकारो वज्रसत्त्वो महासुखकुलिशमुच्यते। अत्र पञ्चाक्षराणि स्वरसंज्ञा(ज्ञीनि) अनुच्चार्याणि; तद्यथा—मध्ये अकारशून्यं कर्त्तिकाकारम्। दक्षिणे ऋकारशून्यं बिन्दुद्वयम्। वामे उकारशून्यं बिन्दुमेकम्। पूर्वे इकारशून्यं दण्डाकारम्। पश्चिमे ऌकारशून्यं हलाकृतिः। एवं दीर्घगुणवृद्धियणादेशविकारा ज्ञातव्या इति। एवं वँकारः पञ्चाक्षरो महाशून्यो निरालम्बकरुणात्मकः, परमाणुधर्मतातीतः प्रतिसेनारूपसदृशो योगिगम्य इति।

अत्र ज्ञानविज्ञानस्कन्धादीनां स्वराः; तद्यथा—ज्ञानस्कन्धो अं। विज्ञानस्कन्धो अ। ज्ञानधातु अः। आकाशधातुः आ। मन इन्द्रियं अं। श्रोत्रं अ। शब्द अः। धर्मधातु आ। भगो ह। मूत्रस्रावो हः। दिव्येन्द्रियं हं। शुक्रच्युतिः हा। एते मध्यानाहता निरावरणाः कर्त्ति[2]काकारसंज्ञा[30b]चिह्नेनावगन्तव्या इति। संस्कारस्कन्ध इ। वायुधातु ई। घ्राणेन्द्रियं ए। स्पर्शं[3] ऐ। वागिन्द्रियं य। विट्स्रावो या। एते पूर्वे निरावरणा दण्डाकारचिह्नेनावगन्तव्या इति। वेदनास्कन्धे ऋ। तेजोधातु ॠ। चक्षुरिन्द्रियम् अर्। रस आर्। पाणीन्द्रियं र। गती रा। एते दक्षिणे निरावरणबिन्दुद्वयचिह्नेनावगन्तव्या इति। संज्ञास्कन्ध उ। तोयधातु ऊ। जिह्वेन्द्रियं ओ। रूपविषयं औ। पादेन्द्रियं व। आदानं वा। एते निरावरणा मध्यचिह्नादुत्तरेण[4] बिन्दुचिह्नेनावगन्तव्या इति। रूपस्कन्ध ऌ। पृथिवीधातु ॡ। कायेन्द्रियं अल्। गन्धविषय आल्। पाय्विन्द्रियं ल। आलापो ला। एते पश्चिमे निरावरणा हलाकृतिचिह्नेनावगन्तव्या इति।

एते षट्त्रिंशद्भेदभिन्नाः स्वरगुणवृद्धियणादेशविकाराः, यत्र स्कन्धाः पृथक् षट्त्रिंशद्भेदभिन्ना भवन्ति, तत्र स्कन्धस्थाने षड् रसा गृह्यन्ते—अम्लकषायतिक्तकटुमधुर-

---

१. ख. ०मात्रसनु०। २. क. कर्तृं।
३. भो. Reg bya (स्पर्शं)। ४. क. मध्यचिह्ना उत्तरेण।

लवणाश्चेति। अं अ इ ऋ उ लृ इति षड् रसाः। शेषमुक्तविधिना। एतदेव पञ्चाक्षरमहाशून्यं षट्त्रिंशदात्मकं कुलिशमुच्यते जिनैः। तं धरतीति कुलिशधरः। बिन्दुशून्यः षडक्षर एकारो[1] धर्मोदयः[2] सर्वाकारशून्यतारूप इति; तद्यथा—विज्ञानस्कन्धः। आकाशधातुः श्रोत्रम्। धर्मधातु भगशुक्रच्युतिः। एषां निरावरणशून्यता सर्वाकारा मध्यानाहतस्योर्द्ध्वे। अस्य संज्ञाचिह्नं कवर्गात्मकं ककारव्यञ्जनमनुच्चार्यं प्रथमं बिन्दुशून्यमिति। संस्कारस्कन्ध। वायुधातु। घ्राणस्पर्श। वाग्विट्स्राव। एषां निरावरणशून्यता सर्वाकारपूर्वचिह्नस्य पूर्वे। अस्य संज्ञाचिह्नं चवर्गात्मकं चकारव्यञ्जनमनुच्चार्यं द्वितीयं बिन्दुशून्यमिति। वेदनास्कन्ध। तेजोधातु। चक्षुरस। पाणिगति। एषां निरावरणशून्यता सर्वाकारा दक्षिणचिह्नस्य दक्षिणे। अस्य संज्ञाचिह्नं टवर्गात्मकं टकारव्यञ्जनमनुच्चार्यं तृतीयं बिन्दुशून्यमिति। संज्ञास्कन्ध। तोयधातु। जिह्वारूप। पादेन्द्रियादानम्। एषां निरावरणशून्यता सर्वाकारा उत्त[31a]रचिह्नस्योत्तरे। अस्य संज्ञाचिह्नं पवर्गात्मकं पकारव्यञ्जनमनुच्चार्यं चतुर्थं बिन्दुशून्यमिति। रूपस्कन्ध। पृथिवीधातु। कायेन्द्रियगन्ध। पाय्वालापः। एषां निरावरणशून्यता सर्वाकारा पश्चिमचिह्नस्य पश्चिमे। अस्य संज्ञाचिह्नं तवर्गात्मकं तकारव्यञ्जनमनुच्चार्यं पञ्चमं बिन्दुशून्यमिति। ज्ञानस्कन्ध। ज्ञानधातु। मनः शब्द दिव्येन्द्रियमूत्रस्राव[3]। एषां निरावरणशून्यता सर्वाकारा मध्यानाहतचिह्नस्याधः। अस्य संज्ञाचिह्नं सवर्गात्मकं सकारव्यञ्जनमनुच्चार्यं षष्ठं बिन्दुशून्यमिति। एवं बिन्दुशून्यषडक्षरो धर्मोदय कुलिशधर एकार इति[4] शून्यता सालम्बा प्रतिसेनास्वरूपिणीति।

अत्र व्यञ्जनानि स्कन्धधात्वादीनाम्—क् ख् ग् घ् ङ् च् छ् ज् झ् ञ् ट् ठ् ड् ढ् ण् प् फ् ब् भ् म् त् थ् द् ध् न् स्[5] ष् श् ङ्क ह् य् व् ल् क्ष् इति। एषां पुनः स्वरव्यञ्जनानां ह्रस्वदीर्घभेदेन स्कन्धधात्वादिभेदो ज्ञातव्य इति।

कायभेदेन स्कन्धेन्द्रिया ह्रस्वस्वरव्यञ्जनधर्माः धातुविषया दीर्घस्वरव्यञ्जनधर्माः षड् रसा धातुविकारभेदेन षड्त्रिंशद् धातवो भवन्ति; षट् स्कन्धाः षडिन्द्रियादिभेदेन षट्त्रिंशत् स्कन्धा भवन्ति; तद्यथा—षड् रसाः षड् धातवः षडिन्द्रियाणि; षड् विषयाः, षड्(ट्) कर्मेन्द्रियाणि, षड् (ट्) कर्मेन्द्रियविषया इति। षड् रसधातुविकाराः। श्रोत्रविज्ञानादि षड् विज्ञानानि। एवं षट् संस्काराः, षट् वेदनाः, षट् संज्ञाः, षड् रूपस्कन्धाः, षट् ज्ञानस्कन्धाः[6] इति। स्कन्धविकारा वक्ष्यमाणे विस्तरेण वक्तव्याः; अत्रोद्देशमात्रेणोद्दिष्टा इति।

इह पञ्चाक्षरो महाशून्यः स्वरसमूहः शुक्रश्चन्द्र इत्युच्यते; बिन्दुशून्यः षड्रोक्ष व्यञ्जनसमूहो रजः सूर्य इत्युच्यते। अत्र शुक्रं चन्द्रो वँकारो वज्रम्; रजः सूर्य एकारः पद्मम्। अनयोर्वज्रपद्मयोरेकत्वं वज्रसत्त्व इति। वज्रं परमसुखं ज्ञानं शुक्रम्। सत्त्वः

१-२. ङ. एकारोदयः। ३. क. ०श्राव।
४. क. पुस्तके नास्ति। ५. भो. पुस्तके 'स' इत्यस्य पश्चात् 'व' इति प्रतीयते।
६. ख. पुस्तके 'ज्ञान' इति नास्ति।

सर्वाकारप्रज्ञाबिम्बं ज्ञेयं रविः (इति)। ज्ञानविज्ञानाधिष्ठितनिरावरणमेकलोलीभूतं [31b]तत्त्वं जगदर्थकारि भवति। एतदेव कायवाक्चित्तज्ञानैकयोगं चतुर्वक्त्रकारणं भवति। ज्ञानं पश्चिमवक्त्रं पीतम्, विज्ञानं पूर्ववक्त्रं कृष्णम्, चन्द्रः कायवक्त्रं सितमुत्तरम्, सूर्यो वाग्वक्त्रं दक्षिणे रक्तमिति। अनयोश्चन्द्रार्कयोः षट् षट् धातवो गौण-
T 260 मुख्यभेदेनावगन्तव्याः। ते च पृथ्वी-अप्-तेजो-वायु-रस-महारसावयवा[1] इति। एषु शुक्रे त्रयः उद्भूताः, त्रयोऽनुद्भूताः। तोयधातुवायुधातुरसधातुः—एते धातवः शुक्रे उद्भूताः। रसधातोराकाशधातुसंज्ञेति। रजसि त्रय उद्भूताः, त्रयोऽनुद्भूताः। पृथ्वीधातुः, तेजोधातुः, महारसधातुः—एते धातवो रजसि उद्भूताः। अत्र महारसस्य ज्ञानधातुसंज्ञेति। अवशेषाः शुक्रे रजसि चानुद्भूताः। एवं चन्द्रार्कयोरुद्भूतास्त्रयो धातवः कायवाक्चित्तानि यथाक्रमेण भवन्ति गर्भजानामिति। चन्द्रस्य धातव उपायस्य कायवाक्चित्तानि। सूर्यस्य धातवः प्रज्ञायाः कायवाक्चित्तानि, शुक्ररज-उद्भूतकारणादिति।

एते धातवः षडिन्द्रियादीनां षट् कुलानीति। एवं कायवाक्चित्तकुलानि स्वभावकुलेन सार्द्धं चतुः कुलानि भवन्ति। कायत्रयं कायचतुष्कं भवति, अवस्थात्रयमवस्थाचतुष्कं भवति; एवं पञ्च धातुकुलानि ज्ञानधातुना सह षट् कुलानि भवन्ति, तथा पञ्च स्कन्धकुलानि ज्ञानस्कन्धेन सार्द्धं षट् कुलानि भवन्ति गर्भजानामिति। कन्यायाः द्वादशाब्दैः, पुंसः षोडशाब्दैः; कन्यायाः रजः कालं यावत् त्रिकुलं पञ्चकुलं वेदितव्यम्। पुरुषस्य शुक्रच्युतिकालं यावत् त्रिकुलं पञ्चकुलं वेदितव्यम्। ज्ञानधातूद्भूतकाले उभयोश्चतुःकुलं षट्कुलमामरणादिति। तथा मूलतन्त्रे भगवानाह—

"त्रिकुलं पञ्चकुलं चैव स्वभावैकं शतं कुलम्"। इति।

इदानीं कुलकुलीना उच्यन्ते बुद्ध इत्यादि। इह बुद्धा ज्ञानविज्ञानादयः षट् स्कन्धा इति। देवासुरांश्चेति। चकारात् बोधिसत्त्वा मन इन्द्रि[32a]यादयः षट्, एवं षड् धातवः षड् विषयाः। तथा षड् क्रोधाः षट् कर्मेन्द्रियाणि। षट् क्रोधदेव्यः षट् कर्मेन्द्रियक्रियाः। देवा द्वादशहस्तपादसन्धौ वक्ष्यमाणा इति। एवं योगिन्यश्चर्चिका(द्या) अष्टौ; असुरा नागराजानः; श्वाना[2]स्यादयो देव्य इति।

इदानीं तीर्थिकावतारणाय प्रकृतिपुरुष उच्यते; तथाह भगवान् तन्त्रान्तरे—

"महामाया महारौद्रा भूतसंहारकारिणी[3]।
स्वयं कर्त्ता स्वयं हर्त्ता स्वयं राजा स्वयं प्रभुः"॥

इति मृषा, परमार्थतः कर्त्ता हर्त्ता नास्ति। अन्योऽपि तीर्थिकैः परिकल्पितो धर्मः प्रकृतिपुरुषादिक इति। तीर्थिकानां प्रकृतिश्चतुर्विंशत्यात्मिका, पुरुषः पञ्चविंशति[त]म इति। तत्र मूलप्रकृतिरविकृतिरिति (सां० का० ३)। तुर्यावस्था सत्त्वानां जनिका

१. भो. ०Cha Śes (अंश)।
२. ख. स्वाना। ३. ख. ०संहारकारकारिणी।

आकाशधातुरिति। महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त (सां० का० ३) इति[1]। पृथ्व्यपतेजोवायुमनोबुद्धयहङ्कारश्चेति। षोडशकास्तु विकाराः (सां० का० ३) इति[2]। पञ्चेन्द्रियाणि पञ्च विषयाः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि दिव्येन्द्रियं चेति। चतुर्विंशतिः प्रकृतिः, पुरुषो न प्रकृतिर्न विकृतय[3]श्चेति। इह पुरुषो व्यापकत्वान्न प्रकृतिर्न विकृतिः, स्वभावरहित इति।

बाह्ये देहे परे च पञ्चविंशत्यात्मक इति सिद्धः। बाह्ये तु पञ्च धातवः, राहुसूर्यचन्द्रा इत्यष्टौ प्रकृतिः, मङ्गलादयः पञ्च ग्रहाः पञ्चेन्द्रियाणि। पञ्च विषयाः पृथिव्यादीनां षड् रसा इति षोडश विकाराः। अथैके इन्द्रियादयः षट जीवकाया इति। एवं देहे **विश्वस्य मानं** अध्यात्मपटले वक्तव्यम्। **त्रिभुवनरचनामिति**। इह बाह्ये त्रिभुवनमिति लोकधातुः। अध्यात्मनि शरीर(रे) तस्य रचना वक्ष्यमाणक्रमेण **व्याख्याहीति** क्रियानियमः। **भुक्तिदेवासुराणामिति**। इह देवानां दिवाभुक्तिरसुराणां रात्रिभुक्तिः। तथा उत्तरायणं दक्षिणायनम्। **एतद् व्याख्याहि सम्यक् त्रिदशनरगुरोर्मण्डलं चाभिषेकमिति**। इह लौकिकसत्येन रजोमण्डलमाख्याहि रजः सूत्रपातेनेति[32b]। परमार्थसत्येन पुनः सूत्रपातरहितं रजःपातरहितं वर्णभुजसंस्थानरूपदेवताविकल्पभावनाचित्तरहितं सर्वाकारमाकाशधातावादर्शप्रतिसेनोपममिति।

तथा लौकिकाभिषेकाः—उदक-मुकुट-पट्ट-वज्रघण्टा-महाव्रत-नाम-अनुज्ञा इति सप्त; तथोत्तराः—कलशः गुह्यः प्रज्ञाज्ञानमिति, लोकोत्तराभिषेक एकादशमश्चतुर्थं इति सर्वं सम्यग् व्याख्याहि। तत् कस्य हेतोः ? इहार्यविषयेऽनागतेऽध्वनि वज्राचार्या द्रव्यलुण्ठका भविष्यन्ति; द्रव्यार्थं द्रव्याभिमानिनामीश्वराणां गृहं गत्वा धर्मविक्रयं करिष्यन्ति; अभव्यानां द्रव्यलोभेन लोकोत्तराभिषेकं दास्यन्ति; राजादीनां प्राक् किङ्कराः पश्चाद् गुरवो भविष्यन्ति; अन्येषां द्रव्यहीनानां भव्यचित्तानामपि दशाकुशलकर्मपथपरित्यक्तानां लोकोत्तराभिषेकं न दास्यन्ति; तेषां क्लेशमुत्पादयिष्यन्ति; द्रव्यवशाद् वज्रपदं दुष्टसत्त्वेभ्यः प्रकाशयिष्यन्ति। अन्येऽपि वज्रपदमज्ञायमानाः परस्परं विवादं करिष्यन्ति; पण्डिताभिमानेन तन्त्रार्थमजानन्तोऽपि तन्त्रटीकां करिष्यन्ति; मारकायिकाः सत्त्वानां गुरवो भूत्वा वज्रपदं विपरीतं देशयिष्यन्ति; बुद्धज्ञानं द्वीन्द्रियजं सुखं बालमतीनां प्रकाशयिष्यन्ति; तृतीयं प्रज्ञाज्ञानं चतुर्थं तदेव तत्पुनस्तथाशब्देन तृतीयं ज्ञानं बुद्धज्ञानं वदिष्यन्ति—हेतुफलयोरभेदेन भगवतोक्तमिति। एवमनागतेऽध्वनि दुष्टाचार्यप्रवर्त्तनं दृष्ट्वा बुद्धभगवता चतुर्थं प्रज्ञाज्ञानाभिषेकं सर्वतन्त्रान्तरेषु नोत्तानीकृतम्, यद् आर्यविषये पण्डिताभिमानेन पुस्तकं दृष्ट्वा विनाभिषेकेन वज्रयानदेशका भविष्यन्ति। ततः सर्वलघुतन्त्रे मूलतन्त्रेषु चतुर्थं प्रज्ञाज्ञानं महामुद्राभावना धूमादिमार्गः सुगुप्तः, क्वचिन्मूलतन्त्रेषु प्रकट इति। T 261 अत्र पुनः परमादिबुद्धे मूलतन्त्रे लघुतन्त्रेऽपि चतुर्थं प्रज्ञाज्ञानं प्रकटम्। महामुद्राभावना धूमादिमार्गश्च प्रकट [33a] इति वज्राचार्यपारम्पर्यक्रमेण नागतः, यथा मन्त्रदेवताबाह्यसिद्धिसाधनं वीरक्रमस्वाधिष्ठानक्रमं च गुरुपारम्पर्यक्रमेणागतमिति।

१. सांख्यकारिकायां 'महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त' इति पाठः। २. सांख्यकारिकायां 'षोडशकस्तु विकारो' इति पाठः। ३. सांख्यकारिकायां 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' इति पाठः।

इदं विशुद्धक्रमं महामुद्रासिद्धिदायकं परमादिबुद्धे प्रकटं पुस्तके लिखितम्, शीतानद्युत्तरे भव्यसत्त्वानां चित्ताधिमुक्तिं ज्ञात्वा भगवता देशितम्, वज्रपाणिना पुस्तके लिखितं नामसङ्गीतिं प्रमाणीकृत्य। सत्त्वा येन निःसन्देहा भविष्यन्ति, तेन सर्वमन्त्रनये[1] नीतार्थो[2] मन्त्रयानस्य[3] नामसङ्गीत्यां भगवता सन्देशितो वज्रपाणेरिति। अतो ये परमादिबुद्धं न जानन्ति ते नामसङ्गीतिं न जानन्ति, ये नामसङ्गीतिं न जानन्ति ते वज्रधरज्ञानकायं न जानन्ति, ये वज्रधरज्ञानकायं न जानन्ति ते मन्त्रयानं न जानन्ति, ये मन्त्रयानं न जानन्ति ते संसारिणः सर्वे वज्रभगवतो मार्गरहिताः। एवं परमादिबुद्धं मोक्षार्थिभिः सच्छिष्यैः श्रोतव्यं सद्गुरुणा देशयितव्यमिति।

इति मूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
मण्डलाभिषेकादिसंग्रहोद्देशः षष्ठः ॥ ६ ॥

(७) लोकधातुसंग्रहोद्देशः

(क) प्रतिवचनसंग्रहोद्देशः

इदानीं भगवतः प्रतिवचनं परमादिबुद्धात् मञ्जुश्रिया सङ्गीतिकारेण तृतीयवृत्तेन सङ्गीतम्, तदेव वितनोमि[4] तुष्टोऽहमित्यादिना—

तुष्टोऽहं ते सुचन्द्र प्रवरसुरनरै राक्षसैर्दैत्यनागै-
र्नं ज्ञातं वीतरागैः परममुनिकुलैर्यत् त्वया पृष्टमेतत्।
निर्वाणाद्यं धरान्तं पदगतिसहितं देहमध्ये समस्तं
योगं व्याख्यायमानं शृणु सुनरपते मण्डलं चाभिषेकम् ॥ ३ ॥

तुष्टोऽहं ते सुचन्द्र इत्यामन्त्रणम्। हे सुचन्द्र तुष्टोऽहं ते। कुतः? यतो यत् त्वया पृष्टमेतत् कालचक्रयोगं तत् प्रवरसुरनरादिभिर्न ज्ञातम्, अतस्तुष्टोऽ[33b]हमिति। अत्र प्रवरसुराश्चातुर्महाराजकायिकादिनैवसंज्ञानासंज्ञायतनोपगान्ताः; नराश्चक्रवर्त्यादयः; राक्षसा नैर्ऋत्यादयः; दैत्या अपराजितादयः; नागा अनन्तादयः; वीतरागा आर्यानन्दादयः; परमऋषयो नारदादयः। एषां कुलैरेभिः प्रवरसुरनरादिभिर्न ज्ञातं कालचक्रयोगं निर्वाणाद्यं धरान्तम्। निर्वाणं ज्ञानधातुर्यस्यादिः, अन्ते धरा पृथिवी मध्येऽनुक्तत्वादाकाशवायुतेजःतोयधातवः। एते धातव आकाशाद्या व्याप्यव्यापको ज्ञानधातुः। एवं व्याप्यव्यापकसम्बन्धो योग इति—तथा भगवानाह—

"पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशधातुकम्।
विज्ञानं षड्धात्वाख्यो महापुरुषपुद्गलः" ॥ इति।

१. ख. सर्वतन्त्रनये। २. क. नीत्यार्थो। ३. ख. तन्त्रयानस्य। ४. क. वितनोमीति।

पदगतिसहितमिति । पदं द्विधा—आलिकाल्यात्मकम् । तयोर्गतिः पदगति[१]:, कण्ठतालुमूर्धौष्ठदन्तस्थानेषूच्चारः स्वरव्यञ्जनानामिति; तथा गत्या सहितं प्रव्याहारमन्त्रसंकेतेनेति । अत्र संकेतकं द्विधा—एकं मन्त्रसंकेतकम्, द्वितीयं तथतासंकेतकम् । तत्र मन्त्रसंकेतकं प्रव्याहारो लौकिकम्, तथता पारमार्थिकं वागुदाहारवर्जितम् । यत्र प्रव्याहारसंकेतकं तत्र ओँ आः हूँ इत्यादिमन्त्रसंज्ञा; यत्र तथतासंकेतकं तत्र अकारो मुखं सर्वधर्माणामाद्यनुत्पन्नत्वादिति । तथा **षोडशसाहस्रिके मायाजाले** भगवानाह—

"तद्यथा भगवान् बुद्धः सम्बुद्धोऽकारसंभवः ।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यो महार्थः परमाक्षरः ॥

महाप्राणो ह्यनुत्पादो वागुदाहारवर्जितः ।
सर्वाभिलापहेत्वग्र्यः सर्ववाक्सुप्रभास्वरः" ॥ इति ।
(ना० स० ५।१, १)

पुनस्तत्रैव **समाधिजालपटले**[२]—

"अनक्षरो मन्त्रयोनिर्महामन्त्रकुलत्रयः ।
पञ्चाक्षरो महाशून्यो बिन्दुशून्यः षडक्षरः" ॥
(ना० स० १०।१, २)

इति तथता पारमार्थिकं संकेतं मन्त्रयाने भगवतोक्तम् । एवं निर्वाणं ज्ञानधातुरनाहतम् ।

नोच्चारितं नोच्चारितस्वरव्यञ्जनलक्षणम् । इति आकाशधात्वाद्यं मन्त्रसंकेतकं प्रव्याहारलक्षणं कण्ठाद्युच्चारितधर्मो भगवतोक्तम् । अत्र अ[34a]कुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः; इचुयशास्तालव्याः; ऋटुरषा मूर्धन्याः; उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः; लृतुलसा दन्त्याः; एवमुभयस्थानीयाः, त्रिस्थानीयाः, चतुःस्थानीयाः; पञ्चस्थानीयाः; मन्त्राः कूटमन्त्राश्च वेदितव्याः; प्रव्याहारमन्त्रसंकेतेनेति । ते च सर्वे संज्ञारूपिणः संज्ञिनां भावानां प्रतिपादका लौकिकसिद्धिसाधनाय; तथतासंकेतकं वागुदाहारवर्जितं पारमार्थिकं महामुद्रासिद्धिसाधनाय कर्ममुद्राज्ञानमुद्रासिद्धिरहितं भगवता सर्वतन्त्रराजेषु निर्दिष्टमिति । **देहमध्ये समस्तमेतद् योगं व्याख्यायमानं मया शृणु त्वं सुनरपते मण्डलं चाभिषेकं** वक्ष्यमाणक्रमेण सर्वसत्त्वानां निरावरणपदप्राप्तय इति भगवतः प्रतिवचनसंग्रहोद्देशः ।

(ख) लोकधातुसंग्रहोद्देशः

इदानीं भगवतो लोकधातुसंग्रहं मञ्जुश्रिया सङ्गीतिकारेण परमादिबुद्धाच्चतुर्थवृत्तेन देशितं विवृणोमि **कालाच्छून्येष्वित्यादिना**—

कालाच्छून्येषु वायुज्व[३]लनजलधरा द्वीपशैलाः समुद्राः
ऋक्षाणीन्द्वर्कताराग्रहगणऋषयो देवभूताश्च नागाः ।

१. ख. पुस्तके 'पदगतिः' इति नास्ति । २. क. समाधिराज० ।
३. क. ०ज्वं ।

तिर्यग्योनिश्चतुर्धा विविधमहितले मानुषा नारकाश्च
सम्भूताः शून्यमध्ये लवणमिव जले त्वण्डजाश्चाण्डमध्ये ।। ४ ।।

अत्र मन्त्रनये यानत्रितयनिर्जात एकयानफले स्थितो मन्त्री भगवतोक्तः । यः पुनर्यानत्रितयाभिसन्धिं न वेत्ति स कालात् सर्वज्ञमार्गनष्टो भवति । मन्त्रयाने संध्याभाषान्तरमज्ञायमानः प्राणातिपातादिकं मठविहारद्रव्योपभोगं कृत्वा शाश्वतोच्छेदपक्षग्रहणेन बाह्यविषयोपभोगासक्तः सन् नरकं याति, आचार्यव्यपदेशेन रत्नत्रयं विडम्बयित्वा ।

अत्र चत्वारो वृद्धाः परलोकेहलोकार्थमाराधनीयाः सत्त्वैः । एषु ज्ञानवृद्धोऽभिज्ञालाभी मुदिताभू[34b]मिप्राप्तो वज्राचार्यो भिक्षुः गृहस्थो वा पूज्यो दशभिक्षुसमो[1] भगवतोक्त इति । T 262 तस्याभावे तपोवृद्धः[2] काषायधारी[3] काषायधारिणां वर्षाग्रेण मन्त्रिणामभिषेकेण गृहस्थाचार्याणां सर्वदा वन्द्यः, तपोवृद्धत्वात्, गृहस्थानामभिज्ञाभावात् । श्रुतवृद्धः पण्डितः पूज्यः शाश(स)नोद्योतकः परवादिनां मारकायिकानां दमकः । एते परलोकार्थमाराधनीयाः सत्त्वैरिति । धनवृद्धो राजा इहलोकभोगार्थिभिराराधनीयः । एवं चत्वारो वृद्धा आराधनीयाः सत्त्वैरिति । अतो यानत्रयज्ञाता तपोवृद्धः, गृहस्थस्य श्रावकयाने प्रातिमोक्षश्रुताधिकारो नास्ति यावत् तपस्वी न भवति । अतो गृहस्थो वृद्धो न भवति । अभिज्ञया विना न च गृहस्थानां प्रव्रज्यारहितानां मठविहारोपभोगः कुत्रचिद् याने भगवतोक्त इति । अतो यानत्रयपरिज्ञानाय प्रथमं वैभाषिकमतमाश्रितं(त्य)[4] परमाणुसन्दोहात्मकलोकधातुरस्ति । "तथाछि(पि)*पुर्गलोऽस्ति पुद्गलो भारवाहो[5](हारो) न नित्यो नानित्यो भणामि" इति ( ) भगवतो वचनात् लोकधातूत्पादनिरोधा वेदितव्याः । संवर्तो विवर्तकालश्चेति । अतः संवर्तादुत्पाद[6]कालवशात् शून्येष्विति । शून्यानीति लोकव्यवहारेण चक्षुरादीनामिन्द्रियाणमगोचराणि, परमाणुरूपेणावस्थितानि, पृथिव्यप्तेजोवायुरसद्रव्याणि[7], पञ्चचतुस्त्रिद्व्येकगुणस्वभावानि । षष्ठो गुणो धर्मधातुः सर्वत्र व्यापक इति शून्यानि । तेषु शून्येषु परमाणुषूत्पादकालवशात् वायुरिति । तेषु परमाणुषु मध्ये प्रथमं तावत् वायुपरमाणवोऽन्योन्याश्लिष्टा भवन्ति । तस्मात् संयोगाल्लघुचञ्चलतागमनाद् वायुरित्युच्यते । एवमग्निपरमाणव आश्लिष्टाः सन्तो वायुसंयुक्तविद्युदग्निरित्युच्यते । एवं तोयपरमाणव आश्लिष्टाः सन्तो वाय्वग्निसंयुक्तवृष्टिजलमित्युच्यते । एवं पृथिवीपरमाणव आश्लिष्टा इन्द्रचाषं(पं) गगने दर्शयन्ति धरा इत्युच्यते । रसपरमाणवः सर्वत्र व्यापकाः । एवं पञ्चशून्येषु वायुज्वलनजलधरा[35a] भवन्ति, सन्धारणमन्थानसंस्थानवातप्रभावतः । द्वीपशैलाः समुद्राः । द्वीपानि सप्त, शैलाः सप्त, समुद्राः सप्त ।

---

१. क. दशदिक्षु; भो०. dGe sLoṅ bCu daṅ mÑampar (दशभिक्षुसमो) ।
२. क. ०वृद्धः । ३. ख. कायधारी ।
४. भो. brTen nas (आश्रित्य) । ५. Khur Khur Ba Po (भारवाहो) ।
६. भो. Chags Pa Ni (संवर्त्तो हि) । ७. ङ. ०वाय्वाकाशद्रव्याणि ।
*. ङ. तथा हि ।

ऋक्षाणीन्द्वर्कताराग्रहगणऋषय इति। ऋणाणि सप्तविंशतिः; तत्सम्बन्धा(द्धा)न्यनन्तानि[1]। **इन्द्वर्कौ** मण्डलाकारौ; **ताराग्रहणस्तथैव** तारकाकारो; मङ्गलादिरिति। **ऋषयः** सप्त तारकाः। **देवभूताश्च नागाः**। देवाश्चातुर्महाराजकायिकादयः, भूता अपराजितप्रेतादयः, नागा अनन्तादयः। **तिर्यग्योनिश्चतुर्धा**। अण्डजा गरुडादयो वायुयोनिः, जरायुजा गजेन्द्रादयोऽग्नियोनिः, संस्वेदजा कीटपतङ्गकृम्यादयो जलयोनिः, उपपादुका वृक्षादयो भूमियोनिरिति। तथा महोपपादुका रसयोनिः। **विविधमहितले** महीत्यागमपाठः। विविधा च सा मही चेति विविधमही; सप्तद्वीपस्वभावा द्वादशखण्डस्वभावास्तस्यास्तलं विविधमहितलं नागभुवनं सप्तनरकभुवनम्; तस्मिन् विविधमह्यां **मनुष्याः**, तले नरके **नारकाः**। **चकारः** समुच्चयार्थ इति। **सम्भूताः शून्यमध्ये लवणमिव जले त्वण्डजाश्चाण्डमध्ये** इति। अत्र दृष्टान्तः—स्थावराणामुत्पत्तये लवणम्, जङ्गमानामुत्पत्तये अण्डम्, चकारः समुच्चयो यथा आतपसंयोगात् लवणा उदकपरमाणवो लवणकठिनत्वं यान्ति तथा मेर्वादयः स्थावरा इति। यथा शुक्रद्रवपरमाणवोऽण्डमध्ये मुखकायाद्यवयवत्वं गतास्तथा जङ्गमसत्त्वा वेदितव्याः।

अस्य लोकधातोर्विस्तरेणोत्पादः पञ्चमपटले वक्तव्यः। इति लोकधातुसंग्रहोद्देशः।

(ग) वज्रकायसंग्रहोद्देशः

इदानीं मञ्जुश्रिया पूर्वक्रमेण देशितं वज्रकायसंग्रहवृत्तं पञ्चमं वितनोमीति **कायेत्यादिना**—

> काये ज्ञानेऽम्बरे वै पवनहविजले भूस्थिते(रे) स(ज)ङ्गमे च
> दिव्यादृष्टौ च सृष्टौ दशविधभुवने वर्णिते वज्रकाये।
> सम्भूतिर्मन्त्रयोनेर्भवति नरपते मुक्तिरत्रैव भूयः
> एवं यो वेत्ति सम्यक् न स भवति पशुश्चित्तसंकल्पमुक्तः ॥५॥[35b]

काय इति चन्द्रो निरावरणम्: **ज्ञानमिति** सूर्यो निरावरणम्। **अम्बरमित्याका**शधातुर्निरावरणः। एवं वायुधातुस्तेजोधातुरुदकधातुः पृथिवीधातुः **स्थिर** इति पञ्चात्मकः। स्थावरधातुर्निरावरणः। **जङ्गम** इति षड्धात्वात्मकः पुङ्ग(द्ग)लधातुर्निरावरणः। **दिव्यादृष्टौ च सृष्टाविति**। दिव्या च साऽदृष्टिश्च सृष्टिः, तस्या(ः—) दिव्यादृष्टौ च सृष्टौऽरूपभवे विज्ञानाहङ्कारमात्रे आकाशानन्त्यायतनादिके चतुःप्रकारे। एवं कायादिके **दशविधभुवने** वज्रज्ञानाधारे **वर्णिते** तथागतैर्वज्रकाये **सम्भूतिर्मन्त्रयोने**[2] बिन्द्वादिके **भवति नरपते** अत्र **मन्त्रयोनिः**। चन्द्राद् बिन्दुः, सूर्याद्विसर्गः, आकाशधातोः अ, वायुधातोः

१. क. ख. पुस्तकयोः अत्र 'तत्सम्बन्वान्यतन्त्राणि' इति पाठः; किन्तु भोटानुसारं 'तत्सम्बद्धान्यनन्तानि' इति पाठः सम्यक् प्रतिभाति।

२. ख. ०मन्त्रयाने।

इ, तेजधातोः ऋ, उदकधातोः उ, पृथिवीधातोः ऌ, स्थावरधातोर्मव्यञ्जनम्, जङ्गमधातोः क्षव्यञ्जनम्, अरूपधातोः हकारव्यञ्जनम्; एतानि मन्त्रपदानि वामावर्तेन स्थापयेत्। ततः पूर्वव्यञ्जनस्य परव्यञ्जनोर्ध्वंगमनं ऌकारादीनां 'इको यणची'ति (अ० ६।१।७७) यणादेशः। अन्ते अकारेण संयोगो विसर्गो अर्द्धचन्द्राकारो बिन्दुर्वृत्तो ज्ञानं शिखाकारमिति। मन्त्रयोनिर्गुणवृद्ध्यादीनां मन्त्राणाम्; तद्यथा—ह क्ष म् ऌ उ ॠ इ अः

इति[1] लोकधातुकायो वज्रकायः। आकाशधातौ यकारो वायुमण्डलम्। तदुपरि रकारो अग्निमण्डलम्। तदुपरि वकारो जलमण्डलम्। तदुपरि लकारो भूमिमण्डलम्। तदुपरि मकारो मेरुः पद्माकारः। तदुपरि क्षकारः पद्मव्यपदेशेन जङ्गमकायः। तदुपरि अरूपकायो हकारात्। विसर्गः सूर्यः। चन्द्रो बिन्दुः। नादो वज्रचिह्नमेकशूकम्। एवं वज्रकायोऽलोकधातुर्मण्डलाकारो वक्ष्यमाणेन वक्तव्यः। एवं **सम्भूतिर्मन्त्रयोनेर्मुक्तिरत्रैव भूय** इति। पुनः संहारकाले **मुक्तिर्लयो** अत्रैव भवतीति। **एवं यो वेत्ति सम्यगिति**। एवमनेनोक्तक्रमेण यः कश्चिद् वेत्ति निरावरणेन वज्रकायम्। **न स[2] भवति[3] पशुरिति**[36a]। पशुरज्ञानी। **चित्तसंकल्पमुक्त** इति। संकल्पो मण्डलकल्पनाधर्मः,
T 263 तेन मुक्तश्चित्तसंकल्पमुक्तः। अस्य दशाकारस्योद्देशः सुविशुद्धर्मधातुस्तवे तथागतेनोक्तः; तद्यथा—

"दशाकारो दशार्थार्थो मुनीन्द्रो दशबलो विभुः।
अशेषविश्वार्थकरो दशाकारवशी महान्॥

अनादिर्निष्प्रपञ्चात्मा शुद्धात्मा[3] तथतात्मकः।
भूतवादी यथावादी तथाकारी अनन्यवाक्॥

अद्वयोऽद्वयवादी च भूतकोटिव्यवस्थितः।
नैरात्म्यसिंहनिर्नादः कुतीर्थ(र्थ्य) मृगभीकरः"॥
(ना० स० ६।४, ५, ६)

इति वज्रकायसंग्रहोद्देशः।

---

१. अत्र देवनागरीक्रमेण मन्त्रप्रस्तारः—हं
क्ष
म
ल
व
र
य

२–३. क. सम्भवति। ३. ख. भूतात्मा।

(घ) राह्वाद्युत्पादसंग्रहोद्देशः

इदानीं राह्वाद्युत्पादसंग्रहवृत्तं षष्ठं वितनोमीति **वामाङ्ग इत्यादि—**

वामाङ्गे श्वेतदीप्तिर्जगदमृतकला दक्षिणे रक्तवर्णा
राहुः कालाग्निचन्द्रौ रविशशितनयौ भौमशुक्रौ गुरुश्च ।
केतुर्मन्दश्च वृष्टिः पविजलशिखिगः (नः) सप्तयुग्मानि लोके
दीप्तानां विद्यमानानि तु विगततमो युग्ममेकं तमोऽन्ते ॥ ६ ॥

वामाङ्गे श्वेतदीप्तिरिति । वामाङ्गे प्रागुक्तस्यानाहतस्य मध्ये स्थितस्य अर्ध[1]-वज्र[2]चिह्नसंज्ञितस्य बिन्दुरेकः, स च **श्वेतदीप्तिः** श्वेतज्ञानरश्मिरिति । **जगदमृतकला**[3] स एव[4] **दक्षिणे रक्तवर्णा** इति । तस्यानाहतस्य दक्षिणे विसर्गचिह्नसंज्ञिता रक्तदीप्तिः रक्तज्ञानरश्मिरिति । तयोर्बाह्ये वामे च दक्षिणे च यथासंख्यं **राहुः कालाग्निश्च** भवति । ततश्चन्द्रसूर्यश्च भवति । एवं बुधो मङ्गलः शुक्रो बृहस्पतिः केतुः शनिः । **वृष्टिविद्युत्** (पवि) **जलमग्नि(शिखिन)**रिति **सप्तयुग्मानि लोके** लोकधातौ विद्यमानानि । तं[5] नियमार्थम् । एषु मन्त्रपदानि यथासंख्यं वामे च दक्षिणे च । अं अः, उ ॠ, ऊ ॠ, ओ अर्, औ आर्, व र, वा रा इति सप्तयु[36b]ग्मानि सप्तवारागामधिदेवता इति । **विगततमो युग्ममेकं तमोऽन्ते** । तमोरहितं श्वेतरक्तज्ञानरश्मिरूपं अनाहतस्य वामे सव्ये अनाहताङ्गं नान्यदिति ।

पृष्ठे पीता च तारा सुरधनुरवनिः सा चतुर्धा द्विभेदा
प्राणो नामैकवायुर्भवति दशविधो मूर्ध्नि मूले च पूर्वे ।
मध्ये वज्रोर्ध्वबीजं गुणगणसहिता सस्थिताधः स्वशक्ति-
र्ज्ञानं सर्वत्र शून्यं शिवपदसहितं सर्वभावैर्विमुक्तम् ॥ ७ ॥

पृष्ठे पीता चेति चकारात् पीतज्ञानरश्मिरित्यर्थः । पृष्ठे अनाहतस्य[6] हलाकृतिः[7] चिह्नसंज्ञिता तस्या बाह्ये साकारा पश्चिमे पीतदीप्तिः । ततः सूक्ष्मतारा, बृहत्तारा, एवं **सुरधनुः** । **अवनिर्द्विधा** मृत्-पाषाणरूपा । एवं सा पीता दीप्तिश्**चतुर्धा** द्विधा (**द्विभेदा**) भवति । **प्राणो नामैकवायुर्भवति दशविधो मूर्ध्नि मूले च पूर्वे** इति । तस्यानाहतस्योर्ध्वे श्यामरश्मिः; बाह्ये शून्यबीजसम्भवः प्राणवायुः, अधो नीलरश्मिः, बाह्ये ज्ञानबीज-सम्भूतोऽपानवायुः । पूर्वे कृष्णरश्मिः, बाह्ये समानो नामवायुः । ततः उदानः, एवं व्यानो नागः कूर्मः कृकरः देवदत्तो धनञ्जयश्चेति दशवायवः । एषामध ऊर्ध्वमेकयुग्मं पूर्वापरं वायुभूम्योः । सप्तयुग्मानि धनञ्जयो नपुंसको मृतकायापरित्यागादिति । एषु

१–२. क. उर्ध्ववज्र; भो. ḫKhyog Po Ched (अर्धवक्रं) । ३–४. भो. Cha Śes De Ñid do (कला स एव) ।
५. क. तु । ६–७. क. अनाहतसाहत्वाकृति ।

मन्त्रपदानि ऊर्ध्वाधः। ह हा। ततः[1] पूर्वापरं यथासंख्यम्। अ आ; इ ऌ; ई ॡ; ए अल्; ऐ आल्; यल याला; क्ष इति सप्तयुग्मानि। पूर्वापरम्[2]। ऊर्ध्वाध एक युग्मम्। तमोऽन्ते। सप्तयुग्मानि सप्तवाराणामधिदेवताः, चतुःसन्ध्याभेदेन आदित्यवारे अर्द्धरात्रे पूर्वोदये अ। दक्षिणोदये अः। पश्चिमोदये आ। उत्तरोदये अं। सोमे इ ऋ ऌ उ। मङ्गले ई ॠ ॡ ऊ। बुधे ए अर् अल् ओ। बृ[37a]हस्पतौ ऐ आर् आल् औ। शुक्रे य र ल व। शनैश्चरे या रा ला वा। इति सप्तवाराणां सन्ध्याबीजानि यथाक्रममिति।

मध्ये वज्रोर्ध्वबीजमिति। ऊर्ध्वाधः पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरबीजानां मध्ये अनाहतं वज्रं कर्तृकाकारं तस्योर्ध्वबीजमनुस्वारं वामाङ्गे यत् स्थितं तद् उपरि भवति। **गुणगणसहिता संस्थिताधः स्वशक्तिः**। तस्यानुस्वारस्य शक्तिर्विसर्गः। तस्य गुणा[3] रक्तरश्मयः। तैः सहिता शक्तिः, गुणगणसहिता अधोऽनुस्वारस्यार्द्धचन्द्राकृतिः। स्थिता स्वशक्तिरिति। पूर्वापरचिह्नं पादे शिरसि अनाहतस्य अनुक्तत्वादिति। एवं पञ्चाक्षरो वँकारो वज्रसत्त्वविषये, हँका रो वज्रानङ्गसाधने इति। तस्य बाह्ये षडक्षरो बिन्दुशून्य आधार इत्युच्यते, वँकारपक्षे हँकारपक्षे क्षकारो योनिरिति वज्रं पद्मञ्चेति।

ज्ञानं सर्वत्र शून्यमिति। ज्ञानशब्देन विसर्गः, अनाहतोर्ध्वमर्द्धचन्द्राकृतिः सर्वत्र सर्वस्मिन् बाह्यवर्णे भवति। शून्यं सर्वत्र बिन्दुरिति। **शिवपदसहितं सर्वभावैर्विमुक्तमिति**। शिवमनाहतम्, तस्य पदं पूर्वापरचिह्नम्, तेन सहितं शिवं सर्वभावैर्विमुक्तम्, तदेव सर्वत्र सर्वस्मिन् बाह्ये वर्णधर्मे पादे शिरसि वायुपृथिव्यौ[4] यथासंख्यम्। शिर उपरि कला, कलोपरि बिन्दुः, बिन्दूपरि नादोऽनाहताख्य इति। अस्य मन्त्रपदानि— एँ वँ क्षँ हँ अँ अँः आँ[5] अँ[6] इँ ईँ ऋँ ॠँ ऌँ ॡँ उँ ऊँ एँ ऐँ अरँ[7] आरँ[8] अलँ आलँ ओँ औँ हँ हाँ यँ याँ रँ राँ वँ[9] वाँ लँ लाँ[10] क्षँ। एवं सर्वमन्त्रपदेषु व्याप्यस्य (व्याप्येषु) पञ्चाक्षरो महाशून्यो व्यापको वेदितव्य इति। अस्योद्देशर्मन्त्रराजे **मायाजाले** भगवतोक्तः—

"विश्वमायाधरो राजा बुद्धविद्याधरो महान्।
वज्रतीक्ष्णो महाखड्गो विशुद्धः परमाक्षरः॥"

(ना० स० ८।३५)

तथा

"निष्कलः सर्वगो व्यापी सूक्ष्मो बीजमनास्रवः।
अरजो विरजो विमलो वान्तदोषो निरामयः॥"

(ना० स० ८।२१, २; २२, २)

इति राह्वाद्युत्पादसंग्रहोद्देशः।

---

१. क. तथा। २. क. पूर्वावरम्।

३. क. पुस्तके 'गुणगणा' इति पाठः; भो. पुस्तके तु 'गुणा' एव विद्यते। ४. क. पृथिम्यो।

५–६. भो. पुस्तके 'अँ आँ' इति क्रमः। ७–८. ख. पुस्तके 'अरँ आरँ' इत्यस्य स्थाने 'अँ रँ आँ रँ' इति अस्ति। ९–१०. भो. पुस्तके अत्र 'लँ लाँ वँ वाँ' इति क्रमः।

(ङ) चन्द्रकलादिविश्वमन्त्रसंग्रहोद्देशः

इदानीं चन्द्रकलावृद्धिहानि[1]सूर्यायणरात्रिदिनवृद्धिहान्यादिसंग्रहवृत्तमष्टमं वितनोमीति [37b] **आद्यास्त्रिंशदित्यादि—**

आद्यास्त्रिंशत् स्वरा ये हयरवलयुतास्ते कलेन्दोर्दिनैश्च
काद्यान् वर्गान् समात्रांश्चरति दिनकरः शून्यषड्वह्निमानैः ।
हाद्या मात्राश्च नाड्यः सुरनरफणिनो भूतयोनिश्च मन्त्रा
इत्यादौ कादियुक्ते भवति खलु नृपोत्पत्तिरेवं त्रिधातोः ।। ८ ।।

आद्यास्त्रिंशत् स्वरा ये हयरवलयुतास्ते कलेन्दोरिति । अकार आदिर्येषामिकारादीनां ते चाद्या हयरवल्युता ह्रस्वदीर्घगुणवृद्धिहादियणादेशह्रस्वदीर्घभेदेन त्रिंशद्भवन्ति । ते चन्द्राः[2] कलावृद्धिक्षयहेतुभूताः । प्रतिपदादयः पञ्चभेदास्त्रिधा भवन्ति, नन्दादिभेदेन त्रिधा नन्दा, त्रिधा भद्रा, त्रिधा जया, त्रिधा रिक्ता, त्रिधा पूर्णा । तमोरजःसत्त्वभेदेन मृदुमध्याधिमात्रभेदेन चेति । पञ्चदशवृद्धिकलाः शुक्लपक्षे । आकाशादिधातुस्वभावेनावस्थितास्त्रिधा । अत्र प्रतिपद् अ, द्वितीया इ, तृतीया ऋ, चतुर्थी उ, पञ्चमी ऌ, नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा आकाशवायुतेजउदकपृथिवीधातवो यथासंख्यं तमस उद्घाटन-(ने)[3] प्रथममृदुमात्रेति । ततो द्वितीयप्रक्रमो गुणभेदः । षष्ठी अ, सप्तमी ए, अष्टमी अर्, नवमो ओ, दशमी अल् । नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा आकाशवायुतेजउदकपृथिवीधातवः । तम उद्घाटन(ने) प्रथम मृदुमात्रा पूर्वकाण्डस्य या मध्यमात्रा सा भूता । T 264 रज उद्घाटनमात्रा मृदुरिति । ततः तृतीये काण्डे हादयो यणादेशाः । एकादशी ह, द्वादशी य, त्रयोदशी र, चतुर्दशी व, पूर्णमासी ल । नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा आकाशवायुतेजउदकपृथिवीधातवः सत्व(त्त्व) उद्घाटनमृदुमात्रा । द्वितीयकाण्डे रजोमात्रा मध्यमा, प्रथमकाण्डे अधिमात्रा ।

अस्याः पञ्चधा भेदः । एकादश्यां सत्त्वगुणभेदेन प्रथमप्रतिपत्कलाधिमात्रा बाला, द्वादश्यां कुमारी, त्रयोदश्यां युवती, चतुर्दश्यां वृद्धा, पञ्चदश्यां परिपाकं गता । एवं प्रतिपत्कला पञ्चदश्यां परिपक्वा पूर्णेत्यभिधीयते । एवं शुक्लपक्षे [38a] चन्द्रकलावृद्धिः पञ्चदशभेदभिन्ना । तदन्ते कृष्णप्रतिपदादौ तमः प्रवेशकालः षोडशी कलेत्युच्यते, तस्यान्ते शुक्लप्रतिपत्कलायाः, कृष्णप्रतिपदि तमसि प्रवेशो भवति । द्वितीया शुक्लकला परिपक्वा भवति, ततो द्वितीयायां द्वितीयापि तमसि प्रविशति; तृतीया परिपक्वा भवति । एवं कृष्णतृतीयायां सापि तमसि प्रविशति । एवं चतुर्थ्यादयः पञ्चदशीकलापर्यन्तं परिपक्वास्तमसि प्रविशन्ति । ततोऽमावास्यान्ते प्रथमकलोदयाभिसन्धौ षोडशांशोदयादिभागे[4] राहुप्रवेशो भवति । एवं द्विधा ग्रहणं चन्द्रमसः, पूर्णिमायां

---

१. क. पुस्तके 'हानि' इति नास्ति; भो. पुस्तके तु अस्ति । २. क. चेन्द्राः ।
३. क. उद्घाटन । ४. क. ०दयादिग्भागे; भो. Cha bCu Drug paḥi Daṅ poḥi Cha La (षोडशांशादिभागे) ।

पूर्णकलान्तं ग्रसति, अमावास्यां (स्यायां) प्रथमकलोदयादिं राहुरिति। अत्र कृष्णपक्षे संहारक्रमेण तमसः प्रवेशः पृथिव्यादिना।

ततः सृष्टिक्रमोदितानां क्षयः। कृष्णप्रतिपदि पृथिवीतमसि शुक्लप्रतिपदाकाशधातुकलाप्रविष्टा तमसाच्छादिता भवति; द्वितीया वायुकला उदकतमसाच्छादिता भवति; तृतीया वह्निकला वह्नितमसाच्छादिता भवति; चतुर्थी उदककला वायुतमसाच्छादिता भवति; पञ्चमी पृथिवीकला आकाशधातुतमसाच्छादिता भवति। एवं प्रथमकाण्डे तमःप्रवेशमात्रा मृदुर्भवति। ततो द्वितीयकाण्डेऽप्युक्तक्रमेण तम आच्छादनक्रिया। तस्मिन् द्वितीयकाण्डे तमो मृदुमात्रा; पूर्वकाण्डे मध्यमात्रा। एवं तृतीयकाण्डेऽपि तम आच्छादनक्रिया। तस्मिन् काण्डे मदुमात्रा; द्वितीयकाण्डे मध्यमात्रा; तृतीयाधिमात्रा। तत्राधिमात्रायाः पञ्चधा भेदः। एकादश्यां बालः, तमोऽधिमात्राभेदेन; द्वादश्यां कुमारः; त्रयोदश्यां युवा; चतुर्दश्यां वृद्धः; अमावस्यां (वस्यायां) परिपक्वो भवति। एवं द्वितीयकाण्डे मध्यमात्रायाः;[1] तृतीयकाण्डे तमो मृदुमात्रायाः[2]। ततः शुक्लप्रतिपदागमे पक्वतमसः पृथिवीधातुलक्षणस्यापश(स)रणं[3] भवति। द्वितीयायामुदकतमसः, तृतीयायां वह्नितमसः, चतुर्थ्यां वायुतमसः, पञ्चम्यामाकाशधातुतमसः। एवं प्रथमकला मृदु[38b]-मात्रा, पृथिवी पूर्णा पक्वा भवति; द्वितीया वृद्धा; तृतीया युवती; चतुर्थी कुमारी; पञ्चमी बाला; षष्ठ्यादयोऽस्तङ्गताः तिष्ठन्ति। एवं मृदुकाण्ड कलायां मृदुपाके न च तमःप्रवेशः स्यात्, कृष्णपक्षे यावत् तृतीयाधिमात्रा पाकं नागच्छतीति। आसां प्रत्येकपञ्चदशकलानां षोडशमे दिने अस्तङ्गतानामुदयः, उदितानां षोडशमे दिने अस्तङ्गमनम्। एवं चन्द्रकला[4] आद्यास्त्रिशत् स्वराः संज्ञाः कलाः शुक्लाः तमःप्रविष्टाः। कृष्णा उपचारेण संज्ञिन्यः। आसां स्वरा मन्त्रपदानि शुक्लकृष्णानां प्रतिपदादीनाम्। अँ इँ ऋँ उँ लृँ अँ एँ अरँ ओँ अलँ हँ यँ रँ वँ लँ। १५[5]। लाः वाः राः याः हाः आल्ः औः आर्ः ऐः आः लॄः ऊः ॠः ईः आः। १५[6]। इति शुक्ले पक्षे चन्द्रो बिन्दुविभूषितः। पञ्चदशकलात्मा सूर्यः कृष्णपक्षे विसर्गभूषितः पञ्चदशकलाच्छादकः। ह्रस्वश्चन्द्रो दीर्घः सूर्यः। एवं गुणश्चन्द्रो वृद्धिः सूर्यः। पूर्ववत् हादय इति।

काद्यान् वर्गान् समात्रांश्चरति दिनकरः शून्यषड्वह्निमानैरिति। इह ककारो येषां वर्गाणामादिस्ते ककारादयो वर्गाः। वर्गा इति पञ्चाक्षरसमूहः। पञ्चाकाशादिपृथिव्यादिभेदेन पठ्यते, स्वरसमूहः सर्वदाकाशादिभेदेन पठ्यते। अत्र प्रत्याहारो ज्ञापकं सर्वत्र व्यञ्जनपाठे। अत्र शुद्धव्यञ्जनानि त्रिंशत्, यकारादीनि स्वरविकाराणि। अन्यत्र ककारादिना व्यञ्जनपाठेन संगृहीतानि। आदिस्वरकाण्डे पठितानीति; तद्यथा— अ इ ऋ उ लृ क्। अ ए अर् ओ अल् च। ह य र व लडिति। ततो ङ ञ ण म नन्। घ झ ढ भ धध्। ग ज ड ब दद्। ख छ ठ फ थथ्। क च ट प तत्। क श ष ४य

१–२. ङ. पुस्तके अत्र 'तमो मृदुमात्रायाः' इति पाठः; अतो परं 'तृतीयकाण्डे तमो मृदुमात्रायाः' इति पाठो नास्ति; किन्तु भो. पुस्तके अस्ति।

३. भो. Sel ba (अपाकरण)। ४. कलाद्या। ५. भो. पुस्तके '१५' इति संख्या नास्ति। ६. भो. पुस्तके '१५' इति संख्या नास्ति।

ससिति प्रथमान्तपाठात्। यकारादीनि ककारादिवर्गमध्ये न भवन्ति, संप्रसारणेन स्वरधर्मित्वात्। तस्मात् त्रिंशद् व्यञ्जनात्मकाः कादयः षड् वर्गाः क-च-ट-प-त-साः, आकाशवायुतेजउदकपृथिवीज्ञानधातुस्वभावाः, कण्ठतालुमूर्द्धौष्ठदन्तोच्चारणवशादिति। षष्ठः प्रत्येकोच्चारणेन पञ्चधात्वात्मकः। [39a] तान् वर्गान् काद्यान् समात्रान्। मात्रा अकारादयः पञ्च ह्रस्वाः पञ्च दीर्घा दश मिलिता भवन्ति। ह्रस्वान्ते अनुस्वारमात्रा षष्ठी, दीर्घान्ते विसर्गमात्रा षष्ठी, ते च व्यञ्जनस्वरसंयोगेनोच्चारणीये। ताभिर्मात्राभिर्युक्तान् समात्रानिति।

चरति दिनकरः शून्यषड्वह्निमानैः, षष्ठ्युत्तरत्रिशतमानैरिति। तैः शून्यषड्वह्निमानैर्द्वादशमासैरयनद्वयञ्च भवति। प्रत्येकेऽयने दक्षिणोत्तरे अशीत्युत्तरदिनशतं भवति। कर्कटादौ दक्षिणायने आकाशादिसृष्टिक्रमेण षट्ह्रस्वमात्रासहितान् षड्वर्गान् षड्मासैः सूर्यश्चरति संक्रातिमासभेदेन। ततः पृथिव्यादिभेदेन उत्तरायणे दीर्घमात्रासहितान् षड्वर्गान् षड्मासैश्चरति। यत्र ह्रस्वमात्रासहितांश्चरति तत्र रात्रेर्वृद्धिर्भवति; यत्र दीर्घमात्रासहितांश्चरति तत्र दिनवृद्धिर्भवति। अत्र दक्षिणायनं चन्द्रः, उत्तरायणं सूर्यः। एकव्यञ्जनं चन्द्रः। संयुक्तव्यञ्जनद्वयं सूर्यः। व्यञ्जनत्रयसंयुक्तो राहुरिति। एवं ह्रस्वस्वरश्चन्द्रः, दीर्घः सूर्यः, प्लुतो राहुरिति सर्वत्र भवति। एवं राहोः प्लुतत्वात् त्रिधा तमो मृदुमध्याधिमात्रात्मकमिति। अत्र कर्कटसंक्रान्तिदिने सृष्टिभेदेन कवर्गस्य ङकारं अकारसहितं चरति सूर्यः, द्वितीये ङि, तृतीये ङृ, चतुर्थे ङु, पञ्चमे ङ्ळ, षष्ठे ङं। एवं सप्तमदिनादिं कृत्वा द्वादशदिनान्तं घकारं चरति, यथा ङकारं विचचार। एवमष्टादशदिनपर्यन्तं गकारं समात्रं चरति; चतुर्विंशतिदिनं यावत् खकारं चरति। एवं त्रिंशद्दिनानि यावत् ककारं समात्रं चरति। शून्यदिने क्वचिदनाहतम्। एवं सिंह- T 265 संक्रान्तिमासदिनैस्त्रिंशद्भिर्ञकारादीन् समात्रांश्चरति। कन्यासंक्रान्तिदिनैः णकारादीन् समात्रांश्चरति। तुलासंक्रान्तिदिनैर्मकारादीन् समात्रांश्चरति। वृश्चिकसंक्रान्तिदिनैर्नकारादीन् समात्रांश्चरति। धनुसंक्रान्तिदिनैः कादीन् समात्रान् व्यञ्जनानि चरति। एवं दक्षिणायने षड्मासदिनैः षड्वर्गान् समात्रानशीत्युत्तरशतसंख्यां[39b]श्चरति, चन्द्रस्वभावेन रात्रिवृद्धिभेदेनेति। ततः उत्तरायणभेदो विलोमेन सकारादिना उच्यते। मकरादिसंक्रान्तिमासदिनभेदेन सूर्यः षड्वर्गान् समात्रांश्चरति, संहारक्रमेण दीर्घमात्रासहितान् वर्गानिति। अत्र मकरसंक्रान्तिदिने स्साः समात्रं चरति, द्वितीये स्सल्ृ मात्रांस्तृतीये स्सू, चतुर्थे स्सॄ, पञ्चमे स्सी, षष्ठे स्सा। एवमपरषड्[1]दिनैः।

एवं ष तथा श। एवं

---

१. ङ. पुस्तके 'षड्' इति नास्ति।

इति मकरसंक्रान्तिदिनैस्त्रिशद्भिः सवर्गः समात्रं चरति। एवं कुम्भमीनमेषवृषभ-मिथुनसंक्रान्तिदिनैस्तवर्गं, पवर्गं, टवर्ग, चवर्गं, कवर्गं चरति समात्रम् अशीत्युत्तरशतदिनैरिति कर्कटसंक्रान्ति यावद्दिवावृद्धिः। दिवावृद्धेः सूर्यः संहाररूपेण वेदितव्य इति। अत्र रात्रिदिवावृद्धिस्वभावाक्षराणि; तद्यथा—रात्रिवृद्धिः ङ ङि ङृ ङु ङ्ॡ ङं, घ घि घृ घु घ्ॡ घं, ग गि गृ गु ग्ॡ गं, ख खि खृ खु ख्ॡ खं, क कि कृ कु क्ॡ कं इति कर्कटे वृद्धिः। ञ ञि ञृ ञु ञ्ॡ ञं, झ झि झृ झु झ्ॡ झं, ज जि जृ जु ज्ॡ जं, छ छि छृ छु छ्ॡ छं, च चि चृ चु च्ॡ चं इति सिंहवृद्धिः। ण णि णृ णु ण्ॡ णं, ढ ढि ढृ ढु ढ्ॡ ढं, ड डि डृ डु ड्ॡ डं, ठ ठि ठृ ठु ठ्ॡ ठं, ट टि टृ टु ट्ॡ टं इति कन्यावृद्धिः। म मि मृ मु म्ॡ मं, भ भि भृ भु भ्ॡ भं, ब बि बृ बु ब्ॡ बं, फ फि फृ फू फ्ॡ फं, प पि पृ पु प्ॡ पं इति तुलावृद्धिः। न नि नृ नु न्ॡ नं, ध धि धृ धु ध्ॡ धं, द दि दृ दु द्ॡ दं, थ थि थृ थु थ्ॡ थं, त ति तृ तु त्ॡ तं इति वृश्चिकवृद्धिः।

8 8 8 8 8 8

क कि कृ कु क्ॡ क, श शि शृ शु श्ॡ शं, ष षि षृ षु ष्ॡ षं, ँय ँयि ँयृ ँयु ँय्ॡ ँयं, स सि सृ सु स्ॡ सं इति धनुसंक्रान्तौ रात्रेर्वृद्धि, दिनक्षयः षट्मासदिनैरिति। ततो मकरादिना दिवावृद्धिः। स्साः स्स्लॄ स्सू स्सॄ स्सी स्सा,

ष्षाः ष्ष्लॄ ष्षू ष्षॄ ष्षी ष्षा, श्शाः श्श्लॄ श्शू श्शॄ श्शी श्शा,

इति मकरे वृद्धिः। त्ताः त्त्लॄ त्तू त्तॄ त्ती त्ता, थ्थाः थ्थ्लॄ थ्थू थ्थॄ थ्थी थ्था, द्दाः द्द्लॄ द्दू द्दॄ द्दी द्दा, ध्धाः ध्ध्लॄ [40a] ध्धू ध्धॄ ध्धी ध्धा, न्नाः न्न्लॄ न्नू न्नॄ न्नी न्ना [इति] कुम्भे वृद्धिः। प्पाः प्प्लॄ प्पू प्पॄ प्पी प्पा, फ्फाः फ्फ्लॄ फ्फू फ्फॄ फ्फो फ्फा, ब्बाः ब्ब्लॄ ब्बू ब्बॄ ब्बी ब्बा, भ्भाः भ्भ्लॄ भ्भू भ्भॄ भ्भी भ्भा, म्माः म्म्लॄ म्मू म्मॄ म्मी म्मा इति मीने वृद्धिः। ट्टाः ट्ट्लॄ ट्टू ट्टॄ ट्टा, ठ्ठाः ठ्ठ्लॄ ठ्ठू ठ्ठॄ ठ्ठी ठ्ठा, ड्डाः ड्ड्लॄ ड्डू ड्डॄ ड्डी ड्डा, ढ्ढाः ढ्ढ्लॄ ढ्ढू ढ्ढॄ ढ्ढी ढ्ढा, ण्णाः ण्ण्लॄ ण्णू ण्णॄ ण्णी ण्णा इति मेषे वृद्धिः। च्चाः च्च्लॄ च्चू च्चॄ च्ची च्चा, छ्छाः छ्छ्लॄ छ्छू छ्छॄ छ्छी छ्छा, ज्जाः ज्ज्लॄ ज्जू ज्जॄ ज्जी ज्जा, झ्झाः झ्झ्लॄ झ्झू झ्झॄ झ्झी झ्झा, ञ्ञाः ञ्ञ्लॄ ञ्ञू ञ्ञॄ ञ्ञी ञ्ञा इति वृषे वृद्धिः। क्काः क्क्लॄ क्कू क्कॄ क्की क्का, ख्खाः ख्ख्लॄ ख्खू ख्खॄ ख्खी ख्खा, ग्गाः ग्ग्लॄ ग्गू ग्गॄ ग्गी ग्गा, घ्घाः घ्घ्ल

घ्घू घ्घृ घ्घी घ्घा, ङ्ङाः ङ्ङ्लृ ङ्ङू ङ्ङृ ङ्ङी ङ्ङा इति मिथुने दिवावृद्धिः; षड्मासं यावदन्ते हानिरिति।

एवं दक्षिणायने ह्रस्वस्वरसंयुक्तं व्यञ्जनमुभयं चन्द्रलक्षणम्, उत्तरायणे संयुक्तं व्यञ्जनद्वयं दीर्घस्वरसंयुक्तम् उभयसूर्यलक्षणं भवति। एकव्यञ्जनं दीर्घस्वरसंयुक्तं चन्द्रसूर्यात्मकं भवति। एवं संयुक्तम् व्यञ्जनद्वयं ह्रस्वस्वरसंयुक्तं सूर्यचन्द्रात्मकं भवति। एवं स्वरव्यञ्जनभेदेन चन्द्रो द्विधा, सूर्यो द्विधा। तथा गुणवृद्धिसंयुक्तं व्यञ्जनं वेदितव्यम्। इत्ययनभेदेन सूर्यस्य चरणमात्राभेदतः। अपरो मात्राभेदः। आकाशादिपञ्चमण्डलप्रवाहेन षष्टयुत्तर(त्रिशत)भेदभिन्नो वक्ष्यमाणे वक्तव्य इति, अस्योद्देशस्तन्त्रराजे मायाजाले भगवतोक्तः प्रत्यवेक्षणास्तवे—

"सर्वबुद्धमहाचित्तः सर्वबुद्धमनोगतिः।
सर्वबुद्धमहाकायः सर्वबुद्धसरस्वतिः (ती)॥
वज्रसूर्यो महालोको वज्रेन्दुविमलप्रभः।
विरागादिमहारागो विश्ववर्णोज्ज्वलप्रभः" ॥ इति।
(ना० स० ८।३२, ३३)

अनुरागः पञ्चमी दशमी पूर्णिमा शुक्लपक्षे; विरागः पञ्चमी दशमी अमावास्या कृष्णपक्षे। अनयोर्द्वयोर्मध्ये त्रिपूर्णावसाने विरमान्ते महाशून्यं पञ्चाक्षरमेकलोलीभूतं योगं तथागतानां हृदयम्। अतः सर्वबुद्धमहाचित्तश्चन्द्रः षोडशकलान्ते महाशून्यम्। सर्वबुद्धमनोगतिरमावस्यान्ते प्रथमकलोदयाभिसन्धौ सूर्य[40b]स्तमः, षोडशान्ते बिन्दुशून्यः षडक्षर इति। एवं सर्वबुद्धमहाकायो महाशून्यः सर्वबुद्धसरस्वति(तो) बिन्दुशून्य इति। वज्रसूर्यो महालोको बिन्दुशून्यः षडक्षरः; वज्रेन्दुविमलप्रभः; पञ्चाक्षरो महाशून्य इति प्रज्ञोपायधर्मो वक्ष्यमाणे विस्तरेण वक्तव्यः। अनक्षरो मन्त्रयोनिर्महामन्त्रकुलत्रयो विस्तरेणेति।

इदानीं प्रतिदिनरात्रिदिवानाड्य उच्यन्ते। **हाद्यामात्राश्च नाड्य इति।** हाद्याश्च ते मात्राश्च हाद्यामात्राः। चकाराद् व्यञ्जनानि; एते द्वादशमात्रासहिताः षष्टिमात्रा भवन्ति, तत्र ह्रस्वमात्रायुक्ता मध्याह्नादर्द्धरात्रं यावत्। रात्रिवृद्धौ त्रिशन्मात्रात्मका भवन्ति। अर्द्धरात्रान्मध्याह्नं[1] यावद्दीर्घमात्रायुक्ताः त्रिंशद्दिवावृद्धौ भवन्ति। एवं प्रतिदिने रात्रिदिवावृद्धिर्वेदितव्या। अत्र मन्त्रपदानि सृष्टिक्रमेण रात्रिवृद्धौ, संहारक्रमेण दिवावृद्धौ; तद्यथा—ह हि हृ हु ह्ऌ हं, य यि यृ यु य्ऌ यं। र रि ऋ रु र्ऌ रं[2], व वि वृ वु व्ऌ वं, ल लि ऌ लु ल्ॡ लं इति रात्रिः प्रज्ञाभावभेदेनेति, कायभेदेनोपायः। ल्लाः ल्ल्ऌ ल्लू ल्लॄ ल्ली ल्ला, व्वाः व्व्ऌ व्वू व्वॄ व्वी व्वा, र्राः[3] र्र्ऌ र्रू र्रॄ र्री र्रा[4], य्याः य्य्ऌ य्यू य्यॄ य्यी य्या, ह्हाः ह्ह्ऌ ह्हू ह्हॄ ह्ही ह्हा इति दिवा, उपायो भावभेदेन, कायभेदेन (च) प्रज्ञा। प्रज्ञाभावोत्पन्नत्वात् शुक्रं चन्द्रः प्रज्ञा, उपायकायसम्भू-

१. क. ०ह्नं। २. क. लं। ३-४ क. पुस्तके अत्र 'त्राः त्र्लॄः त्रू त्रॄ त्री त्रा'; ख. पुस्तके अत्र 'च्चाः च्चृ च्चू च्च्ऌ च्ची च्चा !

तत्वात् उपाय इति। एवमुपायभावसम्भूतत्वाद् रजः सूर्य उपायः। प्रज्ञाकायसम्भूतत्वात् प्रज्ञा। एवं सर्वत्रानुगन्तव्य इति।

इदानीं स्थावरजङ्गमत्रैधातुकस्य मन्त्रा उच्यन्ते—**सुरनरफणिनो भूतयोनिश्च मन्त्रा** इति। सुराः कामरूपारूपाः। असुराश्च तदन्तर्वर्त्तिनः। नराः फणिनश्च प्रसिद्धा
T 266 अनन्तादयः। भूतयोनिश्चतुर्विधा पूर्वोक्ता। स्थावरयोनिर्मेरुवृक्षादयः। सर्वे ते मन्त्रा भवन्ति; मन्त्रसंज्ञया संज्ञिता इति। अत्र त्रैधातुके यस्य यन्नाम तस्य तन्मन्त्रं साधनाय संकेतकं भवति। आद्यक्षरं ज्ञानबीजं भवति, समस्तं नाम[1] जापमन्त्रो भवति। विश्वार्थ-साधनाय अनन्तमन्त्रा अनन्तसत्त्वनामभेदेनावगन्तव्याः। यथा नाम्न आद्यक्षरेण राशिः [41a] शुभाशुभफलार्थं सर्वनामाक्षरैरपि हीनमात्राधिको योऽधः[2]। तथा प्रथमाक्षरेण सर्वनाम्ना च भावनाजापकार्यसिद्धिरिति; प्रतीत्यसमुत्पादे भ्रान्तिर्नास्ति। अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः स्वचित्तपरिणामाद्भवतीति।



इत्यादौ कादियुक्ते आदौ अकारादौ स्वरसमूहे कादियुक्ते ककारादिव्यञ्जनयुक्ते **भवति खलु नृपामन्त्रणम्, उत्पत्तिः**, एवमनेनोक्तक्रमेण **त्रिधातोः** कामरूपारूपधातोः। इति चन्द्रकलादिविश्वमन्त्रसंग्रहोद्देशः।

(च) स्वराणां जन्मस्थाननिर्देशः

इदानीं स्वराणां जन्मस्थानादिसंग्रहवृत्तं नवमं विवृणोमि **जन्मस्थानमित्यादिना**—

जन्मस्थानं स्वराणां कचटतपयुतां कादिसंयोजितानां
कण्ठे तालूर्ध्वभागे खपवनहविजे चौष्ठदन्तेऽम्बुभूम्योः।
आदेरुष्णीषचक्रे हृदि गलशिरसो नाभिचक्रे च गुह्ये
विश्वे कृष्णे च रक्ते शशिकनकनिभे स्कन्धधात्वादिदैवे ॥९॥

जन्मस्थानं स्वराणां कचटतप[3]युतां का[4]दिसंयोजितानामिति। इह स्वराः पूर्वोक्ता अकारादयः अ इ ऋ उ ऌ पञ्च। एषां जन्मस्थानं पञ्चधा यथासंख्यम्। किंभूता-नाम्? कचटतपयुतानां कादिसंयोजितानामिति। यथासंख्यं ककारादिवर्ग[5]संयोजिता-

---

१. भो. Miṅ mThaḥ dag। २. ख. ०धिका०; भो. gYul ḥGyed (युद्धं, युद्धकरणं वा)

३. भो. पुस्तके 'तप' इत्यस्य स्थाने 'पत' इति पाठः। ४. ङ. पुस्तके अस्मिन् प्रसङ्गे यत्र यत्र 'कादि' लिखितम्, अथ वा 'क' बीजाक्षरं लिखितं तत्र रिक्तस्थानं दृश्यते; भो. पाठे 'क' इति दृश्यते। ५. क. ०वर्ण।

नामिति । कादि प्रत्येकाक्षरयोजितानां क श ष ँय स संयोजितानामिति । **आदिग्रहणात्** हयवरलसहितानामिति । तथा चाह—अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः, इचुयशास्तालव्याः, ऋटुरषा मूर्धन्याः, उपूपोपध्मानीया ओष्ठ्याः, लृतुलसा दन्त्या इति, जन्मस्थानं **कण्ठे तालूर्ध्वभागे**[1] **ख-पवन-हविजे** स्थाने । **ओष्ठे दन्ते अम्बुभूम्योर्जन्मस्थाने**, जन्माकारादीनां यथासंख्यं जन्मेति तत्स्थानेषूच्चारितानां शब्दार्थ[2]प्रतिपत्तिरिति, अत्र[3] [41b] शब्दार्थप्रतिपत्तिरिति[4] । अत्र मन्त्रजापविधिनिमित्तं जन्मस्थानं वेदितव्यम् ।

अपरं भावनास्थानार्थं काये चक्रभेदेनोच्यते—**आदेरुष्णीषचक्रे हृदि गलशिरसो नाभिचक्रे क्रमेण** । आदेरिति अकारादेः स्वरस्य यथासंख्यमाकाशादिजातिभेदेन, यथासंख्यमुष्णीषादिचक्रभावनार्थं जन्मस्थानं वेदितव्यम् । अत्रोष्णीषचक्रे अकुहविसर्जनीया भाव्याः । इचुयशा हृच्चक्रे[5]; ऋटुरषाः कण्ठचक्रे; उपूपध्मानीया ललाटचक्रे; लृतुलसा नाभिचक्रे भावनीया इति ।

विश्वे विश्ववर्णे हरिते उष्णीषचक्रे, **कृष्णे** हृच्चक्रे, **रक्ते** कण्ठचक्रे, **शशिवर्णे** ललाटचक्रे **कनकनिभे** नाभिचक्रे । **स्कन्धधात्वादिदैवे** यथासंख्यं विज्ञानस्कन्धाकाशधात्वादिदैवे उष्णीषचक्रे, संस्कारवायुधात्वादिदैवे हृच्चक्रे । एवं वेदनातेजोधात्वादिदैवे कण्ठचक्रे, संज्ञा उदकधात्वादिदैवे ललाटचक्रे, रूपपृथिवीधात्वादिदैवे नाभिचक्रे इति स्कन्धधात्वादिदैवे वक्ष्यमाणे अङ्गन्यासादिकं वेदितव्यम् । इति स्वराणां जन्मस्थाननिर्देशः ।

इति श्रीपरमादिबुद्धोद्धृतश्रीकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
लोकधातुसंग्रहोद्देशः सप्तमः ॥७॥

(८) लोकधातुमानसंग्रहोद्देशः

इदानीं सत्त्वाशयवशेन लोकधातुमानं भगवतोक्तम्, परमादिबुद्धात् मञ्जुश्रिया सङ्गीतिकारकेण दशमादिवृत्तैः सङ्गीतम् , तदेव वितनोमीति **वाय्व[42a]न्तान् मेरुसीम्न** इति—

वाय्वन्तान् मेरुसीम्नो नरकफणिपुरं योजनानां द्विलक्षं
मेरोर्लक्षं प्रमाणं ग्रहगणनिलयात् पञ्चविंशत्सहस्रम् ।
ग्रीवा पञ्चाशदास्यं ध्रुवपदमचलं पञ्चविंशत् तथैव
तद् बाह्ये शून्यमेकं त्रिभुवनरहितं निर्गुणं तत्त्वहीनम् ॥१०॥

१. ख., ङ. पुस्तकयोः अत्र 'किंभूते' इति अधिकः; भो. पुस्तके Ji Tar Gyur Pa Śe Na (किं भूयते इति चेत्) ।

२. ख. ०र्थं । ३-४. ख. ङ. पुस्तकयोः अयमंशो नास्ति । ५. क. हृच्चन्द्रे ।

वाय्वन्तान् मेरुसीम्नो नरकफणिपुरं योजनानां द्विलक्षमिति। इह लोकसंवृत्या नानाधिमुक्तिसत्त्वाशयवशेन मानं सत्त्वादीनां[1] देशितं प्रतिभासते लोकधातोः। परमार्थतो मानोन्मानं लोकधातोर्न सम्भवति, सत्त्वानां पुण्यपापवशादिति। इह यस्यां गुहायां पञ्चहस्तप्रमाणायां वीतरागो बोधिसत्त्वो वावसति, तस्यां गुहायां तस्य पुण्यज्ञानभाजनस्य प्रभावेन ऋद्धिबलेन ससैन्यचक्रवर्त्ती आगतः प्रविशति, न च सा केनचिद् विस्तारिता, न च तस्यां गुहायां प्रविष्टस्य चक्रवर्त्तिससैन्यस्य संकीर्णता भवति; एवं लोकधातुमानमपि परमार्थतो वेदितव्यम्। अत्र यल्लोकधातुमानं, तद्यथा "बाह्ये तथा देहे" [का० त० १।२] इति वचनात्, "लोकधातुमानं लोकधातुमण्डलार्थं कायधातुमानं कायमण्डलार्थं कायमण्डलमित्युक्तम्" इति वचनात्। यथा बाह्ये मेरुर्लौकिकमानेन लक्षयोजनोच्छ्रयः, तथा शरीरकङ्कालं हस्तमेकमुच्छ्रयं तेन हस्तमानेन कायश्चतुर्हस्तः। मेरोर्लक्षयोजनमानेन लोकधातुश्चतुर्लक्षं भवति, अन्यथा "यथा बाह्ये तथा देहे" न भवति, वैषम्यात्। एवं लोकधातुमानं संवृत्या यथा तथा भवतु, अत्र प्रतिज्ञा न स्याद् भगवतः "तापाच्छेदाद्" (द्र०, तत्त्व०, ३५८७) इत्याद्या। किं च प्रतिज्ञा पुण्यज्ञानसम्भारविषये। यतो लोकधातुमानविषये कोशमतं नानाविधं वेदसिद्धान्ताभिप्रायेण, एकं ब्रह्माण्डं कोटियोजनाया(म)मिति[2] मृषावचनात्। सूर्यरथादीनां परिपाचनाय तद्ब्रह्माण्डमानविध्वंसनार्थं ग्रहगणितराशिगोलायुक्त्या लोकधातुमानं प्रतिष्ठापितम्। अतोऽत्र माने बौद्धकोशं (अ०को०, को०३) दृष्ट्वा भ्रान्तिरियं न कर्तव्या। यथा भगवता लोकधातोर्मानं षट्त्रिंशल्लक्षमधिकमुक्तम्, कथं लोकधातोश्चतुर्लक्षयोजनमानम्? अत्र किं भगवान् मृषावादीति कस्यचिन्मतं भवति, तद्वचनं पण्डितैर्न मन्तव्यम्, सत्त्वाशयवशेनेति। तथा चाह—

T 267
"नानाधिमुक्तिकाः सत्त्वा नानासिद्धान्तवेदकाः।
नानामार्गसमारूढा ज्ञाना[42b]हङ्कारमानिनः॥

तेषां स्वपरसिद्धान्तं यावद्युक्त्या न दर्श्यते।
तावत् तेन वशं यान्ति सर्वज्ञस्यापि मानिनः॥

सत्त्वोपकारतोऽसत्यं पुण्यसम्भारहेतुकम्।
परापकारतः सत्यमवीच्यादिप्रदायकम्॥

गृहावासमदातारः प्रेताः पश्यन्ति पर्वतम्।
सूच्यग्रं पर्वताकारं भवनं पापकारिणः॥

सच्छिद्रां सुदृढां भूमिं सिद्धाः पश्यन्ति सर्वतः।
पातालसिद्धिमापन्ना अप्सरः(सः) पुरगामिनः"॥

अतो लोकधातुमानं सत्त्वानां स्वचित्तवासनावशेन तथागतेनोक्तं प्रतिभाष(स)ते। न च कश्चित् तथागतोऽभिनिवेशेन लोकधातुं दृष्ट्वा ग्राह्यग्राहकरूपेण वस्तुमानं कथयति। एवं सर्वं परिज्ञाय ऋषीणां परिपाचनार्थं लोकधातुमानं कायमण्डलार्थं भगवतोक्तमिति।

---

१. ख. ङ. सत्त्वानां। २. ख. ङ. ०याममिति।

इह वाय्वन्तान्मेरुसीम्नः पृथ्वीतोयतेजोमण्डलानाम्। अधो वायुमण्डलमाकाशधातावavस्थितम्। तस्माद् वाय्वन्तान्मेरुं यावत् सप्त नरकाणि, अष्टमं फणिपुरमिति। नरकफणिपुरं योजनानां द्विलक्षं भवति। अत्र वायुमण्डलं पञ्चाशत्सहस्रं भवति। तस्मिन् महाखरवाते महान्धकारे नरकद्वयं पञ्चविंशत् पञ्चविंशत् सहस्रयोजनविभागमध ऊर्ध्वं तिर्यग्मानेन पृथिवीवलयप्रमाणम्। एवमग्निवलये नरकद्वयम्; अग्निनरकमेकम्, तदुपरि तीव्रधूम्रनरकम्। तथोदकवलये नरकद्वयम्; पङ्काम्भः पङ्कोदकसंयुक्तं वालुकाम्भो[1] वालुकोदकसंयुक्तं महाशीतम्। पृथ्वीवलये शर्कराम्भो नरकः पञ्चविंशत्सहस्रयोजनम्। तदुपरि फणिपुरं पञ्चविंशतिसहस्रयोजनमध ऊर्ध(र्ध्वं)म्। तदेव मानं द्विधा—अर्द्धे असुरभुवनम्, अर्द्धे नागभुवनमिति। एवं शरीरे पादतलात् कटिं यावत् हस्तद्वयम्। तदेव हस्तद्वयं अष्टविभागं कृत्वा एकैकभागे यथाक्रमेण नरकफणिपुराणि वेदितव्यानीति।

मेरोर्लक्षं प्रमाणम्। तस्माद् भूमण्डलात् मेरोरध ऊर्ध्वमानं लक्षयोजनमिति। शरीरं हस्तमेकं कट्याः कण्ठाधो यावत्, तत्रैव ग्रहगणं(णो) भ्रमति। तस्माद् ग्रहगणनिलयात् पञ्च[43a[**विंशत्सहस्रम्। ग्रीवा मेरोः**। शरीरे षडङ्गुलम्। ततः **पञ्चाशदास्यं मुखं मेरोः** ग्रीवाया ललाटान्तं यावत् शरीरे द्वादशाङ्गुलमिति। तस्माद् **ध्रुवपदमचलमुष्णीषं पञ्चविंशत्सहस्रमिति**। शरीरे षडङ्गुलमानं ललाटाच्छिखास्थानं यावदिति। **तद् बाह्ये शून्यमेकं त्रिभुवनरहितं निर्गुणं तत्त्वहीनं तदिति**। अधो वातमण्डलोर्ध्वोष्णीषयोर्बाह्ये शून्यमेकं प्रत्येकपरमाणुरूपं धातुरूपारूपादिकं शून्यमिति। नाकाशं सर्वव्यापकमित्येकशून्येनावगन्तव्यम्। एवं चतुर्लक्षलोकधातोर्मानम्। शरीरे चतुर्हस्तम्। हस्तोऽपि चतुर्विंशत्यङ्गुलात्मक इति।

इदानीं तिर्यग्मानमिहोच्यते—

वाय्वन्वाद्वायुसीम्नः स्थिरधरणितले द्वीपशैलाः समुद्रा-
श्चत्वार्यर्द्धं द्विलक्षं शिखिचलवलयं योजनानां द्विलक्षम्।
मध्ये मेरोर्यदूर्ध्वं भ्रमति दिननिशं राशिचक्रं सतारं
षड्भागे द्विद्विलक्षं त्रिर्भुवनसकलं कालयोगात् प्रजातम्॥ ११॥

वाय्वन्ताद् वायुसीम्नः चत्वारि लक्षाणि वायोर्वाय्वन्तं पूर्वादपरवायुवलयान्तं यावत्। एवं दक्षिणादुत्तरान्तं यावदिति। **स्थिरधरणितले द्वीपशैलाः समुद्रा** इति। ततो वायुमण्डलाभ्यन्तरे वह्निमण्डलं वलयाकारम्; एवं अग्निवलयमध्ये तोयवलयम्, तोयवलयमध्ये पृथ्वीवलयम्, तदेव स्थिरं धरणितलम्, तस्मिन् षड् द्वीपाः षट् शैलाः, षट् समुद्राः। सप्तमेनोदकवलयेन सहिताः सप्त समुद्राः, सप्तमेन जम्बूद्वीपेन सहिताः सप्त द्वीपाः, वज्रपर्वतेन सार्द्धं सप्त पर्वताः। वज्रपर्वतो वाडवाग्निः। क्षारसमुद्रः तोयवलयान्ते अधस्त[2] तिर्यग्विभागेन स्थितः पृथ्वी महाजम्बूद्वीपान्ते सर्वदिक्षु अधसि(श्च)[43b] क्षारसमुद्रोऽवस्थितः। लवणसमुद्रान्ताल्लवणसमुद्रम्[3]।

---

१. ख. वायु०। २. क. ख. अधसि। ३. ख. समुद्रान्तं।

अर्द्धं चतुर्लक्षाणाम् । **चत्वार्यर्द्धं द्विलक्षमिति** । मेरोर्मध्यात् सव्याव(प)सव्ये क्षारसमुद्रवलयान्तम् । द्विलक्षं सव्येनैकलक्षं अव(प)सव्येनैकलक्षम् । एवं पूर्वापरं वायव्याग्नेयम्; नैर्ऋत्येशानम् । **शिखिचलवलयं योजनानां द्विलक्षमिति** । तस्मात् क्षारोदकवलयात् सव्याव(प)सव्ये शिखिवायुवलयं द्विलक्षं भवति, सव्येनैकलक्षम्, अव(प)सव्येनैकलक्षम्, उत्तरेण लक्षमेकमेवं सर्वदिक्षु ।

मध्ये मेरुर्यदूर्ध्वं भ्रमति दिननिशं राशिचक्रं सतारमिति । मध्ये मेरुः, किंभूतः स यस्योर्ध्वे राशिचक्रं द्वादशारं अनन्तताराशशिसहितं सतारं दिवानिशं भ्रमतीति; अत्र केयं वाचो युक्तिः, किमपरोऽपि मेरुरस्ति, येनेदं वाक्यमित्युच्यते ? अत्र मन्दरो[१]ऽपि मेरुसंज्ञया गृहीतः, तेन मन्दरपृथक्करणाय इयं वाचो युक्तिरिति ।

षड्भागे द्विद्विलक्षमिति । इहोक्तक्रमेण अधसि(अध) ऊर्ध्वे पूर्वपश्चिमे दक्षिणोत्तरे षड्भागे पृथिवीवलयमध्यात् द्विद्विलक्षं **त्रिभुवनसकलं स्वर्गमर्त्यपातालभुवनं** त्रिभुवनं सकलं **कालयोगात् प्रजातम्**, संवर्त्तोत्पत्तिकालवशात्; सन्धारणमन्थानसंस्थानवायुकालसंयोगाज्जातं सत्त्वानां शुभाशुभकर्मफलोपभोगार्थमिति ।

इदानीं वृत्तमानमिहोच्यते—

तिर्यग्मानस्य वृत्तं त्रिगुणमपि भवेल्लोकधातोः समन्ताद्
भूमेर्वृत्तं त्रिलक्षं जलशिखिमरुतां षड्नवार्कक्रमेण ।
यद् बाह्ये लक्षमेकं त्रिभुवननिलये योजनानां नरेन्द्र
तद्देहे हस्तमेकं क्षितितलनिलये स्वस्वमानेन सम्यक् ॥ १२ ॥

तिर्यग्मानस्य वृत्तं त्रिगुणमपि भवेल्लोकधातोः समन्तादिति । इह लोकधातोः सर्वत्र तिर्यग्मानस्य वृत्तमानं त्रिगुणं भवति स[44a]र्वेषां मेर्वादिवायुवलयान्तानां द्वीपशैलसमुद्रादीनामिति । **भूमेर्वृत्तं त्रिलक्षं** भूमेर्भूमिवलयस्य तिर्यग्मानमेकलक्षं वृत्तमानं त्रिलक्षं भवति । एवं **जलशिखिमरुतामिति** । जलशिखिमरुतवलयानां स्वस्ववलयान्तात् स्वस्ववलयान्तं यावत् द्विलक्षं त्रिलक्षं तिर्यग्मानम् । वृत्तमानं **षड्नवार्कक्रमेणेति** । षड्लक्षमुदकवलयस्य नवलक्षं अग्निवलयस्य अर्कद्वादशलक्षं वायुवलयस्य क्रमेण वेदितव्यमिति । **यद् बाह्ये लक्षमेकं त्रिभुवननिलये योजनानां नरेन्द्र । तद्देहे हस्तमेकं क्षितितलनिलये स्वस्वमानेन सम्यगिति** । यद् बाह्ये लोकधातौ लक्षमेकं योजनानां तत् स्वशरीरे स्वहस्तेन चैकहस्तमानं भवतीति पूर्वोक्तक्रमेणेति ।

T 268 इदानीं परमाण्वादिना योजनमुच्यते **सूक्ष्मैरित्यादिना**—

सूक्ष्मैरष्टाभिरेको ह्यणुरिदमणुभिः सूक्ष्मबालाग्रमेभी
राजी-यूका-यवैश्चाङ्गुल-मुरग-यवैरङ्गुलैरर्कयुग्मैः ।
हस्तो हस्तैश्चतुर्भिर्द्धनुरिह धनुषा स्यात् सहस्रद्वयेन
क्रोशः क्रोशैश्चतुर्भिर्दिवि भुवि गगने योजनं तेन मानम् ॥ १३ ॥

---

१. क. ख. मन्दिरो; भो०. Mandra ।

सूक्ष्मैरष्टाभिरेको ह्यणुरिति। इह सूक्ष्मैरष्टभिः परमाणुभिः पंक्त्या स्थितैरेकोऽणुरिति अणुमानं भवति। **एभिर्बालाग्रं** मनुष्याणामणुभिरष्टभिर्भवति। एभिर्वालाग्रैरष्टभिः पंक्त्या स्थितं राजीमानम्[1]। ताभिर्यूकामानम्, ताभिर्यवमानम्; **तैरुरगयवैर**ष्टभिरङ्गुलं भवति। **अङ्गुलैरर्कयुग्मैरिति**। अर्को द्वादश, युग्मं द्विधा, चतुर्विंशतिरिति, चतुर्विंशत्यङ्गुलैः पंक्त्या स्थितैर्हस्तमानं भवति; तैश्चतुर्भिर्धनुर्भवति। **इह धनुषा स्यात् सहस्रद्वयेन क्रोशो** भवति; तैश्चतुर्भिर्योजनं भवति। तेन योजनेन **दिवि**मानं देवाभुविमानं मनुष्यादीनाम्, **गगने** मानं चन्द्रार्कादीनां भ्रमणार्थमिति [44b]।

इदानीमरूपभवाद्यो (द्ये)कत्रिंशद् भवा उच्यन्ते—

आदौ सौधर्मकल्पं युगयुगयुगलं ब्रह्मलोकोत्तरं च
श्रीकल्पं श्वेतकल्पं सुवसितभुवनात् काममेकादशं च।
चत्वारश्चाद्यरूपा हमिथुनरहिता षोडशा यादिरूपा
हाद्या लान्ताश्च कामाः प्रकटदशविधा व्यञ्जनान्येककः सः(षः)॥१४॥

आदौ सौधर्मकल्पमिति। आदौ प्रथमं सौधर्मशब्देन अरूपभवमुच्यते; कल्पमिति यस्मिन् कल्पायुर्देवा वसन्ति, तत् स्थानं सौधर्मकल्पमिति स्वर्गभूमिः। **युगयुगयुगलमिति**। युगं द्वौ, तयोर्युगलं चत्वारः; युगयुगयुगलमरूपभवस्थानं चतुर्विधमित्यर्थः; एकं महाकल्पं द्वौ त्रयश्चत्वारः कल्पमायुरित्यभिप्रायः। मेरोरुष्णीषाधः केशस्थानं शून्यकृत्स्नं चतुर्विधं भावितानामिति। एवं युगयुगयुगलं ललाटस्थानं ब्रह्मकल्पं वायुकृत्स्नं चतुर्विधं भावितानामिति। एवं **ब्रह्मलोकोत्तरं** युगयुगयुगलं नासिकास्थानं चतुर्विधमग्निकृत्स्नं भावितानामिति।

एवं **श्रीकल्पं** युगयुगयुगलं नासिकाधः चिबुकान्तमुदककृत्स्नं चतुर्विधं भावितानाम्। एवं **श्वेतकल्पं** कण्ठस्थानं[2] युगयुगयुगलं पृथिवीकृत्स्नं चतुर्विधं भावितानामिति। एवं षोडशरूपिणां षोडशकल्पाः, षोडशकल्पमारभ्य एककल्पं यावदायुरिति। ततः[3] अवशिष्टद्वयङ्गुलात्[4] कण्ठादध आरभ्य यावदधो वायुवलयान्तमेकादश कामभवाः; **सुवसितभुवनात् काममेकादशमित्युच्यते**।

काममेकादशभेदभिन्नमित्यर्थः**चत्वारश्चाद्यरूपा हमिथुनरहिता** इति। इहारूपादीनां बीजाक्षराणि अकारादयः स्वराश्चत्वारः; ते च हकारद्वयरहिताः। षट्शून्यासं(शं)कया वचनमिति, **षोडशा यादिरूपा** इति। इह इकार आदिर्येषां षोडशस्वराणां ते यादय इत्युच्यन्ते, षोडशा यादिरूपा इति।

हाद्या लान्ताश्च कामाः प्रकटदशविधाः हकार-आदि लकारान्तो[45a] एषां दशस्वरविकाराणां ते हाद्या लान्ताः कामा दशविधा भवन्ति, प्रकट(टा) विद्यमाना

१. ङ. राज०। २. क. कल्प०; भो०. mGrin Pa (कण्ठ)।
३-४. भो०. पुस्तके नास्ति; ख. पुस्तके तु 'ततः' इति नास्ति।

आगमे उक्ताः। **व्यञ्जनान्येककः ष**[1] इति। व्यञ्जनानि ककारादीनि समस्तानि प्रत्याहारेण संगृहीतानि। एकवर्णः कः षो भवति, कषोः संयोगः क्षकार इति। स च एकादशमः कामभव इति।

एकत्रिंशद्भवैश्च त्रिभव इह भवेद् धातुभेदास्त्रिधातु-
रेतद् वज्रत्रयं स्यात् त्रिभुवनसकलं चादि-कादिप्रभेदात्।
रत्नाभाच्छर्कराम्भो निगदितनरको वालुकाम्भो द्वितीयः
पङ्काम्भस्तीव्रधूमो हविरपि च तमो रौरवः सप्तमश्च ॥ १५ ॥

एकत्रिंशद्भवैश्च त्रिभव इह भवेदिति। एभिरकारादिभिरेकत्रिंशद्भवैस्त्रिभवः, कामभवो रूप[2]भवोऽरूपभवो[भव][3]मि(इ)ति। अत्रैकत्रिंशद् भवा इति अरूपादयः नैवसंज्ञानासंज्ञायतनोपगाः, आकिञ्चन्यायतनोपगाः, विज्ञानानन्त्यायतनोपगाः, आकाशानन्त्यायतनोपगाः इत्यरूपाश्चत्वारः। अकनिष्ठादयः षोडश रूपाः—अकनिष्ठाः, सुदर्शनाः, अतपाः, अबृहाः, बृहत्फलाः, पुण्यप्रसवाः, अनभ्राः, शुभकृत्स्नाः, अप्रमाणशुभाः, परीत्तशुभाः, आभास्वराः, अप्रमाणाभाः, परीत्ताभाः, महाब्रह्माणः, ब्रह्मपुरोहिताः, ब्रह्मकायिका इति षोडश रूपाः। परनिर्मितवशवर्त्यादयः एकादश कामा इति। अत्र परनिर्मितवशवर्त्तिनः निर्माणरतयः, तुषिताः, यामाः, त्रायस्त्रिंशाः, चातुर्महाराजकायिका इति षट् कामावचरा देवाः अधमकल्पाः षट्पञ्चचतुस्त्रिद्व्येककल्पायुष्मन्त इति। अत्रासुरास्तदन्तर्वर्त्तिनः मनुष्याः तिर्यञ्चः प्रेता नारका इति पञ्च कामभवाः। एवमेकत्रिंशद् भवाः।

ए[45b]षामकारादयः स्वराः संज्ञामन्त्राः यथासंख्यमरूपादीनामुक्तक्रमेणेति; तद्यथा—अ आ अं अः इत्यरूपाकाशकृत्स्नाः, इ ई ए ऐ इति वायुकृत्स्नाः, ऋ ॠ अर् आर् (इत्य)ग्निकृत्स्नाः, उ ऊ ओ औ इत्युदककृत्स्नाः, ऌ ॡ अल् आल् इति पृथिवीकृत्स्नाः, इति शीलबलेन[4] षोडश रूपाः। वाय्वादिकृत्स्नं समाधिबलेन अकनिष्ठादिका बभूवुः। ह हा य या र रा इति षट् कामावचराः दानबलेन मन्त्रजापबलेन बभूवुः। व वा असुरा मनुष्या दानबलेन, मनुष्या शुभाशुभकर्मबलेन बभूवुः; ल ला तिर्यञ्चप्रेताः तिर्यञ्चाधमपापेन[5], प्रेता मध्यमपापेन, क्षकारेण नारका उत्तमपापेन बभूवुः। प्रथमनागलोके पुण्यबलेन, प्रथमनरके पापबलेन अधमकल्पायुषः, द्वितीयतृतीयनरके मध्यमकल्पायुषः, चतुर्थपञ्चमनरके उत्कृष्टकल्पायुषः, षष्ठसप्तनरकेषु महाकल्पायुष इति; अष्टमे नरके लोकधातूपसंहारायुषः। इत्येवमेकत्रिंशद्भवैस्त्रिभव इत्यर्थः।

धातुभेदा[6]स्त्रिधातुरिति। **एतद् वज्रत्रयं स्यात्** कायवाक्चित्तमिति। **त्रिभुवनसकलं** स्वर्गमर्त्यपातालम्, **आदि-कादिप्रभेदादिति** ज्ञातव्यम्।

---

१. क. ख. ङ. भो. पुस्तकेषु अत्र अग्रे च दन्त्यसकार एव लिखितः; किन्तु यतो हि मूर्धन्यषकारसंयोगेनेव क्षकारो भवति, अतः दन्त्यस्थाने मूर्धन्यो गृहीतः।

२. ख. पुस्तके नास्ति। ३. क. ख. पुस्तकयोरागतः।

४. क. ०वशेन। ५. ख. ०धम-अपायेन। ६. क. ०भवा।

अधमकल्पमानं योजनमेकमायामव्यायामेन गन्तुम्; तच्च वालाग्रैः सूक्ष्मैः परिपूर्णं वर्षशतेन एकैकवालाग्रमुद्धार्यमाणं यदा रिक्तं भवति, तदा अधमकल्पैकदिनम्, तेन त्रिंशद्-दिनेन मासः, द्वादशमासैर्वर्षम्, वर्षशतेन कल्प इत्युच्यते। एवं तस्य वर्गोऽधमकल्पश - गुणनं मध्यमकल्पः, मध्यमकल्पवर्गेण उत्कृष्टकल्प इति। एवं नरकादिदुःखं सत्त्वानां कल्पा(न)नेकसंख्यं पापवशाद् भवति; पुण्यवशात् स्वर्गादिकं सौख्यं कल्पा(न)नेकं भवति देवानामिति।

इदानीं नागभवनादीनां संज्ञोच्यते। तत्र नास्ति नाम्नि विवाद(:) तीर्थिकादिभि(:) इति। **रत्नाभात् शर्करा[1]म्भो निगदितनरक** इति। इह रत्नैर्यस्मिन्नावासे आभाः, स आवासो रत्नाभः; तस्मादसुरनाग[46a]लोकात् पञ्चविंशत्सहस्राद‌धो T 269
योजनमानम्; तस्मात् रत्नाभात् शर्कराम्भो निगदितो नरकः कथित इत्यर्थः। **बालुकाम्भो** नाम **द्वितीयः पङ्काम्भस्तृतीय** इति शीतनरकद्वयम्; ततस्तीव्रधूम्रनरकश्चतुर्थो **हविरपि** पञ्चम इति उष्णनरकद्वयम्; ततोऽधस्तमः षष्ठः **रौरवो** महातमः **सप्तमः खर-वात-**नरकद्वयं वज्राचिःसहितम्। **चकारा**दष्टमो वज्रसूच्यग्रभूमागः सदा प्रज्वलित इति अष्टौ महानरकाः **पाताले**।

क्षारो मद्याम्बुदुग्धा दधिघृतमधुराः सागराः सप्त शैला(जलाश्च)
नीलाभो मन्दराद्रिनिषध[2]मणिकरो द्रोणसीताद्रिवज्राः॥
द्वीपं चन्द्रं सिताभं वरपरमकुशं किन्नरं भोगभूमौ
क्रौञ्चं रौद्रं च जम्बूर्निवसति मनुजः सप्तमं कर्मभूमौ॥१६॥

क्षारो मद्याम्बुदुग्धा दधिघृतमधुराः सागरा सप्त इति। क्षारो भूमिवलयबाह्ये, मद्यादयो भूम्युपरि, **शैलाः सप्त—नीलाभो मन्दराद्रिर्निषधमणिकरो द्रोण-शीताद्रिवज्राः**। वज्रः क्षारोदधिबाह्ये हिमवदादयो मद्यादेः प्रत्येकसमुद्रस्य प्रत्येकं कुलपर्वता बाह्ये उदकालिबन्धवत्। **द्वीपं चन्द्रं सिताभं वरपरमकुशं किन्नरं भोगभूमौ। क्रौञ्चं रौद्रं च जम्बूर्निवसति मनुजः सप्तमं कर्मभूमौ**। सप्तमं महाजम्बूद्वीपं वलयाकारं लक्षयोजनायामं त्रिलक्षं वृत्तेन यस्मिन्निवसति मनुजस्तत् कर्मभूमौ वेदितव्यम्, षट्भोग[3]भूम्यामिति। जम्बूद्वीपं क्षारोदधितटात्, शेषाणि मद्यादितटेभ्य इति।

[46b] इदानीं महाजम्बूद्वीपे चतुर्द्वीपाण्युच्यन्ते—

पूर्वं वाय्वर्द्धवृत्तं भवति नरपते दक्षिणेऽग्निस्त्रिकोणं
पूर्णेन्दुश्चोत्तरेऽम्ब्वोर्वरकनकमहेः पश्चिमे चार्कि(ब्धि)कोणम्।
शून्याकारः सुमेरुर्वरकुलिशमयो मध्यतो मण्डलानां
शैला नागा ग्रहा दिग् भवति भुवितलं योजनानां सहस्रम्॥१७॥

१. क. ख. सर्करा०। २. क. ख. ग. ट. भो. पुस्तकेषु अत्र 'निषच' इति पाठः; किन्तु कोशानुसारं 'निषध' इति पाठः समीचीनः। ३. ङ. ०भाग।

पूर्वं वाय्वदर्धवृत्तम्। पूर्वे वायुमण्डलस्वभावेन वृत्तमर्द्धचन्द्राकारम्, **दक्षिणे** अग्निमण्डलस्वभावेन **त्रिकोणम्, उत्तरे** अम्बुमण्डलस्वभावेन वृत्तम्, अर्द्धचन्द्राकारम्, **पश्चिमे** पृथिवीमण्डलस्वभावेन चतुरस्रं त्रि(अब्धि)कोणमिति। मध्ये मेरुः सूर्य(शून्य)-मण्डलस्वभावेन बिन्द्वाकारो **वरकुलिशमयो मध्यतो मण्डलानामिति।** पूर्वं[1] दक्षिण-पश्चिमोत्तराणां मध्ये मेरुरिति।

शैला नागा ग्रहा दिग् भवति भुवितलं योजनानां सहस्रमिति। एषां चतुर्णां मण्डलानां योजनमानं यथासंख्यं भुवितलं शैला इति सप्तसहस्रम्, नागा इत्यष्टसहस्रम्, ग्रहा इति नवसहस्रम्, दिगिति दशसहस्रं योजनमानं चतुर्द्वीपाणां यथाक्रमेणेति। इ[ह] यदत्र(र्द्ध)पूर्ववृत्तं पश्चिमं चतुरस्रम्, तत् स्व[2]शरीरस्वभावेन पूर्वापरं वायुपृथिवीस्वभावं वामदक्षिणं शरीरे तोयाग्निस्वभावमिति। अतश्चतुर्मण्डलाकारेण चतुर्द्वीपाणां लक्षण-मिति।

इदानीं मेर्वादीनां विस्तारमानमुच्यते—

मेरोर्विस्तारमूर्ध्वं क्षितितलनिलये योजनानां सहस्रं
पञ्चाशत् षोडशैकं प्रवरभुवितले चक्रवाडस्य सम्यक्।
ऊर्ध्वे शृङ्गानि पञ्च क्षितितलनिलये सर्वदिक्चक्रवाडं
तद्बाह्ये द्वीपशैलास्व(स्त्व)पि जलनिधयः सर्वदिग्वह्नि-
वायू(युः) ॥१८॥

मेरोर्विस्तारमूर्ध्वं पूर्वापरमुत्तरदक्षिणभागं यावत् **पञ्चाशत्सहस्रं क्षितितल-निलये** विस्तारः, **षोडश**सहस्रमेक[3]सहस्रं[4] **चक्रवाडस्य सम्य**गायामः। **ऊर्ध्वे शृङ्गानि पञ्च क्षितितलनिलये** निमग्नानि, **सर्वदिक्चक्रवाडञ्च। तद्बाह्ये द्वीपशैला** इति। तस्य चक्रवाडस्य बाह्ये चतुःशृङ्गाभ्यन्तरे रन्ध्रस्थाने षट् द्वि(द्वी)पानि, षट् समुद्राः, षट् पर्वताः; तेषु हिमाद्रिः सशृङ्ग इति सप्तमं जम्बूद्वीपम्, तस्य बाह्ये क्षारोदधिवलयम्, सर्वतो वह्निवलयं वायुवलयमिति।

सर्वेकैकं सहस्रं षडपि जलधयश्चन्द्रचन्द्रैकहीना
द्वीपान्येवं सहस्रं वल(र)कुलगिरयः पञ्चविंशत्(ति)सहस्रम्।
जम्बूद्वीपं विशालं लवणजलनिधेरर्द्धलक्षं प्रमाणं
तद्वद् वह्नेश्च वायोस्त्रिभुवनधरणस्यान्तिमस्य प्रमाणम् ॥१९॥

[47a] **सर्वेकैकं सहस्रं षडपि जलधयः चन्द्रचन्द्रैकहीनाः।** एकाधिकशतेनोनं सहस्रं प्रत्येकसमुद्रो भवतीत्यर्थः। **द्वीपान्येवं षट् वरकुलगिरयः।** षडेवम्। एषामष्टादशानां तुल्यमानं द्वीपसमुद्रशैलानाम्। तदेव सूक्ष्मत्वेन षोडशसहस्रेभ्योऽष्टादशभागलब्धं स्फुटं

१. क. पूर्वे। २. क. पुस्तके नास्ति। ३-४. ख, पुस्तके 'एकसहस्रं' इति नास्ति।

भवति। **चन्द्रचन्द्रेकहीनमिति** स्थूलमानं संक्षेपत उक्तम्। अत्र मेरोर्मध्ये ब्रह्मस्थानादधोभागे सर्वदिक्षु योजनाष्टसहस्रं चक्रवाडस्यैकं भवति, नवसहस्रयोजनानां बाह्ये षोडशसहस्र-योजनानां यावत् षट्द्वीपादयः स्थिताः। अतोऽष्टादशभागलब्धं षोडशसहस्रेभ्यो मानं स्फुटं भवतीति। तद्बाह्ये **पञ्चविंशत्(ति)सहस्रं जम्बूद्वीपं विशालं** वलयाकारं मेरोरष्टदिक्षु; तद्बाह्ये **लवणजलनिधेरर्द्धलक्षं प्रमाणं** भवति सर्वदिक्षु। तद्वदग्निवलयस्य **वायुवलयस्य त्रिभुवनधरणस्यान्तिमस्य प्रमाणमिति**। एवं मेरोर्ब्रह्मस्थानात् सर्वदिक्षु द्वि-द्विलक्षं योजनमानं भवति; शरीरे उरोरर्द्धं पृथ्वीवलयम्; बाहुरुदकवलयमुपबाहुरग्निवलयं मणिबन्धात् करान्तं वायुवलयम्। एवं लोकधातुमानमिति।

इदानीं **कालचक्रदेवनागपीठोपपीठादीनां**[1] स्थानमुच्यते **ब्रह्माण्डे कालचक्रमित्या**दिना—

ब्रह्माण्डे कालचक्रं जिनवरसहितं संस्तुतं देववृन्दै-
मेरौ गीर्वाणचक्रं त्ववनितलगतं पञ्चवर्णं ह्यहीनाम्।
श्रीमेरोः सर्वदिक्षु क्षितिवलयगतं सर्वपीठोपपीठं
क्षेत्रं छन्दोहमेलापकचितिभुवनं वह्निवाय्वन्तसीम्नः ॥२०॥

ब्रह्माण्डे बाह्ये शरीरे, उष्णीषमणौ **कालचक्रः** तमेव **संस्तुतं जिनवरसहितं** सर्वबुद्धैः सहितं समाजमेकलोलीभूतं **देववृन्दै**र्बोधिसत्त्वैर्ब्रह्मादिभिः संस्तुतमिति। **मेरौ गीर्वाणचक्रं** ब्रह्मादीनामिति। **अवनितलगतं पञ्चवर्णं** [47b] **ह्यहीनां** चक्रमिति। **श्रीमेरोः सर्वदिक्षु क्षितिवलयगतं सर्वपीठोपपीठ**मिति। पीठं चतुर्दिक्षु वाय्वग्न्युदकपृथ्वीस्वभावेनावस्थितं पूर्वविदेहम्, लघुजम्बूद्वीपम्, उत्तरकुरुः, अपरगोदानीयमिति। उपपीठं तत्स्वभावेन चतुर्दिक्षु[2], आग्नेयनैरृत्यईशानवायव्यदिक्षु। एवं क्षेत्रोपक्षेत्रं समुद्रार्द्धि(द्धे)। छन्दोहोपछन्दोहं समुद्रस्यापरार्द्धे। मेलापकोपमेलापकमग्निवलयार्द्धे। वेश्मोपवेश्ममग्नेरपरार्द्धे। श्मशानोपश्मशानं वायुवलयार्द्धे। अष्टौ महाश्मशानानि वायुवलयान्ते। एवं पीठादयो द्वादशभूमयो वेदितव्या इति। शरीरे च द्वादशभूमयो हस्तपादयोर्द्वादशसन्धय इति।

इदानीं दिक्पालस्थानमुच्यते—

पूर्वे शक्रोऽग्निरग्नौ यमदनुवरुणा याम्यदैत्यापरेषु
वायुर्यक्षो हरश्चानिलधनदहरेषूर्ध्वभागे त्वधश्च।
ब्रह्मा विष्णुः समस्ताः परिजनसहिताः स्वस्वदिग्रक्षपाला-
स्तन्मध्ये कालचक्रो जिनवरजनकोऽनाहतो वज्रकायः ॥२१॥

पूर्वे शक्र इति पूर्वे शक्रो मेरोर्मूर्ध्नि, पूर्वे दिशि शक्रः। **अग्नावग्निः। यमो याम्ये, दनुर्दैत्ये, वरुणोऽपरे, वायुरनिले, यक्षो धनदे, हरो हरे, ऊर्ध्वभागे ब्रह्मा, अधो**

१. क.०पीठानां। २. क. ख. ङ. चतुर्विदिक्षु।

विष्णुः। एते शक्रादयः **समस्ताः परिजनसहिताः स्वस्वदिग्रक्षपाला** इति। **तेषां मध्ये कालचक्रो जिनानां जनकोऽनाहतो वज्रकायो** दिक्पालानां प्रभुरित्यर्थः।

[48a] इदानीं महाचक्रवर्त्तिभ्रमणं द्वादशभूमिखण्डेषूच्यते **मेरोः**[1] **पृष्ठेष्वि**त्यादि[2]—

मेरोः पृष्ठेषु दिक्षु भ्रमति भुवितले दुर्जयो दानवानां
यस्मिन् धर्मो विनष्टो वहति कलियुगं तत्र तत्र प्रयाति।
हत्वा म्लेच्छांश्च युद्धे विचरति पुरतः स्थापयित्वा स्वधर्मे
कृतत्रेताद्वापरं वै कलियुगमपरं वर्तते कालयोगात् ॥२२॥

मेरोः पृष्ठेषु दिक्षु भ्रमति भुवितले दुर्जयो दानवानां म्लेच्छानां **यस्मिन्** भूखण्डे तथागत**धर्मो विनष्ट**स्तेषां विपर्यासधर्मो वर्तते, तस्मिन् भूमितले भ्रमति चक्री कलियुगे स एवाधर्मप्रवृत्तिः, **कलियुगं वहतीत्यर्थः।** तदेवाधर्मात्मकं कलियुगम्।
T 270 यत्र यत्र म्लेच्छधर्मं वहति खण्डे, **तत्र**[3] तत्रैव खण्डं प्रकर्षेण याति **प्रयातीति।** **हत्वा**[4] **म्लेच्छांश्च**कारात् दानवादींश्च **युद्धे विचरति पुरतः स्थापयित्वा स्वधर्मे;** तान् म्लेच्छादीन् **कृतत्रेताद्वापरं वै कलियुगमपरं वर्तते कालयोगात्।** अत्र युगं कृदयुगादिकमपरं महाकृद्युगादिकं न भवतीत्यर्थः। एतद् युगं कालयोगाद् वर्तते। कालो द्वादशराशिचक्रम्, तस्य योगात् कालयोगाद् वर्तते चतुःसन्ध्याभेदेनेति।

यस्मिन् खण्डे स चक्री प्रविशति बलवान् कृद्युगं तत्र याति
त्रेता पृष्ठे च राज्ञः कलिरपि पुरतो द्वापरञ्च द्विमध्ये।
विंशत्येकं सहस्रं रसशतसहितं वर्षमानं युगानाम्
एकैकस्य प्रमाणं युगशरगुणितं मानवाब्दे शतं यत् ॥२३॥

यस्मिन् खण्डे स चक्री प्रविशति बलवान् कृद्युगं तत्र याति; कृद्युगं नाम सम्यक्सम्बुद्धधर्मं यातीत्यर्थः। **त्रेता पृष्ठे च राज्ञ**स्त्रेता पृष्ठे राज्ञो भवति, धर्मस्यैकपादाभावः कृदन्ते त्रेतान्ते द्विपादाभावः; **कलिरपि पुरतो** राज्ञो धर्मस्य चतुःपादाभावः कल्पान्ते। **द्वापरं च द्विमध्ये** इति। कलित्रेतयोर्मध्ये द्वापरं धर्मस्य त्रिपादाभाव इति।

विंशत्येकं सहस्रं रसशतसहितम्। रस इति षट्षट्शताधिकैकविंशत्सहस्रं **वर्षमानं युगानां** चतुर्णां मानं तद् भवति। **एकैकस्य प्रमाणं** [48b] **युगशरगुणितमिति।** युग इति चत्वारः, शर इति पञ्च, तैः चतुःपञ्चाशद्भिर्गुणितं युगशरगुणितमिति। **मानवाब्दे शतं यदिति।** वर्षशतं गुणितं चतुःशताधिकं सहस्रपञ्चकं भवति, प्रत्येकयुगमानं तुल्यमिति।

१-२. ख. पुस्तके नास्ति। ३. क. पुस्तके 'तत्र' इति अधिकः। ४. ख. हविनीत।

इदानीं मनुष्यतनुजादीनां स्वस्वश्वासमानमुच्यते—

सूक्ष्मोच्छ्वासध्रुनाडीदिनयुगसहस्रैकैकविंशच्छतैश्च
षड्भिर्मानं क्रमेण त्वणुतनुजनृणां भूतदेवासुराणाम् ।
शक्तेर्भर्त्तुर्दिनैकं वहति भुवितले शक्तिमानं युगानां
खण्डे खण्डे च चक्री व्रजति शिवपदं द्वादशार्का दिनैके ॥२४॥

सूक्ष्मोच्छ्वासेत्यादि। सूक्ष्म इति मनुष्यश्वासनिःश्वासस्य एकस्य षट्शताधिक-एकविंशत्सहस्रभूतस्य एकांशः सूक्ष्मश्वासः, तेन श्वासषट्केन तनुजादीनां कृमिकुलादीनामेकं पाणी(णि)पलम्, षष्टिभिः पाणिपलैः घटीघटीभिः षष्टिभिर्दिनमिति। दिनं नाम तनुजादीनां षट्शताधिक-एकविंशत्सहस्रश्वासनिःश्वाससंख्या, तैरुच्छ्वासैर्गतैर्नराणां स्वदिनं भूतप्रेतानां ध्रुभिः स्वदिनं ध्रुरिति। मनुष्यश्वासस्य त्रिंशद्गुणः श्वासः कृष्णपक्षो दिवा, शुक्लपक्षो रात्रिः; प्रेतानां पितृणां स्वदिनमिति। **नाडीभिर्मनुष्याणां** षष्ट्युत्तरत्रिशतश्वासो देवानामेकश्वासः। **दिनमिति** मनुष्याणां षट्शताधिक-एकविंशत्सहस्रश्वासाः, असुराणामेकश्वासः। **ध्रुरिति** मनुष्याणां वर्षः। **शक्तेरेकश्वासः** शक्तिरित्यकनिष्ठजातिः। **युग** इति मनुष्याणां षट्शताधिक-**एकविंशत्सहस्रवर्ष**पिण्डितं भर्त्तुरेकश्वासः। **भर्त्तुरिति** नैवसंज्ञायतनोपगजातेरिति। **सूक्ष्मोच्छ्वासध्रुनाडीदिन-[ध्र]युगसहस्रैक-[49a] विंशच्छतैश्च षड्भिर्मानं क्रमेण त्वणुतनुजनृणां भूतदेवासुराणां शक्तेर्भर्त्तुर्दिनैकम्**। एवं पूर्वोक्तक्रमेण एषां तनुजादीनां स्वकीयस्वकीयश्वासैः षट्शताधिक-एकविंशत्सहस्रैर्दिनं भवति।

एषु मानेषु शक्तिमानमकनिष्ठदेवमानं **वहति भुवितले** चक्रिणो **युगानां शक्तिमानमिति। खण्डे खण्डे च चक्री व्रजति शिवपदम्**। प्रत्येकखण्डे बुद्धधर्मं प्रवर्त्तयित्वा व्रजति महासुखपदं महासुखस्थानमिति। **द्वादशार्का दिनैके**। एवं प्रत्येकैकखण्डे प्रत्येकैकचक्रवर्त्ती धर्मप्रवर्त्तकः। एकदिने द्वादश चक्रवर्त्तिनो भवन्ति; अष्टादशाष्टादशशतैः शक्तिश्वासैः मनुष्याणां वर्षैरेकैको व्रजति। एवं द्वादशार्का धर्मदिवाकराः पुण्यज्ञानमार्गप्रवर्त्तका इति। बाह्ये वर्षेण द्वादशराशिभेदेन द्वादशार्का व्रजन्तीति।

इदानीं सूक्ष्मादीनां श्वासभेदेन प्रत्येकदिने कालभेद उच्यते—

पक्षा मासाः समस्ता ऋतुयुगसमया अग्निकालोऽयने द्वे
वर्षं राजन् समस्तं त्वनुदिनघटिकालग्नपाणीपलानि ।
एतान्येवं व्रजन्ति त्वनुतनुजनृणां भूमिदेवासुराणां
शक्तेर्भर्त्तुर्दिनैके त्रिभुवननिलये देहमध्ये तथैव ॥२५॥

पक्षा इत्यादि। इह प्रत्येकदिने तनुजादीनां चतुर्विंशतिः पक्षाः। **मासाः समस्ता** इति द्वादश मासाः। **ऋतवः** षट्। **युगसमयाश्चत्वारः**। **अग्निकाल** इति त्रयः कालाः। **अयनौ (ने) द्वौ (द्वे) वर्षं राजन् समस्तमिति** एतत् सर्वं वर्षभेदेन ज्ञातव्यम्। तथा अनुदिनं षष्ट्युत्तरत्रिशतदिनं **घटिकालग्नपाणी(णि)पलानि**; विंशत्युत्तरत्रिशता-

धिकचत्वारिसहस्राणि लग्नानि, घटिका षट्शताधिकैकविंशत्सहस्रसं[49b]ख्याः, पाणी(णि)पलानि षण्णवतिसहस्राधिकद्वादशलक्षाणीति ।

एतान्येवं व्रजन्ति प्रत्येकदिने तनुजादीनामेतानि वर्षाङ्गानि श्वासभेदेन व्रजन्ति । तत्रैकपक्षो नवशतैः श्वासैर्व्र जन्ति(ति) । चतुर्विंशतिपक्षैर्दिनं वर्षं व्रजति । अष्टादशशतश्वासैर्मासो द्वादशमासैर्दिनं वर्षं व्रजति । षट्त्रिंशद्भिः श्वासशतैः ऋतुः, षट्ऋतुभिर्दिनं वर्षं व्रजति । चतुःपञ्चाशत्श्वासशतैर्युगं व्रजति । चतुर्युगैर्दिनं वर्षं व्रजति । द्वासप्ततिश्वासशतैरेककालो व्रजति । त्रिकालैर्दिनं वर्षं व्रजति । अष्टशताधिकदशसहस्रैः श्वासैरयनं व्रजति । अयनाभ्यां दिनं वर्षं व्रजति । एवं षोडशशताधिकविंशतिसहस्रश्वासैः स्वस्वमानैः प्रत्येकदिनं वर्षं व्रजति **तनुजादीनामिति** । एवं षष्टिश्वासैरहोरात्रं व्रजति । षष्ट्युत्तरत्रिशताहोरात्रैर्दिनं वर्षं व्रजति । पञ्चश्वासैर्लग्नं व्रजति । विंशत्यधिकत्रिचत्वारिंशत्लग्नशतैर्दिनं वर्षं व्रजति । एकश्वासो घटिकां व्रजति । एकश्वासस्य षष्टि[१]संख्या पाणी(णि)पलं व्रजति । श्वासस्य षष्ट्युत्तरत्रिशतांशः श्वासो व्रजति । [२][श्वासस्य षोडशशताधिकैकविंशत्सहस्रांशः श्वासो व्रजति][३] । एकविंशत्सहस्रषट्शताधिकघटिकाभिर्दिनं वर्षं भवति । षण्णवतिसहस्राधिकद्वादशलक्षपाणी(णि)पलैर्दिनं वर्षं व्रजति । षट्सप्ततिसहस्राधिकसप्तसप्ततिलक्षश्वासैर्दिनं वर्षं व्रजति । एवं षट्सप्ततिलक्षाधिकसप्तसप्ततिकोटिश्वासैर्दिनशतं (वर्षशतं[४]) व्रजति ।

असौ कर्मवशात् परमायुरूनमधिको (—) भवति । स्वस्वमानैर्योगिनां योगबलेन तपस्विनां समाधिबलेनाधिको भवति । एकश्वासो घटिकां व्रजति । पापसत्त्वानां पापबलेन हीनो भवति । अस्य परमागमयुक्त्या नियमो नास्ति; किन्तु वेदेषूक्तम्—"शतायुर्वै[५]पुरुषः शतेन्द्रियः[६]" (ऐ० ब्रा० २।१७।४।१९) इति । अत्र प्रपञ्चवचनमिदम्—मनुष्याणां वर्षशतं परमायुरिति, कृतयुगे नराणामायुर्वृद्धिवशादिति । अत्र नीतार्थेन
T 271 प्रतिदिनं प्रतिवर्षं पुरुषशब्देनोच्यते; दिनशतेन वर्षशतेनाध्यात्मनि बाह्ये । पुनरेवान्यश्वासचक्रवर्त्तनतः "शतायुर्वै पुरुषः शतेन्द्रियः" इति । एवं द्विशतदिनैश्चतुर्युगा-[50a]नि व्रजन्त्याध्यात्मनि; विंशत्सहस्राधिकत्रिचत्वारिंशल्लक्षैः श्वासैर्बाह्ये वर्षैरिति । एवमुभयचक्रपरिवर्तनेनोभयपुरुषयोरायुर्मासद्वयमेक ऋतुरिति वामदक्षिणे दशमण्डलानि । प्राणप्रवाहो मण्डलमेकं द्वात्रिंशत्सहस्राधिकचतुर्वर्षलक्षैः । एवं पञ्चमण्डलैः सर्वग्रहाः स्वस्वजन्मस्थाने शून्ये विशति(न्ति) । ततः पुनरेवान्यचरणप्रवृत्त्या अपरपुरुषो मध्यमाया विनिर्गत इति वक्ष्यमाणे वक्तव्यमिति ।

श्रीपरमादिबुद्धोद्धृतश्रीकालचक्रतन्त्रराजे
द्वादशसाहस्रिके विमलप्रभाटीकायां
लोकधातुमानसंग्रहोद्देशोऽष्टमः ॥८॥

---

१. क. षट् । २-३. ख. ङ पुस्तकयोः कोष्ठकेऽयमधिकः अंशो लिखितः । अयमंशो भो. पुस्तकेऽपि नास्ति ।

४. अत्र भो. पुस्तके 'Lo brGyar (वर्षशतं)' इति अधिकः पाठः ।

५-६. ऐतरेयब्राह्मणे एवमागतम्—"शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्य्यः ...." ।

(९) ज्योतिर्ज्ञानविधिमहोद्देशः

इदानीं सुम्भलविषये मञ्जुश्रिय उत्पादनं म्लेच्छधर्मोत्पादात् ज्योतिषसिद्धान्तविनाशः लघुकरणप्रवृत्तिः तथागतव्याकरणमाद्याब्दादित्यादिना वितनोमीति—

आद्याब्दात् षट्शताब्दैः प्रकट(टे) यशनृपः सम्भलाख्ये भविष्यत्
तस्मान्नागैः शताब्दैः खलु मखविषये म्लेच्छधर्मप्रवृत्तिः ।
तस्मिन् काले धरण्यां स्फुटलघुकरणं मानवैर्वेदितव्यं
सिद्धान्तानां विनाशः सकलभुवितले कालयोगेऽभविष्यत् ॥ २६ ॥

आद्याब्दात् षट्शताब्दैः प्रकट(टे) यशनृपः सम्भलाख्ये भविष्यदिति । आद्येति धर्मदेशनावर्षं तथागतस्य; तस्माद् वर्षात्[1] षट्शताब्दैः शीतानद्युत्तरे सम्भलनाम्नि विषये; यश इत्यागमपाठः; महायशा मञ्जुश्रीः प्रकटो भविष्यति, निर्माणकायग्रहणं करिष्यतीत्यर्थः ।

तस्मान्नागैः शताब्दैरिति । तस्मात् यशसो निर्वृतात् । नागैरित्यष्टवर्षशतैः । **खल्विति** निश्चितम्, **मखविषये म्लेच्छधर्मप्रवृत्तिर्भविष्यति** । शीतादक्षिणे मखविषये कोटिग्रामविभूषिते म्लेच्छानां तायि(जिका)नामसुरधर्मप्रवृत्तिर्भविष्यति ।

तस्मिन् म्लेच्छकाले **धरण्यां स्फुट(टं) लघुकरणं मानवैर्वेदितव्यम्** । **सिद्धान्तानां विनाश** इति । सिद्धान्तं(न्तो) ब्राह्मं[2] सौरं यम(व)नकं रोमकमिति[3], एषां चतुर्णां विनाशं सिद्धान्तानां विनाशः । **सकलभुवितल** इति । सकल इति यत्र तीर्थिकसिद्धान्ता वर्त्तन्ते[4]; तत्र सकलं भुवितलं शीतादक्षिणम्, तस्मिन् भुवितले; न सम्भलादिविषयेषु बौद्धसिद्धान्तस्य विनाश इति । **कालयोगे भविष्यदिति** । कालः म्लेच्छधर्मः, तेन सिद्धान्तानां योगः कालयोगः, तस्मात् कालयोगाद् भविष्यति[5]; कालयोग इति पञ्चम्यर्थे सप्तमी । अतः सिद्धान्तविनाशाल्लघुकरणं स्फुटमिति मातृमोदकवचनम्, तीर्थिकानां परमार्थतो न स्फुटं लघुकरणादिकम् । कुतः ? सिद्धान्तानां विनाश इति कटाक्षवचनात् । यदि करणादिकं स्फुटम्, तदा सिद्धान्तानां विनाशाभावः करणेऽपि ग्रहसिद्धितः । न[6] च[7] करणान्तरे सूर्यशुद्धिर्दृश्यते उत्तरायणदिने छायया परीक्षमाणया । उत्तरायणे छायाशुद्ध्या विना सूर्यभोगोऽशुद्धः, सूर्यभोगादशुद्धाच्चन्द्रभोगोऽशुद्धः । एवं मङ्गलादयोऽपि सूर्ये शोधिताः सन्तः सूर्यभोगाशुद्धत्वात् तेषामपि भोगोऽशुद्ध एव[8] । ग्रहभोगाशुद्धत्वाज्जातकादीनां ग्रहफलं निरर्थकं तीर्थिकानामिति । इह सिद्धान्ते ग्रहाणां शुद्धक्षेपकाः स्त्रीबालसाध्यास्तैर्ग्रहाः क्षिप्रं प्रज्ञायन्ते बालजनादिभिः, तेन ईर्ष्या कलौ जाता दुष्टतीर्थिकानाम्; यदि सर्वे स्त्रीबालादयो ग्रहसंचारं ज्ञास्यन्ति, तदाऽस्माकं को गौरवं करिष्यति ? तस्मात्

---

१. क. वर्षात्र । २-३. अत्र भोटानुवादे चत्वारः सिद्धान्ताः 'ब्रह्मदेववादिनः, सूर्यदेववादिनः, अचेलकाः (शैवाः), राहुदेववादिनः' इति लिखितम्—gCer Bu Pa Daṅ sGra Can । ४. क. निवर्त्तन्ते; भो. वर्त्तते (Sugs Pa) । ५. क. भविष्यत्; भो, ḥByuṅ Bar ḥGur Ro (भविष्यति) । ६-७. क. नव । ८. क. एवं ।

सिद्धान्तमपहृत्य तन्त्रकरणादिकं कुर्मः[१], इत्यालोच्य सिद्धान्तानि(न्ताः) गुप्तकृतानि(कृताः), तन्त्रकरणादिकं प्रकटितम्। तन्त्रेऽनेकाहर्गणराशिः, करणेऽपि मन्दशीघ्रं कर्मचतुष्टयं(इति) प्रपञ्च(:) कृतम् (कृतः), येन बालजनाविषमं दृष्ट्वा दूरं पलायन्ति, ज्योतिष(षं) नाम न कुर्वन्ति। एवं कालवशात् करणे ध्रुवकं न स्फुटम्, अस्फुटत्वात् सूर्यभोगोऽशुद्धः, सूर्यभोगाशुद्धि[51a]तः सर्वग्रहभोगोऽशुद्धोऽभूदिति। इह परेषामज्ञानहेतोर्यत् करणादिकं रचितं दुष्टतीर्थिकैस्तदेव कालवशात् तेषामपरिज्ञानं जातं परापकारत इति। अतः परापकारः सर्वत्र विरुद्ध इति। इह ग्रहाणां प्रतिदिनभोगक्षेपका वक्ष्यमाणे वक्तव्या इति।

इदानीं लघुकरणं तावदुच्यते—

वह्नौ खेऽब्धौ विमिश्रं प्रभवमुखगतं म्लेच्छवर्षं प्रसिद्धम्
ऊनं म्लेच्छेन्द्रवर्षं करफणिशशिना शेषमर्काहतं च।
मिश्रं चैत्रादिमासैरधरयुगहतं खाग्निचन्द्रैर्विभक्तं
लब्धं मूर्ध्नि प्रविष्टं भवति नरपते मासपिण्डं विशुद्धम् ॥२७॥

वह्नौ खेऽब्धौ विमिश्रमिति। इह ध्रुवकोऽनित्यस्तन्त्रराजे षष्टिसंवत्सरान्ते पुनर्ध्रुवकरणादिति[२]। इह तथागतकालात् षड्वर्षशतैर्मञ्जुश्रीकालः करणे ध्रुवः। तस्मादष्टशतवर्षैः म्लेच्छकालः; तस्मात् म्लेच्छकालात् द्व्यशीत्यधिकशतेन हीनो अजकल्की कालो येनाजेन[३] लघुकरणं विशोधितम्। स एव कालः करणे ध्रुवकं भवति म्लेच्छवर्षादिति। **प्रभवमुखगतमिति।** प्रभवो मुखमादिर्येषां षष्टिसंवत्सराणां ते प्रभवमुखाः, तेषु प्रत्येकवर्तमानवर्षस्य पूर्ववर्षं प्रभवमुखगतमिति। तन्मिश्रं त्र्यधिकचतुःशतवर्षं राशौ म्लेच्छवर्षं प्रसिद्धं भवति। एकवर्षमादिं कृत्वा यावत् षष्टिवर्षं तावद् विमिश्रं प्रभवमुखगतं भवति इति। तदेव वर्षं सर्वकरणान्तरे प्रसिद्धं भवतीत्यादित्यादिवारवत्। तेन विमिश्रितं त्र्यधिकचतुःशतवर्षराशाविति। **म्लेच्छवर्षं प्रसिद्धं** म्लेच्छो मधुमती रह्मणा(रहमाना)वतारो[४] म्लेच्छधर्मदेशको म्लेच्छानां तायि(जि)नां (ताजिकानां) गुरुः स्वामी।

ऊनं म्लेच्छेन्द्रवर्षं करफ[51b]णिशशिना द्व्यशीत्यधिकशतेनोनम्, **करफणिशशिनोनमिति,** सम्भलविषये अजकल्कीकालवर्षम्, तदेव लघुकरणे वर्षपिण्डमिति। **शेषमर्काहतं च।** तदेव वर्षपिण्डं द्व्यशीत्यधिकशतेनोनावशेषं मासपिण्डनिमित्तमर्काहतं द्वादशगुणितं मासपिण्डं भवति।

मिश्रं चैत्रादिमासैरिति। तदेव मासपिण्डं चैत्रादिवर्त्तमानमासैर्मिश्रं भवति वर्त्तमानमासार्थमिति। **अधरयुगहतमिति।** तदेव मासपिण्डमध उपरि राशौ अधो राशौ मासपिण्डं कृत्वा अधिकमासग्रहणार्थं युगहतं चतुर्गुणितं भवति। **खाग्निचन्द्रैर्विभक्तमिति।** अत्र सूर्यस्य द्वात्रिंशत्सार्द्धमासैरधिकमासोऽमावस्यां(स्यायां) संक्रमणाभावात्। तेन भोगो न स्यात्, तस्मात् राशि[श]चतुर्गुणिता भागराशिर्भवति। भागराशेश्चतुर्गुणिते सति
T 272
'निमित्ताभावे नैमित्तकस्याभाव' इति न्यायात् विभज्य राशिश्चतुर्गुणी भवति। तस्माद्

१. क. कुर्म्यः। २. क. ०ध्रुवकरणादिति। ३. ङ. येनाजिन। ४. ङ. रक्षणावतारो।

विभज्य राशेर्भागराशिना लब्धं फलं भवति । **लब्धं मूर्ध्नि प्रविष्टम् ।** तदेव लब्धमधिकमासपिण्डं मूर्ध्नि मासपिण्डराशौ प्रविष्टं भवति नरपते मासपिण्डं विशुद्धं वर्त्तमानमासे त्रिंशत्तिथिगणितार्थमिति ।

इदानीं मासध्रुवकमुच्यते—

मासास्त्रिस्थानभूता(:) करशिखिगुणिता मध्यराशौ स्थिता ये
मूले षड्भागलब्धं भवति च तदृणं मध्यमे शोधनीयम् ।
ऊर्ध्वोऽधो नेत्रत्रिंशत् प्रकटयति धनं मिश्रितं षष्टिभागै-
र्लब्धं मूर्ध्नि प्रविष्टं भवति मुनिवरैश्छेदितः शेषवारः ॥२८॥

मासास्त्रिस्थानभूताः करशिखिगुणिता मध्यराशौ स्थिता य इति । अत्र शुद्धमासास्त्रिस्थाने कृत्वा मध्यराशौ ये मासाः स्थिताः ते प्रतिमासवारघटिकार्थं करशिखिगुणिता द्वात्रिंशद्गुणिता भवन्ति । **मूले षड्भागलब्धमिति ।** मूलराशौ षड्भागेन लब्धं मध्यमे राशौ ऋणं भवति मध्यरा[52a]शौ, अतः शोधनीयम्, ऋणत्वात् । **ऊर्ध्वोऽधो[1] नेत्रत्रिंशत् प्रकटयति धनं मिश्रितम् ।** इदं ध्रुवकं मङ्गलादिकम् अस्तमनकरणमागतम्, अत आदित्याद्युदयकरणार्थं मूर्ध्नि राशौ वारद्वयं धनं भवति; अधो राशौ त्रिंशत्घटिका धनं भवति । अतो मिश्रमूर्द्धाधो यथासंख्यं नेत्रञ्च त्रिंशच्च **नेत्रत्रिंशदिति, षष्टिभागैर्लब्धम्,** मूलघटिकाराशौ षष्टिभागेन लब्धं वारपिण्डं भवति । अवशेषं घटिकापिण्डं वारभोगे[2] भवति, **मूर्ध्नि प्रविष्टम् ।** तदेव षष्ट्या भागेन लब्धं वारपिण्डं मूर्ध्नि प्रविष्टं वारराशौ भवति । **मुनिवरैः** सप्तभिः **छेदितो** विभक्तः सन्, **शेषो वार** एव स इति मासध्रुवके वारो मूर्ध्नि स्थातव्यः, वाराधो घटिकापिण्डमिति ।

द्विस्थानेऽर्केन्दुमिश्रं हृतमृतुरविणा भूतमिश्रं समस्तं
देयं तन्मूर्ध्नि राशौ प्रथमकरहते पिण्डमष्टद्विभक्तम् ।
त्रिस्थामध्ये हृतेशास्त्वधरनवगुणैर्भागलब्धं द्विमिश्रम्
ऊनं मध्ये घटीभिर्हृतमपि तु धनं मूर्ध्नि राशौ द्विहत्वा ॥२९॥

इदानीं वारपदान्युच्यन्ते—

द्विस्थानेऽर्केन्दुमिश्रमिति । तदेव मासपिण्डमर्केन्दुमिश्रं द्वादशोत्तरशतमिश्रम् । अर्केन्दुरिति करणापेक्षा(क्षया) न सिद्धान्तापेक्षयेति द्विस्थाने भवति । **हृतमृतुरविणा ।** अधोमासपिण्डं हृतं षड्विंशत्यधिकशतेन लब्धं **मूर्ध्नि राशौ** धनं भवति । प्रतिमासं पिण्डद्वयार्थं मूर्ध्नि राशौ **देयं** भवति । **प्रथमकरहते** पश्चाद् देयं भवति । **भूतमिश्रं समस्तमिति ।** करणापेक्षा(क्षया) ऋतुरविणा भागलब्धं(ो) सिद्धान्तम्(:) । यतः षड्विंशत्यधिकमासशतेन एकपिण्डं पिण्डस्थानेऽधिकं भवति, चन्द्रचरणवशादिति । **पिण्डमष्टद्विभ-**

---

१. भो. sTen Hog (ऊर्ध्वोऽधो); क. ऊर्ध्वोरधो । २. ङ. वारभागे ।

क्तमिति। अष्टविंशतिभिर्भक्तं पिण्डं भवति; सप्तवारपदत्वादष्टविंशतिभिर्भागः स्या-[52b]त्, तेन भागेन लब्धं प्रतिमासं वारपदं भवति। वारघटिकाधः ऋतुरविणा भाग-लब्धावशेषं(:) पिण्डावयवं(:) भवति, पिण्डाधः स्थापनीयमि (इ)ति।

इदानीं सूर्यनक्षत्रध्रुवकमुच्यते—

त्रिस्थामध्ये हतेशा इति। ते शुद्धमासा(:) त्रिस्था(-ने) मूर्ध्नि-मध्ये अधसि (अधो[1]) भवन्ति। मध्ये ये मासास्ते ईशैर्हता एकादशहता इति करणापेक्षा(क्षया) न सिद्धान्तापेक्षे(क्षये)ति। **अधरनवगुणैर्भागलब्धं द्विमिश्रमिति**। अधो राशौ नवगुणै[2]रेको-नचत्वारिंशद्भिर्भागलब्धं द्विमिश्रमिति करणापेक्षया क्षेपकः। **ऊनं मध्ये** मध्यराशौ हीनं ऋणमित्यर्थः। **घटीभिर्हृतमपि तु धनमिति**। मध्यराशेर्घटीभिः षष्टिभिर्हृतं लब्धं नक्षत्रपिण्डं **मूर्ध्नि राशौ** धनं भवति। षष्टिभागावशेषा नक्षत्रघटिका भवन्ति। तदेव धनं **मूर्ध्नि राशि(शौ) द्विहत्वा,**

युक्तं चर्क्षं प्रभक्तो भवति नृप रवेः शेष ऋक्षादिभोगः
वारे वारं प्रदेयं द्विगुणनृपघटी पिण्डके द्वे त्वधश्च।
द्वे चर्क्षे रुद्रनाड्यः प्रकटयति धनं सूर्यभोगे प्रदेयम्
एतन्मासं ध्रुवं स्यात् कथितमपि पुनर्मासि मासि प्रदेयम् ॥३०॥

युक्तं चर्क्षं प्रभक्तं सप्ता(प्त)विंशतिभिः **प्रभक्तो भवति**। **नृपा**मन्त्रणम्। **रवेः शेष ऋक्षादिभोगः**। अत्र मूर्ध्नि नक्षत्रपिण्डमधो नक्षत्रघटिकापिण्डमिति। पुनश्शुद्धादप्य-शुद्धमासध्रुवकं बालानां प्रतिबोधनार्थं रचितम्। **वारे वारं प्रदेयम्**, वारस्थाने वारमेकं देयम्। **द्विगुणनृपघटी**। **नृप** इति षोडश; द्विगुणनृपघटी द्वात्रिंशद् घटी घटिकास्थाने देहा(या); **पिण्डके द्वे त्वधश्चेति** घटिकाधः पिण्डस्थाने द्वे देये भवतः। **द्वे चर्क्षे** नक्षत्र-स्थाने। **रुद्रनाड्यो** नक्षत्रघटिकास्थाने। **रुद्र** इति एकादश नाड्यः देया इति। **धनं प्रकटयति सूर्यभोगे प्रदेयं** नक्षत्रादिकम्। तस्मात् **मासध्रुवकं स्यात्**; **कथितमपि पुनर्मासि मासि प्रदेयम्**। प्रत्येकमासि प्रदेयमिति मासध्रुवकं क[53a]रणापेक्षावशेन भगवता अनागतमेव व्याकृतमिति।

इदानीं मासध्रुव[3]तिथ्यादिगणितमुच्यते—

देया हेयाश्च देयाः पुनरपि तिथयो वारनाडीपदेषु
पिण्डे भागेऽब्धिचन्द्रैः समविषमगते देयहेयौ पदार्थौ।
शून्ये शून्यं विशुद्धं त्रिदशशशिपदे पञ्च नेत्रार्कयोर्दिक्
तिथ्याख्यैकादशेऽग्नौ दशजलधिपदे विंशतिश्चैकहीना ॥ ३१ ॥

देया हेयाश्च देयाः पुनरपि तिथयो वारनाडीपदेष्विति। इह प्रतिमासध्रुवके शुक्लप्रतिपदाद्येकतिथिमारभ्य यावत् त्रिंशत्तमामावासी तावत् तिथयो देया हेयाः

१. ङ. अधो। २. ख. नवगुणैनवगुणै। ३. ङ. ०ध्रुवात्।

पुनर्देया इति वारस्थाने देयाः प्रतिदिनवारार्थम्; घटिकास्थाने हेयाश्चन्द्रकलाया एकघटीहानितः, पुनर्देयाः पिण्डस्थाने चन्द्रपदानां धनऋणभोगपरिशुद्धित इति। **पिण्डे भागेऽब्धिचन्द्रैः समविषमगते देयहेयौ पदार्थाविति**। पिण्डस्थाने पिण्डादब्धिचन्द्रेण[1] चतुर्दशभागेन समगतेन पदार्थो धनं भवति; विषमगतेन ऋणं पदार्थो भवति। अत्र समभागे द्वाभ्यां गतश्चतुर्भिर्वागत इति न गतोऽपि सम इति। विषमभागे एकेन गतः त्रिभिर्वागत इति। तदुपरि नास्ति भागः। सप्तपञ्चाशदूर्ध्वं त्रिंशत्तिथिसहिताः सप्ता(प्त)विंशतिपिण्डका न भवन्ति। अतश्चतुर्दशभागैश्चत्वारो विभक्ता भवन्तीति तेन समविषमभागेन पदार्था देया हेया वा वेदितव्याः। पदार्थो नाम चन्द्रचा(वा)रपदानि चतुर्दशस्थानेऽध ऊर्ध्वं सप्तसप्तपदव्यावृत्त्या अनुलोमविलोमाभ्यां[2] पृथिव्यादिगुणभेदभिन्नानि। ते च पदार्था देया हेया भवन्ति।

शून्ये शून्यं विशुद्धमिति। चतुर्दशभागावशेषं यदि शून्यं तदा पदार्थोऽपि शून्यः, न देयो न हेय इति न्यायः करणा(णे)। **त्रिदशशशिपदे पञ्चेति**। त्रयोदशमे(शे) पदे अवशेषे दृष्टे एकपदे वा पञ्चघटिका धनं वा ऋणं वा भवति। एवं **नेत्रार्कयोर्दि**(53b)गिति द्विपदे अधिकेऽवशेषे द्वादशे वा दशघटिका देया भवन्ति, चन्द्रकलावृद्धिहानिवशादिति। **तिथ्याख्य** इति पञ्चदश; **एकादशे अग्नाविति** तृतीये भवन्ति। **दशपदजलधीति** चतुर्थे पदे भागावशेषे दृष्टे **विंशतिश्चैकहीना** भवन्ति।

> द्वाविंशत्(ति)पञ्चरन्ध्रे ऋतुवसुनि जिनाः सप्तमे पञ्चविंशत् (तिः)
> तस्मिन्नर्कप्रभेदैः प्रकटितरविका देयहेया भवन्ति।
> भूताभूतेषु वेदाः शिखिकरशशिनः पूर्वभागेऽपरे च
> पिण्डे भागेऽब्धिचन्द्रैः समविषमगते देयहेयाश्च वाराः ॥३२॥

द्वाविंशत्(ति)पञ्चमे रन्ध्र इति नवमे भवन्ति। **ऋतुरि**ति षट्(ड्)**वसुनी**त्यष्टमे पदे **जिना**श्चतुर्विंशतिर्भवन्ति। **सप्तमे** पदे भागावशेषे दृष्टे **पञ्चविंशत्** घटिका समे देया विषमे हेया भवन्ति। **तस्मिन्नर्कप्रभेदैः पकटितरविका देयहेया भवन्ति**। तस्मिन् तिथिभोगेऽर्कप्रभेदेन सूर्यपदानि भवन्ति; सूर्यस्य ऋणं तस्मिन् ऋणम्, सूर्यस्य धनं तस्मिन्नेव धनमिति सूर्यप्रभेदः। T 273

अत्र चन्द्रपदानि **भूताभूतेषु वेदाः शिखिकरशशिनः पूर्वभागेऽपरे चे**ति। भूता इति पञ्च, पुनर्भूतेति ततः अधः पञ्च, इषुरिति ततोऽधः पञ्च, वेदा इति ततोऽधश्चत्वारि, शिखीति ततोऽधः त्रयः; कर इति ततोऽधो द्वे, शशिन इति ततोऽध एकपदम्। एवं सप्तस्थानेषु पदानि। ततोऽपरसप्तस्थानेषु विलोमेन एकादिना[3] चतुर्दशस्थाने पञ्च पदानि यावत्। एवं चन्द्रपदानां न्यासो भवति चतुर्दशस्थानेष्विति।

१, ङ. पिण्डादर्धवक्त्रेन्द्रेण। २. ङ. पुस्तके नास्ति। ३. भो. Cig La Sogs Pa (एकादिना); क. एकोदिना; ङ. एकदिनात्।

पिण्डे भागेऽब्धिचन्द्रैः समविषमगते देयहेयाश्च वारा इति। अत्रापि चतुर्दश-भागावशेषे दृष्टे समगते वाराः पञ्चादयो देयाः, विषमगते हेया [54a] इति। चतुर्दश-भागावशेषे एके दृष्टे पञ्च घटिका ग्राह्या; द्वितीये द्वितीयस्थानस्थैः सह दश; तृतीये तृतीयस्थानस्थैः सह पञ्चा(च) दश; चतुर्थे चतुर्थस्थानस्थैश्चतुर्भिः सह एकोऽनविंशतिः; पञ्चमे पञ्चमस्थानस्थैस्त्रिभिः सह द्वाविंशत्; षष्ठे षष्ठस्थानस्थाभ्यां द्वाभ्यां सह चतुर्विंशतिः; सप्तमे सप्तमस्थानस्थेनैकेन सह पञ्चविंशतिः। ततश्चन्द्रचरणवृद्धिर्निवर्त्तते। अष्टमे दृष्टे सति अष्टपदानि पूर्वसप्तपदैः सहितानि। त्यक्त्वा पराणि षट्पदान्यभुक्तान्येक-पिण्डं कृत्वा चतुर्विंशतिघटिका देया हेया वा भवन्ति। नवमे पञ्चपदानां द्वाविंशद् घटिका; दशमे चतुष्पदानामेकोनविंशतिः; एकादशे त्रिपदानां पञ्च[1]; द्वादशे द्विपदानां दश; त्रयोदशे एकपदस्य पञ्च; चतुर्दशमे (शे) शून्यमिति सिद्धान्तनिश्चयः।

सञ्चारेणावशेषं हतमृतुरविणा भागलब्धं च तद्वत्
तत्रैवार्कप्रभेदे रविपदघटिका देयहेया भवन्ति।
वेदैस्तिथ्याहतं यत् स्फुटमपि तु धनं तत् त्रिभागेन मिश्रम्
ऋत्वृक्षं सत्रिपादं त्वृणमपि तु रवेः शोधयेद् भुक्तिमध्ये ॥३३॥

सञ्चारेणावशेषं हतमृतुरविणा भागलब्धं च तद्वदिति। अत्र सञ्चार इति पिण्डाध(:)स्थितानां पिण्डावयवानाम्, ऋतुरविणा भागलब्धावशेषाणामिति। सञ्चार-पिण्डे चतु[2]र्भागावशेषं चारपदं यत् तदुपरि सञ्चारपदं पिण्डावयवानां शतपदं भवति। तत्र ग्रहः[3] प्रविष्टः। तस्मात् तद् ग्राह्यं देयहेयार्थम्। तेन पदेनावशेषं(ो) पिण्डावयवं(ो) हतं(ो), ततः षड्विंशत्यधिकशतेन भागलब्धं च तद्वद् देयम्। सर्वं यथा पूर्वचरण-घटिकापिण्डं तद्वदिति। **तत्रैव चार्कप्रभेदैः पूर्ववद् रविका देया हेया** वा **भवन्तीति** सिद्धान्तः।

इदानीं प्रतिदिनसूर्यभोग उच्यते—

वेदैस्तिथ्याहतं यत् स्फुटमपि तु धनं तत् त्रि[54b] **भागेन मिश्रमिति**। वेदैश्चतुर्भिस्तिथि(भि)श्चाहतं गुणितं वेदैस्थ्याहतं स्फुटं धनं भवति। सूर्यस्य घटिकास्थाने तस्या गुणितं तिथ्यास्त्रिभागेन मिश्रं धनं घटिकास्थाने देयमिति। **ऋत्वृक्षं सत्रिपादं त्वृणमपि तु रवेः शोधयेद् भुक्तिमध्ये** इति। इह रविकापदविशुद्ध्यर्थं सूर्यस्य जन्मराशिः शोधनीयः, येन सूर्यस्य प्रत्यहं वारघटीपाणी(णि)पलादिभोगो ज्ञायते, अन्यथा करणे शुद्धिर्नास्ति प्रत्यहं सूर्यस्येति। अतोऽश्विन्यादिनक्षत्रभोगात् षट्नक्षत्रं सत्रिपादमिति पञ्चचत्वारिंशद् घटिका इति मेषादिराशित्रयं शोधितं भवति। कर्कटे जन्मराशिर्भवति, सूर्यस्य चरणशुद्धित इति। अत ऋत्वृक्षं सत्रिपादं त्वृणमपि तु रवेः शोधयेद्

---

१. ख. पञ्चदश। २. क. चतुर्दश; भो. Cha Sas Si (चतुर्भाग)।
३. ङ. गुरुः।

भुक्तिमध्ये। भुक्तिर्नक्षत्रादिभोगः, तस्मिन् भुक्तिमध्ये नक्षत्रस्थाने नक्षत्रं शोधयेद्, घटिकास्थाने घटिकां शोधयेदिति।

शिष्टं कार्यं यथारे रसयुगशशिनो मन्दकार्ये पदानि
हत्वा भोगेन नाडीः शरगुणशशिभिर्भागलब्धं सभोगम्।
देयं हेयं च सूर्ये त्वयनगतिवशान्नान्यथा शुद्धिरस्ति
सूर्ये कालो रसोऽहिश्च दश हरहरा रुद्रदिग्नागषट् च ॥३४॥

सूर्यभोगं पृथक्कृत्वा **शिष्टं कार्यं**[1] **यथारे**[2] इति। अत्र परिशेषं कार्यं यथा मङ्गलस्य तथा सूर्यस्यापि ज्ञातव्यम्, किन्तु मङ्गलस्य चारपदानि भिन्नानि। सूर्यस्य **रसयुगशशिनो मन्दकार्ये पदानि**। रस इति षट्, युग इति चत्वारि, ततोऽधः शशिन इति, ततोऽध एक इति। राशित्रये पूर्वार्द्धे अपरार्द्धे विलोमेन चतुर्थराशावेकः, पञ्चमराशौ चत्वारि, षष्ठराशौ षडेतद् राशिकर्म **मन्दकार्यमिति**। अस्मिन् मन्दकार्ये एतानि षट्पदानि षट्सु कर्कटादिषु राशिषु भवन्ति।

अपरं मङ्गलं[3] [55a] वक्तव्यमिति। **हत्वा भोगेन नाडीः शरगुणशशिभिर्भागलब्धं सभोगम्, देयं हेयं च सूर्ये त्वयनगतिवशात् नान्यथा शुद्धिरस्तीति** इदं वचनं नियमार्थम्, यथा मङ्गले चारभोगेन हत्वा नाडीस्ततः शरगुणशशिभिरिति एकराशिघटिकापिण्डं पञ्चत्रिंशदधिकशतं तेन भागेन[4] लब्धम्; घटिकापिण्डं घटिकास्थाने धनं भवति, अयनगतिवशाद् ऋणं च भवति। मकरादौ धनं कर्कटादौ ऋणं भवतीति अयनगतिवशात् प्रत्यहं शुद्धिर्नान्यथा करणोक्तविधिनेति।

अत्र करणोक्तविधिरुच्यते—

सूर्ये कालो रस इति कर्कटे ऋणं प्रथमपक्षे काल इति तिस्रो घटिकाः। रस इति षट् द्वितीये कर्कटपक्षे। एवं सिंहे **अहिश्चेत्यष्ट दश (च)** इति। तथा कन्यायां **हर** एकादश, पुनर्**हर** एकादश, ततस्तुलायां **रुद्र** एकादश, **दिगिति** दश, इत्येवं वृश्चिके **नाग इत्यष्ट षट् च**[5] ॥३४॥

वह्निः खञ्चायनान्ते भवति धननृणां(मृणं)[6] चोत्तरे दक्षिणे च
षण्मासं[7] पक्षभेदैश्चरति दिनकरो माससंक्रान्तिभेदात्।
दत्वा सूर्ये तिथींश्चाप्यधररसहता वारभोगेन मिश्रा
ऊनीभूताः शशाङ्को भवति नरपते मिश्रसूर्येन्दुयोगः ॥ ३५ ॥

---

१. क. ख. कारां; ङ. कारं। २. ङ. यथा अपरे। ३. मङ्गले।
४. ङ. भोगेन। ५. ङ. वा। ६. मूलस्य भोटपाठानुरोधेन 'धनमृणम्' इत्येव पाठः—Nor Dan Bu Lon। ७. क. षण्मासैः।

ततो धनुषि **वह्निरिति** तिस्रः, **खमिति** शून्य**मयनान्ते**। एवं मकरादौ **धनमिति** करणे, न सिद्धान्ते अभिप्रायः सर्वत्र। एवं **षड्(ण)मासं पक्षभेदैश्चरति दिनकरो मास-संक्रान्तिभेदादिति**।

इदानीं चन्द्रभोग उच्यते—

दत्वा सूर्ये इति सूर्यभागे **तिथीर्दत्वा अधररसहृतास्तिथी**[१]**रधसि**(धः) **षड्भिर्हृताः**। **वारभोगेन मिश्रा** वारभोगघटिकादिभिर्मिश्रा ऊनीभूता; घटिकास्थाने **शशाङ्कभोगो भवति**। **मिश्रसूर्येन्दुयोग** इति सूर्येन्दुभोगो मिश्रो योगो भवति। [55b]

अक्षणा तिथ्या हृतं यद् गतशशिकरणं सप्तभागावशेषं
शुद्धाब्दा नागमिश्राः खखजलधिहृताः शोधिता नागमिश्रैः।
शैलेन्द्वग्निप्रभक्ता गगनरसहृता नाडिकादचादिभक्ता
द्वित्रिंशद् वारनाड्यो ध्रुवकमिह युतं चाब्दसंक्रान्तिमासे ।। ३६ ।।

अक्षणा तिथ्या हृतं यद् गतशशिकरणमिति। अक्षणा द्वाभ्यां तिथिषु हृतमेक-रहितं सप्तभागावशेषं करणं भवति; वारभोगेन भोगो भवति। अत्र पञ्चाङ्गानि—वारः,
T 274 तिथिः*, नक्षत्रम्, योगः, करणमिति। अत्र वाराः—आदित्य-सोम-मङ्गल-बुध-बृहस्पति-शुक्र-शनयः[२] सप्त; तिथयः—प्रतिपताद्याः पञ्चदश इति; नक्षत्राणि—अश्विनी भरणी कृत्तिका रोहिणी मृगशिरा आर्द्रा पुनर्वसु पुष्य अश्लेषा मघा पूर्वफाल्गुनी उत्तरफाल्गुनी हस्ता चित्रा स्वाति(ती) विशाखा अनुराधा ज्येष्ठा मूला(लं) पूर्वाषाढा उत्तराषाढा श्रवणा(ण)[३] धनिष्ठा शतभूषा(भिषा[४])पूर्वभाद्रपदा[५] उत्तरभाद्रपदा[६] रेवतीति सप्तविंशतिः[७]।

तथा योगः—विष्कम्भः प्रीतिः आयुष्मान् सौभाग्यः शोभनः अतिगण्डः सुकर्मा धृतिः शूलः गण्डः वृद्धिः ध्रुवः शङ्कुः[८] व्याघातः हर्षणः वज्रः सिद्धिः व्यतिपातः वरीयान् परिघः शिवः साध्यः शुभः शुक्लः ब्रह्मा ऐन्द्रः वैधृतिरिति सप्तविंशति योगा इति।

शुक्लप्रतिपदपरार्द्धे करणं प्रथमं ववम्[९], द्वितीयायां पूर्वापरार्द्धे वालवं कौलवम्, तृतीयायां पूर्वापरार्द्धे तैतिलं गरजम्, चतुर्थ्यां पूर्वापरार्द्धे वणिजं[१०] वृष्टिरिति। एवं पञ्चम्यां ववं वालवम्, षष्ठ्यां कौलवं[११] तैतिलम्[१२], सप्तम्यां गरजं[१३] वणिजम्[१४], अष्टम्यां पूर्वार्द्धे विष्टिरिति। अष्टम्यामपरार्द्धे ववम्, नवम्यां पूर्वापरार्द्धे वालवं कौलवम्, दशम्यां पूर्वापरार्द्धे[१५] तैतिल[१६] गरजम्[१७], एकादश्यां पूर्वापरार्द्धे[१८] वणिजं विष्टिरिति। पुन-

---

१. ख. ०हृतास्तास्तिथी। २. ख. शनिनः; ग. घ. शनिश्चर। ३. ख. श्रवणाम्। ४. ग. शतवृषा। ५. ग. ०भद्र०। ६. ग. ०भद्र०। ७. घ. पुस्तके नक्षत्रेषु समासान्तप्रयोगः कृतः। ८. ग. घ. पुस्तकयोः नास्ति। ९. घ. पुस्तके 'वव करणं' इति क्रमः। १०. ग. वणिकं। ११-१२. ग. पुस्तके 'तैतिल-कौलवम्' इति क्रमः। १३-१४. ग. गरवणिक्। १५. ग. घ. पुस्तकयोः नास्ति। १६-१७. ग. कौलवगरं। १८. ग. घ. पुस्तकयोः नास्ति।

* अतः परं ङ. पुस्तकं न लब्धम्।

द्वादश्यां पूर्वापरार्द्धे ववं वालवम्, त्रयोदश्यां कौलवं[१] तैतिलम्[२], चतुर्दश्यां गरजं[३] वणिजम्[४], पौर्णमास्यां पूर्वार्द्धे विष्टिरिति अपरार्द्धे ववम्। कृष्णप्र[56a]तिपदि पूर्वापरार्द्धे[५] वालवं कौलवम्[६], द्वितीयायां पूर्वापरार्द्धे तैलिजं(तिलं) गरजम्[७], तृतीयायां पूर्वापरार्द्धे[८] वणिजं वृष्टिरिति। एवं चतुर्थ्यां(पूर्वापरार्द्धे[९]) ववं वालवम्, पञ्चम्यां(पूर्वापरार्द्धे)[९] कौलवं तैतिलम्, षष्ठ्यां गरजं वणिजम्, सप्तम्यां पूर्वार्द्धे विष्टिरिति अपरार्द्धे ववम्, अष्टम्यां (पूर्वापरार्द्धे[१०]) वालवं कौलवम्, नवम्यां तैतिलं गरजम्, दशम्यां पूर्वापरार्द्धे[११] वणिजं विष्टिरिति[१२]। एवम् एकादश्यां (पूर्वापरार्द्धे[१३]) ववं वालवम्, द्वादश्यां कौलवं तैतिलम्, त्रयोदश्यां गरजं* वणिजम्**, चतुर्दश्यां पूर्वार्द्धे विष्टिरिति।

सप्त करणपरिभोगः(गाः)। ततः कृष्णचतुर्दश्यां परार्द्धे शकुनिः; अमावस्यायां पूर्वार्द्धे चतुष्पदम्, अपरार्द्धे नागम्। शुक्लप्रतिपदि पूर्वार्द्धे किन्तु(किंस्तु)घ्नम्, अपरार्द्धे पुनर्ववमिति।

एवमेकादश करणानीति पञ्चाङ्गक्रमः† ।

अश्विनी भरणी कृत्तिकापादं[१२] मेषः[१३]। एवं नवनवपादैः द्वादश मेषादयो राशयो वेदितव्याः। अङ्गारक-शुक्र-बुध-शशि-रवि-बुध-शुक्र-भौम-गुरु-शनि-सौरि-सुरगुरव[१४] एते यथासंख्यं मेषादिषु क्षेत्रिण इति।

इदानीं तीर्थिकानां राशिग्रहणार्थं नामाक्षरकल्पनोच्यते—

इह जातकस्य मण्डलस्वरव्यञ्जनापरिज्ञानाद् ऋषिभिर्नामाक्षरकल्पना रचिता[१५]; तद्यथा—अ इ उ ए कृत्तिका, ओ वा वि (वी) वु (वू) रोहिणी, वे वो का की मृगशिरा, कु (कू) घ ङ छ आर्द्रा, के को हा ही पुनर्वसु, हु (हू) हे हो डा पुष्य, डि (डी) डु (डू) डे डो अश्लेषा, म(ा) मि (मी) मु (मू) मे मघा, मो टा टि (टी) टु (टू) पूर्वफाल्गुनी; टे टो पा पि (पी) उत्तरफाल्गुनी, पु (पू) ष ण ठ हस्ता (हस्त), पे पो र(ा) रि (री) चित्रा, रू रे रो त(ा) स्वाति(ती), ति (ती) तु (तू) ते तो विशाखा, ना नि (नी) नु (नू) ने अनुराधा, नो या यि (यी) यु (यू) ज्येष्ठा, ये यो भा भि (भी) मूला (ल), भू ध फ (फा)

१-२. घ. पुस्तके 'तैतिलकौलवम्' इति क्रमः। ३-४. घ. गरवनिजं। ५-६. घ. पूर्वार्धे वालवं अपरार्धे तैतिलं कौलवं। ७. क. पुस्तके अत्र 'गरजम्, तृतीयायां पूर्वापरार्द्धे तैतिलं गरजम्' इति अंशोऽधिकः। ८. घ. पूर्वार्धे; ग. पुस्तके 'पूर्वापरार्द्धे' इति नास्ति। ९. ग. पुस्तके अत्र 'पूर्वापरार्द्धे' इति योजितः। १०. ग. पुस्तके अत्र 'पूर्वापरार्द्धे' इति योजितः। ११-१२. ग. घ. पूर्वार्धे वणिजम् अपरार्धे विष्टिरिति। ११. ग. पुस्तके अत्र 'पूर्वापरार्द्धे' इति योजितः। १२-१३. घ. अश्विन्यं च भरिण्यं च कृत्तिकापादमेव च मेषराषिः; भोटे तु rKaṅ Pa gCig (पादमेकम्)।
१४. घ. ०गुरुशनिश्चरशनिश्चरेवजीव०। १५. घ. सतपदचक्रं।
*—** घ. पुस्तके बहुशः 'गरजं वणिजं' इति स्थाने 'गरं वनिकं' इति।
† घ. तिथिपञ्चाङ्गक्रमः।

ढ पूर्वाषाढा, भे भो जा जि (जी) उत्तराषाढा, जु[1] जे जो खा श्रवणा, खि खु खे खो अभिजित्[2]*, ग (गा) गि (गी) गु (गू) गे धनिष्ठा, गो सा सि (सी) सु (सू) शतभृ(भि)षा, से सो दा दी पूर्वभाद्रपदा[3], दु (दू) थ[4] झ ञ उत्तरभाद्रपदा[5], दे दो चा ची रेवती, चु (चू) चे चो ला अश्विनी, लि (ली) लू ले लो भरणी इति द्वादश राशिनामभेदाक्षराणि। एभिरक्षरैः सत्त्वानां राशिर्ज्ञातव्या, तेन शुभाशुभफलं ज्ञातव्यमिति तीर्थिकानामभिप्रायो युक्तिशून्य इति। परमार्थतः शु[56b]भाशुभं स्वकर्मवशाद् भवति; तथा चाह—

"वारस्तिथिश्च[6] नक्षत्रं योगः करणमेव च।
लग्नं क्रूरग्रहैश्चैतत् कल्याणं पुण्यकारिणाम्॥

एकक्षणप्रसूतानां जातकानां पृथक् पृथक्।
फलं नैकफलं तेषां स्वस्वकर्मोपभोगतः॥

संग्रामे वनदाहे च कैवर्त्ताज्जालबन्धने।
मरणं यौगपद्येन बहवो यान्ति देहिनः॥

पुण्येनायुर्बलं वीर्यं ऋद्धि(:) सौभाग्यरूपता।
पापेनायुःक्षयो वीर्य-ऋद्धिहानिश्च देहिनाम्॥"

इति पञ्चाङ्गकरणोद्देशः।

इदानीं करणे वर्षसंक्रान्तिध्रुवकमुच्यते—

शुद्धाब्दा नागमिश्रा इति। शुद्धाब्दाः करणवर्षाः; नागमिश्रा अष्टभिर्मिश्राः। **खखजलधिहता** इति चतुर्भिः शतैर्गुणिता भवन्ति[7]। **शोधिता नागमिश्रैरिति** अष्टमिश्रितैः करणवर्षैः शोधिता ऊनीकृताः। **शैलेन्द्वग्निप्रभक्ता** इति सप्तदशाधिकशतत्रयेण भक्ता वारा भवन्ति। **गगनरसहता** इति पुनर्भागावशिष्टा घटिकार्थं षष्ट्या हता (नाडिका) अद्र्यादिना[8] भक्ता[9] भवन्ति। **द्वित्रिंशद् वारनाड्यो ध्रुवकमिह युतम्**। इदं मङ्गलादिध्रुवकमाद्रित्यादिकरणार्थं[10] वारस्थाने द्वौ देयौ घटिकास्थाने त्रिंशदिति, षष्ठिभागेन लब्धो वारो भवति; अवशेषा वारघटिका; सप्तभागोऽवशेषो वारस्थाने **वारोऽब्दस्य संक्रान्ति(:) मासे भवतीति** न्यायः[11]।

१-२. साम्प्रतिकप्रचलितज्योतिषानुसारं 'जू जे जो खा अभिजित्, खी खू खे खो श्रवण' इति। अत्र अभिजित्-सम्बन्धे विचारः—उत्तरषाढानक्षत्रस्य अन्तिमाः पञ्चदश घटिकाः तथा श्रवणनक्षत्रस्य प्रारम्भिकचतुर्घटिकाः, एवं एकोनविंशतिर्घटिका अभिजित्-नक्षत्रप्रमाणमिति। अस्य अभिजित्-नक्षत्रस्य नकुलयोनिः, मनुष्यगणः, अन्त्ययुञ्जा, अन्त्यनाडी इति। इदं तु धन-मकर-राश्योरन्तर्गतमिति। ३. घ. ०भद्रपदा। ४. घ. स। ५. घ. पुस्तके बहुशः 'भाद्रपदा' स्थाने भद्रमात्रम्। ६. घ. वारतिथिश्च। ७. अत्रतः घ. पुस्तकं खण्डितम्। ८. क. ख. अद्ध्यादिना। ९ ग. भागाः। भोटानुसारं 'भक्ता घटिका' इति पाठः समीचीनः; अत्र कोष्ठाङ्कितं नाडिकापदं घटिका इत्येव सुवचम्। १०. ग. मङ्गलादिध्रुवकादि०। ११. ग. पुस्तके नास्ति। *. ग. घ. अभिचि।

इदानीं मेषादिसंक्रान्तौ क्षेपणे क्षेपका(द्) द्वादशवर्षध्रुवक[1] उच्यते—

मेषादौ वारनाड्यां क्रमपरिरचिताः क्षेपणे द्वादशैते
चन्द्राद्रीभूतवेदौ गुणशरशशिनः शैलचन्द्रं तृतीये ।
वेदाग्नीभूतचन्द्रौ नयनकरयुगे वेदनेत्राणि षष्ठे
षड्वारे चन्द्रबाणे गिरियुगशिखि षट् चन्द्रवेदाद्रिलोकाः ।। ३७ ।।

मेषादौ वारनाड्यामिति । वारस्थाने घटिकास्थाने[2] वारनाड्याम् । **क्रमपरिरचिताः क्षेपणे द्वादशैते चन्द्राद्रीभू**त इति । चन्द्र इति वारस्थाने एकः. अद्रि(द्री)भूत इति सप्तपञ्चाशत् घटिकास्थाने । अत्र वारस्थाने वर्षध्रुवकेण सार्धं यो वारो भवति, तेन वारेण मेष[3]संक्रान्तिर्भवति; घटिकास्थाने या घटिकास्ताभिर्घटिकाभिरिति करणन्यायः । **वेदा**विति द्विवचनं छा(छ)न्दोवशादिति । वेदं(दाः) चत्वारि । वारस्थाने **गुणशर** इति त्रिपञ्चाशद् घटिकास्थाने वृषसंक्रान्तौ **शशिन** इति वारस्थाने एकः । **शैलश्च(च)न्द्रमिति** सप्तदशघटिकास्थाने । **तृतीय** इति मिथुनसंक्रान्तौ; **वेद** इति वारस्थाने चत्वारः । **अग्निभूत** इति त्रिपञ्चाशद् घटिकास्थाने कर्कटसंक्रान्तौ । **चन्द्र** इति वारे एकः । **नयनकर** इति द्वाविंशद्[4] घटिकास्थाने सिंहे[5] (सिंहसंक्रान्तौ) । **युग** इति वारस्थाने चत्वारि । **वेदनेत्राणीति** चतुर्विंशतिः घटिकास्थाने । **षष्ठे** इति कन्यासंक्रान्तौ । **षड्वारे**[6] **चन्द्रबाण** इति एकपञ्चाशद् घटिकास्थाने तुलासंक्रान्तौ । **चन्द्र** इति वार एकः । T 275
गिरियुग इति सप्तचत्वारिंशद् घटिकास्थाने वृश्चिकसंक्रान्तौ । **शिखीति** वारस्थाने त्रयः । **षट् चन्द्र** इति षोडश[7] घटिकास्थाने[8] धनुःसंक्रान्तौ । **वेद** इति वारस्थाने चत्वारः । **अद्रिलोका** इति सप्तत्रिंशत् घटिकास्थाने मकरसंक्रान्तौ ।

षड् वेदौ शून्यशून्यं नयनशरपदं मीनराशौ रवेश्च
षण्मासं हानिवृद्धिर्भवति दिननिशायाश्च सूर्यप्रचारैः ।
अब्धिप्राणाग्निलिप्ताः प्रतिदिनसमये वृद्धिनाशोऽप्यनाङ्क्षैः
सव्ये रात्रेश्च वृद्धिर्भवति दिननिशावुत्तरे वासरस्य ।। ३८ ।।

षट् वारस्थाने । **वेदशून्यमि**[9]ति चतस्रो घटिकास्थाने कुम्भसंक्रान्तौ । **शून्यमिति** वारस्थाने न किञ्चिद् देयम् । **नयनशर** इति द्वापञ्चाशत्[10] घटिकास्थाने[11] । **पदं**[12] [57b]* **मीनराशौ रवेश्च** देयं भवतीति संक्रान्तिभोगः करणे ज्ञातव्यः । सिद्धान्तेऽसौ संक्रान्तिभोगो[13] न भवति;

'वेदैस्तिथ्याहतं यत् स्फुटमपि तु धनं तत् त्रिभागेन मिश्रम्' (का० त० १.३३) इत्यनेन मासमध्ये घटिकाभावः । प्रपञ्चेनापि 'त्रिस्थामध्ये हृतेशा' (का० त० १.२९)

१. ख. ध्रुवके । २. ग. पुस्तके नास्ति । ३. क. पुस्तके नास्ति । ४. ग. विंशति ।
५. ग. सिंहसंक्रान्तिः । ६. ग. ०वारस्थाने । ७-८. ग. घटिकास्थाने षोडश ।
९. मूले 'वेदौ' इति छन्दोदृष्ट्या । १०-११. ग. घटिकास्थाने द्वापञ्चाशत् ।
१२. ग. पुस्तके नास्ति । १३. ग. ०भोगेन । * [57a] इति रिक्तपत्रम् ।

इति। अनेनापि नष्टोन्नयनेन सूर्यभोगः स्फुटो भवति। प्रत्यहं सूर्यमण्डलदिनभोगेन[1] विना भोगः शुद्धो भवति वर्षमेकं यावत्। पुनरपरवर्षेऽपरसंक्रान्तिध्रुवकं [भवति, तेन प्रतिवर्षमात्रं सूर्यभोगः शुद्धः[2]],[3] चैत्रमासात् पुनश्चैत्रमासं यावत्। ततोऽपरवर्षमपेक्ष्य करणस्य तेन किञ्चिन्मासमेकं ध्रुवकं शुद्धम्[4]। ततोऽशुद्धो दिनभोगः सूर्यस्य, प्रत्यहं त्रिश्वासचतुःपाणी(णि)पलान्तरेण उत्तरायणादुत्तरायणं यावत् पञ्च दिनानि भोगवशादूनी भवन्ति। प्रतिमासे पञ्चविंशति घटिका ऊनी भवन्ति। करणसंक्रान्तिकालात् करणसंक्रान्तिकालं प्रतिमासे पञ्चविंशतिघटिकाधिको वर्षावधेः पञ्चवाराधिक इति।

अत्रोनाधिक (–) कथं ज्ञायते? उत्तरायणमासादौ दशदिवसं यावत् परीक्षा कर्त्तव्या संकुच्छायया। यस्माद् दिनादारभ्य संकुच्छाया निवर्त्तते उत्तरतः, तत् संक्रान्तिदिनं सूर्यस्य तेन वारेण तया तिथ्या तेन योगेन तेन करणेनेति। तस्मिन् दिने सूर्यभोगो नक्षत्रस्थाने विंशतिः, घटिकास्थाने पञ्चदश इति मूलध्रुवकम्। तस्मिन् ध्रुवके प्रत्यहं सूर्यमण्डलदिनैर्लब्धं प्रक्षिप्य ततो रविपदानि शोधयेत् पूर्वोक्तविधिना; यत्रार्कस्य मण्डलदिनानि घटिकापाणीपलानि श्वासराशिचक्रप्रभोगान्ता उक्ता मूलतन्त्रे; तद्यथा—

"खर्वंग्न्याहतमेकाब्दं द्विस्थं द्विगुणितं त्वधः।
पञ्चषष्ट्या हृतं[5] लब्धं मूर्ध्नि राशौ धनं क्षिपेत्॥

शेषं षष्ट्या हृतं भूयो भागलब्धं ततोऽप्यधः।
पुनः षष्ट्या हृतं शेषं भागलब्धं ततोऽप्यधः॥

पुनः षड्भिर्हतं शेषं पञ्चषष्ट्या विभज्जितम्।
लब्धं तस्याप्यधः स्थाप्यं श्वासपिण्डं नराधिप॥

दिनानि घटिका लिप्ताः श्वासान् कृत्वा त्रिधा पुनः।
अधो गिरिख[58a]शैलाप्तं मध्यराशौ धनं क्षिपेत्॥

चतुःषट्या ततो लब्धं मूर्ध्नि राशौ ऋणं हरेत्।
अवशेषदिनान्यत्र घटी पाणी पलानि च॥

श्वासाश्च मण्डलं भानोश्चक्रभोगाद् भवत्यमी।
दिनैकं हतमृक्षैर्यन्नाडीभिः षष्टिभिस्ततः।
सूर्यमण्डलभोगेन पञ्चषष्ट्याधिकशतत्रयेण" ॥ इति।

"सूर्यमण्डलभोगेन[6] लब्धा नाड्यो दिनं प्रति।
भूयः षष्ट्याहता लिप्ताः श्वासः षडभिर्हतो भवेत्॥

भोगोऽयं सूर्यनक्षत्रनाडिकादिषु योजयेत्।
अयनादौ प्रत्यहं देयो यावद् भूयोऽयनं भवेत्॥

---

१. क. ०दिने भोगेन। २. ग. शुद्धं। ३. कोष्ठाङ्कितांशोऽधिकः प्रतिभाति।
४. ग. शुद्धो। ५. क. हृतं। ६. क. ०भागेन।

उक्तकर्मविधानेन शोधनीयं रवेः पदम् ।
अन्यथा करणमार्गेण शुद्धिर्नास्ति सदा रवेः ॥

अशुद्धे सूर्यभोगेऽस्मिन् सो(शो)विता[१] मङ्गलादयः[२] ।
न स्फुटा वै भवन्त्यत्र मूलनष्टा इव द्रुमाः ॥

चन्द्रस्य[३] मण्डलं वक्ष्ये राशिचक्रप्रभोगतः ।
चक्रनाड्यो रवेर्नाडी मासभोगेन मिश्रिताः ॥

त्रिशद्भागेन[४] लब्धाः स्युः चन्द्रभोगो दिनं प्रति ।
नाडिकाचक्रनाड्यन्ता यैर्भुक्तैश्चन्द्रमादिनैः[५] ॥

घटीपाणीपलश्वासैर्मण्डलं तस्य तद् भवेत् ।
दिनैर्नवशतैः षड्भिः सहस्रै राहुमण्डलम् ॥

प्रसिद्धं मङ्गलादीनां मण्डलं स्वस्ववारतः[६] ।
दिनमेकं हतं चक्षै(क्षैं)र्मण्डलेन विभज्जितम् ॥

लब्धं भवति नक्षत्रं शेषं षष्ट्या हतं पुनः ।
नाड्यो मण्डलभागेन लब्धा लिप्तास्तथैव च ॥

श्वासा मण्डलभागेन ग्रहाणां प्रत्यहं नृप ।
तदेव क्षेपकं कृत्वा ग्रहचारैः शोधयेद् ग्रहम् ॥

ग्रहभोगो यदाऽशुद्धस्तदा चन्द्रकलौ(लो)दये ।
ज्ञातव्यश्चन्द्रभोगेनायनरेखास्थितस्य वै ॥

अयनेन शोधयेत् सूर्यं चन्द्रं सूर्येण शोधयेत् ।
स्थितमेककलाभोगे इन्दुना मङ्गलादिकम् ॥

तिथिं[७] राहुप्रवेशेन[८] पर्वच्छेदेऽशितेऽशिते ।
तिथ्योरुभयोर्मध्ये विमर्दनेन्दुसूर्ययोः ॥

एवं सर्वं परिज्ञाय सिद्धान्ते भोगमन्यथा ।
अन्यथा लघुकरणादेरतोऽशुद्धि विवर्जयेत्" ॥ इति ।

एवमुक्तक्रमेण परमादिबुद्धतन्त्रराजोक्तं सिद्धान्तलक्षणं लघुतन्त्रराजे "सिद्धान्तानां विनाश"[९] (का० त० १.२६) इति वचनेन संगृहीतं तन्त्रेण[१०] विस्पष्टं कृतम् । तत्कस्य हेतोः ? इह तीर्थिका लघुतन्त्रराजं दृष्ट्वा सूर्यभो[58b]गं विशुद्धं दृष्ट्वा स्वकीय-

१. ख. साधिता । २. क. मंगलोदयः । ३. ख. चन्द्रश्च । ४. ख. ०भावेन ।
५. क. यैर्भुक्ते चन्द्रमा० । ६. क. ग. ०चारतः । ७-८. ग. तिथिराहुप्रवेशेन ।
९. अत्रतः घ. पुस्तकपाठो लभ्यते । १०. ख. तन्त्रेन ।

करणान्तरे लिखिष्यन्ति ; अस्माकं करणेऽपि सूर्यभोगविशुद्धिरस्तीति, अतो हेतोर्नोक्तानीकृतं टीकापेक्षयेति ।

इदानीं दिननिशाहानिवृद्धिरुच्यते—

षण्मासं हानिवृद्धी द्वे यथासंख्यं हानिर्वृद्धिश्च भवति। **दिननिशायाश्च** दिनस्य च निशायाश्च, **सूर्यप्रचारै**रुत्तरचारैर्दक्षिणचारैः सूर्यस्य सूर्यप्रचारैरिति। **अब्धिप्राणाग्निलिप्ताः प्रतिदिनसमये वृद्धिनाशेऽयनाङ्गै**रिदं मानं कैलाशस्योत्तरभागे हिमवन्तं यावत् प्रत्यहं चत्वारः श्वासास्त्रीणि पाणीपलानि वृद्धिर्नाशश्चायनाङ्गैरयनाङ्गं सार्द्धं द्व्यशीत्यधिकदिनशतं तैर्दिनैरयनाङ्गैः **सव्ये रात्रेर्वृद्धिर्भवति। उत्तरे वासरस्येति**। कैलाश(स)स्य दक्षिणे वक्ष्यमाणे वक्तव्यम्। इह माने दक्षिणायनसंक्रान्तिदिने षट्त्रिंशद्भिर्घटिकाभिर्दिनं भवति, चतुर्विंशतिभी रात्रिर्भवतीति[1]। एवमुत्तरायणे रात्रिदिनमानं विलोमेन ज्ञातव्यमिति।

इदानीं **राहुनक्षत्रभोग** उच्यते—

मासा नेत्रार्कमिश्रा नयनविगुणिताश्चन्द्रपर्वैकमिश्राः
खर्वम्भोधिप्रभक्ता मुनिकरगुणिताः खादिभागेन चर्क्षम्।
शिष्टाः षष्ट्याहता ये पुनरपि घटिकास्तेन लिप्ता हतास्ते
चक्रं लब्धं न वक्त्रं भवति च तमिनः पुच्छऋक्षार्द्धमिश्रम् ॥३९॥

मासा इति। मासाः करणमासा इति। **नेत्रार्कमिश्रा** इति करणापेक्षा न सिद्धान्तापेक्षा। **नेत्रार्क** इति। द्वाविंश यधिकशतमिश्रा इति। **नयनविगुणिताः** पक्षराशिनिमित्तं द्वाभ्यां गुणिता इति। **चन्द्रपर्वैकमिश्राः** पूर्णिमाभोगार्थं पक्षमेकं T 276 मिश्रम्; अमावास्याभोगार्थं पक्षद्वयमिश्रं पक्षराशौ भवति।

खर्वम्भोधिप्रभक्ता इति राहोः पक्षभोगार्थम्। पक्षमण्डलेन षष्ट्युत्तरचतुःपक्षशतेन[2] भागः। तेन खर्वम्भोधिना प्रभक्ता ये अवशेष[59a]पक्षास्ते **मुनिकरगुणिता** भवन्ति। नक्षत्रभोगार्थं **खादिभागेन चर्क्षम्**[3]। खादेति शून्यादिना षष्ट्युत्तरचतुःशतभागेन लब्धमृक्षं भवति। पुनरवशेषा **शिष्टाः षष्ट्याहता ये**, तेनैव भागेन लब्धा **घटिका** भवन्ति। एवं षष्ट्या हतास्तेनैव भागेन **लिप्ता** भवन्ति। षड्भिर्हतास्तेनैव भागेन श्वासा भवन्ति। **चक्रं लब्धो(—)न वक्त्रम्**। अत्र यत् खर्वम्भोधिना भाग-[4]लब्धं नक्षत्रादिकं तच्चक्रे सप्तविंशतिनक्षत्रात्मके ऊनीकृते **चक्रं वक्त्रं** भवति। वक्त्रं नक्षत्रभोगेऽश्विन्यादिना[5] **भवति च तमिनो**, राहोस्तमोऽस्यास्तीति तमी, तस्य तमिनः। **पुच्छऋक्षार्द्धमिश्रमिति**। ऋक्षार्द्धं सार्द्धत्रयोदशनक्षत्राणि तैर्मिश्रं मुखभोगे पुच्छ इति पुच्छभोगो भवतीति।

१. ग. चतुर्विंशतीति रात्रेर्हानिर्भवतीति; घ. चतुर्विंशतिभिः रात्रेर्वृद्धि भवति।
२. ग. शतैः न। ३. क. चर्क्षं। ४. क. घ. पुस्तकयोः 'भाग' इति नास्ति।
५. क. अश्विन्या।

मासास्त्रिंशद्हताश्च प्रतिदिनसहिताः शैलखागैश्च लब्धं
त्रिस्थामध्ये विमिश्रं त्वपि जलधिरसैर्लब्धहीनोऽस्फुटाहः ।
शैलर्त्वर्कैश्च मिश्रः स्फुटदिवसगणः शैलनागर्तुभक्तः
शेषश्चर्क्षा हतं यत् पुनरपि खरसैर्गुण्यशैलादिनाड्यः ॥४०॥

इदानीं मङ्गलादीनां नक्षत्रभोगार्थमहर्गणमुच्यते—

मासा इति करणमासाः । दिनराशिनिमित्तं **त्रिंशद्हताश्च** ते दिनानि भवन्ति । ते दिना[नि] वर्तमानमास**प्रतिदिनेन सहिता**(नि)भवन्ति । **त्रिस्था** अधोराशेः । **शैलखागैश्चेति** सप्तोत्तरसप्तशतैर्भागलब्धं मध्यराशौ **विमिश्रम्**, ततो मध्यराशेरपि **जलधिरसैश्चतुःषष्टिभिर्भागलब्धेन हीनोऽस्फुटाह** इति । क्वचित् प्रतिदिनवाराधिकेन स्फुटार्थमेकवारो हीनो भवति; ततः स्फुटोऽहर्गणो भवति इति ।

इदानीं मङ्गल उच्यते—

शैलर्त्वर्कैश्च मिश्र इति करणापेक्षा न सिद्धान्तापेक्षा इति, सप्तषष्ठ्यधिकशतेन मिश्रः शैलर्त्वर्कैश्च मिश्र इति । **स्फुटदिवसगणः शैलनागर्तुभक्त**[59b] इति । स च दिवसगणो मङ्गलदिनैः सप्ताशीत्युत्तरषट्शतैर्भक्तः शैलनागर्तु[1]भक्त इति । अतो मङ्गलस्य परिवर्तनं ज्ञात्वा **शेषश्चर्क्षाहतः** सप्तविंशतिभिर्हतः **पुनः** शैलनागर्तुभिः हतं नक्षत्रं भवति । **खरसैः** षष्टिभिरपि **गुण्यशैलादिभिः** लब्धा **नाड्यो** मङ्गलभोगेन लब्धा भवन्ति । पाणीपलादिकं पूर्वोक्तविधिनेति ।

अत्र सर्वग्रहाणां पञ्चविधं भोगस्थानं भवति—राशिस्थानं नक्षत्रस्थानं घटिकास्थानं पाणीपलस्थानं श्वासस्थानम् । अधोऽधो भवन्ति—श्वासस्थानेषु[2] उपरि श्वासा न तिष्ठन्ति; षड्भागेन लब्धाः पाणीपलेषु विशन्ति; पाणीपलानि षष्ठ्युर्द्धे(दर्ध्वे) न तिष्ठन्ति, षष्ठ्याभागेन लब्धा घटिका राशौ विशन्ति[3] । घटिकाप्येवं नक्षत्रराशौ विशन्ति; नक्षत्राणि कर्मद्वये सार्द्धत्रयोदशोदर्ध्वेन[4] तिष्ठन्ति । षड् राशयस्तिष्ठन्तीति निममः ।

इदानीं मङ्गलशुद्धिरुच्यते—

शोध्याः सार्द्धा नवारे यदि ऋणमधिकं चक्रमिश्रे विशोध्यं
त्याज्यं चक्रार्द्धमर्द्धाधिकमपि च भवेत् त्यक्तशेषोत्क्रमः स्यात् ।
ऋक्षे षष्ट्या हते युक् प्रभवति घटिकाभूतवह्नीन्दुभु(भ)क्तं
यल्लब्धं मन्दकर्मण्यपि च धनमृणं चोत्क्रमेण क्रमेण ॥४१॥

शोध्याः सार्द्धा नवारे इति । इह मङ्गलस्य नक्षत्रादिभोगे पृथक्कृते एकस्मिन् भोगे आरे भवति[5] शोध्या नव नक्षत्राः । सार्द्धा इति त्रिंशद् घटिका घटिकास्थाने

१. क. शैलनागर्त्व । २. क. ० स्थानेष; ख. ० स्थाने षड्उपरि । ३. घ. भवन्ति ।
४. क. ० त्रयोदशार्द्धेन । ५. क. घ. इति ।

शोधनीया जन्मचरणग्रहणार्थम्। अश्विन्यादौ नक्षत्रभोगे **यदि ऋणमधिकं चक्रं**[1] **मिश्रे विशोध्यमिति**। इह नक्षत्रभोगे अश्विन्यादिकेऽवश्यं ऋणं शोधनीयं यद्यधिकं ऋणं ऋणराशिरधिका भोगराशि हीना तदा चक्रे मिश्रे विशोध्यं चक्रं सप्तविंशतिनक्षत्रसमूहः ; तेन मिश्रे वि[60a]शोधनीयं ऋणमित्यर्थः।

त्याज्यं चक्रार्द्धमिति। अत्र शोधितेऽवशेषं चक्रार्द्धं यदि भवति, तदा **त्याज्यम् अर्द्धाधिकमपि भवेत्**। अत्रार्द्धाधिकं यदवशेषं तस्य **त्यक्तशेषस्योत्क्रमो भवति** (स्यात्) **उत्क्रमेण मन्दकार्ये** धनं सर्वग्रहाणां **क्रमेण ऋणमिति**। **ऋक्षे षष्ट्या हते युक् प्रभवति घटिका** घटिकापिण्डनिमित्तम्। ऋक्षे पिण्डे षष्ट्या हते सति अधःस्थं घटिकापिण्डं मूर्ध्नि युग् भवति। **भूतवह्नीन्दुभु(भ)क्तं** राशिचरणार्थम्। घटिकाराशेः पञ्चत्रिंशदधिकशतेन भक्तं **यल्लब्धं** तद् राशिचरणं भवति। **मन्दकर्मण्यपि च धनमृणं चोत्क्रमेण क्रमेण** यथासंख्यं वेदितव्यम्।

अत्र राशिचारपदानि—

तत्त्वान्यष्टादशाद्रिः प्रकटरसपदान्यर्द्धचक्रेऽप्यधोदूर्ध्वं
हन्याद् भोगेन नाडीः शरगुणशशिभिर्भागलब्धोर्द्धचक्रात्।
पूर्वार्द्धे ग्राह्य इष्टो भवति पदवशात् त्याज्य एव परार्द्धे
भुक्तं कृत्वैकपिण्डं ग्रहगमनवशाद् देयहेयं च नाड्याम् ॥४२॥

तत्त्वानि जन्मनः प्रथमराशौ पञ्चविंशत्, द्वितीये **अष्टादश**, तृतीये **अद्रीति** सप्त पूर्वराशित्रये। ततो परचक्रार्द्धे चतुर्थराशौ सप्त, पञ्चमे अष्टादश, षष्ठे पञ्चविंशदिति **प्रकटरसपदान्यर्द्धचक्रेऽप्यधोऽदूर्ध्वमिति**। **हन्याद् भोगेन नाडीः** घटिकाराशिः पञ्चत्रिंशदधिकशतभागेन लब्धो राशिभोगो भवति। तदेव षट्पदमध्ये पदम्; ततो द्वितीयः, भुज्यत इति भोगः, तेन भोगेनावशेषेणावशेषनाडीर्हन्यात्। **शरगुणशशिभिर्भागलब्धोऽदूर्ध्वचक्रात्**। नाडीभोगेनाहतराशेः पञ्चत्रिंशदधिकशतभागेन लब्धः **पूर्वादूर्ध्वे ग्राह्य इष्टो भवति**। **पदवशादिति** यावद् ग्रहोऽपरार्द्धं न व्रजति, ततस्**त्याज्य एव परादूर्ध्वे**। स एव भागोऽ[60b]परार्द्धे त्याज्यो भवति।

भुक्तं कृत्वैकपिण्डमिति यद् राशिवशेन चरणं भुक्तं ग्रहैस्तदेकपिण्डं कृत्वा पूर्वार्द्धे स्थितम्; अपरार्द्धेऽभुक्तं पिण्डमेकं[2] कृत्वा पूर्वापरं भुक्तं त्यक्त्वा **ग्रहगमनवशाद् देयहेयं च नाड्यामिति**। ग्रहाणां गमनम् उत्क्रमेण क्रमेण च (का० त० १.४१), तद्वशाच्च देयं हेयम्; उत्क्रमणवशाद् देयम्, क्रमवशाद् हेयं नाड्याम्, घटिकाराशौ ग्रहभोगेन नक्षत्रराशाविति नियमः; सर्वत्र मन्दकर्मणि मङ्गलादीनामिति राशिकर्मविधिः, जन्मचरणशुद्धिरिति।

---

१. क. चक्रे; ग. चक्र। २. ग. घ. एकपिण्डं।

इदानीं शीघ्रकर्मविधिरुच्यते—

सूर्ये भौमो विशोध्यो गुरुरपि रविजः शीघ्रकर्मण्यथैव
सौम्ये शुक्रे च सूर्यः खलु भवति धनं शीघ्रकार्ये क्रमेण ।
शोध्यः शेषोऽत्र चारो ग्रहचरणपदैः शेषनाडीर्निहत्य
षष्ट्या भागेन लब्धं ग्रहचरणपदं ग्राह्यहार्यं तथैव ॥४३॥

सूर्ये भौमो विशोध्यो गुरुरपि रविजः शीघ्रकर्मण्यथैव । **अथ**ानन्तरमेवेति । पुना राशिकर्मविशुद्धग्रहभोगः सूर्यभोगे शोधनीयः । सूर्ये भौमो विशोध्य इति; मन्दभोगे रविकारहिते पृथग् ग्रहभोगं कृत्वा **अथै**वेति गुरुरपि शोध्यो रविजः शनिरवि(पि)[1] शोध्यो भवति, यथा मङ्गलोऽपिशब्देनेति । क्व ? **शीघ्रकर्मणि** । एवं **सौम्ये** सौम्यभोगे **सूर्यः** सो(शो)ध्यो बुधभोगार्थं **शुक्रे च** शुक्रभोगे च **सूर्यः** सो(शो)ध्यः शुक्रभोगार्थम् । अत्रोच्चग्रहो नीचग्रहे(ण)[2] विशोध्य इति नियमः । तेन सौम्ये शुक्रे च सूर्यः शोधनीयः । **खलु भवति धनं शीघ्रकार्ये क्रमेणे**ति । अत्र शीघ्रकर्मणि शीघ्रकार्ये क्रमेण धनं भवति । T 277 **खल्विति** निश्चितम् । उत्क्रमेण ऋणं भवति, अर्द्धचक्रे परित्यक्ते । उच्चग्रहभोग-विशुद्धावशेषनक्षत्रं दिनभोग[3]वशेन ग्रहाणां न[61a]क्षत्रचरणं भवति । तदेव **ग्रहचरणपद**मनेकघटिकात्मकम् । **तै**र्ग्रहचरणपदैर्घटिकाभिः **शेषनाडीर्निहत्य षष्ट्या भागेन लब्धं ग्रहचरणपदात् ग्राह्यहार्यं तथैवे**ति पूर्ववत् पूर्वार्द्धे ग्राह्यम्, अपरार्द्धे हार्यमिति ।

भुक्तं कृत्वैकपिण्डं ग्रहगमनवशाद् देयहेयं समस्तं
भौमे चारा जिनाद्याः प्रकटमनुपदे स्थापनीयाः समस्ताः ।
एवं सर्वग्रहाणां क्रमपरिगणना वेदितव्या नरेन्द्र
सौम्ये शुक्रे विशुद्धो भवति दिनकरः सौम्यशुक्रौ च भोगात् ॥४४॥

भुक्तं कृत्वैकपिण्डं ग्रहगमनवशाद् देयहेयं समस्तमिति । अत्र शीघ्रकर्मणि क्रमेण देयम्, उत्क्रमेण हेयम् । पूर्वार्द्धे भुक्तं पिण्डम्, अपरार्द्धे अभुक्तं पिण्डं पूर्ववदिति । **भौमे चारा जिनाद्या** इति जिनाश्चतुर्विशतिः; तैः चादौ येषां चतुर्दशपदानां **मनुपदे** चतुर्दशपदे स्थितानामादौ पदे स्थिताः; भौमे तदाद्याश्चारा जिनाद्याः **प्रकटमनुपदे** चतुर्दशनक्षत्रस्थाने **समस्ताः स्थापनीया** इति ।

एवं **सर्वग्रहाणां क्रमपरिगणना वेदितव्या नरेन्द्र** इति । **सौम्ये** सौम्यभोगे **शुक्रे विशुद्धः सूर्यः** सोमपुत्रो बुधश्च भवति । शुक्रे विशुद्धः सन् शुक्रो भवति, **सौम्यशुक्रौ च भोगा**दिति मङ्गलविशुद्धिः ।

---

१. ख. शशिरपि । २. भोटानुसारम् । ३. ख. अवशेष ।

इदानीं बुध उच्यते—

शून्याकाशेन्दुगुण्यं दिनगणसकलं वह्निसूर्याद्रिहीनं
शैलाद् रन्ध्रादिनागैः हृतमपि निहतं शेषमृक्षादिभेदैः ।
प्रोक्तैर्भागेन चर्क्षं पुनरपि घटिका सौम्यभोगे भवन्ति
सौम्यं त्यक्त्वार्कमध्ये त्यज सुनृप नृपं चाद्र्धंऋक्षं च सम्यक् ।।४५।।

शून्याकाशेन्दुगुण्यं[1] **दिनगणसकलमिति** । प्राग् विशुद्धं सकलदिनगणं शतेन[2] **गुण्यं** शून्याकाशेन्दुगुण्यमिति । **वह्निसूर्याद्रिहीनं**[61b]तदेव शतगुणितं दिनगणम्, त्रयोविंशत्यधिकैकसप्ततिशतैर्हीनमिति । **शैलाद् रन्ध्रादिनागैर्हृतमिति** । शैलात् सप्ततः, रन्ध्रादिनागा इति सप्तनवतिसप्तशताष्टसहस्राष्टैः[3] शैलाद् रन्ध्राद्रिनागैर्मण्डलदिनैः स्वचरणस्य हृतं विभञ्जितमिति । **अपि निहतं शेषमृक्षादिभेदैरिति** मण्डलदिनभागावशेषं दिनगणनिहतमपि ऋक्षादिभेदैः सप्तविंशतिभिर्निहतम् । **आदिशब्दात्** पुनर्मण्डलभागावशेषं षष्ट्या निहतम् । एवं पाणीरलैर्निहतं श्वासैः षड्भिर्निहतमिति । **प्रोक्तै**-र्मण्डलदिनै**र्भागेन ऋक्षं** लब्धं भवति **पुनरपि घटिका**स्थाने । एवं पाणीपलानिःश्वासा लब्धा इति **सौम्यभोगे** चरगभोगे **भवन्ति** ।

सौम्यं त्यक्त्वार्कमध्ये त्यज सुनृप नृपं चाद्र्धंऋक्षं च सम्यगिति । अद्या(द्रया)[4]दि-मण्डलेन यल्लब्धं सौम्यभोगं तत् त्यक्त्वा शीघ्रकर्मणि विशुद्ध्यर्थम्, अतोऽर्कमध्ये त्यज हे **सुनृप नृपं** षोडशनक्षत्रम्, अद्र्धमृक्षं च त्रिंशद् घटिका सूर्यघटिकाभोगे[5] अथमृ(ऋ)णं न शुद्ध्यति, तदा नक्षत्रचक्रं प्रक्षिप्य[6] ऋणं विशोधयेदिति पूर्वनियमात् ।

शिष्टं कार्यं यथारे भवति धनमृणं मन्दशीघ्रं च कर्म
सौम्ये यन्मन्दकार्ये दशगिरिशिखिनः शीघ्रकार्ये नृपाद्याः ।
कृत्वाहः पिण्डमूलं(नं) खखरसनयनैर्दन्तवह्नचब्धिभक्तं
शेषे त्वर्क्षघ्नऋक्षं पुनरपि घटिका मन्दकार्ये गुरोश्च ।।४६।।

शिष्टं कार्यं यथारे भवति धनमृणं मन्दशीघ्रं च कर्मेति सुबोधम् । **सौम्ये यन्मन्दकार्ये दशगिरिशिखिन इति** । सौम्ये बुधे मन्दकार्ये राशिकर्मणि षट्पदेषु पूर्वापरेषु दश प्रथमराशिपदे, **गिरि** इति सप्त द्वितीये राशिपदे, **शिखिन** इति त्रयस्तृतीये राशिपदे, इति पूर्वार्द्धे; ततोऽपरार्द्धे चतुर्थराशिपदे त्रयः, पञ्चम[62a]राशिपदे सप्त, षष्ठराशिपदे दशेति दशगिरिशिखिनो मन्दकार्ये पदानीति । **शीघ्रकार्ये** नक्षत्रकर्मणि **नृपाद्याः** षोडशाद्याश्चतुर्दशस्थाने चतुर्दश वारा भवन्ति, ते च वक्ष्यमाणे वक्तव्या इति बुधपरिशुद्धिः ।

---

१. क. गुण्यां; भोटानुसारं 'गुण्य' । २. क. सते; भोटानुसारं 'शतेन' । ३. क. ०सहस्रास्तैः । ४. क. अद्या; भोटानुसारम् 'अद्रया' । ५. क. ०भोगो; ग. ये भोगे । ६. क. न प्रक्षिप्य ।

इदानीं बृहस्पतिरुच्यते—

कृत्वाहः पिण्डमूनं खखरसनयनैरिति षड्विंशतिशतैरूनमहः पिण्डं पूर्वदिनगणं[1] कृत्वेति। खखरसनयनैरूनमिति करणापेक्षा न सिद्धान्तापेक्षात इति। **दन्तवह्न्यर्त्ववि-(ह्न्यब्धि)भक्तमिति** द्वात्रिंशदधिकत्रिंशच्चतुःसहस्रैर्भक्तमिति। **शेषे** भक्तावशेषे **ऋक्षघ्नं** सप्तविंशतिभिर्गुणितं मण्डलभोगेन[2] नक्षत्रं भवति। **पुनरपि** पूर्वोक्तक्रमेण **घटिकादिका** भवन्तीति; गुरोर्भोगे चेति।

नक्षत्रं शोध्यमर्कं हरनवशिखिनो मन्दकार्ये पदानि
भूयः शीघ्रं पदानि प्रकटमनुपदे दिक्पदाद् यानि तानि।
हत्वाहः खेन्दुनोनं जलनिधिवसुभिर्भक्तमर्द्रेजिनाक्षै
ऋक्षघ्ने चर्क्षभोगः पुनरपि घटिका शीघ्रकार्ये भृगोश्च॥ ४७॥

नक्षत्रं शोध्यमर्कमिति। अत्र बृहस्पतिभोगे द्वादशनक्षत्रं शोधनीयम्, शिष्टं कार्यं मङ्गलवदिति। **हरनवशिखिनो मन्दकार्ये पदानि** पूर्ववत् षड्राशिपदे हर इति एकादश, ततो नव, ततः शिखिन इति त्रयः। एवमपरार्द्धेऽपि विलोमेनेति। **भूयः शीघ्रकर्मणि** **मनुपदानि प्रकटमनुपदे** (चतुर्दशपदे[3]) **दिक्पदाद् यानि तानीति।** दिगिति दशादिनक्षत्र-चारपदानि वक्ष्यमाणे वक्तव्यानीति बृहस्पतिशुद्धिः।

इदानीं शुक्र उच्यते—

हत्वाहः खेन्दुनेति दशभिर्दिनगणं हत्वा[4]। **ऊनं जलनिधिवसुभिरिति।** चतुर-शीतिभिरूनं कृत्वा **भक्तमर्द्रेजिनाक्षैरिति** सप्तचत्वारिंशदधिकद्वाविंशच्छतै[5]रिति। चरणमण्डलदिनैः शीघ्रचरण[62b]शुद्ध्यर्थम्[6], अवशिष्टे **ऋक्षघ्ने चर्क्षभोगः पुनरपि घटिकाभोगैर्मङ्गलवत्।** एवं पाणीपलादिभोगः **शीघ्रकार्ये भृगोर्भवति** मन्दकार्ये भृगोश्च।

ऋत्वृक्षं(त्वक्षं) शोध्यमर्कं शरयुगशशिनो मन्दकार्ये पदानि
शीघ्रे तत्त्वादिभेदैः प्रकटमनुपदैः देयहेयं तथारे।
ऊनः खाक्ष्यष्टवेदैः स्फुटदिवसगणः षड्रसागाम्बरैकैः
भक्तश्चर्क्षघ्नऋक्षं भवति च शशिनः(शनेः) पात्यमष्टादशघ्न॥४८॥

ऋत्वक्ष(र्क्ष)मिति षड्नक्षत्रम्। **शोध्यमर्कं**[7] सूर्यभोगे इति सर्वत्र पञ्चम्यर्थे सप्तमी वेदितव्या। **शरयुगशशिनो मन्दकार्ये पदानीति** पूर्ववत् षड्राशिस्थाने शर

---

१. ख. पूर्वदिगणं। २. क. क. ०भागेन। ३. भो. gNes bCu bŚi (चतुर्दशपदे), अत एव अत्र भोटानुसारं 'चतुर्दशपदे' इति योजनीयम्। ४-५. ख. पुस्तके नास्ति। ६. क. पुस्तके नास्ति; परन्तु भोटानुसारमावश्यकम्—Dag Paḥi Don du। ८. ख. ०मर्कौ।

इति पञ्च, युग इति चत्वारः, शशिन इति एकः। पूर्वार्द्धे एवं विलोमेनापरार्द्धे **शीघ्रे** शीघ्रकर्मणि। **तत्त्वादिभेदैरिति**[1] पञ्चविंशत्यादिभेदैः[2]। **प्रकटमनुपदे** चतुर्दशनक्षत्र-चरणपदे; **देयहेयं तथारे** यथा मङ्गले तथा चारपदं देयं हेयं च भवतीति शुक्रशुद्धिः[3]।

इदानीं शनिरुच्यते—

ऊनः खाक्ष्यष्टवेदैः स्फुटदिवसगण इति। पूर्वदिनगणः स्फुट ऊनो विंशत्यधिकाष्टशतचतुःसहस्रै रूनेति करणापेक्षा, न सिद्धान्तापेक्षा; अतः **षड्रसागाम्बरैकैर्भक्त** इति; षट्षष्ट्यधिकसप्तशतदशसहस्रैर्मण्डलदिनैर्भक्त इति। अवशिष्टै **ऋक्षघ्ने** मण्डलदिनभागैर्लब्धं नक्षत्रं भवति। एवं पाणीपलादिको भोगो **भवति शशि(नि)नः पात्यमष्टादशञ्चेति**। शनिभोगादष्टादश नक्षत्राणि पात्यानि भवन्ति; ऋणाधिके[4] चक्रं दत्वा शोध्यानि भवन्तीति; पूर्वनियमो जन्मनक्षत्रचरणार्थमस्य मन्दकर्मणि।

षड्द्वाविंशद्दिनर्तुः प्रकटरसपदे शीघ्रकार्ये रसाद्याः
शीघ्रो मन्दश्च चारः क्रमपदगमने वक्र एवोत्क्रमेण।
पूर्वार्द्धे[63a]चापरार्द्धे रविगमनवशान्निर्गमश्च ग्रहाणां
सप्तत्रिंशत्सु मासैर्भवति करहतैः शीघ्रवक्रं च केतोः॥ ४९॥

T 278

षड्द्वाविंशद्दिनर्तुरिति षड्राशिपदेषु पदानि, प्रथमराशौ द्वाविंशत्, ततो दिनानि[5] पञ्चदश, ततः ऋतुरिति षट्। एवमपरार्द्धे विज्ञेयम्, **प्रकटरसपद** इति वचनात्। **शीघ्रकार्ये रसाद्या** इति शीघ्रे नक्षत्रकर्मणि चतुर्दशस्थाने रसाद्याः षट्पदाद्याश्चारा देया हेयास्ते च वक्ष्यमाणे वक्तव्या ग्रहचारसमूहे सर्वथेति शनैश्चरशुद्धिः।

इदानीं चारलक्षणमुच्यते—

शीघ्रो मन्दश्च चारः क्रमपदगमन इति। शीघ्रकर्मणि सूर्यमण्डलादुदितग्रहस्य चतुर्दशचरणघटिकार्द्धे पूर्वभोगः शीघ्रचार उच्यते। क्रमेण पदगमन इति क्रमपदगमनेऽपरार्द्धे यो भोगः स मन्दचार उच्यते। **वक्रमेवोत्क्रमेण**। ततोऽर्द्धचक्रे परित्यक्ते **उत्क्रमो** ग्रहस्य भवति। स च उत्क्रमो वक्रचार उच्यते। **पूर्वार्द्धे चापरार्द्धे रविगमनवशान्निर्गमश्च ग्रहाणां** निर्गमचार इत्युच्यते। वक्रपरित्यागात् अत्रोदया(त्) क्रमगमने धनवृद्धिः पूर्वार्द्धं यावत्; ततोऽपरार्द्धे धनक्षयं चक्रार्द्धं यावत्; ततः चक्रार्द्धपरित्यागादुत्क्रमेण पूर्वार्द्धे ऋणवृद्धिरपरार्द्धे ऋणहानिः सूर्यनक्षत्रप्रवेशं यावत्; ततोऽस्त[ङ्ग]मनं (गते) सूर्ये पुनरेवोदयस्तेनैव क्रमेण वेदितव्य इति। **सप्तत्रिंशत्सु मासैर्भवति करहतैः शीघ्रवक्रं च केतो**[6]**रिति** अत्र केतोरुद्देशपदमिदं वक्ष्यमाणे विस्तरेण वक्तव्यमिति ग्रहाधिकारः।

१-२. भोटानुसारम्—Ñi Śu Tsa lÑa La Sogs Paḥi dBye Bes De Ñid La dBye Bes Śes So। ३. ख. ०वृद्धिः। ४.क. ०धिको; ग. ०धिकै। ५. ग. घ. दिनानीति। ६. ग. हेतो।

इदानीं ग्रहाणामस्तमनोदयकाल उच्यते—

यः कश्चित् सूर्यभोगं प्रविशति नियतं स ग्रहश्चास्तमेति
सूर्यं त्यक्तोदितः स्यादयनगतिविभागेन मार्गश्च तस्य ।
वामे मार्गे स्थितो यो रविगमनवशात् स व्रजत्युत्तरेण
सव्यस्थो दक्षिणेन स्फुटमपि च रिपोर्युद्धमन्योऽन्यमत्र ।। ५० ।।

यः कश्चित् सूर्यभोगं प्रविशति नियतं स ग्रहश्चास्तमेतीति सूर्यमण्डलरश्मिभिरदृष्टत्वादस्तंगत इत्युच्यते[63b], न ग्रहस्य सर्वथाऽभाव इति । **सूर्यं त्यक्तोदितः स्यादिति** स एवास्तंगतो ग्रहः स्वचरणवशात् सूर्यं त्यक्तः सन्नुदितो भवति, सूर्यरश्मिभिः[1] परित्यक्तत्वादिति । **अयनगतिविभागेन मार्गश्च तस्येति** । तस्योदितग्रहस्यायनगतिविभागेन; मार्गश्चायनयोर्विभागोऽयनविभागः; अग्निवलयात् कैलाश(स)स्योत्तरे हिमवन्तं यावत्, हिमवतो दक्षिणेऽग्निवलयं यावत्, सार्द्धद्व्यशीतिदिनशतविभागत इति; तेन सूर्यस्यायनगतिविभाग इति; तेन सूर्यगतिविभागेनोदितानां ग्रहाणां मार्गश्च तेषां भवतीति ।

वामे मार्गे स्थितो यो रविगमनवशात् स व्रजत्युत्तरेणेति । इह वाममार्गे ग्रहाणां सौम्यादीनां सौम्यानां बुधशुक्रकेतूनां वामाङ्गे सम्भूतत्वादिति सूर्यमण्डलेऽप्यस्तमनकाले वामाङ्गेन प्रवेशो वामाङ्गेनाप्यु[2]दयोऽतो वाममार्गे[3] स्थितो यो ग्रहः स क्रूरग्रहाणामुत्तरेण व्रजति; यथा भानोः **सव्यस्थो दक्षिणेनेति** । इह सव्यस्थः सव्ये मार्गे यः सूर्यमण्डले अस्तंगतो मङ्गलो बृहस्पतिः शनिरिति, क्रूरो दक्षिणे सौम्यग्रहाणां व्रजति दक्षिणाङ्गे सम्भूतत्वादिति । अत्र वामाङ्गे सम्भूतत्वात् केतुः सौम्यः कायभेदेन, दक्षिणाङ्गे सम्भूतत्वाद् बृहस्पती रौद्रः कायभेदेन; तथा **स्फुटमपि च रिपोर्युद्धमन्योऽन्यमत्रेति** । अनयोः सौम्यक्रूरयो[र्बु]धमङ्गलयोर्बृहस्पतिशुक्रयोः शनिकेत्वोः परस्परं युद्धम्, रिपुत्वादिति ।

स्वक्षेत्रे संस्थितानां यदि भवति रिपुर्निश्चितं तत्र युद्धं
नक्षत्रे नान्येन युद्धं खलु भवति समायुक्तिरन्योन्यमत्र ।
वामे चन्द्रप्रवेशो यदि भवति रवौ निर्गमश्चोत्तरेण
वामे शृङ्गोन्नतिः स्यात् क्वचिदयनवशान्निर्गमे दक्षिणे च ।। ५१ ।।

स्वक्षेत्रे संस्थितानां यदि भवति रिपुर्निश्चितं तत्र युद्धमिति । स्वक्षेत्रं मङ्गलस्य मेषराशिवृश्चिकराशि*श्चेति; तस्मिन् क्षेत्रे संस्थितस्य यदि बुधभोगो भवति, तस्मि-[64a]न् क्षेत्रे (तेक्तो[4]) तदा निश्चितं युद्धम् । एवं बुधक्षेत्रे मिथुने कन्यायां यदि मङ्गलो

१. क. सूर्यं० । २. क. ०स्यु (स्त्यु) । ३. घ. वामाङ्गे । ४. क. पुस्तके अयमशो ऽप्रसङ्गः ।

*. घ. पुस्तके अग्रे पाठः खण्डितः ।

भोक्ता चरणवशाद् भवति, तथापि युद्धमिति। एवं बृहस्पतिक्षेत्रे धनुषि मीने शुक्रो यदि भवति, तदा युद्धं शुक्रबृहस्पत्योः। एवं शुक्रक्षेत्रे वृषभे तुलायां चेति। तथा शनिक्षेत्रे मकरे कुम्भे यदि केतुर्भवति, तदा युद्धम्। एवं कर्कटेऽपि यदि शनिर्भवति, शनि[1]क्षेत्रे तदा केतुना सह युद्धम्, केतोरुत्पन्नत्वादिति।

नक्षत्रे नान्येन युद्धमिति। अत्र पुनर्नक्षत्रे ग्रहाणां जन्म नक्षत्रापेक्षयेति; न केवलं स्वक्षेत्रे राशौ युद्धं जन्मनक्षत्रेऽपि रिपोर्युद्धं भवतीति, पुनर्वसौ शुक्रनक्षत्रे, मघायां मङ्गलनक्षत्रे, हस्तायां बृहस्पतिनक्षत्रे, अनुराधायां बुधनक्षत्रे, मूले शनिनक्षत्रे, उत्तराषाढायां केतुनक्षत्रे सौम्यमङ्गलयोः स्वस्वनक्षत्रे युद्धम्। एवं शुक्रबृहस्पत्योः शनिकेत्वोरिति, स्वनक्षत्रं विना अन्ये नक्षत्रे क्षेत्रे वा युद्धं न भवतीति खलु निश्चितम्। अन्यनक्षत्रे **समायुक्तिरन्योन्यं** भवतीति। एवं चन्द्रस्यापि **शृङ्गोन्नतिः; वामे चन्द्रप्रवेशो यदि भवति रवौ निर्गमश्चोत्तरेण** भवति; तदा उत्तरे शृङ्गोन्नतिः। **क्वचिदयनवशाद् दक्षिणे** दक्षिणायने दुर्भिक्षानावृष्टिहेतोः स्वभावत इति।

पर्वच्छेदे च राहोर्व्रजति सममुखः सम्मुखो ग्रास एव
वामेचारेऽव(प)सव्ये रविगमनवशाद् दक्षिणे सव्यभागे।
एवं राहुर्विदिक्षु ग्रसति शशधरं निर्गतं पृष्ठतश्च
अश्विन्याद्यर्द्धचित्रं निशिदिवससमा मध्यतो गोलरेखा ॥ ५२ ॥

इदानीं राहोः प्रवेश उच्यते—

पर्वच्छेदे पूर्णिमायाश्छेदे, **च**कारादमावस्याच्छेदे च; **राहोर्व्रजति** चन्द्रः **सममुखः सम्मुखो ग्रासः एव** भवति। अत्र सम्मुखः पूर्वग्रासः, स एव [64b] राहोर्वलनवशात् ज्ञातव्यः। सर्वकरणान्तरे प्रसिद्धत्वादत्र यत्नो न कृतो मञ्जुश्रिया भगवतेति। **वामे चारेऽव(प)सव्ये** वामे वलने राहोरव(प)सव्ये वामे चन्द्रस्य ग्रासो भवति; **रविगमनवशाद् दक्षिणे सव्यभागे** इति, रविभोगान्निर्गतस्य चन्द्रस्य गमनवशाद् रविगमनवशादिति। **दक्षिणे** दक्षिणवलने दक्षिणे चन्द्रग्रासो भवति। **एवं राहुर्विदिक्षु ग्रसति शशधरमिति**। एवमुक्तक्रमेण वलनं वलनवशाच्छशधरं राहुर्ग्रसति विदिक्षु; **निर्गतं पृष्ठतश्च;** पूर्वादिवलनान्निर्गतं पश्चिमवलने पृष्ठतो ग्रसतीति मूलतन्त्रे चान्यकरणान्तरे वा राहोर्वलनादिकं ज्ञातव्यमिति।

इदानीं नक्षत्रगोल उच्यते—

अश्विन्याद्यर्द्धचित्रं निशिदिवससमा मध्यतो गोलरेखा। अश्विन्यादिचित्रार्द्धं चित्रार्द्धादिरेवत्यन्तं मेषं तुलादिविषुवे दिनं रात्रिः समा गोलरेखा मध्यतो रवेरुदयास्तं- T 279 गमनहेतोस्त्रिंशत्त्रिंशद्दण्डात्मिका भवति। तदेव गोलं ऋक्षभेदेन भवति।

---

१. भो. Ri Boṅ Can (शशि)।

ऋक्षं सव्याव(प)सव्यं खलु भुवनपदे संस्थितं राशिभेदै-
श्चापाकारस्तुराशौ शिखिवलयगतं दक्षिणे गोलमध्यात् ।
वामे तच्छीतशैलं सुकमलदलवत् मेषपूर्वे तुलादौ
वह्नेः शीताद्रिसीम्नः खखखशरनगा योजनानां सहस्रम् ॥ ५२ ॥

ऋक्षं सव्या[व](प)सव्यं खलु भुवनपदे संस्थितं राशिभेदैरिति । अत्र कर्मभूमौ अज्ञानवशाद् बहुविधं गोलमतं कक्षादि[1]भेदान्तरेणोक्तम् । अत्र किल गोले अष्टग्रहाणां शीघ्रमन्दगमनभेदेन राशिभोगतुल्य इति । यथा धान्यमर्दने यो बलीवर्दः स्तम्भाद् दूरेभ्रमति, स शीघ्रगामी बहुभिः पदैः प्रदक्षिणां करोति; यः स्तम्भसमीपं भ्रमति, स मन्दगामी स्तोकपदैः प्रदक्षिणां करोति; एवं ग्रहा अपि वेदितव्या इति ।

लौकिकमतं प्रथमं युक्त्या विचार्यते—

अत्र गणितव्यवहारो नास्ति; [65a] स्वस्वसिद्धान्ताभिप्रायवशादिति एकमतं न भवति; तस्मादेवं विचार्यते—इह गोले ये ग्रहाः सूर्याच्छीघ्रमन्दगामिनस्ते किमुपर्यु-पर्यधोऽधः स्थिताः, अथ वामभागतो दक्षिणभागतः स्थिता इति ? उभयथा च विरोधः । यद्यध ऊर्ध्वे सूर्याद् व्यवस्थिताः, तदा शीघ्रमन्दानां समागमो[2] न स्यात्, स्वकक्षापरित्यागात् ।

अथ ब्रूते पर[3]सिद्धान्तवादी अधः स्थिताः सत्त्वाः अध ऊर्ध्वग्रहसमागमं समं पश्यति(न्ति), अधो ग्रहेणोद्ध्वग्रहः प्रश्ना(च्छा)दित[4]स्य समत्वमिति ।

अत्रोच्यते—इह समत्वं मध्याह्नकाले, नोदये, नास्तमनकाले । उदयकाले अध ऊर्ध्वे ग्रहा द्रष्टव्याः सत्त्वैः, भिन्नकक्षाप्रभावतः, तथाऽस्तमनकालेऽपि; न चैवम्; एवं सव्याव(प)सव्येऽपि व्यवस्थितानां सूर्येण सह समागमो नास्ति, *स्वकक्षापरित्यागतः । एवं ग्रहाणां सूर्यमण्डलेऽस्तमनं न स्यादुदयोऽपीति । तस्माद् ग्रहाणां कक्षान्तरं नास्ति परमार्थतः । एतच्च बालानां व्यामोहजनकं वाक्यं युक्तिरहितं[5] रचितमज्ञजनैरिति ।

इह प्रथमकक्षायां चन्द्रः, द्वितीयायां बुधः, तृतीयायां शुक्रः, चतुर्थ्यां सूर्यः, पञ्चम्यां भौमः, षष्ठ्यां बृहस्पतिः, सप्तम्यां राहुः, अष्टम्यां शनिरिति सम्भवति । इह राशिचक्रे सर्वग्रहाणामुत्तरगतिर्दक्षिणागतिरस्ति, यथा सूर्यस्य नक्षत्रभोगवशेन षड्राशि-भोगवशेनेति । न च तस्या उत्तरगतेर्द्दक्षिणगतेः सूर्यसमागमे सूर्यस्य कश्चिद् ग्रह ऊर्ध्वं गच्छति, कश्चिदधो गच्छति । इह राशिचक्रे मन्दगतिवशेन कश्चिद् ग्रहः सूर्यस्य पृष्ठत आगच्छति; उदितः सन् चन्द्रः पुरतो गच्छति; शीघ्रगतिवशाद् बुधशुक्रौ चरणवशात् कदाचिदग्रतः कदाचित् पृष्ठत उदितौ गच्छत इति ।

---

१. क. पक्षादि । २. क. समानमानो । ३. क. परम । ४. भो. bsGribs Pa (प्रच्छादित) । ५. ख. पुस्तके ' रहितं' इति नास्ति ।

* अतः परं घ. पुस्तके पाठो लभ्यते ।

एषां गमनपरिज्ञानार्थं राशिगोलमुच्यते—

ऋक्षं सव्ये चतुर्दशस्थाने, अव(प)सव्ये चतुर्दशस्थाने संस्थितो(ते) राशिभेदैरिति, राशीनां भेदः सपादनक्षत्रद्वयं प्रत्येकराशेस्तैः राशिभेदैः सार्द्धत्रयोदशनक्षत्राणि मध्यगोलरेखायाः; अश्विन्यादीनि चित्रार्द्धं यावदुत्तरे। पुनर्मध्यगोलरेखायाः चित्रार्द्धादीनि सार्द्धत्रयोदशनक्षत्राणि रेवत्यन्तानि दक्षिणे।

चापा[65b]कारतुं राशौ शिखिवलयगतं दक्षिणे गोलमध्यात्। धन्वाकारे षड्राशौ नक्षत्रार्द्धचक्रं ऋक्षचक्रं दक्षिणे गतं गोलविषुवरेखायां मध्यत इति।

वामे तच्छोतशैलं सुकमलदलवत् मेषपूर्वं तुलादौ। यथा दक्षिणे षड्राशौ प्रत्येकनक्षत्रार्द्धचक्रगतं तथा गोलमध्यरेखादुत्तरे प्रत्येकराशिभेदेन षड्राशौ गतम्; मेषपूर्वे तुलादौ कन्यान्ते गतमिति; एवं तुलादौ मीनान्ते गतमिति। अत्र पूर्वार्द्धे मेषः, इशे (ईशाने[१]) वृषः, उत्तरार्द्धे मिथुनः; पुनरुत्तरार्द्धे कर्कटः, वायव्ये सिंहः, पश्चिमार्द्धे[२] कन्या[३], पुनः पश्चिमार्द्धे तुला; नैऋत्ये वृश्चिकः, दक्षिणार्द्धे धनुः, पुनर्दक्षिणार्द्धे मकरः, आग्नेय्यां कुम्भः, पूर्वार्द्धे मीनश्चेति गोले राशिन्यासः। अस्मिन् मेषादयं तुलास्तमनम्, वृषोदय वृश्चिकास्तमनम्। एवं सर्वत्रोदयराशेः सप्तराशेरस्तमनं वेदितव्यम्, अहोरात्रेणेति।

इदानीं लोकसामान्यमतेन[४] गोलायाम उच्यते—

वह्नेः शीताद्रिसीम्नः खखखस(श)रनगा योजनानां सहस्रमिति। इह दक्षिणाग्निवलयादुत्तरमहाहिमवतः शी(सी)म्नः पञ्चसप्ततिसहस्रं योजनानां गोलमानम्। एवं पूर्वापरवृत्तत इति स्फुटं पञ्चमपटले वक्तव्यमिति।

मध्यं चक्रार्द्धरेखागमनमपि रवेरेकरात्रं विषौ च
पश्चात् सव्याव(प)सव्यं चरति दिननिशि चर्क्षभेदैः क्रमेण।
मार्गाणां खाहिचन्द्रं त्यजति दिननिशं चायनान्तं हि यावत्
हानिर्वृद्धिः षडङ्घ्रै(डंशौ)स्त्वपि रविशशिनोः षष्टिनाड्यां निशाह्नि ॥५४॥

मध्य(ध्ये) चक्रार्द्धरेखा इति मध्यराशिचक्रस्य विषुव[५]रेखा पञ्चसप्ततिसहस्रं योजनानां मध्ये सार्द्धसप्तत्रिंशत्सहस्रान्ते भवति, तस्यां **गमनं मध्ये चक्रार्द्धरेखागमनमपि रवेः।** **अपि**शब्दात् सर्वेषां ग्रहाणां चक्रार्द्धमध्यरेखागमनं स्वस्वविषुवे भवत्येकरात्रं न सर्वकालमिति। **पश्चात् सव्याव(प)सव्यं चरतीति** पश्चाद् विषुवद्दिनाद् द[66a]क्षिणायने दक्षिणं चरति, उत्तरायणे उत्तरं चरति, सव्याव(प)सव्ये तुलादौ मेषादाविति। **दिननिशि चर्क्षभेदैः क्रमेण मार्गाणां खाहिचन्द्रमिति** अशीत्युत्तरशतसंख्यं मार्गाणां

१. भोटानुसारं 'dBaṅ lDen (ईशाने)' इति। २-३. घ. पुस्तके नास्ति। ४. क. गोलसामान्यमतेन; भो. hJig rTen sPyihi Lugs Kyis (लोकसामान्यमतेन)। ५. घ. पुस्तके सर्वत्र 'विषुवरेखा' स्थाने 'विश्ववरेखा' इति।

त्यजति। दिननिशं चायनान्तं हि यावदुत्तरायणाद् दक्षिणायनं यावद् दक्षिणायनादुत्तरायणं यावदिति। हानिवृद्धिः षडंशैस्त्वपि रविशशिनोः षष्टिनाड्यां निशाह्नीति। इह षडंशे हानिर्भवति, वृद्धिर्भवति। षडंशः षष्टिनाड्यां दशनाड्यौ रात्रेर्हानिः; मकरान्मिथुनान्तं यावद् दिवावृद्धिरिति दिनस्य हानिः; कर्कटाद् धन्वन्तं यावद् रात्रिवृद्धिरिति; खलु[1] रविशनि(शि)नोर्हानिवृद्धीति षडंशे।

इह कैलाश(स)खण्डे छायानियमः, नार्यविषये इति। आर्यविषये दशांशे हानिवृद्धी उत्तरायणाद् दक्षिणायनान्तं दक्षिणायनान्ताद् उत्तरायना(णा)न्तमिति,छायानियमवशात्। एवं भोट[2]-लीच[3]-चीनादिदेशेषु नवांशे अष्टमांशे सप्तमांशे सम्भलविषयान्तं यावच्छायावशेन हानिवृद्धी वेदितव्याविति।

इदानीं द्वादशखण्डे भूगोलो मूर्ध्नि[4] सूर्यभ्रमणवशेनोच्यते—

यस्माच्छैले जनानां भवति हि विषुवं मेषसूर्ये तुलार्के
तस्माद् द्व्यष्टे च खण्डे खलु वृषभगते वृश्चिकस्थे तथैव
रन्ध्राख्ये वह्निसंख्ये मिथुनधनुगते दिक्प्रमाणे चतुर्थे
मार्त्तण्डे कर्कटस्थेऽपि च मकरगते पञ्चमैकादशे च ॥५५॥

यस्माच्छैले जनानां भवति हि विषुवं मेषसूर्ये तुलार्के इति। यस्मिन् भूखण्डे मेषार्के वसन्तार्द्धे विश्रु(षु)वं भवति, तुलार्के शरदर्धं भवति; तस्मादेवं मेषार्के शरदर्धं भवति, तुलार्के वसन्त-ऋत्वर्द्धे विश्रु(षु)वं भवति। एवं परस्परापेक्षिकया यस्मात् प्रथमभूखण्डात् शैले सप्तमे खण्डे[5] मेरोर्दक्षिणादुत्तर उत्तराद् दक्षिणे सप्तमे भूखण्डे विश्रु(षु)- T 280
वं भवति; तस्माद् ह्यष्टचे(द्व्यष्टे) चख(च)खण्डे खलु वृषभगते वृश्चिकस्थे तथैवेति; इह यथा पूर्वोक्ते मे[66b]रोर्दक्षिणान्तरभूखण्डे मेषसूर्ये तुलार्के विश्रु(षु)वं भवति, तथा किञ्चिन्नैऋत्यकोणे स्थितः ईश्वर(ईशान)कोणार्द्धभागे स्थिते च खल्विति निश्चितम्; वृषभगते सूर्ये वृश्चिकस्थे विश्रु(षु)वं तदा भवति; वसन्तादर्धं शरदर्धमिति। एवं रन्ध्राख्ये नवमे वह्निसंख्ये[6] तृतीये भूखण्डे नैऋत्यकोणे अपरादर्धस्थिते ईशानकोणादर्धस्थिते विश्रु(षु)वं भवति। मिथुने सूर्यगते धनुषि गते च वसन्तादर्ध(र्द्धे) शरदर्धं भवति। दिक्प्रमाणे दशमे चतुर्थमेरोः पूर्वभूखण्डे पश्चिमभूखण्डे च विश्रु(षु)वं भवति; वसन्तादर्धं शरदर्धं भवतीति। मार्त्तण्डे कर्कटस्थेऽपि च मकरगते पश्चि(ञ्च)मस्थे एकादशे च पूर्वभूखण्डे विश्रु(षु)वं भवति; वसन्तादर्धं शरदर्धं भवतीति।

सिंहे कुम्भे प्रविष्टे द्विदशरसमहौ मीनकन्यागते च
अस्मिन् वामायनं स्यान्मकरगतरवौ कुम्भसूर्ये द्वितीये।
मीने खण्डे तृतीये त्वयनमपि नृणां मेषसूर्ये चतुर्थे
भूताख्येऽर्के वृषस्थे मिथुनगतरवौ षण्महौ सप्तमे च ॥५६॥

---

१. घ. पुस्तके नास्ति। २. क. ग. वोट। ३. भो० पुस्तके 'Li'(ली) मात्रं दृश्यते।
४. क. पुस्तके नास्ति। ५. ग. पुस्तके नास्ति। ६. क. ०संख्या।

सिंहे कुम्भे प्रविष्टे सति सूर्ये पञ्चमे वायव्यकोणादर्धस्थिते, एकादशे च वह्निकोणादर्धस्थिते विश्रु(षु)वं भवति; वसन्तादर्धं शरदर्द्धं भवतीति। **द्विदशरसमहा**विति द्वादशमे(शे) वह्निकोणापरार्द्धे स्थिते रसे वायव्यकोणे अपरार्द्धे स्थिते महाविल्यागमपाठः; **मीनगते सूर्ये कन्यागते** च विषुवद्वयं[1] भवति, वसन्तार्द्धं शरदर्धं भवतीति। एवं द्वादशभूम्यां द्वादशराशिवशेन सूर्योदयास्तमनविभागेन द्वादश मासाः षड् ऋतवो भवन्ति।

इदानीं द्वादशभूम्यां द्वादशोत्तरायणानि द्वादश दक्षिणायनानि सूर्यराशिभ्रमणवशेनोच्यते—

अस्मिन् वामायनं स्यादिति। अस्मिन्निति मेरोर्दक्षिणे भूखण्डे। कुतो दक्षिणे ? लघुजम्बूद्वीपे, तथागतधर्मदेशनावशात्। अ[67a]तो दक्षिणे भूखण्डे वामायनम्, उत्तरायन(ण)मिति, **मकरगते रवौ**। एवं **कुम्भसूर्ये द्वितीये** भूखण्डे; **मीने तृतीयखण्डे अयनमपि नृणां मेषसूर्ये चतुर्थे**। पश्चिमे भूखण्डे चतुर्थ इति। **भूताख्ये** पञ्चमेऽर्के **वृषस्थे** सति **मिथुनगतरवौ षण्महौ** उत्तरायनं(णं) भवति। **सप्तमे** मेरोरुत्तरे।

मार्त्तण्डे कर्कस्थे भवति हरिगते चाष्टमे भूमिखण्डे
कन्यारन्ध्रे तुलार्के भवति च दशमे वृश्चिके रुद्रखण्डे।
चापस्थे द्वादशे स्यादयनमपि नृणां द्वादशारे च भूम्याम्
एवं सव्यायनं स्याद् रविगमनवशात् कर्कटादौ च राशौ ॥५७॥

मार्त्तण्डे कर्कटस्थे वामायनं **भवति हरिगते अष्टमे भूखण्डे** भवति; **कन्यागते** सूर्ये **रन्ध्रे**[2] नवमे भूखण्डे **तुलार्के भवति च दशमे** भूखण्डे **वृश्चिकसूर्ये रुद्र** एकादशमे **खण्डे**[3]; **चापस्थे द्वादशे** खण्डे **स्यादयनं नृणामपि** सम्भावने, **द्वादशारे च भूम्यां** स्थितानां लोकानामुत्तरायनं(णं) द्वादशराशिभेदेनेति। **एवं सव्यायनं स्यात्**। एवमुक्तक्रमेण दक्षिणायनं **रविगमनवशात् कर्कटादौ च राशौ** भवति। अस्मिन् मेरोर्दक्षिणे लघुजम्बूद्वीपभूखण्डे दक्षिणायनं कर्कटादित्ये भवति। एवं दक्षिणावर्त्ते[4] च[5] सिंहादित्ये द्वितीये तृतीये कन्यादित्ये तुलादित्ये चतुर्थे मेरोः पश्चिमे दक्षिणायनं भवतीति। वृश्चिकादित्ये पञ्चमे धनुरादित्ये षष्ठे मकरादित्ये सप्तमे मेरोरुत्तरे कुम्भादित्ये अष्टमे मीनादित्ये नवमे मेषादित्ये दशमे वृषादित्ये एकादशे मिथुनादित्ये द्वादशे भूखण्डे[6] लोकानां दक्षिणायनं द्वादशराशिभेदेन भवतीति। [67b]

इदानीं सूर्यस्य भूवलयादूर्ध्वं क्रान्तिमानमुच्यते—

ऊर्ध्वं षण्णागसंख्या तपनमपि रवेश्चायने चोत्तरेऽन्ते
तस्मात् क्षीणश्च सव्ये भवति नरपते रुद्रसंख्यासहस्रम्।
एकाशीतिसहस्रं शरशतरहितं मध्यतो गोलरेखा
तस्माद् यद्वद्द्वि(यद् वृद्धि)पातं खखशरेषूत्तरे दक्षिणे च ॥५८॥

---

१. क. विशुद्धद्वयं। २. क. रन्ते। ३. क. भूखण्डे। ४-५. क. ०वर्त्तेन; ग. ०वर्त्ते च। ६. ग. घ. पुस्तकयोः नास्ति।

ऊर्ध्वं षण्णागसंख्या इति । इह सप्तमभूवलयाद् ऊर्ध्वं षडशीतिसहस्रयोजनसंख्या **तपनमपि रवेश्चायने**[1] **चोत्तरे**[2]**ऽन्ते** दक्षिणायनादौ स्वस्वखण्डे कर्कटादौ दक्षिणायनं स्वस्वसंक्रान्तिदिने[3] भवति द्वादशखण्डेषु यथाक्रममिति; **तस्माद् क्षीणश्च सव्ये भवति नरपते रुद्रसंख्यासहस्रम्** । तस्मात् दक्षिणायनसंक्रान्तिदिनात् सव्येऽयने उत्तरायनं(णं) यावत् क्षीणो भवत्येकादशसहस्रं पञ्चसप्ततिसहस्रं तपनं सूर्यस्योद्ध्वं वेदितव्यमिति एकाशीतिसहस्रं **स(श)रपञ्चशतरहितं मध्यतो गोलरेखा** भवति, योजनमानम् । तस्या गोलरेखाया यद्वद् द्विपातं (यद् वृद्धिपातं[4]) भवति सूर्यस्य **तत् खखशरेषु** इति पञ्चशताधिकपञ्चसहस्राणि योजनानामिति, **उत्तरे** रेखाया **दक्षिणे च** स्वस्वखण्डे राशिभोगवशेनेति ।

इदानीं सूर्यस्य प्रतिदिनं तिर्यक्क्रान्तिर्द्वादशखण्डेषु सव्योत्तरे उच्यते—

क्षाराब्धिं लङ्घयित्वा व्रजति दिनकरो दक्षिणे यावदग्निं
कैलाश(स)स्योत्तरे च व्रजति हिमगिरिं चोत्तरे चोत्तरस्थः ।
बाणास्तिथ्याहताश्च व्रजति दिगयने योजनानां सहस्रं
सार्द्धाक्षा ह्रीन्दुलब्धं त्यजति दिनदिने पञ्चभूतः समन्तात् ।।५९।।

क्षाराब्धिं लङ्घयित्वा व्रजति दिनकरो दक्षिणे यावदग्निमिति । इह द्वादशारभूम्यां प्रत्ये[68a]कैकखण्डे राशिवशात् क्षाराब्धिं लङ्घयित्वा दक्षिणायने स्थितः सूर्यो दक्षिणाग्निवलयादिकं यावद् व्रजति समुद्रान्तसीम्न इति । ततः सीम्नोऽग्निवलयात् कैलाश(स)स्योत्तरे व्रजति हिमगिरिम्(ः), उत्तरे मार्गे उत्तरायन(ण)स्थः सूर्यो दक्षिणायनादिदिनं यावत् । **बाणास्तिथ्याहताश्चेति** । बाण इति पञ्च, तिथिरिति पञ्चदश; ताभिः[5] पञ्च [पञ्च] दशभि[6]र्हता बाणास्तिथ्याहता इति पञ्चसप्तति[7]र्भवति[8] । तं(ां) पञ्चसप्ततिसहस्रसंख्यां **योजनानां** व्रजति दिनकरो **दिगयने** हिमादग्नि[9] यावदग्नेर्हिमवन्तं यावत् पञ्चसप्ततिसहस्रं योजनानां दक्षिणायनादिदिग्विभागः; तं दिग्विभागं षड्मासैर्यथाक्रमेण व्रजति उत्तरायणे दक्षिणायने चेति । **सार्द्धाक्षा ह्रीन्दुलब्धं त्यजति दिनदिने** इति । सार्द्धद्व्यशीतिशतभागलब्धं पञ्चसप्ततिसहस्रात् प्रतिदिनदिग्विभागं योजनानां त्यजति सूर्यः । एवमुभयायनभोगेन राशिचक्रस्य मण्डलदिनानि[10] पञ्चषष्ट्यधिकशतत्रयसंख्या[का]नि रवेर्भवन्ति । एवं द्वादशखण्डेषु तिर्यक्क्रान्तिः सूर्यस्य वेदितव्येति ।

इदानीं प्रत्येकराशिस्थितस्य सूर्यस्य द्वादशखण्डभ्रमणवशाद् द्वादशमासभेद उच्यते—

१-२. क. ०यनेश्चोत्तरे० । ३. ख. ०दिने; क. ०संक्रान्तिभेदेन । ४. भो hPhel lDan Grib (वृद्धिपातं); अतः भोटानुसारं 'वृद्धिपातं' इत्येव सुवचम् । ५-६. ख. पुस्तके नास्ति । ७-८. क. पञ्चसप्ततिभिर्भवति । ९. क. हिमाग्नि । १०. ख. मण्डलदिनादि ।

राशावेके स्थितोऽर्कः सकलमृतुगणं मासपक्षान् करोति
खण्डे खण्डे च मासो भवति भुवितले द्वादशारे क्रमेण ।
यन्मानं यत्र खण्डे भवति दिनवशात् सप्तमे तन्निशायां
त्रैलक्षाददर्धमार्गे दिनमपि पुरतः पृष्ठतोऽर्कस्य रात्रिः ॥६०॥

राशावेके स्थितोऽर्कः सकलमृतुगणं मासपक्षान् करोतीति । इहैकराशौ यत्र कुत्रचित् मेषादिके स्थितः सूर्यो द्वादशखण्डे षड् ऋतून् द्वादशमासान् चतुर्विंशति पक्षान् करोति; राशिचक्रभ्रमणवशेन; इह मेरोः सर्वदि[68b]ग्भागे यो राशिश्चक्रभ्रमणवशाद् दक्षिणाग्निं स्पृशति, स सप्तमखण्डदिक्प्राप्तो मेरुश्रृङ्गं स्पृशति हिमपर्वतोऽर्ध्वं व्रजतीति न्यायात् सर्वमृतुगणादिकं सकलं प्रत्येकं राशौ स्थितस्यार्कस्य वेदितव्यमिति ।

खण्डे खण्डे च मासो भवति भुवितले द्वादशारे क्रमेणेति । इह द्वादशारे भुवितले प्रत्येकखण्डे प्रत्येकमासो भवति एकराशौ स्थितस्य सूर्यस्य येन प्रकारेण तथा कथ्यते—

इह एकराशिनिर्देशेन सर्वराशयो वेदितव्या इति । अत्र लघुजम्बूद्वीपे मेरोर्दक्षिणे
T 281 मेषादिराशयः किल प्रसिद्धाः, वसन्तादय ऋतवः, चैत्रादयो मासाः, एवं पक्षाः सर्वे इति; तस्मात् तस्मिन् मेषराशौ स्थितोऽर्को यथा द्वादशखण्डे सर्वमृतुगणादिकं करोति तथोच्यते—इह मेरोर्दक्षिणखण्डे मेषस्थोऽर्को वसन्तऋतुर्वैशाखमासं करोति, अग्निकोणार्द्धे[1] द्वितीयखण्डे ज्येष्ठमासं करोति; एवमग्निकोणात् परार्द्धखण्डे आषाढं करोति, तृतीये एवं चतुर्थे मेरोः पूर्वखण्डपूर्वविदेहे श्रावणमासं करोति, पञ्चमे ईशार्द्धे[2] खण्डे भाद्रपदं करोति, ईशकोणे[3] अपरार्द्धे षष्ठे खण्डे आश्विनं करोति, मेरोरुत्तरे सप्तमे खण्डे कार्तिकं करोति, वायव्यकोणार्द्धे खण्डे अष्टमे मार्गशीर्षं करोति, वायव्यापरार्द्धे कोणे खण्डे नवमे पुष्यं करोति, मेरोः पश्चिमे दशमे खण्डे माघं करोति, नैऋत्यकोणापरार्द्धे[4] खण्डे फाल्गुनं[5] करोति, नैऋत्यकोणापरार्द्धे खण्डे[6] चैत्रं करोतीति । एवं मासद्वयेन खण्डद्वये ऋतुर्भवति; प्रत्येकखण्डे शुक्लकृष्णपक्षभेदेन पक्षद्वयं भवति । एवं षड् ऋतवो द्वादश मासाः चतुर्विंशति पक्षा द्वादशखण्डेषु चक्राकारा भ्रमन्तो ज्ञातव्या इति ।

अस्मिन् दक्षिणखण्डे यो मासो द्वादशराशिवशेन भवति संक्रान्तौ सोऽपरसंक्रान्तौ दक्षिणावर्त्तेन नैऋत्यकोणे गच्छति, नैऋत्यार्द्धकोणस्थोऽपरकोणार्द्धं गच्छति, अपरकोणार्द्धस्थो मेरोरपरगोदान्यां[7] गच्छति, अपरगोदान्यां स्थितो वायव्यार्द्धकोणं गच्छति, वायव्यार्द्धकोणस्थोऽपरकोणार्द्धं गच्छति, अपरको[69a]णार्द्धस्थ उत्तरकुरुं व्रजति, उत्तरकुरुस्थ ईशानकोणार्द्धं गच्छति, तत्रस्थोऽपरकोणार्द्धं गच्छति, अपर-

---

१. क. अग्निकोणाद्वे । २. क. इषार्द्धे । ३. क. ईषकोणे । ४. क. ग. घ. नैऋत्यकोणार्द्धे । ५-६. क. फाल्गुणं०; ख. पुस्तके नास्ति । ७. क. ०गोदावन्यां; ग. ०गोदानीं ।

कोणार्द्धस्थः पूर्वविदेहं गच्छति, पूर्वविदेहस्थोऽग्निकोणार्द्धं खण्डं व्रजति, पूर्वार्द्धस्थोऽपरकोणार्द्धं व्रजति, अपरकोणार्द्धस्थो दक्षिणजम्बूद्वीपं वज्रति इति द्वादशमासानां प्रतिसंक्रान्तिवशेन द्वादशखण्डेषु संचरणं ज्ञातव्यमिति ।

यन्मानं यत्र खण्डे भवति दिनवशात् सप्तमे तन्निशायां भवति । इह उत्तरायणसंक्रान्तौ दक्षिणखण्डे दिवामानं क्षीणं रात्रिमानं वृद्धम्; तदेवोत्तरकुरौ सप्तमे भूमिखण्डे आदित्योदयवशेन दक्षिणे रात्रिवृद्धिवशेन तन्मानं त्वत्र न भवति; जम्बूद्वीपे दक्षिणोदयवशेन सप्तमे रात्रिहानिवशेन ततो दक्षिणे भवति । एवं सर्वत्र प्रत्येकखण्डे वेदितव्यमिति ।

त्रिलक्षादर्द्धमार्गे* दिनमपि पुरतः पृष्ठतोऽर्कस्य रात्रिरिति । इह वृत्तमानं षट्लक्षम्; सूर्यस्य गमनादर्द्धमार्गे त्रिलक्षं दिनमिति । उदयास्तमनं यावदस्तमनादुदयं यावत् रात्रिः त्रिलक्षञ्च । एवमहोरात्रं वेदितव्यमिति† ।

इदानीं द्वादशखण्डस्थानान्मेरुस्थितिरुच्यते—

सर्वेषाञ्चोत्तरस्थो भवति नरपते शैलराजो जनानां
पूर्वे सूर्योदयः स्याद् गिरिसममयनं पश्चिमे चास्तमेतत् ।
कालाः सन्ध्याश्चतस्रः प्रहरदिननिशाः सर्वदा संक्रमन्तो
मेरोर्दिक्षु भ्रमन्ति प्रकटरविमहौ भेदिता लग्नभेदैः ॥६१॥

सर्वेषाञ्चोत्तरस्थो भवति नरपते शैलराजो जनानामिति । इह द्वादशखण्डे स्थितानां जनानां शैलराजो मेरुरुत्तरे भवति ।

पूर्वे सूर्योदयः स्यादिति सर्वेषां मेरोः सर्वखण्डस्थितानाञ्च यत्र भानुरुदयति सा पूर्वदिग् भवति; दक्षिणे जम्बूद्वीपस्थानां[1] पूर्वविदेहं पूर्वदिक्; अपरगो [69b] दान्यां जम्बूद्वीपं पूर्वदिगुत्तरस्थानामपरगोदानी पूर्वदिक्; पूर्वविदेहस्थानामुत्तरकुरुः पूर्वदिक्, सूर्यभ्रमणोदयवशादिति । एवं कोणस्थितेषु अष्टखण्डेषु ज्ञातव्यमिति । पञ्चपञ्चदण्डान्तरेण प्रत्येकखण्डे सूर्योदय इति । **गिरिसममयनमिति** प्रत्येकखण्डे गिरिसमं मेरोरभिमुखं सूर्यगमनमुत्तरे दक्षिणे च **पश्चिमे चास्तमेतत्**[2] । एवं द्वादशखण्डेषु यथापूर्वे उदयस्तथा पश्चिमेऽस्तमेतद् वेदितव्यमिति ।

कालास्त्रयः—प्रभातो मध्याह्नो विकाल इति । **सन्ध्याश्चतस्रः**—अर्द्धरात्रसन्ध्या पूर्वसन्ध्या मध्याह्नसन्ध्या विकालसन्ध्या । **प्रहरा अष्टौ (ष्ट)**—दिवायां[3] चत्वारः, रात्रौ चत्वारः । **दिननिशं (शाः) सर्वदा संक्रमन्तः**[4] । एवं कालादयो[5]ऽहोरात्रं सर्वस्मिन् काले संक्रमन्तः खण्डात् खण्डं **मेरोर्दिक्षु भ्रमन्ति** ।

---

१. क. ०स्थानम् । २. ख. चाष्टमेतत् । ३. क. ग. दिवा । ४. क. संक्रामन्तः ।
५. क. कालोदयो ।
*—† घ. पुस्तके नास्ति ।

प्रकटरविमहौ द्वादशारमह्यामिति[1]। **भेदिता लग्नभेदैरिति**। लग्ना द्वादश[2], तेषां भेदैर्भेदिताः कालादयो भ्रमन्ति। चतुश्चतुर्लग्नैः कालो भ्रमति; प्रत्येकप्रत्येकसन्ध्या त्रिलग्नैर्भ्रमति; प्रत्येकप्रहरः सार्द्धलग्नेन भ्रमति। एवं प्रत्येकलग्नं पञ्चदण्डैर्भ्रमति; अर्द्धप्रहरः प्रहरार्द्धेन भ्रमति; प्रहरार्द्धार्द्धेन[3] मुहूर्तं भ्रमति; षष्टिपाणीपलैर्घटिका भ्रमति; प्रत्येकपाणीपलं षट्श्वासैर्भ्रमति। एवमहोरात्रं श्वासभेदेन लग्नभेदेन कालो भ्रमति गच्छति देहिनामिति।

इदानीं मेरोः सर्वदिक्षु सूर्य[4]भ्रमणमानमुच्यते—

नाडचब्दे षट्सपादं च (न ?) क्रमति दिनकरो योजनानां सहस्रं
षष्ठीनामग्निलक्षं भ्रमति दिननिशं पञ्चशैलं सहस्रम्।
गोलार्द्धे खाग्नि नाडीर्वहति दिननिशं हानिवृद्धयोश्च पञ्च
गोले सव्याव(प)सव्यं प्रतिदिनमपि तत् श्वासयुग्मं त्रिलिप्तम्॥६२॥

नाडचब्धे(ब्दे) षट् सपादं क्रमति दिनकरो योजनानां सहस्रमिति। नाडचब्धे-(ब्दे) षष्ट्युत्तरत्रिशतश्वाससंख्याकाले षट्[70a]सपादं पञ्चाशत्द्विशताधिकषट्सहस्रमिति क्रमति दिनकरो योजनानां राशिस्थोऽयमाकाशेऽतो राशेरयं भ्रमणवेगो न सूर्यस्य रास्या(श्या)धारे[5] स्थितस्येति[6] अत्र राशिचक्रं सव्यावर्तेन भ्रमति, ग्रहराशिष्वव(प)सव्येन चरन्ति। यथा राशिचक्रं भ्रमति तथा राहुरपि संचरति पश्चिमाभिमुखो मेरोः प्रदक्षिणां कुर्वन्। ग्रहाः पूर्वमुखा मेरोर(रोः) प्रदक्षिणां कुर्वन्तो[7] राशिचक्रे संक्रमणं कुर्वन्ति। एवं परमार्थयुक्त्या राहुः पुण्यवान् सूर्यादयो[8] दुष्टाः पापग्रहा उच्यन्ते इति।

षष्ठीनामग्निलक्षमिति षष्ठीनां नाडीनामध्वे(ब्दे) काले षट्शताधिकैकविंशत्-सहस्रश्वाससंख्याकाले। अग्निलक्षं त्रिलक्षम्, **पञ्चशैलं सहस्रमिति** पञ्चसप्ततिसहस्र-संख्या योजनानां **भ्रमति; दिननिशमहोरात्रमिति**। **गोलार्द्धे खाग्नि नाडीर्वहति दिननिशमितीह** विशु(षु)वसंक्रान्तिदिने पूर्वोक्तगोलरेखायां खाग्निः त्रिंशन्नाडीरहो वहति, त्रिंशन्नाडी रात्रिं वहति, सूर्यः[9] सममहोरात्रमित्यर्थः। **हानिवृद्धचाश्चयं (हानिवृद्धयोश्च) पञ्च गोले सव्याव(प)सव्यमिति**। तस्माद् गोलार्द्धात् सव्याव(प)-सव्यमासत्रयेण सव्ये रात्रेर्वृद्धिः पञ्चनाडयः, अव(प)सव्ये मासत्रयेण दिनवृद्धिः पञ्चनाडयः। अत्र रात्रिवृद्धया दिवाहानिर्दिवावृद्धया रात्रेर्हानिः ज्ञातव्येति। **प्रतिदिनमपि**

१. घ. द्वादशारमुह्यामिति। २. क. द्वादशाः। ३. घ. प्रहरार्धेन। ४. क. ख. ग. पुस्तकेषु 'सूर्य' इति नास्ति। ५-६. 'राश्याधारे स्थितस्ये'ति पदं टीकाकारेण प्रतीकं मत्वा अत्र लिखितम्। 'षष्ठीनामग्निलक्षं' इति स्थाने यदि इदं प्रतीकं नियोजितं क्रियेत, तदा छन्दोदृष्टया सामञ्जस्यमपि भवति; तथापि भोटानुवादे 'इति' शब्दं अनादृत्य एतत् पदं प्रतीकात्मना न स्वीकृतम्। अथ च टीकाकारोल्लिखितस्य प्रतीकस्य मूले यदि संयोजनं क्रियेत 'षष्ठीनामग्निलक्षं' इति पदं निरवकाशं भवेत्। अतः अनेनाधारेणात्र मूले परिवर्तनं न विहितम्।
७. क. ख. ग वेंकुन्ति। ८. क. सूर्योदयो। ९. ग. पुस्तके नास्ति।

तत् श्वासयुग्मं त्रिलिप्तमिति। अत्र सव्याव(प)सव्ये त्रिमासानां प्रतिदिनमहोरात्रे वृद्धिर्हानिर्वा श्वासद्वयं त्रीणि पाणीपलानि। T 282

इदं मानं कैलाश(स)खण्डे, नार्यविषयादिके। आर्यविषये च प्रत्यहोरात्रलिप्ता द्वयं (पाणीपलानि) वृद्धिर्वा हानिर्वा वेदितव्या; मासत्रयेण मध्यविश्रु(षु)वात् त्रिंशद-होरात्रतुल्यमानान् नाडीत्रयं हानिर्वा वृद्धिर्वा अयनवशाद् वेदितव्येति।

(70b) इदानीं कैलाश(स)खण्डभेदेन द्वादशलग्नानामुदयकाल उच्यते—

लिप्ता स्यान्मेषलग्ने　गगननवकरं खर्तुनेत्रं वृषे　स्यात्
युग्मेऽप्याकाशखब्दे　शररसघटिकाः स्युः कुलीरे च सिंहे।
कन्यायां सार्द्धषट्कं भवति खलु तुलाद्युत्क्रमेणैव सर्वं
षड्लग्नैरस्तमेतदुदितमपि　तथाऽर्कनक्षत्रभेदैः ॥६३॥

लिप्ता स्यान्मेषलग्ने इति। इह मेषलग्ने प्रथमोदयादपरलग्नोदयं यावत् कालो भवति। गगननवकरं लिप्तापाणीपलपिण्डं नवत्यधिकशतद्वयम्, अतः षष्टिभागेन घटिकाचतुष्टयं पञ्चाशत् पाणीपलानि मेषलग्नोदयकाल इति कैलाश(स)विषये नियमः। खर्तुनेत्रं वृषे स्यादिति। एवं वृषलग्नोदयकालः षष्ट्युत्तरशतद्वयं पाणीपल-पिण्डं चतस्रो नाड्यो विंशतिपाणीपलान्युदयकालः।

युग्मेऽप्याकाशखब्दे युग्मेऽपि[1] मिथुने उदयकालः शतद्वयं लिप्तापिण्डं नाड्यस्तिस्रः पाणीपलानि विंशतिरिति। स(श)ररसघटिकाः स्युरिति शर(:) पञ्चघटिका कुलीरे कर्कटलग्ने उदयकालः। ततः सिंहे रस इति षट्घटिकालग्नोदये काल इति कन्यायां सार्द्धषट्कं कन्यालग्नोदयकालः षट् घटिका त्रिंशत् पाणीपलानि सार्द्धषट्कं भवतीति। तुलाद्युत्क्रमेणैव सर्वम्। अतः षड्लग्नकालावधेरपरषड्लग्ने तुलादिषूत्क्रमेण। एवमनेन विधिना सर्वं निःशेषं भवतीति नियमः।

अत्र लग्नोदयकाले तुलायां षट् घाटिका त्रिंशत् पाणीपलानि; वृश्चिके षड्, धनुषि पञ्च, मकरे तिस्रो नाड्यः, पाणीपलानि विंशतिरिति; कुम्भे चतस्रो नाड्यः, विंशति पाणीपलानि; मीने घटिकाश्चतस्रः, पाणीपलानि पञ्चाशदिति कैलासविषये नियमः।

षड्लग्नैरस्तमेतदुदितमिति, तथा हि—यस्मात् षड्लग्नैरुदितमपि तस्मात् अस्तमेतद् भवतीति। अर्कस्य नक्षत्रभेदैरिति सार्द्धत्रयोदशनक्षत्रान्ते अस्त[2]मेतदुदयस्तथा सार्द्धत्रयोदशनक्षत्रान्ते अहोरात्रभेदेन षड्लग्नैः सार्द्धत्रयोदशनक्षत्रैर्दिवाकालो भवति; षड्लग्नैः सार्द्धत्रयोदशनक्षत्रै रात्रिकालो भवति; लग्नोदयकालवशेन दिवारात्रि(:) हीनाधिको(ा) भवति, सूर्यसञ्चारवशादिति।

---

१. क. ख. ग. पुस्तकेषु 'अपि' इति नास्ति। २. ख. अष्ट।

इदानीं देहे मध्यमा(म)वर्षशतदिनश्वासादिकमुच्यते **विंशत्येके सहस्र** इत्यादि—

विंशत्येके सहस्रे रसशतसहिते निर्गता दन्तभागैः
देहे श्वासाधिका ये प्रतिदिनसमये भूतशैलर्तु संख्याः ।
षट्[71a]त्रिंशद्भिः सहस्रैर्गुणितमपि शताब्दस्य मानं प्रसिद्धं
शून्यर्त्वग्निप्रभक्ता प्रभवति घटिका षष्टिभागाद् दिनं च ।। ६४ ।।

विंशत्येके सहस्रे अयुतद्वये सहस्राधिके **रसशतसहिते** षट्शतयुक्ते इति । **निर्गता दन्तभागैरतो**(रिति) राशे[1] द्वात्रिंशद्भागैर्निर्गता । **देहे** शरीरे **श्वासाधिका ये प्रतिदिनसमये** द्वादशलग्नं संक्रान्तिकाले **भूतशैलर्तु संख्या** पञ्चसप्तत्यधिकषट्शतसंख्या **षट्त्रिंशद्भिः सहस्रैर्गुणितमपि शताब्दस्य मानं प्रसिद्धम्;** ते श्वासा वर्षशतदिनैः षट्त्रिंशद्भिः सहस्रैर्गुणिता वर्षशतश्वासमानं ते भवन्ति । अत्र प्रत्यहं त्रिनाडीश्वासाः षोडशशताधिकद्वयायुतसंख्या वर्षशतादिनैर्गुणिता षट्सप्तति[2]लक्षाधिकसप्तसप्ततिकोट्यो भवन्ति । तेभ्यो द्वात्रिंशद्भागेन लब्धास्त्रिचत्वारिंशल्लक्षाधिककोटिद्वयसंख्या **मध्यमाया** अवधूत्याः श्वासा भवन्ति; अवशिष्टास्त्रयस्त्रिंशल्लक्षाधिकपञ्चसप्ततिकोट्यो **ललना-रसनयोः** पञ्चमण्डलवाहकाः समभागतोऽर्द्धा **ललनावाहकाः,** अर्द्धा **रसनावाहका** वामसव्यतो वर्षशतावधेरिति ।

शून्यर्त्वग्निप्रभक्ता प्रभवति घटिका । ततः श्वासराशेः षष्ट्युत्तरत्रिशतेन प्रभक्ता लब्धा घटिका राशिर्भवति **षष्टिभागाद् दिनं च ।** ततो घटिकाराशेः षष्टिभागेन लब्धं दिनपिण्डं भवति **मध्यमायाः** पञ्चविंशत्यधिकैकादशशतसंख्या षट्त्रिंशत्सहस्रेभ्योऽवशिष्टं दिनपिण्डं पञ्चसप्तत्यधिकाष्टचत्वारिंशच्छतोत्तरमयुतत्रयं **ललनारसनयोर्वर्ष-शतावधेर्ज्ञातव्यमिति ।**

इदानीमष्टग्रहाणां वर्षशतमानं सार्द्धचक्रप्रभोगत एकपिण्डत्वेन[3] **कालचक्ररहित-**मुच्यते—

चन्द्रे पक्षे रवौ चायनमपि नव मासाश्च भौमे च रात्रिः
षड् वर्षाः स्युर्गुरोः स्यादयनमपि भृगोश्चायनं चन्द्रसूनो(:) ।
तिथ्याख्याब्दानि शौ(सौ)रोऽतमिनि नव तथा केतुहीना* च राजन्
तत् सर्वं चैकपिण्डं वसुगुणितयुगाब्दानि साद्र्धत्रिमासाः ।। ६५ ।।

[71b] **चन्द्रे पक्ष** इत्यादि । चन्द्रे पक्षश्चन्द्रस्य पक्ष एकस्त्रिंशद्दण्डात्मकं रात्रं भवति, अद्र्धराशिचक्रोपभोगतः । **रवौ चायनमपि** (इति)[4] रवेरयनम(मेवा)[5]र्द्धमहो-

१. क. ख. राशै । २. ख. षट्सप्तत्रि० । ३. घ. एकपिण्डकत्वेन ।
४. भोटानुसारम् । ५. भोटानुसारम् ।
* 'केतुहीना च राजन्' इत्यंशस्य अत्र संस्कृते यथा व्याख्या न दृश्यते तथैव भोटानुवादेऽपि नास्ति ।

रात्रं **भवति, अर्द्धचक्रोपभोगतः। नव मासाश्च भौमे च रात्रिरिति करणविवक्षा। एवं गुरोः षड् वर्षाः स्युः। यथा रवेस्तथा अयनमपि भृगोश्चायनं चन्द्रसूनोर्बुधस्य च तिथ्याख्यान्दानि† पञ्चदश वर्षाणि, सौरो (रेः) शनैश्चरस्य तमिनि राहोर्नव वर्षाणि अहोरात्रार्द्धमर्द्धनक्षत्रचक्रोपभोगतो भवति। तत् सर्वं चैकपिण्डं वसुगुणितयुगाब्दानि, द्वात्रिंशदब्दानि, सार्द्धत्रिमासा भवन्ति, सत्त्वगुणविभागे सत्त्वानाम्।

संख्या सार्द्धे दिने चाब्दशतमपि भवेत् कालचक्रोनमत्र
प्राणाः सत्त्वे वहन्त्यारजसि तमसि वै कायवाक्चित्तभेदैः।
पञ्चत्वं यान्ति तस्मात् सुरनरभुजगाः सार्द्धरात्रेण चेन्दो-
रेषा संख्या प्रसिद्धा भवति सुनियता कालचक्रे नरेन्द्र ॥ ६६ ॥

संख्या सार्द्धे दिने शा(सा)र्द्धनक्षत्रचक्रोपभोगतः, सत्त्वरजस्तमोभेदेनाब्दशतमपि भवेत् कालचक्रोनमिति। त्रिवर्षत्रिपक्षोनं सार्द्धदशमासाधिकं षण्णवतिवर्षपिण्डं भवत्यष्टग्रहाणामेकपिण्डत इति। प्राणाः सत्त्वे वहन्ति। अत्र सत्त्वानां सार्द्धत्रिमासाधिकद्वात्रिंशद्वर्षाणि यावत् प्राणाः सत्त्वे सत्त्वगुणा वहन्ति[1]। तत आरजसि तेनैव मानेन, ततस्तमसि वै तेनैव क्रमेण[2] पञ्चत्वं यान्ति। तस्मादवधेस्सत्त्वरजस्तमोऽवशा(सा)नतः सुरनरभुजगाः स्वस्ववर्षशतमानतः। सार्द्धरात्रेण चेन्दोः त्रिपक्षेण कालचक्रस्येति; चकारात् पूर्वत्रिवर्षेणात्र पञ्चत्वं मरणं व्रजन्ति संसारिणः।

"शतायुर्वै पुरुषः शतेन्द्रियः" (ऐ० ब्रा० २।१७।४।१९)[3] इति वचनाल्लोकव्य-[72a]वहारः, परमार्थयुक्त्या नियमाभावः; सत्त्वानां स्वस्वकर्मवशादुत्पादो निरोधश्चावगन्तव्यो बौद्धैरिति। "शतायुर्वै पुरुषः शतेन्द्रियः" इति सन्ध्याभाषा। पुरुषश्चतुर्युगात्मा द्वययुताधिकत्रिचत्वारिंशल्लक्षवर्षश्वासलक्षणो बाह्ये, अध्यात्मनि तेनैव श्वासमानेन चतुर्युगात्मा, यस्मिन् काले सर्वग्रहाणां शून्ये चरणप्रवेशो भवतीति परमार्थयुक्तिः। सत्त्वानां पुनः शुभाशुभवशेन ऊनाधिकमायुर्भवति, न शतायुरिति नियमः, तथागतवचनादिति।

एषा संख्या प्रसिद्धा भवति सुनियता कालचक्रे तन्त्रराजे। नरेन्द्र इत्यामन्त्रणं T 283
वज्रपाणेः सुचन्द्रस्येति।

१. घ. भवन्ति। २. 'कायवाक्चित्तभेदैः' इत्यंशस्य व्याख्या संस्कृते भोटे वाऽपि नास्ति। ३. द्र०—पृ० ७६।

**—†. घ. पुस्तके 'भवति' इत्यारभ्य 'तिथ्याख्याब्दानि' इति यावत् अधोलिखितः पाठक्रमः—

'भवति, षड् वर्षाः स्युः, यथा रवेस्तथाऽयनमपि; भृगोश्चायनं चन्द्रसूनोर्बुधस्य च तिथ्याख्याब्दानि ·अर्द्धचक्रोपभोगतः, नव मासाश्च भौमेश्च रात्रिरिति करणविवक्षा; एवं गुरोः'।

अयं भोटानुसारं नास्ति।

इदानीं **मध्यमावधूत्याः** षष्ट्यंशा घटिका पञ्चग्रहाणां नक्षत्रोदयचरणघटिका मङ्गलादीनां पिण्डमुच्यते **नोच्छिन्नमित्यादि**—

नोच्छिन्ने कालचक्रे त्वयनऋणनव क्षेपयित्वा समस्तं
पञ्चानां शीघ्रकर्मण्यपि चरणघटी मङ्गलादिग्रहाणाम् ।
भौमे वेदर्तुवह्निः प्रभवति भुवनस्थानके चारभेदै-
स्तुल्याः पूर्वापरार्द्धे त्वृणधनगतिषु स्थानभेदैर्नियोज्याः ।। ६७ ।।

नोच्छिन्ने कालचक्रे । त्रिवर्षत्रिपक्षदिने अच्छिन्ने पञ्चविंशत्यधिकैकादशशते **अयने ऋणनव,** गर्भनवमासे ऋणघटिका नव **क्षेपयित्वा समस्तं** घटिकापिण्डं चतुःत्रिंशदधिकैकादशशतसंख्या **पञ्चानां शीघ्रकर्मणि** नक्षत्रकर्मणि[1]; **अपि चरणघटी मङ्गलादीनां ग्रहाणां** भवति। **भौमे**[2] **वेदर्तुवह्नि**स्तेभ्यो मङ्गले चतुःषष्ट्युत्तरत्रिशतसंख्या भवति[3]; घटिकापिण्डं **भुवनस्थानके** चतुर्दशचरणपदे सार्द्धत्रयोदशनक्षत्रभोगतः; **चारभेदैश्च**तुर्विंशत्यादिभेदैः; **तुल्याः पूर्वापराद्र्धे,** नक्षत्रचरणवशात् पूर्वार्द्धे द्व्यशीत्य-[72b]धिकशतम्, अपरार्द्धे[4] द्व्यशीत्यधिकशतं[5] च नक्षत्राणामर्द्धार्द्धेत इति। **ऋणधनगतिष्विति**। उत्क्रमेण ऋणगतिषु क्रमेण धनगतिषु **स्थानभेदैर्नियोज्याः**; आदित्यमण्डलादुदितं नक्षत्रं प्रथमस्थानम्, तस्मात् स्थानभेदादपरचतुर्दशस्थानानि, तैः स्थानभेदैस्ता घटिका नियोज्या इति ।

आदौ जैनेन्द्रसंख्या प्रभवति घटिका वह्निनेत्रं त्रिधा च
द्विस्था सैकाक्षिरष्टादशकतिथिहरा वह्निमूलाद् वरश्च ।
अष्टत्रिंशत्त्वशीतिः स्थितिभुवनपदे सत्रिपञ्चाशदत्र
तस्मिन्नर्के विशुद्धे त्वृणमपि च धनं चोत्क्रमेण क्रमेण ।। ६८ ।।

आदौ जैनेन्द्रसंख्या प्रथमनक्षत्रभुक्तिपदे चतुर्विंशतिः, **वह्निनेत्रं त्रिधा च प्रभवति** त्रयोविंशतिः, प्रथमस्थानात् द्वितीये तृतीये चतुर्थे भवति **त्रिधेति**। **द्विस्था सैकाक्षिः,** ततश्चतुर्थस्थानात् पञ्चमे षष्ठे स्थाने, एकविंशतिः द्विस्था इति। **अष्टादशकतिथिहराः**। ततः षष्ठस्थानात् सप्तमे अष्टमे नवमे स्थाने यथासंख्यमष्टादश,तिथिरिति पञ्चदश,हरा इति एकादश। **वह्निमूलाद् वरश्चा**तो नवमस्थानाद् दशमस्थाने वह्निरिति त्रयश्चारास्ततो मूलादपराद्र्धमपराद्र्धे हरा एकादश एकादशे स्थाने। **अष्टत्रिंशदशीतिः** द्वादशे अष्टत्रिंशत्, त्रयोदशे अशीति **स्थितिभुवनपदे** चतुर्दशपदे **सत्रिपञ्चाशदत्रे**ति, त्रिभिः सह पञ्चाशत् सत्रिपञ्चाशदिति, त्रयः पञ्चाशदत्र चतुर्दशपदे नियमः। **तस्मिन्नक्ष**-त्राद्र्धचक्रे **अर्के विशुद्धे** सति **ऋणमुत्क्रमेण** भवति, **धन क्रमेण** भवति, मङ्गलादीनां ऋणं नक्षत्रभोगे हेयं धनं देयमिति ।

१. ख. पुस्तके 'नक्षत्रकर्मणि' इति नास्ति। २-३. घ. पुस्तके 'भौमे' इत्यारभ्य 'भवति' इति पर्यन्तं नास्ति। ४–५. घ. पुस्तके 'अपरार्द्धे द्व्यशीत्यधिकशतं' इति अधिकः ।

वेदाद्रन्ध्रेन्दुसंख्या प्रभवति घटिका शीघ्रकार्ये बुधस्य
द्विस्थाने षोडशान्ये तिथिमनुमदना रुद्रशैलेन्द्रियं खम्[73a] ।
मूलाद् वेदाद्धरश्च प्रकटितनियतं द्वादशे विंशतिश्च
अष्टाविंशच्चतुर्स्त्रिंशदपि मनुपदे संस्थिताश्चारभेदैः ॥ ६९ ॥

वेदाद्रन्ध्रेन्दुसंख्या प्रभवति घटिका शीघ्रकार्ये बुधस्येति । इह चतुर्नवत्यधिकशतघटिकापिण्डं बुधस्य, यथा मङ्गलस्य चतुर्दशस्थाने स्वकीयघटिकापिण्डं तथा बुधस्याप्यवगन्तव्यम् । शीघ्रकर्मणि नक्षत्रकर्मणीति **द्विस्थाने षोडशेति** प्रथमस्थाने षोडश, द्वितीयस्थानेऽपि षोडश । **अन्ये तिथिमनुमदना** इति तृतीये पञ्चदश, चतुर्थे चतुर्दश, पञ्चमे त्रयोदश । **रुद्रशैलेन्द्रियं खम्** । षष्ठे एकादश, सप्तमे सप्त, अष्टमे पञ्च, नवमे शून्यमिति । **मूलाद् वेदाह(द्ध)रश्चेति** । ततो नवमस्थानान्मूले अपरार्द्धे दशमस्थाने चत्वारः, एकादशे एकादश, **द्वादशे विंशतिः**, त्रयोदशे **अष्टाविंशतिः**, चतुर्दशे **चतुर्स्त्रिंशदपि** स्थापनीयाः । एवं यथाक्रमेण **संस्थिताश्चारभेदैर्घटिका** बुधस्य वेदितव्येति ।

अब्ध्याकाशेन्दुसंख्या भवति हि घटिकापिण्डमेतद् गुरोश्च
द्विस्थाने दिक्प्रमाणा नववसु ऋतवः षट्करेन्दुश्च मूलात् ।
वह्निः षडरन्ध्ररुद्रा नरपतिमुनयः सर्वचाराः क्रमेण
शीघ्रे मन्दे च वक्रे ग्रहगणनियमः सूर्यभेदैश्चरन्ति ॥ ७० ॥

अब्ध्याकाशेन्दुसंख्या चतुरुत्तरशतघटिकापिण्डं **गुरोश्च**तुर्दशस्थाने विभञ्जितं चारभेदेन **भवति** । तस्माद् घटिकापिण्डाद् **द्विस्थाने दिक्प्रमाणा** दश प्रथमस्थाने, द्वितीये दश, **नवमे**[1] **वसु**[2] **ऋतव** इति तृतीये नव, चतुर्थे अष्ट, पञ्चमे षट् । **षट्करेन्दुश्चेति** षष्ठे षट्, सप्तमे द्वौ, अष्टमे एकः । **मूलादपरार्द्धाद् वह्निः षड्रन्ध्ररुद्रा** इति नवमे तिस्रः, दशमे षट्, एकादशमे(शे) नव, द्वादशमे(शे) एकादश । **नरपतिमुनय** इति त्रयोदशमे(शे) षोडश, चतुर्दशमे(शे) पदे सप्त ; **सर्वचाराः** [73b] **क्रमेणेति** । एवं सर्वचरणघटिका यथानुक्रमेण सर्वग्रहाणां वेदितव्येति; **शीघ्रे** शीघ्रचारे उदितग्रहस्य पूर्वार्द्धे, **मन्दे** चापरार्द्धे च(व)क्रे उत्क्रमेण पूर्वार्द्धे; चकारादुत्क्रमेणापरार्द्धे निर्गमे **ग्रहगणनियमः सूर्यभेदैः** सूर्यात् विशुद्धिभेदैश्च**रन्तीति** ।

षट्चन्द्राम्भोधिसंख्या भवति हि घटिका (:) शीघ्रकार्ये भृगोश्च
त्रिस्थाने पञ्चविंशद् द्विजिन [इति] तथा हस्तनेत्रं द्विधा स्यात् ।
दोषास्तिथ्यष्टमूलात् षडपि च खगुणं चैकहीनं शतं च
अन्ते वह्न्यद्रिसंख्यं स्थितिभुवनपदे शुक्रचारा(:) क्रमेण ॥७१॥

१–२. क. नवसु ।

षट्चन्द्राम्भोधिसंख्या इति षोडशाधिकशतचतुष्टयं पिण्डमेतच्चतुर्दशस्थाने भृगोः शुक्रस्य **भवति**। तस्मात् **घटिकास्त्रिस्थाने पञ्चविंशदिति** प्रथमस्थाने पञ्चविंशदेवं द्वितीये तृतीयेऽपि **द्विजिन** इति चतुर्थे चतुर्विंशति(ः), पञ्चमेऽपि **तथा हस्तनेत्रं द्विधा स्यादिति** षष्ठे द्वाविंशतिः। सप्तमेऽपि **दोषा[स्]तिथ्यष्ट** इति; अष्टमे अष्टादश, नवमे पञ्चदश, अष्टमे अष्ट, **मूलात्** ततोऽपरार्द्धात् **षडपि च खगुणमिति**। एकादशे षट्, द्वादशे त्रिंशत्, त्रयोदशमे(शे) **एकहीनं शतम्**। **अन्ते** चतुर्दशमे(शे) **वह्निचद्रिसंख्यमिति** त्रिसप्ततिरिति। **स्थितिभुवनपदे** चतुर्दशपदे[1] **शुक्रचाराः** क्रमेणावगन्तव्या इति।

सौरेः षड्भूतसंख्या प्रभवति घटिकापिण्डमेतन्नरेन्द्र
षड्भूताभूतवेदा जलनिधिनयनं युग्मशून्याश्च मूलात्।
पक्षौ वेदाश्च भूता रसवसुशिखिन(ः) स्थापनीयाः क्रमेण
एवं चारो ग्रहाणां भवति सुनियतः कालचक्रे समस्तः ॥७२॥[74a]

सौरेः षड्भूतसंख्या इति षट्पञ्चाशत्**घटिकापिण्डं** चतुर्दशस्थाने मन्दस्य **भवति**; तस्मात् **षड्भूताभूतवेदा** इति प्रथमपदे षट्; द्वितीये पञ्च, तृतीयेऽपि; चतुर्थे चतस्रः। **जलनिधिनयनमिति** पञ्चमे चतस्रः, षष्ठे द्वे, सप्तमे **युग्ममिति** द्वे, अष्टमे **शून्यम्**। **मूलात्** तस्मादपरार्द्धे। **पक्षो(क्षौ) वेदाश्च भूता** इति नवमे द्वे, दशमे चतस्रः, एकादशे पञ्च; **रसवसुशिखिन** इति द्वादशे षट्, त्रयोदशेऽष्ट, चतुर्दशे तिस्रो नाड्यः **स्थापनीयाः क्रमेण** शनैश्चरस्य चतुर्दशस्थाने। **एवं चारो ग्रहाणां भवति सुनियतः कालचक्रे समस्त** इति **मध्यमायां** वर्षशतं श्वासदिनचक्रे **कालचक्रे** इति ग्रहाणामुदयचारघटिका भोग इति।

इदानीं मन्द्रकार्ये जन्मराशिघटिकामन्दपदान्युच्यन्ते—

षट्त्रिंशत्साद्धंमासाः खलु वसुगुणिता मन्दकार्ये पदानि
नेत्रा[द्] रन्ध्राक्षिसंख्या भवति च घटिका मङ्गलादिग्रहाणाम्।
तत्त्वान्यष्टादशाद्रिः स्थितिरवनिसुतस्यापरे पूर्वभागे
दिक्शैलाग्नी बुधस्येशनवतिशिखिगुरोः पूर्वभागेऽपरे च ॥७३॥

षट्त्रिंशदित्यादि। षट्त्रिंशत्साद्धंमासास्त्रिवर्षाणां षट्त्रिंशन्मासाः त्रिपक्षाणां पक्षमेकं गृहीत्वा **खल्विति** निश्चितम्। **वसुगुणिता** इति शब्दस्पर्शरूपरसगन्धसत्त्वरजस्तमोऽष्टगुणाः, एभिरष्टगुणैर्गुणिता **मन्दकार्ये** पञ्चग्रहाणां **पदानि** भवन्ति। **नेत्राद्**
T 284 **रन्ध्राक्षिसंख्या**, द्वानवत्यधिकं द्विशतसंख्या राशिघटिका भवन्ति। तस्मात् प्रकट**मङ्गलादीनां** षट्पदेषु पूर्वार्द्धेऽपरार्द्धे उत्क्रमेण ज्ञातव्या। **तत्त्वान्यष्टादशाद्रिः**

१. क. पुस्तके नास्ति।

स्थितिरवनिसुतस्यापरार्द्धे पूर्वभागे इति। तत्त्वानीति[1] पञ्चविंशतिः, **अष्टादश, अद्रीति** सप्त; **अवनिसुतस्य** मङ्गलस्यापरार्द्धे पूर्वभागे, एषां क्रमेणे[74b]ति[2]। एवं **दिक्शैलाग्नी बुधस्य** इति[3] दिक् दश, शैलाः सप्त, अग्निः तिस्र[4] इति। **तथेशनवशिखिगुरोः**। एकादशनवशिखीति[5] त्रयः गुरोर्बृहस्पतेः। शेषं पूर्वोक्तक्रमेणेति[6] **पूर्वभागेऽपरभागे च**।

शुक्रस्येष्वब्धिचन्द्रा भवति च शशि(नि)नः साक्षिनेत्रं दिनर्तु-
र्मासे भौमस्य भुक्तिश्च नवतिघटिका पञ्चलोकेन्दुसंख्या।
शुक्रस्येवं बुधस्यापि खरसहुतभुक् पिण्डमेकीकृतं स्यात्
एतन्मासत्रयेणाब्ददिनऋणघटी भुक्तिरेषां त्रयाणाम् ॥७४॥

एवं **शुक्रस्येष्वब्धिचन्द्राः**—

शुक्रस्येत्यादि[7]। **इषु(:)** पञ्च, **अब्धिरिति** चत्वारि, **चन्द्र** एकः[8]।

एवं **शशि(नि)*नः साक्षिनेत्रं दिनर्तुः भवति**। साक्षिनेत्रं द्वाविंशति(:), दिन (ं) पञ्चदश, ऋतु (:) षट्; असौ क्रमः पूर्वमुक्त इति।

एवं कालचक्रमासपरिभोगाष्टगुणिता षष्ट्यंशा राशिचरणघटिका वेदितव्येति।

इदानीं पञ्चग्रहाणां मङ्गलादीनां त्रिराशिपरिभोगात् त्रिवर्षदिनतुल्यघटिकापरिभोग उच्यते **मास** इत्यादिना—

मासे भौमस्य भुक्तिश्च नवतिघटिकेति[9] लोकरूढिः[10]; स्वरूपतो मण्डलभागेन लब्धा घटिका भवन्ति। मासोऽपि सार्द्धत्रिंशद्दिनैर्भवति। तेन सिद्धान्तमानेन बृहस्पतिशनिभोगेन सार्द्धं नवतिघटिका त्रयाणां ग्रहाणां सूर्ये विशोधितानामिति सिद्धान्तः; **पञ्चलोकेन्दुसंख्या शुक्रस्य** न युक्तम्[11], सिद्धान्तप्रामाण्यात्। सूर्यभोगो यतः शुक्रे विशोधितः शुक्रो भवति; तेन पञ्चत्रिंशदधिकशतं शुक्रस्य मासपरिभोगं घटिकापिण्डम्। **बुधस्याप्येवम्। खरसहुतभुक् पिण्डमेकीकृतं** तत् षष्ट्युत्तरत्रिशतघटिकापिण्डं भवति

१-२. घ. पुस्तके 'तत्त्वानि' इत्यारभ्य 'क्रमेणेति' इति यावत् नास्ति; अयमंशो भोटानुवादेऽपि नास्ति। ३-४. घ. पुस्तके 'इति' आरभ्य 'तिस्र' पर्यन्तं नास्ति; अयमंशो भोटानुवादेऽपि नास्ति। ५-६. घ. पुस्तके 'एकादशः' इत्यारभ्य '०क्रमेणेति' इति पर्यन्तं नास्ति; अयमंशो भोटानुवादेऽपि नास्ति।

७-८. घ. पुस्तके 'शुक्रस्य०' इत्यारभ्य 'चन्द्र एकः' इति पर्यन्तं नास्ति। भोटानुवादे तु 'शुक्रस्य०' इत्यारभ्य 'ऋतुः षट्' इति पर्यन्तं नास्ति। ९-१०. घ. नवति त्रिलोकघटिः।

११. घ. पुस्तके 'युक्तम्' इत्यतः ८६ श्लोके 'शशिचरणवशात्' इति पर्यन्तं त्रुटितम्।

*. भोटानुसारम्।

पञ्चानाम्। **एतन्मासत्रयेणाब्ददिनऋणघटी**, अशीत्युत्तरसहस्रघटी, **भुक्तिरेषां त्रयाणा-मिति** सिद्धान्तकट(ा)क्षवचनात् **मञ्जुश्रिया** गदितम् [75 a]।

मासे भुक्तिर्गुरोः स्यात् प्रकटितघटिका रुद्रपादाससंख्या
त्रिंशत् पाणोपलानि स्फुटयुगघटिका सूर्यपुत्रस्य भुक्तिः।
एकीभूता दिनाख्या त्रिगुणितमपि तत् साद्र्धमासः सरात्रः
भर्तुर्भुक्तौ दिनानां प्रतिदिवसमृणं षट्ग्रहाणां च भुक्तिः ॥७५॥

मासे भुक्तिर्गुरोः स्यादित्यादि सिद्धान्तवृत्तमिदं कटाक्षार्थमुक्तं लोकरूढिक्षयार्थम्। अत्र ये त्रिपक्षास्ते केतूदयभोगसम्बन्धिनः पञ्चग्रहाणां मूलसिद्धान्ते उक्ताः, अतो न ते बृहस्पतिशनिनोर्भोगे देया इति[1]।

इदानीं राहुभोगात् केतुभुक्तिरुच्यते—

मासैकं मन्दकर्मण्यपि च धनविभोर्नानुभुक्तं ग्रहैर्यत्
तस्माद् वै साद्र्धसप्तत्रिगुणितघटिका भुक्तिरत्रैव मासे।
राहोर्मासस्य भुक्तिः सरविशशिपदं चार्द्धनाडीविहीनं
तिस्रोऽर्कस्यायनाड्यो(द्ये) शशिमदनदिने पञ्च चन्द्रस्य नाड्यः ॥ ७६ ॥

मासैकमित्यादि। इह प्राङ्**मन्दकार्ये** साद्र्धषट्त्रिंशन्मासावशेषं यन्मासं **ग्रहैर्नानुभुक्तं** तदेव मासमष्टगुणाहतं ततः षष्ठ्यंशेना[2]ष्टघटिका ग्राह्या, तासु **साद्र्धसप्त-घटिका** राहोर्मासपरिभोगः। त(अ)त्रैवेति **सूर्यमास**प्रमाणे **राहोर्मासस्य भुक्तिः**। **सरविशशिपदमिति** रवेः सत्त्वरजस्तमासि त्रिपदानि, शशिनो गन्धरसरूपस्पर्शशब्दगुणाः पञ्चपदानि; एतान्यष्टपदानि राहो साद्र्धसप्तघटिका[रूपा]णि शेषाद्र्धघटा निस्तमोरूपा इति, तया हीनं[3] **चाद्र्धनाडाविहानम्**[4]। **तिस्यो(स्रोऽ)र्कस्यायनाड्यं(द्ये)** मकरसंक्रान्तौ प्रथमपक्षे तिस्रो नाड्यः सत्त्वरजस्तमात्मिका धनभोगः। एवं कर्कटप्रथमपक्षे ऋणपरिभोग इति। **शशिमदनदिने** इति प्रथमदिने प्रथमपदे पिण्डस्थाने चतुर्दशभागावशेषे त्रयोदशमे(शे) वा **पञ्च चन्द्रस्य नाड्यो** भवन्ति पञ्चगुणात्मिका इति [75b]।

नो भुक्ता याद्र्धनाडी ऋतुदिनसमये सा कलाहीनचन्द्रा
सा सूर्यस्याधिका स्यात् खलु युगगुणिता सूर्यमासे दिनं तत्।
राहोर्मासस्य भोगान्नयनविगुणितात् पक्षभोगेन भक्तात्
लब्धाः केतोश्च नाड्यः प्रतिदिनसमये मासभोगाच्च राहोः ॥ ७७ ॥

---

१. इतः परं स्रग्धरांशस्य व्याख्यानं नोपलभ्यते, न चानुल्लेखस्य हेतुर्लिख्यते; यथा संस्कृते तथा भोटानुवादेऽपि नोपलभ्यते। अत एव अनुपलब्धांशस्य व्याख्यानं भोटदेशीयाचार्यैः खेस्-ड्रुब्-जे महाभागैः स्वटीकायां (Dus ʼḫKhor Tik Chen) कृतम्; तत्तु तत्रैव द्रष्टव्यम्।

२. ग. षष्ठ्यङ्गेन। ३. ग. हीनां। ४. ग. ०विहीनाम्।

नो भुक्ता यादर्धनाडी, राहुणा न भुक्ता, ऋतुदिनसमये चतुःषष्ठिदिने, सा कलाहीनचन्द्रा, चन्द्रस्य नष्टकलेत्यर्थः। सा सूर्यस्याधिका स्यात्, सूर्यस्य द्विनाडी भूत्वा अधिका प्रतिदिनयुगगुणिता 'वेदैस्तिथ्याहतम्' (का० त० १.३३) इत्यादिना; यन्मासमध्यदिनं तं तदेवाधिकं भवति। सूर्यमासे संक्रान्तिमासे दिनमेकमधिकं तदेव मध्यमाङ्गं वेदितव्यमिति। राहोर्मासस्य भोगान्नयनविगुणितादिति राहोः[1] ऋतुभोगात्[2] पञ्चदशघटिकातः पक्षभोगेन भक्तात्, पादोन[3]चतुर्भिर्भक्ताल्लब्धाः केतोश्च नाड्यः चतस्रः प्रतिदिनसमये; पुनर्मासभोगात् राहोः।

हृत्वा सप्तादर्धलिप्तां खलु गुणगुणिता शोधयेत् सूर्यभोगे
केतुः सूर्येण सार्धं विचरति पुरतः पृष्ठतः शीघ्रचारे।
चारे सार्धां द्विलिप्तां चरति दिनदिने सूर्यभोगात् क्रमेण
षट्त्रिंशद्भिः सु(स्व)मासैश्चरति सघटिका लोकतिथ्याहताश्च ॥ ७८ ॥

हृत्वा सप्तादर्धलिप्तां सप्तलिका(प्ता)स्त्रयः श्वासाः। एतास्त्रिगुणैर्गुणिताः सार्धद्वाविंशल्लिका(प्ता) भवन्तीति करणविवक्षा स्वरूपतः। सार्धैस्त्रिभिगुणैर्या यत्र सूर्यस्य प्रत्यहं चतस्रो नाड्यः षड्विंशतिपाणीपलानि भुक्तिरिति, शोधयेत् सूर्यभोगे करणविवक्षायाः[4]। असौ सूर्यभोगः प्रत्यहं चतस्रो घटिका विंशतिपाणीपलानि सिद्धान्ते षट्पाणीपलान्यधिकानीति, तस्मिन् सूर्यभोगे शोधयेत्, शोधितावशेषं चरणं भवति। केतुः सूर्येण सार्धं विचरति पुरतः शीघ्रचारे क्रमेण, पृष्ठतो वक्रचारे[5] उत्क्रमेण चरणं च[76a]रणं चरति। चारे सार्धां द्विलिप्तां चरति दिनदिने सूर्यभोगो(गा)त् क्रमेणोत्क्रमेण वा। षट्त्रिंशद्भिः सु(स्व)[6]मासैश्चरति सघटिका लोकतिथ्याहतं च(श्च)। त्रिभिः पञ्चदशाहतं पञ्चचत्वारिंशदिति।

सार्धं मासं द्विनाडी प्रतिदिनमुदयः शीघ्रवक्रेऽग्रपृष्ठे
सार्धं मासं हि यावद् भवति तदुदयो दृश्यते मर्त्यलोके।
भूयः श्रीकालचक्रे प्रविशति स यदा वर्षभोगेऽप्यदृश्यो
ज्ञाते तस्योदयांशे तदुदयमपि ज्ञायतेऽनन्तकालम् ॥ ७९ ॥

सार्धं मासं द्विनाडी प्रतिदिनमुदयः, त्रिवर्षावसाने लिप्ताभोगान् (सं)त्यज्य प्रत्यहं पक्षत्रयं यावद् द्विनाडीभोगः शीघ्रे अग्रे वक्रे[7] पृष्ठे। एवं सार्धं मासं यावत् तस्योदयः, किन्तु मासमेकं निर्धूमः; ततोऽन्तिमपक्षमेकं सधूमः; तेन सत्त्वानां प्रकटो धूमकेतुः। गमनागमनेन मासमेकं भवति, धूमत्यागेन नक्षत्रवत् प्रतिभाति। भूयः श्रीकालचक्रे त्रिवर्षभोगे प्रविशति स यदा वर्षभोगे तदाऽदृश्यो भवति। ज्ञाते तस्योदयांशे, एवं तस्य केतोरुदयांशे ज्ञाते सति, तदुदयमपि[8] यज्ज्ञायतेऽनन्तकालमिति।

१-२. क. राहोरन्तभोगात्। ३. ग. पादादौ। ४. ग. ०विवक्षायाम्। ५. ग. चक्रचारे। ६. भोटानुसारम्। ७. ग. चक्रे। ८. ग. तदुभयमपि।

इदानीं कालचक्रत्रिवर्षदिनानि पञ्चविंशत्तत्त्वगुणितानि अयनदिनहीनानि नवसहितानि ग्रहाणां मण्डलान्युच्यन्ते—

वर्षाहः पञ्चगुण्यं पुनरिषुनिहतं चायनाहः प्रहीणं
रक्तन्ध्रैर्मिश्रं भवन्ति स्वगतिगुणवशान्मण्डलानि ग्रहाणाम् ।
भौमे शैलाहिषट्कं भवति दिनगणं शैलरन्ध्रादिनागं
सौम्ये दन्ताग्निवेदं भवति सुरगुरोर्भार्गवेऽगोजिनाक्षी ॥८०॥

वर्षाहरित्यादि। वर्षाहोऽशीत्युत्तरमेकं सहस्रम्, त[76b]देव **पञ्चगुण्यं पुनरिषुरिति** पञ्चभिर्निहतं गुणितमित्यर्थः। एवं खण्डगुणितं पञ्चविंशद्गुणितं भवति। **अयनाहो**ऽशीत्युत्तरशतम्, तेन **हीनम्**, एकायने ग्रहाणां भुक्तिवशादेकायनदिनान्यूनी भवन्ति; **रन्ध्रैर्मिश्रो(श्रं)** भवति, रन्ध्रमिति नव, षट्त्रिगुणास्तैर्मिश्राणि दिनमण्डलानि **ग्रहाणां स्वस्वगतिवशात्** पञ्चानां **भवति(न्ति)**, एकपिण्डत एकोनत्रिंशदधिकाष्टशतोत्तरषट्सहस्रायुतद्वयम्, ततो **भौमे शैलाहिषट्कमिति** सप्ताशीत्युत्तारषट्शतं[1] **दिनगणं** भवति। **शैलरन्ध्रादिनागं** सप्तनवत्यधिकं सप्तशताष्टसहस्रं **सौम्ये भवति**। **दन्ताग्निवेदं** द्वात्रिंशदधिकत्रिशतचतुःसहस्रं **सुरगुरोर्भवति**। **भार्गवेऽगोजिनाक्षी** सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशतद्विसहस्रं भवति।

षट्षट्शैलाक्षरैकं (लाम्बरैकं) भवति दिनगणं मण्डलं सूर्यसूनो(:)
शैलर्त्वेकञ्च भौमे खलु भवति धनं चन्द्रपुत्रे शतघ्नम् ।
हीनं वह्नचर्कशैले दशगुणितदिनं भार्गवेऽब्ध्यष्टहीनं
शून्याकाशर्तु नेत्रं खकरफणियुतं(ग) मन्त्रिपुत्रो ऋणं स्यात् ॥८१॥

भौमे सार्द्धा नवार्द्धाधिकनृपति बुधे सूर्यसू(ऋ)क्षं गुरौ स्यात्
षट् शुक्रे दोषमंका(मर्का) वृणमिति सकल शोधयेद् भुक्तिमध्ये ।
पश्चाच्छुद्ध(द्धि)श्च तेषां भवति नरपते जन्मनक्षत्रचारात्
स्वाङ्गे नीचस्य शुद्धिर्भवति गतिवशादुच्चकस्यार्कमध्ये ॥८२॥

T 285 **षट्षट्शैलास्व(म्ब)रैकम्**[2], षट्षष्ठ्यधिकं सप्तशतायुतमेकं भवति **दिनगणं मण्डलं सूर्यसूनोरिति**। **शैलर्त्वेकञ्च भौम** इत्यादि पूर्वोक्तमिति टीकायां वृत्तद्वयं यावदिति।

इदानीं ग्रहाणां जन्मशुद्ध्यर्थं नक्षत्रसमुच्चयमुच्यते—

षण्मासैर्मासभुक्तं गुणितमपि भवेत् कालचक्राब्दमासै-
र्भागे लब्धं ऋणं स्यादपि रविशशिना नानुभुक्तादर्धनाडी । [77a]

---

१. ग. षट्षट्कं।

२. ग. ०शैलाम्बरैकम्; भो. Nam mKhah Cig (अम्बरैकम्)।

केतोर्भूयोऽधिकं यत् प्रतिदिनसमये गुण्यमिन्दोर्दिनेश्च
षष्ट्या भागेन नाडी प्रतिदिनसमये शीघ्रवक्रोदये च ॥८३॥

षण्मासैर्मासभुक्तमिति तदुपरि शुद्धिः सिद्धान्ते, किन्तु सत्त्वाशयवशेन करणापेक्षा इति। केतूदये पुनस्त्रिपक्षदिनैश्चारपदं गुणितं सार्द्धद्वादशाधिकशतलिप्तापिण्डं भवति। तदेव प्रतिदिने उदयात् **केतोर्भवति** इति कार्यं वेदितव्यम्। यादर्धनाडी ऋक्षऋणस्थाने लब्धेति मातृमोदकवाक्यं सत्त्वानां पाचनायेति।

इदानीं ग्रहाणां चारबलमुच्यते—

सौम्यो मन्त्री च शीघ्रे प्रभवति बलवान् भौमकेतू च वक्रे
मन्दः शुक्रश्च मन्दे प्रकृतिगुणवशात् शेषचारेऽबलाश्च।
शीघ्रे पूर्वा मुखाः स्युः पुनरपरमुखा वक्रचारे प्रविष्टा
मन्दे सव्याननाः स्युः स्वगतिगुणवशान्निर्गमे चोत्तरास्याः ॥८४॥

सौम इत्यादि। **सौम्यो** बुधः, **मन्त्री** बृहस्पतिः, **शीघ्रे** शीघ्रचारे उदितः सन् पूर्वार्द्धे **प्रभवति बलवानिति**। भौमश्च केतुश्च **भौमकेतू वक्रे** अर्द्धमण्डले परित्यक्ते उत्क्रमभोगात् बलवान् भवति। **मन्दः** शनिः **शुक्रश्च मन्द**क्रमेणापरार्द्धे बलवानिति। **प्रकृतिगुणवशाद्** वान्त(धातु)गुण[1]वशादिति। **शेषचारे** चारत्रये **अबलाश्च** भौमादय इति। **शीघ्रे पूर्वा मुखाः स्युः**, सर्वग्रहाः शीघ्रचारे पूर्वार्द्धे पूर्वा मुखाः स्युः; पुनस्ते[2] ते अपरमुखाः पश्चिममुखाः **वक्रचारे प्रविष्टाः** सन्तः, **मन्दे** क्रमेणापरार्द्धे **सव्यानभा**-(नना) भवन्ति। **स्वगतिगुणवशान्निर्गमे चो**त्क्रमेणापरार्द्धे उत्तरमुखा भवन्तीति। एतत् स्वरोदयभूमिबलार्थं वाक्यम्।

सूर्यचन्द्रपदान्युच्यन्ते—

मासैस्त्रिंशद्दिना ये जलनिधिनिहताः खाक्षिचन्द्रं यदीन्दो
राशीनां द्वादशानां युगगुणितपदं चाष्टवेदं रवेश्च[77b]।
तन्मध्ये हानिवृद्धी त्वयनगतिवशादुत्क्रमेण क्रमेण
चक्रार्द्धार्द्धे समस्ता वसुयुगगणना वेदितव्या नरेन्द्र ॥८५॥

मासैस्त्रिंशद्दिना ये जलनिधिनिहता, त्रिंशद्दिनाश्चतुर्भिर्गुणितास्ते, **खाक्षिचन्द्रं यदिन्दोः**, विंशत्यधिकशतंपदं भवति, चन्द्रस्य सप्तदिनावधेः कलावृद्ध्यर्थं वक्ष्यमाणे वक्तव्यम्। **राशीनां द्वादशानां** चतुर्भिर्गुणितानां **चाष्टवेदं रवेः** पदं षण्मासावधेर्भवति, तदेव वक्ष्यमाणे वक्तव्यम्। अत्र संग्रहमात्रेणैषां पदानां नियमः। **तन्मध्ये हानिवृद्धी त्वयनगतिवशादुत्क्रमेण[क्रमेण] चक्रार्द्धार्द्धे समस्ता वसुयुगगणना**, अष्टचत्वारिंशद् गणना **वेदितव्याः** करणविवक्षायामिति।

---

१ भो. Khams Kyi Yon Tan (धातुगुण)। २. क. यतस्ते।

इदानीं चन्द्रमण्डले राहुप्रवेशलक्षणमुच्यते **पर्वच्छेद** इत्यादि—

पर्वच्छेदे च राहोः प्रविशति शशिनो मण्डले मण्डलं च
सर्वग्रासो विशुद्धो भवति शशिवशान्मण्डलं षष्टिनाड्यः ।
अर्द्धग्रासोऽर्द्धशुद्धे भवति शशिवशान्नाडिका यावदस्ति
छेदो ग्रासो रवीन्दोर्दिननिशिसमये कृष्णशुक्ले च पूर्वे ॥८६॥

पर्वच्छेदे, पूर्णावसाने, अमावास्यावसाने वा, **राहोः प्रविशति मण्डले शशिनो मण्डलम्**; मण्डलशब्देनात्र षष्टिघटिका, एकनक्षत्रपरिभोगः, स च द्वादशराश्यात्मकः, षोडशकलात्मको वेदितव्यः, सर्वग्रासवशादिति, **सर्वग्रासो विशुद्धो भवति**। यदि राहुभोगेन चन्द्रभोगः परिशुद्धस्तदा सर्वग्रासः षष्टिनाडिकापर्यन्तम् । **अर्द्धग्रासोऽर्द्ध**भोगे **शुद्धे** सति **शशिचरणवशान्मण्डलं षष्टिनाड्यो**श्चन्द्रस्य षोडशकलात्मकम् । एवं **शशिचरणवशान्नाडिका यावदस्ति** राहुभोगे प्रविष्टा तावदेककलायाश्चतुर्थांशं यावद् ग्रहसमागमो ज्ञेय इति[1] ।

एतत् सिद्धान्ते राहो[78a]र्व्यंजनादिकं विस्तरेण बाह्यज्ञानार्थं वेदितव्यम् । अस्मिन् तन्त्रे लघुहेतुतो मञ्जुश्रिया न प्रकाशितम् । अत्र यदध्यात्मोपयोग्यं तदेवोक्तं संक्षेपत इति । एवं ग्रहयुद्धादिकं[2] समस्तं सिद्धान्ते ज्ञातव्यम् । अत्र तन्त्रे सिद्धान्तापेक्षा ज्योतिषविषये ग्रहयुद्धादिके; अध्यात्मनि ग्रहयुद्धविवक्षा नास्तीति भगवतो नियमः । न बाह्ये ग्रहणे जाते सति सत्त्वानां शुक्रग्रहणं भवत्यध्यात्मनि; रविग्रहणाद् रजोग्रहणं भवतीति नियमः सर्वत्र नास्ति । तस्माद् बौद्धैर्बाह्यपरिज्ञानार्थं ब्रह्मसूर्ययमनकरोमकसिद्धान्तं(ाः) ज्ञातव्यमिति(ज्ञातव्या इति) भगवतो नियमः ।

इदानीं सर्वग्रहाणां चतुर्युगान्ते शून्यचरणप्रवेश उच्यते **मानुष्याणामित्यादि**—

मानुष्याणां शताब्दं गुणितमपि भवेद् वर्षभुक्त्या ग्रहाणां
द्विस्थं दिग्भागलब्धं भवति च तद् ऋणं शोधयेन्मूर्ध्नि राशौ ।
विंशत्येकं हि लक्षं षडयुतमपि च षट्वर्षसंख्या युगार्द्धे
भूयो राशिद्वयेन प्रभवति नियतं वर्षसंख्या चतुर्णाम् ॥८७॥

मानुष्याणां शताब्दं यत् तद्**गुणितं वर्षभुक्त्या ग्रहाणा**मिति कालचक्रेण सह ग्रहाणां सार्द्धदिनेन वर्षशतभुक्तिः, त्रिदिनैर्द्विशतम्, त्रिशद्दिनैर्द्विसहस्रम्, षष्ट्युत्तरत्रिशद्दिनैः चतुर्विंशतिवर्षसहस्रं भुक्तिर्भवति । तया वर्षशतं गुणितं **द्विस्थं दिग्भागलब्धम्**, दशभागेन लब्धम्, **मूर्ध्नि राशौ ऋणं शोधनीयं भवति**; अवशिष्टं **विंशत्येकं हि लक्षं षडयुत**मिति[3]

१. स्रग्धरायाः 'छेदो ग्रासो' इत्यादिकस्य अन्तिमांशस्य व्याख्यानं संस्कृते भोटानुवादे वापि न वर्तते । २. ग. ०मुद्रादिकं । ३. ग. घ. पुस्तकयोः 'षडयुतम्' इति नास्ति ।

एकविंशतिलक्षं षडयुतमपि यद् **वर्षसंख्या युगार्द्धं भवति**;युगार्द्धान्तात् पञ्च पदानि—कृद्-युगस्य चत्वारि पदानि, त्रेतायाः पदमेकमिति, युगार्द्धमाकाशवायुतेजउदकपृथ्वीमण्डलात्मकम्, यथाक्रमं भर्तुर्वामनाड्यां[1] प्राणसञ्चार इति। **भूयो राशिद्वयेन**, पुनर्द्वितीयराशिना पञ्चपदात्मकेन। तत्र त्रेतायाः पदद्वयम्, द्वापरस्य पदद्वयम्, कलेरेकपदम्, पृथिव्यप्तेजोवायुशून्यात्मकम्; यथानु[78b]क्रमेण दक्षिणनाड्यां भर्तुः प्राणसञ्चारः पञ्चमण्डलात्मक इति। एवमुभयनाडीमण्डलवर्षराशिद्वयेन **वर्षसंख्या चतुर्णां युगानां** द्वयुताधिकत्रिचत्वारिंशल्लक्षाणि मनुष्यवर्षाणामिति; भर्तुर्लग्नद्वयं वामदक्षिणनाडीमण्डलसञ्चारत इति; अत्र प्रत्येकयुगानाम्।

शून्यं शून्यं खनागाः करमुनिशशिनः कृद्युगस्य प्रमाणं
त्रेतायां खं खशून्यं रसनवदिनकृद् वर्षसंख्या प्रसिद्धा।
शून्यं शून्यं खवेदं रसभुजगमिति द्वापरेऽब्दानि सम्यक्
शून्याकाशं खनेत्रं गुणजलनिधयो वर्षसंख्या कलौ स्यात् ॥८८॥

शून्यं शून्यं खनागाः करमुनिशशिन इति अष्टाविंशतिसहस्राधिकसप्तदशलक्षाणि वर्षाणां **कृद्युगस्य प्रमाणम्**, चतुर्मण्डलपदोपभोगत इति। **त्रेतायाः**[2] **खं खशून्यं रसनवदिनकृद्**दिति षण्णवतिसहस्राधिकद्वादशलक्षाणि **वर्षसंख्या प्रसिद्धे**ति। **शून्यं शून्यं खवेदं रसभुजगमिति** चतुःषष्टिसहस्राधिकाष्टलक्षाणि **द्वापरेऽब्दानि सम्यग्** भवन्तीति। **शून्याकाशं खनेत्रं गुणजलनिधय** इति द्वात्रिंशत्सहस्राधिकचतुर्लक्षाणि **वर्षसंख्या कलौ स्यादि**ति। एवं त्रेतायाः त्रिपादाः, द्वापरे द्वौ, कलौ त्वेकपदम्[3]; त्रिद्व्येकमण्डलात्मकः, प्रत्येकमण्डलं कलौ वर्षमानेनेति।

एतैर्वर्षैर्युगान्ते ग्रहगणचरणं तिष्ठते राशिशून्ये
अश्विन्याद्यं च भूयः प्रभव इति तथा चैत्रमासादिकं च।
वारो योगस्तिथिर्वै करणमपि तथा चाधिकं तत्र काले
देवानां दानवानां क्षितितलनिलये रौद्रयुद्धं भविष्यति ॥८९॥

[79a] **एतैर्वर्षैर्युगान्ते ग्रहगणचरणं तिष्ठते राशिशून्ये** इति। एतैर्वर्षैः पूर्वोक्तैर्युगान्ते चतुर्युगान्ते। ग्रहगणेत्यादि सुबोधम्[4]। रेवत्यन्ते (राशिशून्ये तिष्ठति।)[5] **अश्विन्याद्यं च** नक्षत्रं **भूयो** ग्रहाणां भुक्तिर्भवति। **प्रभव इति** यथा भवति, **चैत्रमासादिकं च** तथा भवति। **वारो योगस्तिथिर्वै करणमपि तथा चाधिकं तत्र काले**। आदित्यवारः, T 286
विष्कम्भयोगः, प्रतिपत् शुक्लपक्षे तिथिः, करणं ववमित्यादिकम्; तस्मिन् काले। **देवानां**

१. घ. ०नाड्याः। २. घ. त्रेतायां। ३. ग. घ. ०पादः। ४. भोटे सुबोधमिति न लिखितम्, अपि तु व्याख्यानं प्रस्तुतम्। ५. कोष्ठके लिखितांशो भोटानुवादमनुसृत्य प्रस्तूयते। तत्र :एवमागतम्—Khyim Ni sTon Pa Dag La gNes So.

दानवानां म्लेच्छानां क्षितितलनिलये वागदायां[1] नगर्यां रौद्रयुद्धं भविष्यति। ततः कृद्युगप्रवेशो भविष्यतीति।

इदानीं तिथ्यादिग्रहभोगे सर्वशून्यस्थिते पुनः ध्रुवकोत्पादा उच्यन्ते—

तस्मादृक्षैर्दिनैकं गुणितमपि भवेत् षष्टिभिर्नाडिकाभि-
र्भुक्तिः स्यान्मण्डलेन प्रभवति नियता भागलब्धा ग्रहाणाम्।
पूर्णे मासे ध्रुवं स्यात् पुनरपि च भवेद् वारनाडीपदेषु
नक्षत्रे सूर्यभोगो भवति दिनगणः शोधितो मास एकः[2] ॥९०॥ इति।

---

१. इदानीमपि इराकदेशे वगदाद-महानगरी प्रसिद्धा। २. कालचक्रतन्त्रराजस्य मुद्रितपुस्तकेषु अयं श्लोको न लभ्यते, अस्य मूलस्य भोटानुवादेऽपि अयं नोपलभ्यते; किन्तु विमलप्रभायाम्, तस्य भोटानुवादे च अयं विद्यत एव। भोटदेशीय-आचार्य-खेस्-डुब्-जे-महाभागैरयं श्लोको मूलत्वेन गृह्यते। अतः अत्रापि मूलत्वेन स्वीक्रियते।

आचार्य-खेस्-डुब्-जे-महाभागैः स्वकृतायां विद्यासागराभिधायां (Rig Paḥi rGya mTso, पृ० ४६५) विमलप्रभाटीकायां नवतिसंख्यक(९०)श्लोकोऽयं मूलकालचक्रतन्त्रस्यैवेति स्वमतं प्रकाशितम्। तैरिदं स्थापितं यद् यद्यपि भोटदेशीयानुवादकेन लोचवा-शोङ्-तोन् महाशयेन मूलकालचक्रतन्त्रस्यानुवादप्रसङ्गे अस्य श्लोकस्यानुवादो न कृतः, स्वभोटानुवादे अस्यानुवादो न प्रस्तुतः, तथापि तस्य इदं कार्यं स्पष्टतया स्खलितरूपमेव। इदं प्रतीयते यदनुवादार्थं तेन या संस्कृत-पाण्डुलिपिरधिगता, सा तथाविधैव एतच्छ्लोकरहिता एवं त्रुटिपूर्णा च आसीत्। विहायैनां प्रथमपटलस्य कारिकासंख्या न्यूना भविष्यति। खेस्-डुब्-जे-महाभागैश्च स्वयं विभूतिचन्द्रस्य संस्कृतपाण्डुलिप्यां श्लोकोऽयं मूलत्वेन दृष्ट्वा व्याख्यातः। सर्वमेतदालोच्यात्रापि मूलत्वेनायं श्लोको गृह्यते। अत्र खेस्-डुब्-जे-महोदयानामेतद्विषयिणी काचिद् वाक्यभङ्गिः प्रस्तूयते; तद्यथा—

"De Nes sGyu sKar rNams Kyis S̄es Sogs Kyi Tshig bCad ḥDi rTsa Tshig Yin par Śin Tu gSal La Vibhuti Candraḥi Phyag dPeḥi rGyud Kyi rGya dPe La dKyus Na Yod Ciṅ ḥGrel paḥi Phyag dPe La Yaṅ rTsa bar Byas paḥi mChen Bu Yod Do S̄es gSuṅ Pa lTar N̄es par rTsa Tshig Tu Bya dGos So. ḥDi Med Na rTsa Baḥi Tshig bCad Kyi Graṅ Kyaṅ Mi Tshaṅ Bas Śoṅ ḥGyur Gyi rTsa Baḥi Naṅ Du ḥDi Ma Byuṅ ba Ni dPe Ma Dag pa Las bsGyur Baḥi sKyon Du mN̄on No."

उपरिलिखितभोटांशस्य संस्कृतानुवाद :—

"'तस्मादृक्षैः' इत्यादि कारिका। इयं मूलकारिका अस्तीति सुस्पष्टम्; यतो हि विभूतिचन्द्रस्य हस्तलिखितपाण्डुलिप्यामियं कारिका मूलरूपेणैव वर्तते। टीकायाः पाण्डुलिप्यामपि इयं कारिका मूलकारिकैव स्वीकृता भवति। अतः कारिकेयं मूलकारिका अस्तीति निश्चितम्।

इदानीं कालचक्रवर्षपक्षात् मासध्रुवकमुच्यते—

षड्वर्गाः सार्कमात्राः खलु गुणगुणितास्त्रीणि वर्षाणि सूर्ये
आद्या ह्रस्वा दिनाख्यास्त्रिगुणशशिकलाः सार्द्धमासं हि चन्द्रे ।
नाड्यो हाद्याः समात्रास्त्रिगुणितमपि यत् तत् त्रिरात्रञ्च राहोः
श्रीशून्यानाहताद्यास्त्रिगुणितमपि यत् तत् त्रिलग्नञ्च राहोः ॥९१॥

षड्वर्गाः सार्कमात्रा इति। षड् वर्गाः कचटत[1]प[2]सास्त्रिशदक्षरा(र)-व्यञ्जनलक्षणा द्वादशस्वरैः सह षष्ट्युत्तरत्रिशता भवन्ति वर्णा ह्रस्वदीर्घस्वरभेदतः। अ आ इ ई उ[3] ऊ ऋ ॠ[4] ऌ ॡ अं अः, एभिः प्रत्येकाक्षरं ककारादिकं द्वादशभेद-भिन्नं भवति, तेन त्रिंशद् व्यञ्जनानि द्वादशभेदभिन्नानि षष्ट्युत्तरत्रिशतानीति। पुनस्ते ककारादयो परगुणैर्भेदित्य(ताः) यणादेशैर्भेदिताः **खलु गुणगुणिताः**; गुणा :—अ ए अर् ओ अल् अं; वृद्धिः—आ ऐ आर् औ आल् आः; यणा [79b]देशाः—हहा यया ररा ववा लला हंहा इति। एवं **त्रीणि वर्षाणि सूर्ये**ऽशीत्युत्तरसहस्रदिनानि भवन्ति तानि ककारादीनीति।

आद्या ह्रस्वा दिनाख्याः पञ्चदश **त्रिगुणशशिकला** (:) ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदेन **सार्द्धमासं** त्रिपक्षं **चन्द्रे** भवतीति। तत्र अ इ उ[5] ऋ[6] ऌ, अ ए अर् ओ अल्, ह य व र ल, ला वा रा या हा, आल् औ आर् ऐ आ; ॡ ऊ ॠ ई आ, आँ ईँ ॠँ[7] ऊँ ॡँ आँ ऐँ आरँ् औँ आलँ् हाँ याँ राँ वाँ लाँ इति त्रिपक्षस्वराः।

नाड्यो हाद्या भवन्ति षष्टिसंख्या द्वादशलग्नभेदेनेति मध्याह्नादर्द्धरात्रं ह्रस्वाः पूर्वोक्तविधिना; दीर्घा अर्द्धरात्रान्मध्याह्नं यावत् त्रिंशदिति।

श्रीशून्यानाहताद्या ये पञ्च ते सत्त्वरजस्तमोभेदेन जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तस्वभावेन **त्रिलग्नानि राहोः** प्राणवायोर्भवन्तीति नियमः।

भूताः सूर्येन्दुसंख्याः पुनरपि नृपते सार्द्धमासत्रिपक्षं
त्यक्त्वा सार्द्धं हि मासं भवति मुनिवरैश्छेदितं **कालचक्रम्** ।
मासक्षेपैकवारो द्विगुणनृपघटोपिण्डके द्वे त्वधश्च
चक्रे वारो विभक्तो भवति नियमितः षष्टिभिर्देवतीभिः ॥९२॥

यदि इयं कारिका मूलकारिका न स्यात्. तर्हि मूलकारिका अपूर्णा भवेत्। अतः प्रतीयते इदं यत् शोङ्-तोन्-लोचवामहाशयेनानूदितमूले अस्याः कारिकाया अप्रस्तुतिः त्रुटिपूर्णा, अपूर्णां पाण्डुलिपिमाधारीकृत्य तेनानुवादकार्यं कृतम्" इति।

१-२. ख. पत। ३-४. ख. ग. घ. ऋ ॠ उ ऊ। ५-६. ख. घ. ऋ उ।

७. ख. पुस्तके नास्ति।

भूताः सूर्येन्द्रसंख्या (:) पुनस्त्रिवर्षत्रिपक्षभेदिता[1] पञ्चविंशत्यधिकैकादशशता[2] भवन्ति हेन्दुप (नृप) इति सार्द्धमासत्रिपक्षमिति। त्यक्त्वा सार्द्धं हि मासं। अतः सार्द्धमासं त्यक्त्वाऽपरमशीत्युत्तरसहस्रं भवति। ततोऽविशेषं मुनिवरैः सप्तभिश्छेदितं लब्धं कालचक्रं भवति लघुः[3] चतुःपञ्चाशदधिकशतात्मकं भागलब्धावशिष्टके द्वयं मण्डलमध्ये प्रज्ञोपायात्मकम्[4]; तदेव मासध्रुवके एकचारः, द्वात्रिंशत् घटिकापिण्डद्वयं प्रक्षिप्य तिथिमेकां पञ्च चारपदानि। चक्रे कालचक्रे[5] षट्पञ्चाशदधिकशते[6] वारो विभक्तो भवति षष्टिदेवतीभिः घटिकाभिरित्यर्थः [80a]

द्वात्रिंशद्भिश्च नाड्यो वसुगुणितमुनेर्दैवते(र्देवतो) पिण्डके द्वे
देयं हेयं च देयं प्रथमशशिपदं पञ्चपञ्चात्र षड्भिः।
इन्दोः पक्षत्रयोऽहस्त्रिगुणमपि भवेत् सूर्यभोगे प्रसिद्धं
द्वे चर्क्षे षष्टिभक्ते प्रथमरविदिने रुद्रनाड्यः सभोगाः ।।९३।।

द्वात्रिंशद्भिर्देवतीभिर्घटिकाभिः द्वात्रिंशत्घटिकास्थाने मासध्रुवको वसुगुणितमुनेः षट्पञ्चाशद् देवतीभिः पिण्डद्वयं पिण्डस्थाने भवति। देयं हेयं च देयम्, एकदेवती भवति; पञ्च देवत्यः पञ्च पदानि भवन्ति, पञ्चभिरेकेन सह षड्भिरिति। इन्दोः पक्षत्रयोऽहः पञ्चचत्वारिंशद् दिनानि त्रिगुणितं सत्त्वरजस्तमआत्मकमपि भवेत् सूर्यभोगे प्रसिद्धम्। द्वे चर्क्षे षष्टिभक्ते विंशत्यधिकशतैर्नाडिकाभिर्नक्षत्रध्रुवके द्वे च भवतः। प्रथमरविदिने चतुर्गुणिते चतुर्घटिकादियुक्ता[7] ईश(रुद्र)नाड्य एकादश नाड्यो नाडीस्थाने भवन्तीति नियमः सर्वत्र।

एतत् श्रीकालचक्रं ग्रहगणसहितं बाह्यदेहेष्वभिन्नं
संहारस्फारहेतुं त्रिभुवननिलये कालरूपेण सूर्यं।
प्रज्ञोपायप्रभेदैः समविषमकुलैः शीघ्रवक्रादिचारै-
र्न ज्ञातं वीतरागैः परममुनिकुलैर्ब्रह्मरुद्रादिदेवैः ।।९४।।

एतत् श्रीकालचक्रं ग्रहगणसहितमित्यादिनोक्तक्रमेण बाह्यदेहेष्वभिन्नं संहारस्फारहेतुम्, त्रिभुवनं कामरूपारूपम्, तस्मिन् निलये कालरूपेण प्राणरूपेण। सूर्यं

१. ख. ग. घ. ०भेदिना; भो. पुस्तके 'भेदिता' इति नास्ति। २. भो. ०एकादशशता दिनानि। ३-४. घ. पुस्तके नास्ति; भो. पुस्तकेऽपि नास्ति। ५-६. ग. घ. पुस्तकयोः नास्ति। यद्यपि अयं भोटानुवादेऽपि नास्ति, तथापि भोटदेशीयाचार्यैः खेस्-डुब्-जे महाभागैः स्वभोटटीकायां प्रयोगमनुरुध्य एतादृशी एव कालगणना कृताऽस्ति। ७. ग. घ. ०युक्ते।

इत्यामन्त्रणं **मञ्जुश्रियः**; हे[1][80b]**सूर्यरथ**, लघुतन्त्रसम्बन्ध-अध्येषण-प्रज्ञोपायप्रभेदैर्दिवारात्रिप्रभेदेन[2] चन्द्र-सूर्यभेदाद्यैः; **समविषमकुलैः**; समो दीर्घः विषमो ह्रस्वः;**शीघ्रवक्रादिचारैर्न**[3] **ज्ञातं वीतरागैः पर**[78b]***ममुनिकुलैर्ब्रह्मरुद्रादिदेवैरिति**। एवं पूर्वोक्तविधिना एभिर्ब्रह्मादिभिर्न ज्ञातं कालचक्रं भगवन्तं संवृतिरूपेण[4] व्यवस्थितं व्यापकं सर्वव्याप्येषु स्थावरजङ्गमवस्तुषु, यथा सम्यक्सम्बुद्धेन भगवता सर्वज्ञेन ज्ञातं लौकिकलोकोत्तर-संवृतिविवृतिरूपेण, सुचन्द्रस्य वज्रपाणेः प्रकाशितम्, मयापि तै(ते)सूर्यरथ, संक्षेपतस्तदेव कालचक्रभगवन्तं प्रकाशितं मञ्जुश्रिया यशोनरेन्द्रेणेति।

इति[5] श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां द्वादशसाहस्रिकायां
लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां विमलप्रभायां
ज्योतिर्ज्ञानविधिमहोद्देशः नवमः[6] ॥ ९ ॥

(१०) स्वरोदययन्त्रविधिनियममहोद्देशः

इदानीं स्वरोदय उच्यते—

आद्याः पञ्चस्वरा ये प्रथमतिथिवशात् पञ्चनन्दादियोगे
कुर्वन्त्यत्रोदयान्ते यदि नृप न भवेत् तत्र भौमादिवारः।
भौमेऽनिष्टोदये वै यदि भवति पुनः कृत्तिकायोग एव
तस्मिन् संग्रामरोगो यदि भवति नृणां मृत्युरादिस्वरस्य ॥९५॥

आदि(द्ये)त्यादि[7]। अकार आदिर्येषां स्वराणां ते **आद्याः**[8] **पञ्च**, अ इ उ ऋ लृ इति; स्वयम्भुवोक्तम्[9] "अइउण्; ऋलृग्"ति (शि० सू० १-२) प्रत्याहारग्रहणात्। "ए ओ(ङ्); [ऐ औ]च्" (शि० सू० ३-४) (इति)[10] पाठात् सन्ध्यक्षरौ इकार-उकार-

१. अत्र क. ख. पुस्तके त्रुटिते; त्रुटितांशः परं प्रथमपटलान्तं यावत् क. ख. पुस्तकयोः टीका नोपलभ्यते; केवलं मूलमात्रमस्ति। अत इतः पश्चात् ग. पुस्तकात् टीकायाः उल्लेखः प्रस्तूयते; तस्य पाठभेदः घ. पुस्तकात् दीयते। [80b]इत्यस्य पश्चात् ग. पुस्तकस्य [ ] कोष्ठके पृष्ठाङ्कानां प्रस्तुतीकरणं च विद्यते।

२. घ. भेदेन। ३. घ. शीघ्रचक्रादिचारै०। ४. ग. संवृतिमयेण। ५-६. घ. इति श्रीमहादिबुद्धोद्घृतलघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां विमलप्रभायां द्वादशसाहस्रिकायां ज्योतिषज्ञानविधिमहोद्देशः नवमः।

७-८. ग. पुस्तके 'आदित्यादि'तः 'आद्याः'पर्यन्तमस्पष्टम्। अत्र येषु येषु स्थलेषु पाठा अस्पष्टाः तेषु तेषु स्थलेषु घ. पुस्तकादेव पाठाः प्रदत्ताः। ९. ग. स्वयंभुवोक्त; घ. स्वयंभुवव्यक्तं। १०. ग. पुस्तके नास्ति।

* अतः परं कोष्ठके ग. पुस्तकस्य पृष्ठसंख्या दीयते; पूर्वं तु क. पुस्तकस्य पृष्ठसंख्या कोष्ठके प्रदत्ता।

योर्गुणौ, "ऋको(ऽ)णो[1] रलौ" (चा० व्या० १.१.१५) इति सूत्रात्। ऋॡ नपुंसकौ [पुन अकौ][2] न स्याताम्, ऋकारऌकारयोरपि[3] गुणतः[4] इकारादीनां विशेषाभावात्[5]। तस्मात् "अइ[उण्][6]; [ऋ] ऌ [क्][7]; ए ओ [ङ्]" इति बालानां लोकरूढिः। गुणयणो[रु]त्पादात् "अइउण्[8]; ऋऌक्" इति न्यायः, "इको यणऽचि" (अ० ६.१.७७) इति विशेषात्, "अको ऽकि दीर्घः" (चा० व्या० ५.१.१०६; "अकोऽकि इत्येव सुवचम्"—सि० कौ०, "अकः सवर्णे दीर्घः" ६.१.१०१, इति सूत्रस्योपरि) [इति] ज्ञापकात् [च]।

आदौ* ये पञ्चस्वरास्ते स्वयम्भुवा[9] व्याकृताः, समानरूपास्ते[10]**चाकाशादिप्रकृतिवशाद् यथासंख्यं मञ्जुश्रिया लिखितः(त)स्वव्याकरणे[11]। अइउण (ण्)[12] ऋ ऌ [क्][13] इति आकाशवायु-तेज-उदक-पृथ्वीस्वभावा यथाक्रमम्, तथा अ ए अर (र्) ओ अल (ल्) च, ह् य र व ल ट (ट्) तथा मञ्जुश्रिया निर्दिष्टा (:) गुणयणादेशतः, स्वस्वप्रकृतिस्वभावाश्रयणादिति [ ]।

ते पञ्चस्वराः **प्रथमतिथिवशादिति**[14] प्रथमतिथयः पञ्च[15], तमोभेदेन शुक्ल[16]-प्रतिपत् द्वितीया तृतीया चतुर्थी पञ्चमीति, ताभ्यां (सां) वशात्, प्रथमतिथिवशात् पञ्चानां नन्दादयो योगाः; पञ्चस्वराणां नन्दा प्रथमा तिथिः, द्वितीया भद्रा, तृतीया जया, चतुर्थी रिक्ता, पञ्चमी पूर्णा; एवं षष्ठ्याद्यास्तथा एकादशा(श्या)द्या[17]।

T 287 अस्मिन् नन्दादियो[79a]गे **कुर्वन्त्यत्रोदयान्ते**[18] **यदि**[19]**तत्र भौमादिवारा(रो) न**[20] **भवति(भवेत्)** नन्दायां भौमः, भद्रायां बुधः, जयायां बृहस्पतिः, रिक्तायां शुक्रः, पूर्णायां मन्दः—अत्र नन्दादौ यदि भौमादिवारो न भवति, तदोदितो भवति; अन्यथा अनिष्टोदयः; हे **नृप, भौमे अनिष्टोदये** सति नन्दायां **यदि**[21] **भवति पुनः कृत्तिकायोग**[22] एव; तस्मात् नन्दा[23]तिथौ **संग्रामो वा रोगो वा यदि भवति, नृणां मृत्युरादिस्वरस्य**[24] प्रथमस्वरस्येत्यर्थः, अकारादिर्यस्य नाम तस्य पुरुषस्य **स्त्रियो**[25] **वा**[26]।

---

१. ग. ऋकोणो। २. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः; भो. Ma niṅ du mi ḥGyur। ३-४. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। ५. घ. ०भावस्त। ६-७. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। ८. ग. पुस्तके 'ण' इति नास्ति। ९. घ. स्वयंभुवो। १०-११. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। १२-१३. घ. 'अ इ ऋ उ ऌ' इति पाठः। १४. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। १५-१६. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। १७. घ. एकादशाद्या; ग. एकादद्या। १८. ग. कुर्वन्त्युद्रोदयोन्ति। १९-२०. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। २१. ग. यतिदि। २२-२३ ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। २४. ग. मृत्युयादिस्वरस्य। *-**. भो. dByaṅs lÑa Gaṅ Yin Pa De Dag raṅ Byuṅ du Luṅ bsTan pas mÑam Pahi Ño Bo STe (ये पञ्चस्वराः स्वयम्भुना व्याकृतत्वात् समानरूपास्ते)। २५-२६. ग. स्तिपोर्व्वा।

भद्रा सौम्ये द्वितीयो नृपति(म्रियते)* यदि मघायोग एवात्र वारे
अश्लेषाक्षी (क्षं) जयायां यदि भवति गुरुर्याति मृत्युं तृतीयः ।
रिक्तातिथ्यां धनिष्ठा यदि भवति भृगुर्याति मृत्युं चतुर्थः
पूर्णा मन्देन सार्द्धं प्रभवति भरणी पञ्चमो याति मृत्युम् ॥९६॥

एवं भद्रा सौम्ये यदि मघानक्षत्रं भवति, तदा द्वितीय इकारस्वरनाम[१](ा) म्रियति(ते)। एवं जयायां बृहस्पतौ यदि[२] अश्लेषा[३] भवति, तदा तृतीय ऋकार-स्वरनामा म्रियते[४]। एवं रिक्तायां शुक्रो यदि भवति धनिष्ठा, तदा चतुर्थ उकारस्वर-नामा म्रियते[५]; तथा पूर्णा शनौ यदि भरणी[प्र]भवति, तदा पञ्चम[६]लृकारस्वर-नामा मृत्युं याति। एवं स्वराणा[७]मुदितानामपि नक्षत्रका(वा)र वशात्** मृत्युयोगो भवति[८]।

सूर्ये नन्दोदयानां व्रणमपि च भवेत् क्लेश एवातुराणां
सौम्ये (सोमे)[९] भद्रोदयानां प्रभवति नियतं युद्धे रोगे च तद्वत्।
सत्यं पञ्चोदयानां भवति बहुफलं मृत्युयोगैर्विहीनं
ज्ञातव्यं रोगयुद्धेऽप्यशुभशुभफलं देशयात्राविवाहे ॥९७॥

तथा सूर्यवारे[१०] नन्दो[११]दयानां व्र[१२]णं रणे भवति, आतुराणां क्लेशो भवति। एवं सोमवारे भद्रोदयानां ज्ञेयं सत्यं पञ्चोदयानां[१३]आकारादीनां स्वस्वतिथावुदितानां[१४] बहुफलं[१५] मृत्युयोगैर्विहीनं भवतीति[१६], तदेव नैमित्तिकेन ज्ञातव्यम्, रोगे युद्धे[१७] चाशुभशुभफलं[१८] देशयात्रायां[१९] विवाहकाले[२०] चेति।

एवं नक्षत्रवाराः स्वरगणतिथयः पञ्चतत्त्वप्रभेदैः
पक्षे मासेऽयनेऽब्देऽप्युदय इह भवेत् षष्टिसंवत्सरे च।
चैत्रादौ द्वादशाङ्गैरुदय इह भवेत् पक्षभेदः स एव
द्वासप्तत्यादीनामुदय इह भवेत् मासभेदे (दः) स्वराणाम् ॥९८॥

---

१. इकारश्वरनाम। २-३. ग. ययश्लिवा। ४. ग. म्रियति। ५. ग. म्रियति। ६. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। ७-८. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। ९. भो. zLa (सोमे)। १०. ग. सूर्य्यं०। ११-१२. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। १३. ग. ०दयाणां। १४. ग. ० वुदिततां। १५. ग.० फल। १६-१७. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। १८. ग. विशुद्धिया शुभाशुभफलं। १९-२०. ग. दिययात्राविवाहकाले।

*. भो. ḥChi Bar ḥGyur (म्रियते)।

**. भो. gZḥ (वार)।

एवं नक्षत्रवाराः उक्तक्रमेण **स्वरगणतिथयः पञ्चतत्त्वप्रभेदै**रिति पुनरेवाय**मुदयः पक्षेमासेऽयनेऽब्देऽपि** स्वराणां भवति **षष्टिसंवत्सरे**[1] **च** । अत्र[2] चैत्रादिनोदयः[3] **चैत्रादौ**[4] मासद्वये[5] षष्टिदिनानि, तेषु **द्वादश** द्वादशदिनैः अकारादयो यथा क्रमेणो**दयन्ति**, शुक्लप्रतिपदादिना चैत्रस्य यावत् द्वितीयमासस्य[6] पुनः शुक्लप्रतिपत् । एवं ऋतुभेदेन[7] पञ्चस्वराणां षट् परिवर्त्ताः संवत्सरे भवन्ति । पक्षोदयविषये द्वादशदिनैः **पक्षभेद** इति एवं संव[79b]त्सरदिनेषु[8] षष्ट्युत्तरत्रिशतेष्वकारादीनां द्वासप्तत्यो (सप्तत्यादीनां) क्रमेणोदयो ज्ञेयः । स एव चैत्रादि[9]शुक्लप्रतिपदादिमासभेद[10] एष[11] इति ।

एवं प्रभवादिषष्टिसंवत्सरेषु पञ्चस्वराणां यथाक्रमं[12] प्रत्येकसंवत्सरस्य[13]—

षण्मासैश्चायनाङ्कं प्रभवमुखगतैर्द्वादशाब्दैश्च वर्षम्
एवं पञ्चस्वराणामुदय इह भवेच्चास्तमेवं हि भूयः ।
आदौ बालाः स्वराश्च स्वतिथिगुणवशात् श्रीकुमारा द्वितीये
प्रौढा वृद्धा क्रमेणाग्निजलनिधिदिने पञ्चमेऽस्तंगता स्युः ॥९९॥

षड्[14] **मासैरु**दयश्चतुर्विंशतिपरिवर्त्तैः पुनः पूर्वविधिरीत्याऽयनोदयः, **प्रभवादौ** द्वादशसंवत्सरोदयः । एवं परिवर्त्तप्रभवादीनामिति वर्षोदयो ज्ञेयः ।[15] **एवं पञ्चस्वराणामुदय इह भवेत् अस्तंगतं**[एवं]**हि भूय** इति, अत्र पक्षभेदे द्वादशदिनं नन्दा; एवं भद्रादयः मासभेदे द्वासप्ततिदिनं नन्दा, तथा[16] तदा(भद्रा)दयोऽपि । अयनभेदे अयनं नन्दा; एवं भद्रादयः । वर्षभेदे[17] द्वादशवर्षं नन्दा, एवं भद्रादयो याति(न्ति) ।

आदौ प्रथमं **स्वरा**[18] **बालाः स्व**[19]**तिथिगुणवशात्**(इति) आकाशवायुतेजउदकपृथिवीगुणवशात्[20][च]शब्दस्पर्शरसरूपगन्धगुणवशादिति यथासंख्यम् । अत्र नन्दायामकारस्योदयः, भद्रायामिकारस्य, जयायामृकारस्य, रिक्तायामुकारस्य, पूर्णायां ऌकारस्य । एवं स्वकीयस्वकीयोदयदिनात्[21] **द्वितीये** दिने **श्रीकुमाराश्चे**ति भद्रायायकारः कुमारः, जयायामिकारः, रिक्तायामृकारः, पूर्णायामुकारः[22], नन्दायां ऌकारः, **प्रौढः(ढाः)वृद्धः(द्धाः) क्रमेणाग्निजलनिधिदिन** इति स्वकीयदिनादग्निरिति तृतीयदिने प्रौढा भवन्ति,[23] जयायामकारः प्रौढम्, रिक्तायामिकारः, पूर्णायां ऋकारः, नन्दायामुकारः, भद्रायां ऌकारः । वृद्धः[24] **जलनिधि**रिति चतुर्थे दिने स्वतिथिः (थेः) ।* अत्र

१. ग. पुस्तके सर्वत्र 'सम्वत्सर' इति पाठः । २-३. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। ४-५. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। ६. ग. तृतीय०। ७. भो Lo zLa Dus Kyi dBye Bas (वर्षमासऋतुभेदेन) । ८-९. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः । १०. ग. शुक्लप्रतिपदादिनामभेदय । ११. ग. पुस्तके अस्पष्टम् । १२-१३. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः । १४-१५. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः । १६-१७. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः । १८-१९. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः । २०-२१. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः । २२-२३. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः ।

*, भो. Tshes Las (तिथेः) ।

रिक्तायामकारो वृद्धः, पूर्णायामिकारः, नन्दायामृकारः, भद्रायामुकारः, जयायां लृकारः।

पञ्चमेऽस्तङ्गताः स्युरिति पूर्णायामकारोऽस्तंगतः,[२५] नन्दायामिकारः, भद्रायामृकारः, जयायामुकारः, रिक्तायां लृकारः इति स्वराणां पञ्चविध[२६] उदयादिभेदो ज्ञेयः[२७]।

आद्याः पञ्चस्वरा ये खलु गुणगुणितास्ते द्विधा त्रिंशदेव
कादौ वर्गाक्षरेषु प्रकृतिगुणवशाद्योजनीयाः समस्ताः।
ह्रस्वानां शुक्लपक्षे ह्यु्दय इह भवेत् पञ्चतत्त्वप्रभेदै-
र्दीर्घाणां कृष्णपक्षे भवति स नियतं सृष्टिसंहारयोगात् ॥ १०० ॥

आद्याः[२८] **पञ्चस्वरा ये खलु [गुण]गुणिताः** सत्त्वरज[२९]स्[79b]तमो गुणिताः पञ्चदश भवन्ति। **ते पुनर्द्विधा त्रिंशदेव,** अ[३०] इ उ ऋ ऌ,[३१] अ ए अर ओ अल, ह य र व ल इति त्रिगुणा नन्दादयः शुक्लपक्षे; तथा ला वा रा या हा, आल औ आर ऐ आ ॡ ऊ ॠ ई आ इति नन्दाद्याः कृष्णपक्षे; एवमुभयपक्षयोस्त्रिंशत्तिथीनां यथासंख्यमिति **कादौ वर्गाक्षरेषु प्रकृतिगुणवशाद्योजनीयाः समस्तास्ते**[३२] स्वराः[३३]।

ह्रस्वानां शुक्लपक्षे ह्यु्दय इति भवेत् पञ्चतत्त्वप्रभेदैरिति। अत्र यद् व्यञ्जनं ह्रस्वस्वरेणोच्चारितम्, तस्य शुक्लपक्षे ह्युदयः; **दीर्घाणां कृष्णपक्षे,** एवं यद्दीर्घस्वरेणोच्चारितं दीर्घव्यञ्जनं तस्य कृष्णपक्षे उदयः। अत्र व्यञ्जनविषये सूर्यसंक्रान्तिपक्षो वेदितव्यः, **सृष्टिसंहारयोगा**दिति।

सप्तविंशत्तदृक्षं स्फुटशर[घ]टिकाः सूर्यलग्ना नवांशाः
एते च त्रिस्वभावाः स्थिरचलसुसमा मेषलग्नादयोऽत्र।
मेषः कर्की तुला वै मकर इह चरास्तद् द्वितीया स्थिराश्च
शेषाऽन्ये द्विस्वभावा दिननिशिसमये नित्यमेवोदितास्ते ॥ १०१ ॥

सप्तविंशत्तदृक्षं सप्तविंशन्नक्षत्रपिण्डम्; तेषु सपादसपादनक्षत्रद्वयेन **सूर्यलग्ना** द्वादश। **स्फुटशर** इति पञ्चपञ्चघटिकात्मकास्ते **नवांशा** इति। **एते च**[३४]**त्रि**[३५]**स्वभावाः** स्वराः[३६] (चलाः) मेषादयः, **स्थिरा** वृषादयः,[३७] **समा** द्विस्वभावा मिथुनादयः। **मेषः कर्की**[३८] **तुला मकर** इति चत्वार स्व[च]राः, वृषः सिंहो वृश्चिकः कुम्भ इति स्थिराः,

२४-२५. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। २६-२७. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। २८-२९. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। ३०-३१. घ. पुस्तके अ इ ऋ उ ऌ इति पाठः। ३२-३३. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। ३४-३५. ग. पुस्तकेऽस्पष्टम्। ३६-३७. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। ३८. ग. कर्क्की।

मिथुन कन्या धनु मीन इति **द्विस्वभावा**। एवं ते **नित्यमेवोदिताः**, अहोरात्रं द्वादश इति। अत्र[1] पृच्छाकाले चरैः शीघ्रं कार्यं भवति,[2] स्थिरैः स्थिरम्, द्विःस्वभावैर्मध्यम-कार्यमिति।

तस्मिन् त्रिशन्मुहूर्त्तान्यपि दिनसमये नाडिकाप्येव षष्टि-
रादौ विंशत्स्वराणामुदय इह भवेद् वै मुहूर्त्ते मुहूर्त्ते।
त्रिशद्वर्गाक्षराणां प्रभवति घटिका ह्रस्वदीर्घप्रभेदै-
स्तिथ्यंशे चन्द्रमध्ये निगदित उदयाश्चास्तमेतं हि तस्मात्॥ १०२॥

तस्मिन् त्रिशन्मूहूर्त्तान्यपि, तस्मिन् लग्नमनुहं (समूहे ?) त्रिशन्मुहूर्त्तान्यपि **दिनसमये**ऽष्टप्रहरात्मके **नाडिकाप्येव षष्टि** भंवति। **आदौ** प्रथमे **विंशत्स्वराणामुदय इह भवेद् वै मुहूर्त्ते मुहूर्त्ते**। **तिथ्यंशे चन्द्रमध्ये** इति एकां तिथिं त्रिशन्मुहूर्त्त[3]विभागं कृत्वा एकैकमुहूर्त्तांश(शं) प्रतिपदि अकारादीनां द्वितीयायामिकारादीनां तृतीयामामृकारादीनां चतुर्थ्यामुकारादीनां पञ्चम्यामृकारादीनां षष्ठ्यां [गुणा]कारादीनां[4] सप्तम्यामेका[80a]-
T 288 रादीनां अष्टम्याम[रा]कारादीनां नवम्यामोकारानीनां[5] दशम्याम (ऌ) कारादीनां एकादश्यां हकारादीनां द्वादश्यां यकारादीनां त्रयोदश्यां रकारादीनां चतुर्दश्यां वकारादीनां पूर्णायां लकारादीनां त्रिशत्स्वराणां शुक्लपक्षे प्रत्येकतिथौ त्रिशद्भेदेनोदयः सृष्टिक्रमेणेति ततः कृष्णपक्षे प्रतिपत्तिथौ नन्दायां संहारक्रमेण त्रिशत्स्वराणामुदयः; तत्र प्रतिपदि लादिनां (लाकारादीनां)[6] द्वितीयायां वादीनाम् (वाकारादीनाम्),[7] एवं सर्वासामिति। **तिथ्यंशे चन्द्रमध्ये निगदित उदयश्चास्तमेतं हि तस्माच**चन्द्रादिति, अत्र यः शुक्लप्रति-पदादिके स्वर उदितः स कृष्णप्रतिपदादिके अस्तमिति।

शून्यं वाय्वग्नितोयान्यवनिरपि कुलं चादि पञ्चस्वराणां
राह्वग्नीन्द्वर्कसौम्या भृगुगुरुबलाः सौरिरुद्राधिदेवाः।
पूर्वोक्तैकैकलग्ने निशिदिवसवशान्नाडिका तत्र साध्या
तन्मध्ये यः स्वरोऽभूद् ग्रह इति बलवान् मण्डले तेन साध्यम्॥ १०३॥

शून्यं वाय्वाग्नितोयान्यवनिरपि कुलं चादि पञ्चस्वराणामिति पूर्वोक्तक्रमेणा-कारादीनामाकाशादिकं कुलमिति। **अधिदेवता** राह्वादयो ग्रहाः, ह्रस्वदीर्घाणां यथा-संख्यम्, राहुः कालाग्निः ह्रस्वदीर्घाकारो (रयो); **चन्द्रो रविः** वि(इ)कारयोः; **बुधो भौम** ऋकारयोः; **शुक्रो गुरु**रुकारयोः; **केतुर्मन्दश्च** ऌकारयोः।

१-२. ग. पुस्तके अयमंशोऽस्पष्टः। ३. घ. मुहूर्त्तं। ४. भो. Yon Tan Gyi A Yig La Sogs Pa ḥe (गुणाकारादीनां)। ५. घ. नवम्यामेकारादीनां। ६. भो. La Yig La Sogs (लाकारादोनां)। ७. भो. Va Yig La Sogs (वाकारादीनां)।

अत्र यथा न्यायमधिदेवाः[१] । एवं द्वादशलग्नेषु प्रत्येकलग्ने[२] **निशिदिवसवशात् नाडिका तत्र साध्या** वर्तमानलग्नोदये पञ्चमासाः (मांशाः);[३] **तन्मध्ये यः स्वरोऽभूद्ग्रह[४] इति बलवान् मण्डलं तेन साध्यम्**, शून्याद्यं पृथिव्याद्यं विस(ष)मसमलग्नभेदेन साध्यमिति ।

वामे ह्रस्वस्वराणामुदय इह भवेद् दक्षिणे चापराणां
वामे शून्यादितत्त्वं ग्रहगणचरणं राहुमुख्यं समस्तम् ।
मध्ये तत्त्वं धराद्यं ग्रहगणनियमः सूर्यपुत्रादिनैव
बाह्ये वा कालनाडी ग्रहभवनसमा सस्वरा साधनीया ॥ १०४ ॥

वामे ह्रस्वस्वराणामुदयः, इह वामे विस(ष)मलग्नह्रस्वस्वराणां व्यञ्जनानामुदयो **भवेत्, दक्षिणे** समलग्नेऽपराणां दीर्घोच्चरितव्यञ्जनानां भवति । एवं **वामे शून्यादितत्त्वं** पञ्चमण्डलमेकान्तरितं राह्वादिकं **ग्रहगणचरणं[५] राहुमुख्यं समस्तमिति** राहुश्चन्द्रो वुधो भृगुः केतुरिति । **मध्ये** दक्षिणलग्ने **तत्त्वं धराद्यं** मण्डलं पञ्चभेदम्, **ग्रहगणनियमः सूर्यपुत्रादिनेति** शनिर्बृहस्पतिर्मङ्गल आदित्यः कालाग्निरिति । अत्र समलग्ने मकरे[६] प[80b]ञ्चघटिका यथासंख्यं दीर्घस्वरोच्चारितं व्यञ्जनमुदयत्यकारादिभिः स्वरैर्गुणवृद्धिभिरिति । अत्र का प्रथमघटिकायां पृथिवीमण्डले, खा द्वितीयायां तोयमण्डले, गा तृतोयायां वह्निमण्डले, घा चतुर्थ्यां वायुमण्डले, ङा पञ्चस्यां शून्यमण्डले; एवं कादीनि व्यञ्जनान्याकारादिभिरुच्चारितानि मकरे पञ्चमण्डलेषु यथाक्रममुदयन्ति । एवं कुम्भे पञ्चमण्डलेषु शून्यादिषु ह्रस्वस्वरोच्चारितानि ङादीनि विलोमेन वेदितव्यानि । तत्र ङ प्रथमघटिकायामाकाशमण्डले, घ द्वितीयायाम्, ग तृतीयायाम्, ख चतुर्थ्याम्, क पञ्चम्यां पृथिवीमण्डले उदयति । एवं चा छा जा झा ञा मीने, ञ झ ज छ च मेषे, पञ्चमण्डलेष्विति । तथा टा ठा डा ढा णा वृषे, ण ढ ड ठ ट मिथुने, पञ्चमण्डलेषु । एवं पा फा बा भा मा कर्कटे,[७] म भ ब फ प सिंहे, पञ्चमण्डलेषु । तथा ता था दा धा ना कन्यायाम्,
X X
न ध द थ त तुलायाम्, पञ्चमण्डलेषु । एवं सा[८] ॅया षा शा क[९] (ह) वृश्चिके, क[१०] (ह) श ष ॅय स[११] धनुषि, पञ्चमण्डलेष्विति । घटिकोदये व्यञ्जनान्यधिदेवतानि । तत्र[१२] व्यञ्जनोच्चारितस्वरो व्यञ्जनं वर्णस्वरो भवति, स्वरो[१३] जीव(प्राण)स्वरो भवति[१४] । स च जीव(प्राण)स्वरश्चन्द्रांशो ह्रस्वदीर्घभेदेन, मुहूर्त्तभेदेन, पूर्वोक्तेन ज्ञेयः । व्यञ्जनोदयो लग्नघटिकाभेदेन ज्ञेय इति ।

इह संग्रामे जीव(प्राण)स्वरे अस्तङ्गते मरणम्, वर्णस्वरे अस्तङ्गते व्रणम्, रोगिणां मरणं क्लेशम्, तथाप्यत्र नामाद्याक्षरे व्यञ्जनं नास्ति; तत्र स्वर[१५] एव[१६] जीव-

---

१. घ. अधिदेवताः । २. घ. ०लग्नेषु । ३. भो. Cha (अंशाः) । ४. ग. ग्रहा । ५. ग. पुस्तके नास्ति । ६. ग. मकारे । ७. ग. कर्क्कटे । ८-९. घ. सा भा षा शा ङ्का । १०-११. घ. ङ्क ह प्स स । १२. ग. अत्र । १३-१४. घ. पुस्तके नास्ति । १५-१६. ग. पुस्तके नास्ति ।

स्वरः, इतरश्च[1] वर्णस्वर इति। एवमध्यात्मनि वामदक्षिणे नासापुटमण्डल(ले) प्रवाहभेदेन व्यञ्जनोदयो ज्ञेयः।

बाह्ये वा कालनाडीति अत(तात्का)कालिकोदिता नाडी चा(वा)ग्रमतिहभवन (बाह्यग्रहभवन)[2]समा ग्रहभवनमण्डलम्, तेन समा; सस्वरा[3] सव्यञ्जना साधनीया[4] शुभाशुभपरिज्ञानार्थमिति।

इदानीं प्रश्नतः शुभाशुभफलमु(81a]च्यते **प्रश्न** इत्यादिना—

प्रश्ने संग्रामकाले (प्रभ)वति च मरणं कालशून्योदिते च
वायौ सूर्ये च भङ्गो व्रणमपि च भवेद्वह्निभौमोदये च।
सन्धिस्तोये गुरौ स्यान्न हि भवति रणं भूमिमन्दोदये च
मृत्यु(:)क्लेशा(शो)व्रणं स्यात् सुखमपि समता पृच्छकस्यातुरस्य।।१०५।।

प्रश्ने सति **संग्रामकाले प्रभवति मरणं कालशून्योदिते च** संग्रामहेतोर्यस्यामन्त्रणं प्रथमं करोति, दक्षिणनाड्यां कालाग्निशून्यमण्डले उदिते सति स नृपो नरो वा, तस्य मरणं प्रकर्षेण भवतीति। एवं **वायौ**[5] वायुमण्डले **सूर्ये** उदिते **भंगो** भवति, **व्रणमपि भौमवह्निमण्डलोदये** सति, सन्धिस्तोये मण्डले **गुरावुदिते** भवति, **भूमिमन्दोदये** न हि युद्धं संग्रामे भवतीति प्रश्ननियमः। **एवमातुरस्य** शून्यमण्डलादिके यथासंख्यं **मृत्युः क्लेशो व्रणं सुखं समता** स्यादिति **पृच्छकस्य** प्रश्ने सति आतुराणां भवतीति।

संग्रामे शत्रुनाशः प्रभवति नियतो राहुशून्योदये च
वायौ चन्द्रे च भङ्गो व्रणमपि च रणे सौम्यवह्न्योदये च।
शुक्रे तोयेऽर्थलाभो रिपुरपि च वशी भूमिकेतूदये स्याद्
एवं यात्राविवाहे भवति बहुफलं वाममार्गे ग्रहैश्च ।। १०६ ।।

संग्रामे शत्रुनाशः, अत्र प्रथमोक्तस्य संग्रामे शत्रुनाशः **प्रभवति नियतो** वामनाड्यां **राहुशून्यमन्डलोदये चेति**। **चकारः** पादपूरणार्थः। **वायौ** वायुमण्डले **चन्द्रोदिते**[6] **भङ्गो** भवति; **व्रणमपि सौम्य**[7]वह्नावुदिते सत्रोद्धृतप्रश्ने[8] (शत्रोरुद्धृतप्रश्ने)[9]। **शुक्रे तोयमण्डले** उदिते **अर्थ**[10]**लाभो** भवति। प्रथमोच्चारितस्य **रिपुरपि च वशी**[11]**भूमिकेतूदये स्यात्**। संग्रामविषये, एवं **यात्राविवाहे भवति बहुफलं वाममार्गे**[12] **ग्रहैश्च** प्रश्ने कृते[13] सतीति[14] प्रश्नकाले नाशि(सि)कोदयनियमः।

---

१. घ. अन्यां। २. भो. Phyi Rol Gyi gZh Yi gNas (बाह्यग्रहभवन०)। ३. ग. स्वराः। ४. घ. शोधनोया। ५. घ. वायौ न। ६-७. ग. पुस्तके नास्ति। ८. घ. शत्रोद्धृते मो (नो)च्चारितस्य प्रश्ने। ९. भो. Pho Ñas Dris Pa Na dGrhi (शत्रोरुद्धृतप्रश्ने)। १०. ग. अलच्च। ११. ग. वसी। १२. ग. ०मार्ग्गे। १३-१४. ग. कृतिशतीति।

इदानीं स्वरप्रश्नमुच्यते दूतेनेत्यादि—

दूतेनोक्ताः स्वरा ये खलु दशगुणिता राशिचक्रेण मिश्रा
भूयो भूताहतास्ते निकटजनयुताः सप्तभागावशेषाः।
चन्द्रे वह्नौ शरेऽद्रौ विषमपदगते नास्ति सिद्धिर्नराणां
नेत्रे वेदे रसे वै सुसमपदगते कार्यसिद्धिर्भवेत् सः (च्च) ॥ १०७ ॥

दूतेनोक्ताः स्वरा ये खलु दशगुणिता वामदक्षिणमण्डलैर्गुणिता इति, **राशिचक्रेण** द्वादशभिर्**मिश्राः, भूयो भूताहताः** पञ्चभिर्गुणितास्ते **निकटजनयुता** नैमित्तिकं विहाय निकटजनेन युता इति। **सप्तभागावशेषा** वारभोगावशेषा[1] इति, **चन्द्रे** एकवारे स्थिते, **वह्नौ** तृतीये वारे, **शरे** पञ्चमे वारे, **अद्रौ** (द्रौ) सप्तमवारे, अवशेषे स्थिते सति **नास्ति सिद्धिर्नराणामिति**, आदित्ये[2] मङ्गले बृहस्पतौ शनिश्चरे **विषमे**, **नेत्रे** द्वितीयवारे, **वेदे** चतुर्थवारे,[3] **रसे** षष्ठे, **कार्यसिद्धिर्भवति, सुसमपदगते** चन्द्रे बुधे शुक्रे चावशेषे स्थिते सतीति स्वरप्रश्ननियमः।

इदानीं वर्षादी [81b]नां विशेषाद्[4] विशेष[5] उच्यते वर्षेत्यादिना—

वर्षा मासाश्च पक्षा दिननिशिसमया लग्नमध्ये प्रविष्टा
लग्नैकं पञ्चभेदैर्ग्रहगणसहितं सस्वरं तत्त्वभिन्नम्।
तत्त्वैकं श्वासषट्चभ्यधिकगुणशतं वर्तते कालनाड्यां
नाड्यंशाः षष्टिलिप्तास्तदवयव इति श्वासषट्कं नरेन्द्र ॥१०८॥

वर्षाः षष्टि[6] संवत्सराः, **मासा** द्वादश, **पक्षाश्चतुर्विंशतिः,**[7] **दिननिशिसमया** अहोरात्रम्, प्रहरा अष्टौ, द्वादश**लग्नमध्ये प्रविष्टाः**। तेषु[8] शुभाशुभफलहेतोर्लग्नमध्ये[9] प्रविष्टा लग्नमध्ये[10]ऽस्तंगताः। एषां लग्नवारादपरं[11] [11]बलं नास्तीति **लग्नैकं पञ्चभेदै**[12]**ग्रहगणसहितं स्व (स) स्वरं**[13] **तत्त्वभिन्नं** भवति पूर्वोक्तविधिना। **तत्त्वैकं श्वासषड्च्यभ्य**[14] **धिकगुणशतं**[15] [15]त्रिशतं **वर्तते**[16] [16]**कालनाड्यां** मण्डलनाड्यामिति। **नाद्यंसाः**[17] (ड्यंशाः) **षष्टिलिप्ता** इति **तदवयवो** लिप्ताः; **अवयव इति** **श्वासषट्कम्। नरेन्द्रे**त्यामन्त्रण इति विशोषाद् विशेषः श्वासबलनियमः। T 289

१. ग. पुस्तके नास्ति। २. ग. पुस्तके नास्ति। ३. घ. पुस्तके 'वारे' इति नास्ति। ४-५. ग. विशेषतो; घ. विशेषाद् विशेष। ६. ग. पुस्तके नास्ति। ७. ग. ०चतुर्व्विशतिः। ८. ग. तेसु। ९. ग. हेतोलग्न०। १०. ग. लग्नफले। ११. ग. लग्नवारादपरं। १२. ग. ०भेदे०। १३. घ. सुस्वरं। १४. ग. षष्ठाधिक०; घ. षष्ट्यधिक०। १५. ग. ०गुणसतं। १६. ग. वर्त्तते। १७. ग. घ. नाद्यंसाः।

इदानीं **निःश्वासोच्छ्वासमध्ये**[1] शुभाशुभफलमुच्यते—

निःश्वासोच्छ्वासमध्ये त्वशुभशुभफलं ज्ञायते योगयुक्तै-
र्दैवज्ञैः कालनाड्यां गतदिवसवशात् शोधयित्वार्कचन्द्रौ ।
न ज्ञाते वर्तमानेप्यशुभशुभफलं यो वदत्यत्र लोके
सोऽन्धोप्यर्थं गृहीत्वा प्रविशति गहनं हस्तिसिंहप्रकीर्णम् ॥१०९॥

निःश्वासोच्छ्वासयोर्मध्ये[2] यथासंख्यं **अशुभशुभफलं**[3] निःश्वासे नाभिः (ि) घ्राणे बहिर्निर्गते प्रश्नकाले अशुभफलं भवतीति,[4] उच्छ्वासे बाह्यतो नाभौ घ्राणे प्रविष्टे सति प्रश्नकाले शुभफलं भवति। तदेव ज्ञायते **योगयुक्तैर्नान्यैरिति; दैवज्ञै-** ज्योतिषिभिः[5] पुनः कालनाड्यां[6] ज्ञायते। **गतदिवसवशात् शोधयित्वार्कचन्द्रौ**[7] विषम-समलग्नौ[8] वामदक्षिणमण्डलनाडी बाह्ये सा(शो)धयित्वेति। **न ज्ञाते**[9] **वर्तमाने**[10] एवं पूर्वोक्ते वर्तमानकाले[11] न ज्ञाते सति **अशुभशुभफलं यो वदत्यत्रलोके; सोऽन्धोऽप्यर्थं**[12] **गृहीत्वा प्रविशति गहनं**[13] वनं **हस्तिसिंहप्रकीर्णमिति** शुभाशुभफलाफलनियमः[14]।

इदानीं लग्नयोग उच्यते **न ज्ञात** इत्यादि—

न ज्ञाते सूक्ष्मयोगो(गे)ग्रहबलसहितो दीयते लग्नयोगः
कालाग्निः सूर्यभौमौ दिनकरतनयाद् दीयते सप्तराशौ ।
मृत्युं व्याधिं व्रणं वै सकलधनविनाशश्च कुर्वन्ति तस्मिन्
तस्मात् तद् वर्जनीयं स्फुट मम वचनैरन्यलग्नं प्रदेयम् ॥११०॥

न ज्ञाते सूक्ष्मयोगे पूर्वोक्ते निःश्वासोच्छ्वासयोगे न ज्ञाते सति सूक्ष्मयोगे[15] **ग्रहबलि(ल)सहितो दीयते लग्नयोगो** लोकव्यवहारेणेति। उदयलग्ने उदयात् सप्तमे लग्ने यदि **कालाग्निर्भवति**, तदा शुभकार्यार्थिनो **मरणं** भवति; यदि **सूर्यो** भवति, तदा **व्याधिर्भवति**; यदि **भौमो**[16] भवति, तदा व्रणं भवति; यदि **शनिश्चरो** भवति, तदा **धनविनाशो** भवति। एवमुदयलग्ने जन्मल[82a]ग्ने सप्तमे च एतत् सर्वं **तस्मिन्** ग्रहाः **कुर्वन्ति** यस्मात्, **तस्मात् तद् वर्जनीयं**[17] **स्फुट**[18] **स(म)म वचनैरन्यलग्नं**[19] **प्रदेयं** मन्त्रिणेति।

---

१. ग. श्वासो० । २. ग. निःश्वासश्वासयोर्मध्ये । ३. ग. अशुभाशुभफलं । ४. ग. भवति । ५. ग. दैवज्ञज्यो० । ६. ग. कालनाद्यां । ७. ग. ०त्वार्क्कचन्द्री । ८. ग. विसम० । ९. ग. ज्ञायते । १०. ग. वर्त्तमाणे । ११. ग. वर्त्तमान० । १२. ग. शोऽन्धो० । १३. ग. गहणं । १४. ग. शुभाशुभफलादेशफलनियमः । १५. ग. शूक्ष्मयोगे । १६. ग. भोगो । १७. ग. वर्ज्जनीयं । १८-१९. ग. स्फुटमवचनैरन्य०; घ. स्फुटमवचने नान्यलग्नं ।

राहुश्चन्द्रश्च सौम्यो गुरुभृगुसहितो जन्मसप्तस्थराशौ
शत्रोर्नाशः स्वपुष्टिर्विजय इति रणे द्रव्यलाभः सरागः।
सम्यग्लग्नैश्च सर्वैर्यदि भवति पुनर्वामनाडी स्वदेहे
नूनं सर्वार्थसिद्धिः सकलभुवि तले शुद्धवारे तिथौ च ॥१११॥

अत्रोदयलग्ने[१] यदि **राहुर्भवति सप्तमे** च, तदा **शत्रोर्नाशो**[२] भवति; यदा **चन्द्रो** भवति, तदा **स्वपुष्टिर्भवति**; यदा सौम्यो भवति, तदा विजय इति रणे; यदा भृगुर्भवति, तदा **द्रव्यलाभः सरागो** नार्या[३] सहेति। **सम्यक्(ग)लग्नैश्च सर्वैर्यदि**[४] **भवति पुनः**[५] द्वादशलग्नैः सौम्यग्रहसहितैः शुभं भवति।

यदि भवति पुनर्वामनाडी[६] **स्वदेहे, नूनं सर्वार्थसिद्धिः सकलभुवि तले शुद्धवारे**[७] **तिथौ च**। अत्र शुद्धवार आदित्यो हस्तनक्षत्रेण, पुष्येण च गुरुः, बुधो अनुराधया, शनिः[८] रोहिण्या, सोमः श्रवणेन, मङ्गलोऽश्विन्या, शुक्रो रेवत्या सिद्धियोगा इति। अत्राशुभाः आदित्यो अनुराधया, सोमः कृत्तिकया, भौमः शतभिषया, बुधोऽश्विन्या, गुरुर्मृगशीर्षया[९], भृगुः रोहिण्या, शनिर्हस्तेन—एते मृत्युयोगाः। दग्धतिथीर्वर्जयित्वा[१०] सर्ववारैः[११] सर्वाः[१२] तिथयः शुद्धा विशिष्टभोगं विवर्ज्य। अत्र दग्धतिथयः—आदित्येन द्वादशी दग्धा, सोमेनैकादशी[१३]दग्धा, दग्धा[१४]मङ्गलेन दशमी, बुधेन तृतीया, बृहस्पतिना षष्ठी, शुक्रेण द्वितीया, शनिश्चरेण सप्तमीति। एताः तिथयः शुभकार्ये वर्जनीयाः, अशुभकार्ये सर्वाः क्रूरा ग्रहतिथ्यादयो ग्राह्या इति। अत्र सर्वे योगाः प्रशस्ताः[१५] व्यतीपातं परिघं वैधृतिं वर्जयित्वा। सौम्यकार्ये तथा विष्कम्भे त्रिघटिका वर्जनीयाः। पञ्चशूले[१६] च वर्जयेत्; षट् गण्डे च, अतिगण्डे च, नव व्याघाते वर्जे च(वर्जयेत्)इति योगाशुद्धिः।

एवं **शुद्धवारे तिथौ चेति** लोकव्यवहारेण वारादिपरिशुद्धिः, परमार्थतः सत्त्वानां पूर्वकर्मोपार्जितं शुभाशुभफलं भवनीति तथागतनियमः।

इदा[82b]नीं तारादिबलं[१७] लोकव्यवहारेणोच्यते[१८] **कृत्वा ऋक्ष(त्वृक्ष)मित्यादि—**

कृत्वा त्वृक्षं त्रिभागं नवनवनवकैर्जन्मनक्षत्रमादौ
क्रूराश्चन्द्रेण सार्धं विषमपदगता मृत्युरेवातुराणाम्।
अश्विन्याद्यैस्त्रिनाड्यामहिरपि रचितो रेवती यावदेव
पापेन्दुं जन्मऋक्षं भवति यदि नृणामेकनाड्यां विनाशः ॥११२॥

---

१. ग. अतोदय०। २. ग. शत्रोर्न्नाशो। ३. ग. सरागो नानार्या। ४. ग. सव्वैर्यदि। ५. ग. पुस्तके नास्ति। ६. ग. पुनर्व्वामनाडी। ७. ग. सुशुद्धवारे। ८. ग. शनि। ९. ग. गुरुमृगशीर्षथा। १०. ग. ० र्व्वज्जयित्वा (सर्वत्र 'व्व' 'ज्ज' इति)। ११. ग. सर्व्व० (सर्वत्र 'व्व' इति)। १२. ग. सर्वा। १३. ग. सौमेन०। १४. घ. पुस्तके नास्ति। १५. ग. प्रसस्वा। १६. ग. पञ्चशूने। १७-१८. ग. तारादिवर्णलोक०।

कृत्वा त्वृक्षं[1] **त्रिभागमिति** एतत् सप्तविंशति[2]नक्षत्राणि त्रिभागानि **नवनवनवकैरिति** तेषु नवके[षु][3] प्रत्येकनवकेषु(नवके)[4] **जन्मनक्षत्रं** रोगिणो योधस्य संग्रामे; **आदौ** प्रथमं **नवनवकाद्**[5] भवन्ति[6]; तत एकान्तरितं नक्षत्रं[7] **विषमपदम्**; तस्मिन् विषमपदे यदि **क्रूरा** आदित्यमङ्गलशनिना लग्ने (कालाग्न) यश्चन्द्रेण **सार्द्धं** भवन्ति, तदा **मृत्युरेवातुराणां** संग्रामे योधस्य वा। समपदे जय इति ताराबलनियमः[8]।

इदानीं फणिचक्रमुच्यते **अश्विन्येत्यादि**—

अश्विन्याद्यैः सप्तविंशतिनक्षत्रैस्त्रिनाड्यामहिरपि **रचितो रेवती** नक्षत्रं **यावदेव पापेन्दुं**, पापग्रहश्च इन्दुश्च पापेन्दु[9]; रोगिणो योधस्य वा[10] यज्जन्मनक्षत्रं **यदि भवति नृणामेकनाड्याम्**[11], तदा **विनाशो** मत्युर्भवतीति त्रिनाडीफणिचक्रनियमः। कृत्तिकादिनैकान्तरित[12]त्रिनाड्या तद्वदाद्रादि[13]नाडि(त्रि)नक्षत्रान्तरिते[14]त्रिनाड्यां चन्द्रे गते यः प्रथमं युद्धभूमिं विशति[15], स विजयी भवति; नाडीबाह्येषु[16] त्रिनक्षत्रे चन्द्रे स्थिते यः पश्चात् प्रविशति, स विजयी भवतीति तृतीयफणिचक्रनियमः।

आयुर्दशाफलमुच्यते[17] **षट् तिथ्ये**[18]त्यादि—

षट् तिथ्यष्टाद्रिचन्द्रां दशसनवदशार्कैकविंशत् सुवर्षान्
सूर्येन्द्वङ्गारो बुधोऽर्को गुरुभुजगशिता भुञ्जते तान् क्रमेण।
तस्मिन्नन्तर्दशायां पुनरपि च ततश्चाष्टवर्गाक्षरैश्च
क्रूरा कुर्वन्त्यशान्ति परमसुखकराः सौम्यरूपा ग्रहा ये ॥११३॥

अत्राष्टारचक्रं कृत्वा ततः पूर्वादिशान्तमष्टोत्तरशत् वर्षाणि[19] आदित्यादिग्रहाणां भोगे स्थापयितव्यानि। **षट् पूर्वरि**[20] **तिथिरिति** पञ्चदशाग्नेय्याम्, **अष्टौ** याम्ये, **अद्रिचन्द्रामिति**[21] सप्तदश नैऋत्ये **दश** वारुणे, **सनवदशेति**[22] एकोनविंशतिर्वायव्ये[23], **अर्क**[24] इति द्वादश उत्तरे, **एकविंशतिः**[25] ईशाने[26]। **सूर्यः षट्** भुङ्क्ते[27], **चन्द्रः** पञ्चदश, **अङ्गारो** अष्टवर्षान् भुङ्क्ते, **बुधः** सप्तदश भुङ्क्ते, **अर्को** दश भुङ्क्ते, **गुरु**-बृहस्पति[28]रेकोनविंशतिः भुङ्क्ते, **भुजग** इति राहुर्द्वादश वर्षान् भुङ्क्ते, **शितः** शुक्र

१: ग. चक्षं। २. ग. सप्ताविंशति। ३. ग. नवके। ४. ग. प्रत्येकनवकेषु। ५. ग. नवनवका। ६. ग. भवति। ७. ग तन्नक्षत्रं। ८. ग. तारावल०। ९. ग. पापैन्दुं। १०. ग. ना। ११. ग. ०नाद्यां (सर्वत्र)। १२. ग. ०न्तरितुति०। १३. ग. ०वडादि। १४. ग. नाडिडिनक्षत्रा०। १५. ग. विशति। १६. ग. ०वाहेषु। १७. ग. आयुर्द्दशा०। १८. ग. तिथो। १९. ग. पूर्व्वादिनान्तं अष्टोत्तर०। २०. ग. पूर्व्वरि (सर्वत्र 'र्व्व' इति)। २१. ग. अतिचन्द्रा०। २२. ग. सनवदशमिति। २३. ग. ०तिर्व्वायव्ये। २४. ग. अर्क्क। २५-२६. ग. एकविंशतीशाने। २७, ग. भुंक्ते (सर्वत्र)। २८. ग. गुरु वृह०।

एकविंशतिवर्षान् भुङ्क्ते। एवमष्टोत्तरशतवर्षान्[1] यथासंख्यं सूर्यादयो[2] भुञ्ज[83a]-ते[3] तान्[4] क्रमेणेति[5]। T 290

पुनस्तस्मि[6]न्नन्तर्दशायामिति[7] अत्र किल स्थूलदशायां **क्रूरा अशान्ति कुर्वन्ति,** आदित्यमङ्गलशनिराहवश्चेति; **सौम्याः शान्ति कुर्वन्ति,** चन्द्रबुधबृहस्पतिशुक्रा इति।

अत्र पुनरेकस्मिन् षड्वर्षादिके[8] दशायां पुनरष्टविधा अन्तर्दशा भवति; **तस्मिन्नन्तर्दशायां पुनरपि च ततः अष्टवर्गाक्षरैरिति[9]** अत्र[10] वर्गाक्षराणि द्विधा—एकानि लोकरूढिपाठेन, अन्यानि स्वयम्भुपाठेन। तत्र लोकपाठेन अवर्गः अ इ उ ए ओ; [स्वयम्भुपाठेन][11] अइउ[ण्],[12] ऋऌग्[13] इति[14] न्यायः। कवर्गः क ख ग घ ङ; एवं चवर्गः, टवर्गः, तवर्गः, पवर्गः, य-र-ल-वाः, सवर्गः श-ष-स-हा इति लोकपाठेन। हयवर[ट्][15]; लण्; ञमङणनम्; झभञ्[16]; घढधष्[17]; जब[18]गडदश्; खफछ[19]ठथच-टतव(व्); कपय्; शषसर्; [हल्][20] इत्याद्याकाशादिन्यायः। अत्रैवाकाशादिना[21] वर्गाक्षराणां परिशुद्धिर्नास्ति[22] सं(शं)करप्रपञ्चपाठादिति। अत्र पुनः अ इ उ ऋ ऌ इत्यादित्यस्य स्थूलदशायां षड्वर्षे[23] अन्तर्दशायामष्टविधो[24] भोगः[25]। एवं हयवर-[ट्][26]लण् इति[27] चन्द्रस्य पञ्चदशवर्षे[28] अन्तर्दशायामपि, ङ घ ग ख क मङ्गल-स्याष्टवर्षे अन्तर्दशायामपि, ञ झ ज छ च बुधस्य सप्तदशवर्षे अन्तर्दशायामपि, ण ढ ड ठ ट शनिनो दशवर्षे अन्तर्दशायामपि, म भ ब फ प गुरोरेकोनविंशतिवर्षे अन्तर्दशायामपि-न ध द थ त शनिराहोर्द्वादशवर्षे अन्तर्दशायामपि, क्ष[29] श ष य स ह[30] इति शुक्रस्यै-कविंशतिवर्षेषु अन्तर्दशायामष्टविधो भोग इति। एवं वर्गस्वभावाः सूर्य-चन्द्राकाश-वायु-तेज-उदक-पृथ्वी-ज्ञान-धातुस्वभावाः[31] अष्टौ वर्गा यथाक्रमेण पञ्चपञ्चाक्षरा-मकाः, यत्र ए ओ अर आर अल आल, तत्र मूलप्रकृतिर्ग्राह्येति। एवमष्टवर्गाक्षरेषु पञ्चवर्षेष्वा-दित्यादयः षड्वर्षादिषु मुहूर्तस्वरेण मण्डलव्यञ्जनेन भोक्तारः, पञ्चविभागतः षड्वर्षादि-रन्तर्दशाया अष्टमभागेनेति दशाचक्रनियमः। प्रत्येकग्रहो भोक्ता प्रथमविभागे आयुर्दशा[32]-[142b घ] धिपतिः, ततोऽन्ये सप्त यथानुक्रमेणेत्यायुर्दशानियमः।

---

१. ग. एतमष्टोत्तर०। २. घ. सूर्यो। ३. घ. भुंक्ते। ४-५. ग. ता क्रमे०। ६. ग. पुन तस्मि०। ७. ग. ०द्दंशा० (सर्वत्र 'द्द' इति)। ८. ग. यत् वर्षादिके। ९. ग. वर्गा० (सवर्त्र 'र्ग' इति)। १०. ग. अष्ट। ११. ग. घ. भो. पुस्तकेषु नास्ति। १२. ग. घ. भो. पुस्तकेषु नास्ति। १३-१४. ग. ०ऌगिति। १५. ग. घ. भो. पुस्तकेषु नास्ति। १६. ग. ञ०। १७. ग. ०ष। १८. ग. व। १९. ग. च। २०. ग. घ. भो. पुस्तकेषु नास्ति। २१. घ. तत्रैवा०। २२. ग. ०न्नास्ति। २३. ग. षट्। २४. ग. ०सप्तविधो। २५. ग. भागः। २६-२७. ग. ०रलडिति। २८. ग. ०वर्षा। २९. ग. क्ष्क। ३०. ग. पुस्तके नास्ति। ३१. ०ज्ञानस्वभावा। ३२. अतः परं ११९ श्लोकस्य व्याख्याने विद्यमान 'योगिन्यो विष्टिरुद्राश्च' इत्यस्मात् पूर्वं० ग. पुस्तकं त्रुटितम्; अतोऽयं त्रुटितांशः घ. पुस्तकादापूर्य दीयते। एवमुल्लिखिते त्रुटितांशभागे घ. पुस्तकस्यैव पृष्ठसंख्यायाः [ ] कोष्ठकेषु उल्लेखः क्रियते।

इदानीं प्रतीत्यसमुत्पादमु(उ)च्यते—

पुष्ये* मासे त्वविद्या मकरगतरवौ कुम्भसूर्ये च माघे
संस्कारो मीनसूर्ये भवति नरपते फाल्गुने मेषसूर्ये ।
विज्ञानं नामरूपं वृषमिथुनगते चैत्रवैशाखज्येष्ठे
नेत्राद्यं कर्कटेऽर्के भवति हरिरवौ स्पर्शनं वेदना च ॥ ११४ ॥

आषाढे श्रावणे योषिदपि तुलगते माघ(भाद्र)मासेऽश्विने च
तृष्णोपादानमेव प्रभवति च भवः कार्तिके वृश्चिके च ।
जातिश्चापस्तु(स्थ)सूर्ये मरणमपि तथा मार्गशीर्षे क्रमेण
एवं सूर्येन्दुभेदैरुभयगतिवशाद् द्वादशाङ्गानि राजन् ॥ ११५ ॥

पुष्ये माघेऽभिसन्धौ मकरगतरवौ तत्र वारे त्वविद्या
तस्मान्मृत्युर्द्वितीये भवति नरपते जातिरेवं तृतीये ।
एवं सर्वं भवाद्यं क्रमगतिगुणितं द्वादशाङ्गानि यावत्
तस्माद्वह्न्यब्धिबाणं मरण(मकर)गतिवशात् षष्ठमासं
(षडङ्ग) कदाचित् ॥ ११६ ॥

पक्षास्तिथ्याख्यवारैः रविचरणवशात् षोडशाङ्गैः कदाचित्
संस्कारो माघसन्धौ कलशगतरवौ तत्र संस्कार एव ।
विज्ञानं तद्द्वितीये प्रभवति दिवसे नामरूपं तृतीये
एवं मासद्वयाङ्गं भवति रविवशात् सृष्टिसंहारयोगात् ॥ ११७ ॥

अत्राविद्यांशं विषममपि भवेच्छोभनं सर्वकार्ये
संस्काराद्यं समं यत् त्वशुभमपि यदा सेकयात्राविवाहे ।
एवं पक्षप्रभेदैः शशिगमनवशाद् द्वादशाङ्गानि यानि
शुक्ले कृष्णे च पक्षे प्रथमतिथिवशात् सृष्टिसंहारयोगात् ॥ ११८ ॥

'आयुर्दशा' पश्चादागतांशः घ. पुस्तके [142b] पृष्ठे वर्तते; ततः परं त्रुटितांशं यावदत्र 'घ' पुस्तकस्यैव पृष्ठसंख्याया उल्लेखः । पुनः यतः ग. पुस्तकमारभ्यते ततः ग. पुस्तकस्यैव पृष्ठसंख्या कोष्ठकेषु उद्ध्रियते ।

* अतः परं मूलं क. पुस्तकादेव दीयते ।

[143a][1]पुष्येत्यादि। **पुष्ये मासे तु** पुष्यनिर्गमे माघप्रवेशदिने **अविद्या**। अत्र द्वादशारः [रं] राशिचक्रं मकरादिकम्। तत्र थपरि [प्रथमे आरे][2] **मकर इति**[3] दिने **गतरवौ कुम्भसूर्ये[4] च माघे**, चकारादत्रैव माघान्ते फाल्गुण(न) प्रवेशदिने **संस्कारः**, एवं फाल्गुणा(ना)न्ते **मीनचैत्रा**दिदिने **विज्ञानम्**, तथा **चैत्रान्ते** वैशाखादिदिने **मेषे नामरूपम्**, एवं वैशाखान्ते **ज्येष्ठादिवृषभे** दिने षडायतनम्, तथा ज्येष्ठान्ते आषाढादिमिथुनसंक्रान्तिदिने **स्पर्शः**।

एवमाषाढान्ते श्रावणादिकर्कट[5]संक्रान्तिदिने **वेदना**। एवं श्रावणान्ते भाद्रपदादिसिंहसंक्रान्तिदिने **तृष्णा**, तथा **भाद्रपदान्तेऽश्विन्यादिकन्यासंक्रान्तिदिने उपादानम्**, एवमश्विन्यन्ते **कार्त्तिकादितुलासंक्रान्तिदिने भवः**, तथा कार्त्तिकान्ते **मार्गशीर्षादिवृश्चिकसंक्रान्तिदिने जातिः**, तथा मार्गशीर्षान्ते पुष्यादिधनुसंक्रान्तिदिने जरामर[143b]णमिति द्वादशारेषु यथासंख्यं ज्ञेयानि द्वादशाङ्गानि। **त्रिसूर्यभेदः[6] चन्द्रभेदः** सर्वत्र प्रसिद्धः,[7] पुष्यप्रतिपदादिना। **उभयगतिवशादिति** संक्रान्तिवशात् पक्षतिथिवशादिति द्वादशाङ्गानि।

पुष्ये माघेऽभिसन्धौ मकरगतरवौ तत्र वारे त्वविद्या तस्माद् दिना[द्] द्वितीये दिने **जरामणम् तृतीय** वारे **जातिः**, चतुर्थे **भवः**, पञ्चमे उपादानम्, षष्ठे तृष्णा, सप्तमे वेदना, अष्टमे स्पर्शः, नवमे षडायतनम्, दशमे नामरूपम्, एकदशमे विज्ञानम्, द्वादशमे **संस्कार इति**।

यथा तृतीये वारे तथा त्रयोदशमे जातिः, चतुर्दशमे भवः, पञ्चदशमे वारे उपादानम्।

कदाचित् षोडशमे वारे तृष्णेति सूर्यगतिभेदेनाङ्गानि, क्वचित् संक्रान्तिपक्षे षोडशवारो भवतीति दक्षिणनाड्यां **मकरसमं** लग्नवशादिति। एवं **माघफाल्गुन्य**[144a]**भिसन्धौ कुम्भगतरवौ** तत्र वारे संस्कारः, **द्वितीये विज्ञानम्**, तृतीये **नामरूपम्**, चतुर्थे षडायतनम्, पञ्चमे स्पर्शः; षष्ठे वेदना, सप्तमे तृष्णा, अष्टमे उपादानम्, नवमे भवः, दशमे जातिः, एकादशमे जरामरणम्, द्वादशमेऽविद्या इति वामनाडी कुम्भविषयलग्नवशेन सृष्टिक्रमेण। अत्र यथा तृतीये तथा त्रयोदशमे नामरूपम्, पञ्चदशमे स्पर्शः, क्वचित् षोडशमे वेदनेति। एवं सूर्यचन्द्रवारः[8] सर्वत्रसमविषमभेदेन ज्ञेय उभयपक्षे संक्रान्तौ वारभेदेनेति।

---

१. अतः परं 'घ' पुस्तकात् [　　] कोष्ठके पाण्डुलिपेः पृष्ठसंख्या प्रदत्ता। २. अत्र घ. पुस्तकं त्रुटितम्; अतः भोटानुसारं अत्र पाठः पूरितः। भोटानुवादे 'Daṅ poḥi rTsibs La' (प्रथमे आरे) इति विद्यते। ३-४. अत्रापि घ. पुस्तकं त्रुटितम्; तत्र 'इ'''सूर्ये' इति। अतः भोटानुवादाद् अत्र पाठः पूरितः; तत्र 'Chu Srin te der N̄ima Son pa Laḥo' इति अस्ति। ५. घ. कर्क्कट। ६-७. भो. N̄ima ḥi dBye ba (सूर्यभेदो लभ्यते)। ८. भो. rGyu ba (वाहः)।

अत्राविद्यांशं विषमं सर्वसौम्यकार्येषु शोभनं अविद्या, विज्ञानम्, षडायतनम्, वेदनोपादानजातिरिति विषमांशं **संस्काराद्यं समं यत् सौम्यकार्येऽशुभं** संस्कारो नामरूप-स्पर्श-तृष्णा-भव-जरामरणमिति समं विषमं क्रूरकर्मणि प्रशस्यते ।

एवं **शुक्लपक्षे** पुष्ये मासे **प्रतिपदि** अविद्या द्वितीयाद्यां (यां) संस्कारः षष्टि-(सृष्टि)[1]भेदेन **कृष्णपदि[प्रति]पदि** अविद्या, द्वितीयायां जरामरणमित्युपसंहारक्रमेण[2] (द्वाद) श[144b]ति[थि]षु[3] द्वादशाङ्गानि यथा पुष्ये मासे शुक्लकृष्णपक्षभेदेना-विद्यात्य(द्य)ङ्गानि तथा माघे शुक्लकृष्णपक्षभेदेन संस्कारादीनि **सृष्टिसंहारभेदेनाव-**गन्तीति (न्तव्यानीति), एवं फाल्गुनादिके शुक्लकृष्णपक्षेषु विज्ञाने यानि (विज्ञानादीनि)[4] प्रत्येकं द्वादशाङ्गानि भवन्ति ।

T 291 अत्रैव यथा त्यै (लौ)किक[5]व्यवहारो ज्योतिषज्ञानेऽभिज्ञारहितो ज्ञेय इति प्रतीत्यसमुत्पादनियमः, तेन विस्तरो नोक्त इति ।

इदानीं भूमिबलमुच्यते—

सूर्यारौ केतुमन्दौ रिपुनिधनकरौ संस्थितः सव्यपृष्ठे
वामेऽग्रे सौम्यरूपं ग्रहगणसकलं युद्धभूम्यां तथैव ।
योगिन्यो विष्टिरुद्राश्च पवनसहिताः सौख्यदाः सव्यपृष्ठे
वामेऽग्रे मृत्युरूपा समविषमगता द्वे बले घातयन्ति ।।११९।।

सूर्येत्यादि । अत्र भूमिवल (य) मष्टदिशात्मकं ज्ञात्वा राशिचक्रे ग्रहन (क्ष) त्रं त्र (चक्रं)[6] भूम्यामष्टदिशासु[7] यत्र **सूर्यारौ केतुमन्दौ रिपुनिधनकरौ, संस्थिताः** सर्वे **सव्ये** दक्षिणपृष्ठे वा शत्रूणामभिमुखो वामतः स्थिता मरणं कुर्वन्तीति । **वामेऽग्रे सौम्यरूपं ग्रहगणसकलं युद्धभूम्यां तथैव** रिपुनिधनकरं (:) चन्द्रो बुधः शुक्रो बृहस्पति-रिति सौम्यरूपं ग्रहगणं शत्रूणां दक्षिणे पृष्ठतः स्थितं रिपुनिधनकर इति नियमः । एवं वक्ष (क्ष्य) माणे **यो** [145 a घ] [84 a ग][8]**गिन्यो विष्टिरुद्राश्च पवनसहिताः सौख्यदाः सव्यपृष्ठे** रिपूणां **वामेऽग्रे** स्थिता निधनकरा भवन्तीति । **समविषमगता** अर्द्धक्रूरा रिपूणां सव्ये पृष्ठे अर्द्धक्रूरा न भवन्ति; अर्द्धसौम्या वामेऽग्रे भवन्ति, अर्द्ध-सौम्या न भवन्ति; तदा **द्वे बले**[9] **घातयन्ति,**[10] उभयवलानां **मरणं** भवतीति नियमः ।

---

१. भो. sPro ba (सृष्टि) । २. अत्र घ. पुस्तकं त्रुटितम्; त्रुटितांशो भोटानुवादात् पूरितः । ३. भो. Tshes bCu gÑis Po rNams la (द्वादशतिथिषु) । ४. भो. rNam par Śes Pa La Sogs pa (विज्ञानादि) ५. भो. ḥJig paḥi (लौकिक) । ६-७. भो. ḥKhor lo ḥKhor ba (चक्रं भ्राम्य०) । ८. अंतः परं ग. पुस्तकं प्रारभ्यते । ९. ग. वल । १०. ग. पातयन्ति ।

इदानीं ब्रह्माण्यादियोगिनीवलमुच्यते—

ब्राह्मी रौद्री कुमारी खगपतिगमना शूकरी वज्रहस्ता
चामुण्डा चैव लक्ष्मीर्भवति वसुतिथावादितिथ्यां नवम्याम्।
शक्रे यक्षेऽग्निकोणे दनुयमवरुणे मारुते चेशभूमौ
कुर्वन्त्यत्रोदयं ताः पुनरपि तिथिषु द्वचष्टभेदैर्विभिन्नाः ॥१२०॥

ब्राह्मीत्यादि। अत्र शुक्लपक्षे कृष्णपक्षे वा प्रतिपदि ब्रह्माणी शक्रे, द्वितीयायां प(य)क्षे[१] **रौद्री**, तृतीयायामग्निकोणे **कौमारी**, चर्तुथ्यां नैरृत्ये **वैष्णवी**, पञ्चम्यां याम्यां **वाराही**, षष्ठ्यां वारुणे(ण्ये) ऐन्द्री, सप्तम्यां वायव्यौ(व्ये) **चामुण्डा**, अष्टम्याम् ऐशान्ये **महालक्ष्मीरिति; वसुतिथौ** अष्टतिथौ, **आदि** प्रतिपदादौ[२] **नवम्यामिति।** पुनर्नवम्यां ब्राह्मी[३] **शक्रे**, दशम्यां **रौद्री** प(य)क्षे, एकादश्यां कौमार्यग्नौ, द्वादश्यां वैष्णवी नैरृत्ये, त्रयोदश्यां वाराही याम्ये, चतुर्दश्यां ऐन्द्री वारुण्ये, पञ्चदश्यां पूर्णिमायाममावस्यायाञ्च[४] अर्द्धतिथौ चामुण्डा अर्द्धतिथौ **महालक्ष्मीरिति** न्यायः। एवमास्वष्टदिशासूदयं **कुर्वन्ति, ताः** योगिन्यः। **पुनरपि**[५] प्रतिपदादि[६]**तिथिषु** पूर्वार्द्धे **अष्टभेदाः**, अपरार्द्धे अष्टभेदाः, एवं **द्वचष्टभेदे**षूदयन्ति तासु तिथिसु ज्ञेयाः, तासां स्वस्वतिथौ प्रथमाष्टमांशो[७] भोगः[८] तिथ्याधिपत्याः, पश्चात् यथोक्तक्रमेण सप्तभोगाः सप्तानामिति न्यायः। एवमपरार्द्धेऽपि तिथौ ज्ञेयमिति योगिनीचक्रोदयनियमः।

विष्टीनां शुक्लपक्षेऽप्युदय इह भवेत् शक्रयाम्याब्धिकोणे
कृष्णे पक्षे च भूयः शिखिदनुपवनः चेशकोणे क्रमेण।
रुद्रः पूर्वापरार्द्धं व्रजति दिनवशादुत्तरे चोत्तरेऽर्के
वारुण्यादग्निवर्णं(मन्तं) व्रजति सनियतं दक्षिणे दक्षिणेऽर्के ॥१२१॥

इदानीं विष्टिबलमुच्यते—

विष्टीनां शुक्लपक्षे चतुर्थ्यामष्टम्यां एकादश्यां पूर्णमास्यामुदयो **यथाक्रमेण शक्रे याम्य(ये)**[९] पश्चिमे उत्तरे[१०] च। **कृष्णपक्षे** तृतीयायां सप्तम्यां दशम्यां चतुर्दश्यामुदयो **यथाक्रमेण** आग्नेय्यां नैरृत्य वायव्ये इ(ई)शे च इति विष्ट्युदयनियमः। आसां कार्यं पूर्वोक्तमिति।

इदानीं रुद्रबलमुच्यते—

रुद्रः पूर्वात् पूर्वदिशातो **अपरार्द्धं** वारुण्यां यावत् **व्रजति दिनवशात्** संक्रान्तिचारवशादिति। **उत्तरे** वामावर्तेन **उत्तरार्के**[११] उत्तरायणे स्थिते मकरे कुम्भार्द्धे पूर्वे

१. भो. gNod sByin (यक्षे)। २. घ. प्रतिपदौ। ३. ग. ब्राह्मणी। ४. घ. ०स्यां वा। ५. ग पुनरवै। ६. घ. प्रतिपदौ। ७. ग. ०मांसो। ८. ग. भोग। ९-१०. ग. याम्यपश्चिमोत्तरे। ११. ग. उत्तरार्क्क (सर्वत्र 'र्क्क' इति); घ. उत्तरार्को।

कुम्भार्द्धे [84b] मीनार्के[१] ईशाने मेषे[२] वृषभार्द्धे[३] उत्तरे, वृषभार्द्धे मिथुने वायव्ये। ततो **वारुण्यादग्निमन्द(न्त)मिति दक्षिणायनस्थिते** अर्के[४] रुद्रो[५] **दक्षिणे** व्रजति कर्कटे, सिंहार्द्धे वारुण्ये, सिंहार्द्धे कन्यायां नैऋत्ये, तुलायां वृश्चिकार्द्धे, याम्ये वृश्चिकार्द्धे, धनुष्याग्नेय्यामिति रुद्रोदयनियम इत्यादिमासरुद्रः पक्षरुद्रो दिनरुद्रः कालरुद्रः षट्प्रकारो निरर्थकस्तेन नोक्त इति।

इदानीमर्द्धप्राहारिक[६]राहुबलमुच्यते—

पूर्वादर्द्धप्रहरात् प्रविशति पवने दक्षिणे याति तद्वत्
ईशे तोयेऽग्नियक्षे व्रजति दनुपुरे मारुतेऽर्केऽस्तमेति।
त्यक्त्वा श्रीमूलराहुं प्रभवति विजयी मारुतोऽप्यङ्कयुद्धे
संग्रामे मूलराहुर्ग्रसति रिपुबलं तेन तुल्योऽस्ति नान्यः॥ १२२॥

अत्र सप्तवारेषु आदित्योदये **पूर्वात्** पूर्वदिग्भागतः, **अर्द्धप्रहरादूर्ध्वं प्रविशति पवने,** ततोऽपरार्द्धप्रहरान्ते **दक्षिणे याति,** भूयोऽपरार्द्धप्रहरान्ते **इ(ई)शे व्रजति,** ततोऽपरप्रहरार्द्धान्ते[७] वारुण्यां व्रजति, ततोऽपरप्रहरार्द्धान्ते आग्नेय्याम्, ततोऽपरप्रहरार्द्धान्ते यक्षे, ततोऽपरप्रहरार्द्धान्ते नैऋत्यां[८] विशतीति नियमो[९]ऽष्टदिक्षु[१०]आदित्योदयादित्यास्तमनं यावदिति। एवं रात्रौ ज्ञेयः। **त्यक्त्वा श्रीमूलराहुं प्रभवति विजयी** अयं **मारुतोप्यङ्कयुद्धे**[११], द्वयोर्योधयोर्युद्धे[१२]; **संग्रामे** पुनः **मूलराहुर्ग्रसति रिपुबलं तेन तुल्योऽस्ति**[१३] **नान्यो**[१४] राहुरस्ति[१५], मासादिराहूणां मध्ये इति नियमः।

इदानीमङ्कयुद्धे योधबलमुच्यते—

मात्राहीनस्तु योधः समविषमरणे हन्यते चाधिकेन
श्वासे नामद्वयोर्यत् प्रविशति हृदयं तस्य युद्धे जयः स्यात्।
दूतेनोक्तादिनामा प्रभवति विजयी हन्यते पृष्ठनामा
आर्यैर्वर्णैः स्वराद्यैः समविषमगतैर्निष्फलादेश एव॥ १२३॥

मात्राहीनस्तु योधः समरणेऽङ्कयुद्धे **विषमरणे** उभयबलसंग्रामे **समविषमरणे हन्यते चाधिकेन,** अधिकमात्राक्षरनाम्ना[१६] इति[१७]। ह्रस्वमात्री दीर्घमात्रिणा हन्यते, दीर्घमात्री प्लुतमात्रिणा हन्यते, न पुनरपरपरनिमित्तम्[१८]। **श्वासे नामद्वयोर्यत् प्रविशति हृदयं तस्य युद्धे जयः स्यात्**। यस्य श्वासे नाम निर्गच्छति बाह्ये स म्रियते। अपरप्रयोगः **दूतेनोक्तादिनामा प्रभवति विजयी हन्यते पृष्ठनामेति** नियमः। **आर्यैरिति** ध्वज-धूम-सिह-श्वान-वृष-खर-गज-ध्वांक्षा इत्यार्याः **वर्णाः**, श्याम-गौर-रक्त-कृष्णाः, तथा ब्रह्म-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राः, **स्वरा-**

१. घ. मीनके। २-३. मेषवृषभार्धे। ४-५. ग. अर्द्धे रुद्र। ६. ग. इदानीमर्थर्द्ध०; घ. ०प्राहारत्। ७. घ. ०प्रहरान्ते। ८. घ. नैऋत्ये। ९. ग. निसमो। १०. ग. अष्टदिषु। ११-१२. ग. मारुतोऽप्यङ्कयुद्धोयेधम्मोर्युद्धे। १३-१४. घ. ०अस्ति नास्ति। १५. ग. राहुर्नास्ति। १६-१७. घ. अक्षराणामेति। १८. घ. पुनरपरनिमित्तं।

द्यैरक्षरपिण्डं द्विगुणं मात्रापिण्डं चतुर्गुणं सप्तभागावशेषं फलम्। एतैः स्वराद्यैरन्यैरपि प्रपञ्चेन स्वरेणोक्तैः (ईश्वरेणोक्तैः)[1] **समविषमगतैर्निष्फलादेश एव**। [85a] कुतः ? पञ्चाभिज्ञाऽभावात्, सर्वं[2]लोकव्यवहारेण बालानां व्यामोहजनकवाक्यम्, स्वकर्मफलभोगरहितम्। ग्रहादिबलव्यपदेशेन ऋषिभिर्मिथ्या[3] रचना कृता, ईश्वरधर्मस्थैः[4] स्वरोदयरचना[5] कृता, इति ईश्वरेण भाषितमिति मृषावाक्येन लोकान् प्रतारयन्ति। एतत् प्रपञ्चं विस्तरेण परमाक्षरज्ञानसिद्धौ[6] वक्तव्यमत्रतिष्ठत्विति।

इदानीं मूलराहुबलमुच्यते **काल** इत्यादि—

कालः सव्येऽव(प)सव्ये यदि भवति तमी युद्धभूमौ नृपाणां
संग्रामे देवनाथो हरिहरसहितो हन्यते मानुषैश्च।
तस्मात् श्रीमूलराहुस्त्रिभुवनविजयी वक्ररुद्रासुरीणां
ज्ञातव्यो युद्धकाले क्षितिवलयगतो नान्यथा शत्रुनाशः ॥ १२४ ॥

कृत्वा ऋक्षाणि भूमौ मुनियुगविहितानीन्द्रयक्षाब्धियाम्ये
तच्चक्रं भ्राम्यमाणं दिवसगतिवशाद् वेदितव्यं समस्तम्।
नक्षत्रे यत्र कालः प्रभवति च तमी दृष्टिपाते द्वयोश्च
संग्रामे शत्रुसैन्यं निपतति सहसा गर्भमध्ये जयः स्यात् ॥ १२५ ॥

राहौ काले स्थितानां भवति समरणं तुल्यपातो बलानां
दृष्ट्यंशे निर्गतानामुरगगतिवशात् सैन्यभङ्गो हि तत्र।
दृष्ट्यंशं वर्जितानां प्रभवति विजयो गर्भवेशे द्वयोश्च
एवं श्रीमूलराहुर्गुरुवचनगते ज्ञायते कालचक्रे ॥ १२६ ॥

अत्र* **कृत्वा ऋक्षाणि भूमौ** इत्यष्टाविंशद् ऋक्षाणि, सूर्यो यस्मिन्नक्षत्रे तत् नक्षत्रं पूर्वंसप्तनक्षत्राणां मध्ये सव्याव(प)सव्यं(ये) त्रीणि त्रीणि नक्षत्राणि **मुनि**रिति पूर्वे सप्त **युगनिह(विहि)तानि**,[7] यथा पूर्वे[8] सप्त[9] तथा उत्तरे पश्चिमे **याम्ये**, **चक्रं भ्राम्यमाणं**

१. भो. dBaṅ Phyug Gis (ईश्वरेण)। २. ग. सर्व्वं० (सर्वत्र 'र्व्व' इति)। ३. ग. ०भिर्म्मिथ्या। ४. ग. धर्मस्थैः (सर्वत्र 'र्म्म' इति)। ५. घ. वचना। ६. इदं तु पञ्चमपटले आगतम्। ७. घ. विहतानि; भो. bsGyur ba (विहितानि)। ८. ग. सर्व्वे। ९. भो. सप्त इति नास्ति।

*. १२४-१२६ संख्याकानां त्रयाणां श्लोकानामत्र टीकाक्रम एवमागतः—सर्वप्रथमं १२५तमश्लोकस्य टीका प्रारब्धा; तत्र च आद्यात् 'प्रभवति च तमी' इत्यस्य व्याख्यानानन्तरं १२४तमश्लोकस्य द्विपादयोर्व्याख्यानमागतम्; ततः १२५तमश्लोकस्य शेषांशस्य व्याख्यानम्; तदनन्तरं १२६तमश्लोकस्य व्याख्यानम्; एवमन्ते १२४तमश्लोकस्य अन्तिमद्विपादयोर्व्याख्यानम्।

T 292 दक्षिणावर्त्तेन, नक्षत्ररचना वामावर्त्तेन, अहोरात्रेणाष्टाविंशन्नक्षत्राणां प्रत्येकोद[य]भोगः[1]। अत्र भ्रमणवशात् यत्र नक्षत्रे कालः पुच्छराहुर्भवति प्रभवति च तमी सव्ये[2] कालः[3] अव(प)सव्ये तमी मुखराहुः यदि भवति, युद्धभूमौ नृपाणाम्, तदा संग्रामे देवनाथो हरिहरसहितो हन्यते[4] मानुषै[5]र्दृष्टिपातेन। मुखपुच्छराहोः तयोर्द्वयोश्च संग्रामे शत्रुसैन्यं निपतति[6] सहसा गर्भमध्ये जयः स्यादिति। अत्र यदि पूर्वे मुखं पश्चिमे पुच्छस्तदा दक्षिणे दृष्टिरुत्तरे गर्भः,[7] यदा चाग्नेय्यां मुखं तदा वायव्ये पुच्छो नैर्ऋत्ये दृष्टिः, ईशे गर्भः, यदा दक्षिणे मुखं तदा उत्तरे पुच्छो वारुण्ये दृष्टिः पूर्वे गर्भः, यदा नैर्ऋत्ये मुखं तदा ईशे पुच्छो वायव्ये दृष्टिराग्नेय्यां गर्भः, यदा वारुण्ये मुखं तथदा (तदा) पूर्वे पुच्छ उत्तरे दृष्टिर्दक्षिणे गर्भः, यदा वायव्ये मुखं तदा आग्नेय्यां पुच्छ ईशे दृष्टिः नैर्ऋत्ये गर्भः, यदोत्तरे मुखं तदा दक्षिणे पुच्छः पूर्वे दृष्टिः पश्चिमे गर्भः, यदा ईशे मुखं तदा नैर्ऋत्ये पुच्छः आग्नेय्यां दृष्टिर्वायव्ये गर्भ इति।

एवं राहौ काले स्थितानां मुखे स्थितानां पुच्छे स्थितानां[स]मरणं भव[85b]ति, तुल्यपातो बलानां भवति, दृष्ट्यंशे निर्गतानाम्[8]। अत्र दृष्ट्यंशे द्वादशनक्षत्राणां दृष्टौ गतानां सव्ये वामतस्तृतीयो भागश्चत्वारि नक्षत्राणि राहोश्चत्वारि कालस्येति। उरगगतिवशात् सैन्यभङ्गो हि तत्र। दृष्ट्यंशं[9]वर्जितानां गर्भे स्थितानां द्वादशनक्षत्राणां तृतीयो भागो गर्भ प्रदे(वे)शः,[10] चत्वारि नक्षत्राणि सव्ये, चत्वारि[11] अव(प)सव्य[12] इति। अत्र दृष्ट्यंशे स्थितानां गर्भाङ्गे प्रविष्टा अभिमुखा भवन्ति, तैः सार्द्धं युद्धम्।

एवं श्रीमूलराहुर्गुरुवचनगते[13] ज्ञायते कालचक्रे। गुरुवचनं बुद्धवचनमिति। तस्मात् कारणात् श्रीमूलराहुस्त्रिभुवनविजयी चक्र(वक्र) इति ग्रहा रुद्राः, आसुरीति षष्टि योगिन्य इति; तासां विजयी वक्र[14] रुद्रासुरीणां मध्ये; ज्ञातव्यो युद्धकाले क्षितिवलयगतो नान्यथा [शत्रु] नाशः। एवमुक्तक्रमेण राहुर्ज्ञातव्य इति नियमः।

योगिन्यो विष्णु(ष्टि)रुद्रा ग्रहणसहिताः सम्व(स्व)रस्योदयञ्च
त्यक्त्वा सर्वाणि तानि त्रिभुवनविजयी क्षत्रियैर्ग्राह्य एकः।
ग्रस्तौ येनेन्द्रसूर्यौ त्रिदशभयकरौ रौद्रमूर्त्यञ्जनाभौ
भूमौ पूर्वापरं यो भ्रमति दिननिशं दक्षिणं चोत्तरं च ॥ १२७ ॥

अत्र योगिन्यादिकं सर्वं बलं त्यक्त्वा क्षत्रियैरेकोऽयं राहुर्ग्राह्यो येनेन्दुसूर्यौ[15] ग्रस्तौ त्रिदशानां भयङ्करौ रौद्रमूर्तिरञ्जनाभः, अहोरात्रेण भूमौ पूर्वापरं यो भ्रमति दक्षिणं चोत्तरञ्च दिग्विभागमष्टदिक्षु स एव ग्राह्य इति नियमः संग्रामकाले[16]।

१. घ. प्रत्येकादयभोगः। २-३. घ. सव्यकालः। ४-५. ग. हन्यतैम्मानुषै०। ६. ग. निपतिते। ७. ग. गर्भः (सर्वत्र 'र्भ' इति)। ८. ग. निर्गतानां। ९. ग. दृष्ट्यङ्गं। १०. भो. S̄ugs pa (प्रवेशः)। ११-१२. ग. पुस्तके नास्ति। १३. घ. गतो। १४. ग. चक्र। १५. सूर्य्यौ (सर्वत्र 'र्य्य' इति)। १६. ग. संग्रामवलः; भो. sTobs La (०बले)।

इदानीं दुष्टशत्रुदुर्ग[1] विध्वंसनार्थं[2] यन्त्राण्युच्यन्ते संग्राम[3] इत्यादि[4]—

संग्रामे भग्नशत्रुः प्रविशति सहसा कोट्टमध्ये कदाचित्
कृत्वा यन्त्राणि बाह्ये ह्यनवरतशिलावह्निवाणप्रपातैः ।
खड्गाद्युच्छेदयन्त्रैः क्षितितलनिलये पञ्जरैः शृङ्गभेदै-
स्तद्दुर्गं चूर्णयित्वा कतिपयदिवसैः साधनीयः स दुष्टः ॥ १२८ ॥

संग्रामे भग्नशत्रुः प्रविशति सहसा कोट्टमध्ये कदाचित्, तदा **कृत्वा यन्त्राणि**[5] **बाह्ये**, नैर्यन्त्रैर्मुक्तैरनवरतशिला[पातैर्व]ह्निवाणप्रपातैः **खड्गाद्युच्छेदयन्त्रैः** स्वगृहे रक्षां कृत्वा,[6] **क्षितितलनिलये** वज्र**पञ्जरैः शृङ्गभेदै**श्च **तद्दुर्गं चूर्णयित्वा कतिपयदिवसैः साधनीयः स दुष्ट** इति न्यायः ।

अत्र स्थलप्राकारकोट्टे[7] पाषाणयन्त्र[8]लक्षणमुच्यते चत्वार इत्यादि—

चत्वारो द्व्यष्टहस्ताः समविषमपदैश्छिद्रिताष्टप्रदेशा-
स्स्तम्भा भिन्नार्गलाभिर्जलधियुगयुगाभिश्च पृष्ठैकया च ।
मूले यन्त्रस्य मानं भवति दशकरं मूर्द्ध्नि भागे तदर्द्धं
यष्टिर्हस्तद्वयोना प्रभवति कणयो मूर्द्ध्नि भागा दिशाश्च ॥ १२९ ॥

चत्वारः स्तम्भा द्व्यष्टहस्ता इति षोडश हस्ताश्चतुरस्राः विस्तारेण[9] षोडशाङ्गुला उत्तमयन्त्रस्य, मध्यमस्य स्तम्भाश्चतुर्दश[10]हस्ता विस्तारेण चतुर्द्दशाङ्गुलाः, अधमस्य स्तम्भा द्वादश हस्ता विस्तारेण द्वादशाङ्गुलाः ; ते च **च्छिद्रिताः**[11] **अष्टप्रदेशैः सम**[86b]**विषमपदैः**; समः[12]पूर्वापरकोटिः, विषम(ः)सव्येतरकोटिः, तस्यामष्ट[13]स्थानेषु च्छिद्रिताः,[14] च्छिद्रं विस्तार त्रिभागिकम् । ते च **भिन्नार्गलाभिः**[15] पूर्वे चतसृभिः, दक्षिणे च चतसृभिर्वामे च चतसृभिः, **पृष्ठे**ऽधोभागे **एकये**ति पृष्ठस्तम्भयोः पञ्च च्छिद्राण्येव, पूर्वस्तम्भयोरष्ट इति ; **यन्त्रस्य मानं मूले दशहस्तम्**, उद्ध्वं पञ्चहस्तं **यष्टिर्हस्तद्वयेनोन**स्तम्भानामिति[16] । **कणयमानं**[17] षट्हस्तं कणयस्य वामदक्षिणे[18] गोपुच्छाकारः ।

वृत्तं सार्द्धद्विहस्तं मुनिमनुनियतं द्व्यङ्गुलं छिद्रमेकं
त्यक्त्वा हस्तं हि यष्टिः प्रविशति कणये कीलिता पृष्ठभागे ।
पञ्चाशद् रज्जुबद्धे शिरसि कटके मूर्ध्नि मानर्द्धि वृत्ते
यष्ट्यन्ते साङ्गुलीकं प्रविशति वलयं वृत्तिमेका वितस्तिः ॥१३०॥

---

१. ग. दुर्ग्ग (सर्वत्र 'र्ग्ग' इति) । २. विध्वंशनार्थं । ३-४ ग. पुस्तके 'संग्राम इत्यादि' नास्ति । ५. ग. मन्त्राणि । ६. ग. पुस्तके नास्ति । ७. ग. ०प्रकर० । ८. ग. पाषानयतु । ९. घ. विस्तरेण । १०. ग. चतुर्द्दश । ११. ग. छिद्रिताः । १२. घ. समं । १३. घ. तस्याष्ट । १४. ग. छिद्रिताः; घ. छिद्रा । १५. ग. भिन्नार्ग्गलाभिः (सर्वत्र 'र्ग्ग' इति) । १६. घ. ०द्वयेनोनास्तम्भोगमिवि । १७. ग. ०माणं । १८. घ. ०दक्षिण ।

मध्ये **वृत्तं सार्द्धंद्विहस्तम्** उभयपार्श्वेन[1] विंशत्यङ्गुलम्, अग्रकलशयो स्त्रिंशदङ्गुलम्, मध्यवृत्तस्य मध्ये च्छिद्रं चतुर्दशाङ्गुलं विस्तरेण सप्ताङ्गुलम्; तस्मिन् कणयन्छिद्रे यष्टि **हस्तमेकं त्यक्त्वा**, त्रयोदश हस्तान् गोपुच्छाकारान् कृत्वा, **यष्टिस्तस्मिन्**[3] **च्छिद्रे**[4] **प्रविशति**, लोहकीलकेन **पृष्ठभागेन कीलिता** स्थिरीभवति। यष्टिशिरसि[5] हस्तमाने (न)[6] त्रिभागान्तरेण च्छिद्रद्वयम्, तयोः च्छिद्रयोः **कटकद्वयं** षष्टयङ्गुलं वृत्तं विस्तरेण लोहदण्डवृत्तं षडङ्गुल[7]मेकैकपञ्चाशत् **रज्जवो बद्धाः शिरसि** च **कटके** इति। **यष्टचन्ते वलयं** द्वादशाङ्गुलवृत्तं यष्ट्यग्रे साङ्गुलीकं[8] **विशति**,[9] **यष्ट्या**[10] सह कीलद्वयेन सजिह्वं कीलितं जिह्वाग्रेऽङ्गुली ज्ञेया। षडङ्गुली जिह्वा वलयमाना यष्टिवलयान्तर्विष्टा भवति।

यष्ट्याङ्गुल्या त्रिहस्तं भवति च नियतं क्षेपणं रज्जुसार्द्धं
पाषाणं तस्य मध्ये प्रविशति बलवत्कण्टकैः कण्टचमाणम्।
मुक्तं खे याति शीघ्रं निपतति सहसाऽट्टालकादौ प्रतोल्यां
चूर्णीकृत्वा समस्तं व्रजति भुवि तलं वज्रपातो यथैव ॥१३१॥

अत्र **यष्टयङ्गुल्या**[11] **त्रिहस्तं**[12] **क्षेपणं रज्जुसार्द्धम्**[13]; अत्र चर्म[14]-क्षेपणश्चतुर्विंशत्यङ्गुलं विस्तरेण, मध्ये द्वादशाङ्गुलं सव्याव(प)सव्येन गोपुच्छाकारम्, उभयपार्श्वे सूत्रमयं रज्जुद्वयं सार्द्धद्विहस्तादिकम्; **पाषाणं तस्य** क्षेपणस्य **मध्ये प्रविशति बलवत्कण्टकै**[15] रज्जुभिः **कण्टचमाणम्**; **मुक्तं खे**[16] **याति**[17] **शीघ्रम्**, गत्वा **निपतति सहसा अट्टालकादौ**[18] प्राकारे **प्रतोल्यां** वा; **चूर्णं कृत्वा समस्तं व्रजति भुवि तलं**[19] पाषाणं **वज्रपातो यथैवेति**।

तस्याङ्गुल्यर्द्धचन्द्रा क्षितितलनिलये ब्रह्मरेखा द्विपार्श्वे
द्वचष्टौ मोक्षप्रदेशा उभयकरतलान्मुष्टिबन्धाद् विमोक्षः।
मोक्षे भूस्पर्शनं वै समविषमपदैर्यन्त्रगर्भे स्थितैश्च
स्वेच्छापाषाणपातस्त्रिविधगतिवशाद् दुर्गविध्वंसनार्थम् ॥१३२॥

तस्य यन्त्रस्याङ्गुल्यर्द्धं[20]**चन्द्राकृतिः क्षितितलनिलये ब्रह्मरेखा** अङ्गुल्याधः[21]-(ग्र) समा भव[86 b]ति। तस्या **द्विपार्श्वे अष्टौ मोक्षप्रदेशा** वितस्त्येकैकान्तरेण

१. घ. पाशेन। २. घ. अत्र कणययो। ३-४. ग. सा यष्टिस्तस्यच्छिद्रे। ५. ग. यशोष्टिशिरसि। ६. ग. हस्तमाणे। ७. ग. शतङ्गुल। ८. ग. शाङ्ग॰। ९. घ. विंशति। १०. ग. यष्टी। ११-१२. ग. ०ङ्गुल्यास्त्रिहस्तं; घ. ०ङ्गुल्यान् त्रिहस्तं। १३. ग. रज्जुसोद्र्ध्वम्। १४. ग. चर्म्म (सर्वत्र 'र्म्म' इति)। १५. ग. वरत्रकट्टके; घ. बलवत्क····। १६-१७. ग. क्षयति। १८. ग. अदुलकादौ। १९. घ. पुस्तकेऽयमंशोऽस्पष्टः। २०. ग. ०ङ्गुलार्द्ध। २१. ग. अङ्गुल्यधः; भो. mGo (अग्र)।

पाषाणस्य भवन्ति; **उभयकरतलान्मुष्टिबन्धाद् विमोक्षो** भवति। **मोक्षकाले** पाषाणस्य **भूस्पर्शनं** भवति, **सम**[1]**पदैः** सव्यपादैर्यन्त्रगर्भे[2] प्रविष्टैः, **विषम**[3]**पदै**र्वामपदैः[4] **प्रविष्टै**रिति। **स्वेच्छापाषाणपातास्त्रिविधगतिवशात्**, वामदक्षिणमध्यगतिवशाद्, **दुर्गविध्वंसनार्थ**मिति स्थलदुर्गभेदनियमः।

ऐभं यस्य प्रहारैर्निपतति सहसा तस्य किं क्षुद्रजन्तुः
कोट्टाट्टाले स्थितं यदि रिपुबलसकलं पातयेद् बाह्यसंस्थम्।
का स्पर्द्धा तेन सार्द्धं क्षितितलनिलये धन्विनां दुर्गयुद्धे
कः शत्रुस्तत्र दुर्गे विशति यममुखे यत्र यन्त्रप्रहाराः ॥१३३॥

ऐभं यस्य प्रहारैरित्यादिवृत्तं सुबोधमिति।

इदानीं जलदुर्गग्रहणाय जलयन्त्रलक्षणमुच्यते—

षट्षट्स्तम्भैर्भुजैः स्यादुभयपुटसमो हस्तयुग्मान्तराले
गर्भेकैकोऽर्कहस्तोऽप्युभयपुटसमो नाधिको हीन एव।
सर्वं प्रत्येककोष्ठे पिहितमपि फलैश्चर्मभिः सिक्थवस्त्रै-
र्गर्भे ऋत्वष्टदोषैस्त्रिगुणदिनकरैरेकमन्त्रं प्रकुर्यात् ॥१३४॥

षडित्यादि। अत्र जलयन्त्रार्थं षडङ्गुलात् काष्ठाच्चतुर्दशहस्ता विस्तारेण, हस्तियन्त्रस्य चतुर्विंशत्यङ्गुलाः, अश्वयन्त्रस्य विंशत्यङ्गुलाः, नरयन्त्रस्य षोडशाङ्गुलाः, **षट्स्तम्भै**र्द्वादशहस्तान्तरान्तरस्थ(स्थि)तै**रुभयपुटसमो नाधिको हीन एव; गर्भे एकैको*** द्वादशहस्तः, अधः पुटे ऊर्द्ध्वपुटे **हस्तयुग्मान्तराले** द्विहस्तान्तराले **षट्स्तम्भैः** पुटद्वयेनैकैकगर्भा(र्भो) भवतीति नियमः। **सर्वं** (सर्वत्र)[5] **प्रत्येककोष्ठे पिहितमहि(पि) फलैः** (फलकैः)[6]। अत्रोभयपार्श्वे भुजान् कारयित्वा, प्रत्येकफलके एकपार्श्वे कारयित्वा, अपरपार्श्वे अध ऊर्द्ध्वफलककोटीन् रक्षयित्वा, मध्ये अङ्गुलमेकं फलकात् फलकमध्ये प्रवेश्य नियन्त्रयेत्, यथा तोये प्रवेशो न भवति। एवमध उर्द्ध्वे पूर्वापरे वामदक्षिणे सर्वत्र कार्यम्। उच्छ्रयेण त्रिहस्तो गजानां गर्भः[7], अश्वानां सार्द्धद्विहस्तः, नराणां द्विहस्त इति **चर्मभिः शि(सि)क्थवस्त्रै**स्तेषु प्रत्येकफलके सन्धिप्रदेशेषु चर्मभिर्द्रुतैः शि(सि)क्थवस्त्रैर्मूर्ध्नि मुद्रयेत्, यथा लहरिजलं न प्रविशति; **गर्भे**मध्ये हस्तद्वयोच्छ्रितं ग्रीवास्थाने गर्भमध्ये प्रवेशाय कर्त्तव्यमिति। एभिर्गर्भैरधममध्योत्तमभेदैरनेकयन्त्राणि भवन्ति। **ऋतुभिः** षड्भिर्गर्भैर्यन्त्रं भवति, **अष्टभि**र्वा **दोषै**रष्टादशभिर्वा **ति(त्रि)गुणदिनकरैः** षट्त्रिंशद्भिर्वा तद्द्विगुणैः तद्द्विगुणै[87a]र्वा गर्भैर्यन्त्रं भवति, सहस्रगर्भपर्यन्तं महासमुद्रलङ्घनाय।

---

१. घ. पुस्तके नास्ति। २. ग. ०यतुगर्भे। ३. ग. विसम। ४. ग. ०र्वामपदैः
५. भो. Kun la। ६. भो. sPan leb। ७. ग. गर्भः।
* घ. पुस्तके १३४तमश्लोकव्याख्यायाम् 'एकैको'पर्यन्तं पाठो लभ्यते; अग्रे च १३५-१३६ श्लोकव्याख्यांशो लभ्यते।

द्वौ द्वौ गर्भान्तराले स्खलितमपि भुजैर्मुद्रितं वा समन्तात्
पृष्ठे षट्काण्डधारा उभयभुजसमा चाग्रतो यन्त्रवाहाः ।
कूपस्तम्भैर्निबद्धैश्चलदनिलपटैश्चालितं चानिलेन
तत्रारूढं स्वसैन्यं व्रजति जलनिधौ तोयदुर्गक्षयार्थम् ॥१३५॥

अत्र बाह्ये चतुर्भुजासु प्रत्येकगर्भे पूर्वापरे भुजे पद(पुट)[1]द्वये काये वामदक्षिणे [षण्णां मध्ये][2] आसु चतसृसु भुजासु स्तम्भकाष्ठेषु च्छिद्रभुजाच्छिद्रेभ्यो निर्गतेषु[3] भुजाविस्तारत्रिभागिकेषु हस्तत्रयफलकेन उभयकोटिच्छिद्रितेषु न सर्वगर्भान् अन्योऽन्यं नियन्त्रयेत् गर्भकोणचतुष्टये। शेषप्रकाशस्थानेषु कीतिवालान् वाह्येदिति, ऊर्द्ध्वे **मुद्रितं वा** पूर्वापरं **समन्तात्** कीतिवालप्रवाहस्थानानि वर्जयित्वा। सर्वयन्त्रस्य **पृष्ठे षट्काण्डधाराः**; एवं द्वादश विं(त्रिं)शतिः शतपर्यन्ताः, **उभयभुजा समाश्चाग्रताः**; तेषां काण्डधाराणां **यन्त्रवाहाः** सहस्रपर्यन्ता भवन्ति यन्त्रानुरूपत इति। अथ वा तान् अकुलं ज्ञात्वा **कूपस्तम्भैर्निबद्धैश्चलदनिलपटै**र्वातपटै**श्चालयन्तं** वातेन तद् यन्त्रम्, **तत्रारूढं स्वसैन्यं व्रजति जलनिधौ तोयदुर्गक्षयार्थम्**, द्वीपान्तरग्रहणार्थमिति न्यायो दुष्टानां दमनार्थमिति जलयन्त्रलक्षणम्।

इदानीं गिरिदुर्गक्षयार्थमग्नितैलमोक्षणाय वातयन्त्रमुच्यते—

एके पीठेऽब्धिकोणे चलदनिलपटः सध्वजस्तम्भबन्धः
पक्षे पृष्ठे मनुष्यैस्खलितमपि महौ रज्जुना मूर्ध्नि गच्छत्।
वातेनोद्धूयमानो व्रजति नभसि वै शैलदुर्गस्य मूर्ध्नि
तस्मात् मुक्ताग्नितैलं दहति रिपुबलं सर्वदुर्गं समन्तात् ॥१३६॥

एक इत्यादि। अत्र चतुर्हस्ते चतुरस्रे फलके **पीठे** मध्ये त्रिहस्तस्तम्भो विस्तारवृत्तेन द्वादशाङ्गुलः वामदक्षिणपृष्ठोऽग्रकोणेषु[4] लोहकीलं सकटकम्[5]; तेषु[6] कटकेषु **रज्जुभिर्मूर्ध्नि** स्तम्भं नियन्त्रयेत्। यन्त्रभागद्वयं उद्ध्वाधःपर्यन्तं दृढवस्त्रैराच्छादयेत्। अत्र **कोणे ध्वजाः** पञ्चहस्तमेकविस्तारः, अधोवामदक्षिणकोण*कटके रज्जुत्रयं हस्तद्वयं यावत्; तत्र एकं समाहारेण गिरिदुर्गादूद्ध्वमानतुल्यम्, तेन **रज्जुना पृष्ठे मनुष्यैः**[7] **स्खलितं महौ रज्जुना मूर्ध्नि गच्छता**(त्) तद् यन्त्रं **वातेनोद्धूयमानं व्रजति नभसि वै शैलदुर्गक्षयार्थम्**। तस्य **मूर्ध्नि** तत्र यन्त्रेऽग्नितैलं पुरुषमेकं अग्निसहितं प्रवेशयेत्, तेन नरेण **तस्माद्** वातयन्त्रात् **मुक्ताग्नितैलं दहति रिपुबलं सर्वदुर्गं समन्ता**दिति निश्चितं गिरिदुर्गभञ्जनि[87b]यमः।

---

१. भो. Nan (पुट)। २. अयमंशो भोटानुवादे नास्ति। ३. ग. निर्गतेषु।
४. ग. वामदक्षिणे पृष्ठोऽग्रे कोणे। ५-६ घ. 'स' अनन्तरं 'कटकं तेषु' इति नास्ति।
७. ग. मानुष्यैः।
*. 'अधोवामदक्षिणकोण'पर्यन्तमेव घ. पुस्तकं लभ्यते; अतः परं नास्ति।

चक्रं मूलेरघट्टं प्रभवति कणये चाग्रतश्चक्रमन्यत्
द्विद्व्यङ्गुल्यन्तराले पुनरपि रचितं मण्डलाग्रे समन्तात् ।
चक्रं सार्द्धद्विहस्तं भवति च कणयश्चोद्र्ध्वतोऽन्यस्सयष्टिः
यष्ट्यग्रे तीक्ष्णखड्गं भ्रमति लघुतया भ्रामिते यन्त्रमूले ॥ १३७ ॥

कतूरी (कर्त्तरी[1])यन्त्रं प्रत्यक्षदर्शनेनावगन्तव्यम्, वृत्तेनापि स्फुटमुक्तमिति ।

रज्जुक्या वातयन्त्रं व्रजति हि गगने स्वप्रदेशात् क्रमेण
दुर्गोद्र्ध्वे शत्रुदूतस्ततिगतिनियतां रज्जुकीं मानयित्वा ।
भूमौ मानं तथा वै कथितमपि भवेत् श्रृङ्गभेदे रिपूणां
श्रृङ्गं दग्ध्वा समन्ताद् रिपुभवनतले मण्डलेऽग्निं प्रदद्यात् ॥१३८॥

एवं श्रृङ्गभेदोऽपि वातयन्त्रमपि प्रकटितं स्फुटं वृत्तेनापि अत्र टीका(या) विवक्षा नास्तीति ।

चक्राणां मूर्ध्नि भागे रचितमपि महामन्दिरं लौहकाष्ठै-
र्वृत्ताकारं समन्तात् पिहितमपि फलैश्चर्मभिर्माहिषैर्वा ।
मानुष्यैश्चाल्यमानं व्रजति सममहौ खानिकां यावदेतत्
तत् खानिं पूरयित्वा प्रविशति सहसा कोट्टभित्तौ प्रतोल्याम् ॥१३९॥

तथा वज्रपञ्जरेऽपि विवक्षा नास्तीति ।

इदानीं संग्रामे सगुड [सकवच][2]गजभेदाय नाराचयन्त्रमुच्यते—

पीठे कीलद्वये वै सगुणमपि धनुर्निश्चलं यन्त्रयित्वा
पृष्ठे द्वौ लौहकीलौ सुरचितकणयेऽप्यङ्गुलीकादर्धचक्राः ।
अङ्गुल्यग्रे गुणेन प्रचुरसमशरा तीक्ष्णनाराचकानां
मुक्ताः संग्रामकाले सगुडगजतनुर्भेदयित्वा प्रयान्ति ॥ १४० ॥

षडङ्गुलं दीर्घतो नाराचया(मा)नं सिंहं[3] कृत्वा तस्याध उद्र्ध्वं सव्यवामभागे चतुरस्रषडङ्गुललौहदण्डास्रे(ग्रे) मुद्रितच्छिद्रे **लौहकीलकैः**[4] द्विसन्धौ मध्यमायां **सगुणमपि धनुर्निश्चलं यन्त्रयित्वा**, पुनस्तस्य पृष्ठभागे सव्येतरे चतुरस्रौ **द्वौ लौहकीलकौ** लौहदण्डाग्रे कीलच्छिद्रे कणयाग्रद्वयं प्रवेशयेत्, **कणयमध्येऽङ्गुलिकाः** षट्-पञ्च-चतुः-त्रिः-द्वे वा । अधो[5] लौहैकदण्डिका कनिष्ठाङ्गुलिप्रमाणा दीर्घेण त्र्यङ्गुला अधः कीलकटके

१. भो. Gri Gug (कर्त्तरी) । २. भो. GoCha Dań bCas pa (सकवच) ।
३. भो. Va । ४. भो. Phur pa rNam Kyis (लौहकीलैः)। ५. ग. अधो हे ।

सचले प्रवेशयेत्। उद्‌र्ध्वे गुणान् अङ्गुल्यग्रे नियन्त्रयेत्। तत्राङ्गुल्यग्रे प्रत्येकसन्धौ नाराचगुणाः, तेन प्रचुरगुणसमशरा बाह्यनाराचतीक्ष्णमुक्ताः संग्रामकाले सगुडगजतनुं भेद(तनुर्भेद)यित्वा प्रयान्तीति नाराचयन्त्रनियमः।

इदानीं राजमन्दिररक्षणाय पातालखड्गयन्त्रमुच्यते द्वौ स्तम्भाविति—

द्वौ स्तम्भौ भूमिगर्भे दृढमपि निहितौ रज्जुभिर्वेष्टचमानौ
रज्ज्वोर्मध्येऽसिमुष्टिर्विशति सवलयावर्त्तितानेकवर्त्ते।
तन्मध्ये खड्गमुष्टिः प्रभवति नियता चालिता कीलिता च
मुद्रावर्त्तेन सार्द्धं पिहितमसिवरं स्तम्भितं चाग्रभागे ॥ १४१ ॥

अत्र द्वौ स्तम्भौ चतुरस्रौ द्वादशङ्गुलमानौ, विस्तरेण चतुर्हस्तौ हस्तद्वयं खानिकाऽधोभूमिनिहितौ, हस्तद्वयं खानिकामध्योच्छ्रितो (मध्ये स्थितौ[1]); तत्र खानिकस्थानादूद्‌र्ध्वं सार्द्धहस्तान् त्यक्त्वा अधो-वाम-दक्षिण-स्तम्भच्छिद्रे अर्गलान् प्रवेशयेत्, ऊद्‌र्ध्वे षडङ्गुलं त्यक्त्वा रज्जुभिर्वेष्टयेत् चलनार्थं वलयस्य। तयो रज्ज्वोर्मध्ये अशि(सि)मुष्टिः वलयमध्ये प्रविष्टा। प्रथमं वलयमनेकावर्त्तैर्वर्त्तितं वलयमध्ये असिमुष्टिः प्रविष्टा। कीलिताचार्य(ग्र)भागे, तथा चाग्रतः स्तम्भद्वये विलोमेनावर्त्तिता खड्गाग्रगतमुद्रयाग्रभागे स्तम्भितम्, खड्गाग्रमुद्राग्रे रज्जुना स्तम्भितः खड्गमुष्ट्यग्रकणयभागे षडङ्गुलमानं कणयम्।

तस्योद्‌र्ध्वे छिद्ररेखा भवति च फलके निर्गमश्चालितस्य
खड्गोद्‌र्ध्वे देय एकस्त्वयसकृतलघुश्चन्द्रमा मध्यभागे।
पादो यस्येन्दुमूर्ध्नि प्रपतति सहसा च्छिद्यते सोऽसिना च
कोट्टे द्वारावसाने नरपतिभवने यन्त्रमेव प्रहारि ॥ १४२ ॥

ततः खानिफलकैरूद्[88a]र्ध्वं चाद्‌र्वयेत्(वर्जयेत्) खड्गनिर्गमं[2] येन चालितस्य भवति अयसलघुकृतम्। चन्द्रमेति गुह्यभाषा[3], मध्येति प्रपञ्चः। अत्र खड्गमुष्ट्यग्रे वलयोपरिफलकं देयम्; तस्मिन् फलके यस्य पादः[4] पतति च्छिद्यते सोऽसिनेति
T 294 स्वरूपं ज्ञातव्यम्; खड्गयन्त्रनियम इति खड्गयन्त्रलक्षणम्। एवमनेकयन्त्राणि कोट्टद्वार विनाशे (द्वारावसाने) संग्रामकाले नरपतिभवने सदा मूलद्वारं मार्गं वर्जयित्वा यन्त्रमेव प्रहारीति पातालखड्गयन्त्रनियमः।

इदानीं क्षत्रयुद्धे स्यन्दनलक्षणमुच्यते—

अक्षोद्‌र्ध्वं मूलपीठं भवति रविभुजैश्चक्रमानं नवांशं
कोणे स्तम्भार्गलाभिर्विषमसमरथो सार्द्धमानेन पीठात्।

१. भो. Naṅ du gNas pa Dag (मध्ये स्थितौ)। २. ग. ०निर्गमं।
३. ग. गुह्या भावा। ४. ग. पादं।

भागार्द्धे योधभूमिर्विषमसमधुरा वाजिनां वा गजानाम्
तस्माच्चिह्नार्द्धभूमावुपरि विरचितादर्शहारा ध्वजाद्याः ॥१४३॥

अक्षोद्ध्वं इ(मि)त्यादि। अत्र रथार्थं प्रथममक्षो दृढं कार्यम्, अश्वानां रथस्य चक्रमानं सार्द्धं हस्तद्वयम् अक्षश्चतुरङ्गुलचिकित्(गुणः[1] कश्चित्) साधिकः[2], तेनैव मानेन चतु[र]स्रं वृत्तम्; ततोऽक्ष **ऊद्ध्वें पीठम्**, अष्ट(ष्ट[3])दिक्षु मध्ये **चक्रमानं नवांशं** नवकोष्ठात्मकमिति; तदेव **रविभु जैर्द्वादशभुजैः** षडङ्गुलविस्तारैः षड्भिः पूर्वापरैः, षड्भिर्दक्षिणोत्तरैः **पीठं** भवति। **अक्षश्चतुर्दशा**[4]**ङ्गुलविस्तारः**; स त्रिभागं कृत्वा, मध्यभागं परित्यज्य द्वयोर्द्वयोः (रुद्ध्वंयोः)[5] स्थाने च्छिद्रयेत्; तयोः च्छिद्रयोश्चक्रारं प्रवेश्याक्षेण सार्द्धं कीलयेत्; चक्रनेस्यां (म्यां) लौहकरणयं (कणयं)[6] निश्चलमाधारच्छिद्रवलये प्रविष्टं सचक्रं भवति (भ्रमति[7])। ततस्तस्य पीठस्य **चतुःकोणेषु चतुःस्तम्भाः** पीठभुजविस्तारा दीर्घत्वेन द्विगुणाः। ते **चार्गलाभिश्चतुर्दिक्षुभिन्ना** अध ऊद्ध्वभिन्ना **समरथः**, समाश्वैश्चालितः; **विषमरथो** विषमाश्वेश्चालितः, द्वौ-चतुः-षट्-समाश्वाः, त्रि-पञ्च-सप्त-विषमाश्वा इति विषमरथः **सार्द्धमानेन पीठादिति** ऊद्ध्वभागा[द्र्धे] **योधमूमिरिति** ऊद्ध्वें स्तम्भानां भागमेकं पीठप्रमाणं त्यक्त्वा, अर्द्धभागे पीठोपरि योधभूमिः, पीठाद्र्धमाना भवति, **विषमसमधुरा वाजिनां वै** (वा) वाज्यु(गजानामु)[8]-च्छ्रयेण भवति, विस्तारेऽष्टाङ्गुला, दीर्घत्वेन पीठाद् द्विगुणा, अर्गलाभिः साद्र्धं कीलिता; ततः पीठभागाध ऊद्ध्वं **चिह्नार्द्ध भूमिर्भवति**। चतुर्भिरङ्गुलो[88b]परि, तस्यां भूम्यां **विरचिता आदर्शहारा ध्वजाद्याः**। **आदिशब्देन** चामरवितानघण्टादय इति योधभूमिचिह्नं भूम्योर्मध्ये चतुर्दिक्षु प्रकाशो युद्धार्थमिति।

सार्द्धैकद्वित्रि(वि)भागाः शशिकरशिखिनो मूलपीठार्गलानां
वृत्ता सार्द्धैकभागैः(गे) कमलरथमही नन्दिभेदैः समा स्यात्।
साधारं चक्रमानं तुरगगजवशात् सार्द्धहस्तं द्विधा च
देवानां पद्मजातिः सुरसुतविहितो नन्दिजातिर्नराणाम् ॥१४४॥

एवं द्वौ द्वौ (सार्द्धैकद्वि) विभागा इति मूलपीठस्याध एको विभागो योधभूम्यास्, अर्द्धविरा(भा)गः प्रकाशे चिह्नावेतौ द्वौ विभागाविति। **शशिकरशिखिन** इति स्तम्भार्गलानां मूलपीठोपरि चतुरङ्गुलानाम् एको विभागो धुरास्थाने; तस्मात् स्तम्भानां द्वौ विभागौ चतुरङ्गुलानां योधा युद्धस्थाने; तत्स्थानां (ततः स्तम्भानां[9]) त्रिभागा उपरि चतुरङ्गुलानाम्, तदुपरि चिह्नभूमिर्ध्वजादीनामिति। **वृत्ता साद्र्धैकभागैः (गे) पीठा-**

१-२. भो. bS̄i ḥGyur Cuṅ Zad Chag pa Daṅ bCas̀pa (चतुर्गुणः कश्चित् साधिकः)। ३. भो. brGyad (अष्ट)। ४. ग. द्दशा। ५. भो. rTse mo (ऊर्ध्वं)। ६. भो. ḥKhul Śin (कणयं)। ७. भो. ḥKhor Baḥo (भ्रमति)। ८. भो. gLaṅ po rNams Kyi (गजानाम्)। ९. भो. Ḳa Ḅa rNams Kyi (स्तम्भानां)।

उ(दु)परि पूर्वोक्ताः **सादर्धभागे** भूमिवृत्ताः, **कमलरथस्य** भवति; **नन्दिभेदैरिति** नन्दिरथभेदे चतुरस्रा **मही** भवति*। एवमुक्तक्रमेण **साधारं चक्रमानं तुरगरथस्य सादर्धहस्तं** भवति; तुरगरथस्य मानात् **द्विधामानं गजरथस्य** भवति, चक्रपीठार्गल-चिह्नादीनामिति नियमः। अत्र **देवानां पद्मजातिर्वृत्तरथो** भवति। **सुरसुतविहित** इति अर्जुनस्य वितानं **नन्दिजातिश्चतुरस्रः, नराणामन्यथापि**[१] चतुरस्रो रथो विहितः क्षत्रियाणामिति।

अष्टाम्भोध्यक्षचक्रैस्त्रिविध इह महास्यन्दनोऽर्धः समश्च
दिव्योऽर्कस्यैकचक्रो विषमहयरथश्चासुराणां विनाशः।
युद्धेऽवैवर्त्तिकः स्याद् विषमसममहास्यन्दनः क्षत्रियाणां
भग्नो सम्मुखो वै समविषमरणे पृष्ठभङ्गी समः स्यात् ॥१४५॥

अष्टाम्भोध्यक्षचक्रैस्त्रिविध इह महास्यन्दनोऽर्धः समश्चेति। इहश्च(च)-तुरक्षैरष्टचक्रैर्महारथो अवैवर्त्ती संग्रामे भवति; अध ऊर्ध्वे अक्षाभ्यां चतुश्चक्रैः अर्द्धरथो भवतीति। *[तस्मात् **अष्ट** इति चक्रम्; **अम्भोधिरिति** चतुरक्षाः; एवं **त्रिविध** इति चतुश्चक्रम्, तथा द्वि, तथा अक्षाः। **स्यन्दनस्यन्दनार्धसमः** तुल्यः। **दिव्योऽर्करथैक-चक्र** इति एकेन चक्रेण दिव्यरथो भवति, तथा अर्के भवति। **विषम** इत्यादि सुगमः।]** अक्षेनैकेन चक्राभ्यां **समरथो** युगपृष्ठभङ्गी भवतीति रथलक्षणनियमः।

इदानीं देवानां विमाने वा नृपाणां यात्राचलगृहलक्षणमुच्यते—

षट्पञ्चाब्ध्यग्निभागैः प्रभवति च समा च्छिद्रिता स्तम्भकोटि-
र्मूलादूर्ध्वार्द्धभागो भवति पुरवशाच्चामराणां विमाने।
एवं भूमौ नृपाणां त्रिविधपुरवशाद् देशयात्रोत्सवेषु
हस्तार्द्धस्थान्तरेण प्रभवति हि महाभ्रामरी सर्वदिक्षु ॥१४६॥

---

१. भो. gS̄an rNams Kyi Yaṅ (अन्येषामपि)।

*. नन्दिभेदे कमलरथस्य चतुरस्रा मही भवतीत्यन्वयः सुकरः।

*-**. अत्र ग. पुस्तके अयं व्याख्यांशो नास्ति, अस्ति च भोटानुवादे। अतः ततः संस्कृते अनूद्य अत्र प्रस्तूयते; भोटांशोऽविकलरूपेण अधः समुपन्यस्यते—

"Deḥi Pyir brGyad Ces pa ni ḥKhor Loḥo. Chu gTer S̄es pa ni Srog Śin bS̄iḥo. De lTar rNam gSum S̄es pa sTe ḥKhor Lo bS̄i Daṅ De bS̄in du gÑis so. De bS̄in du Srog Śin Ño. Śin rTa ni Śin rTaḥi Phyed Daṅ mÑam pa sTe mTsuṅs paḥo. Ñi maḥi Śin rTa mChog ni ḥKhor Lo gCig pa S̄es pa ni ḥKhor lo gCig Gis Lha rNam Kyi Śin rTar ḥGyur Te De bS̄in du Ñi ma La ḥGyur ro. Mi mÑam S̄es pa La Sogs pa ni Go sLa ḥo,"

षडित्यादि । अत्र विंशद्धस्ताः चत्वारस्तम्भा विंशत्यङ्गुलविस्ताराः ; एषां चतुः कोटिच्छिद्रिताः समा भवन्ति—एका च्छिद्रकोटिः षट्हस्तविभागे, द्वितीया पञ्चहस्तविभागे; तत्र तृतीया चतुर्हस्तविभागे भवति, [चतुर्थी[1] त्रिहस्तविभागे[2]], अथ ऊर्द्ध्वे हस्तैकैकं वर्जयित्वा च्छिद्रकोटिरभिमुखा भवति । मूल[89a]भासे(गे) भूम्यां त्रयोदशहस्तो भवति मूल भासा(गा)दूद्र्ध्वे अद्र्धभागो भूम्यां सप्तार्द्धहस्तो भवति; प्रत्येकपुरवशात् पुरभूम्यां भवति, चतुश्च(तु)रा[3]र्गलोपरि भूमिर्भवति गणविमाने[4] । एवं भूमौ नृपाणां त्रिविधपुरवशाद् देशयात्रोच्छ(त्स)वेषु प्रथमपुरे स्तम्भबाह्यच्छिद्रे बाह्यनिर्गतार्गलोपरि फलकैः सर्वत्र भ्रामरी त्रीणि हस्ता भ्रामरी द्वितीयपुरे एकहस्ताद्(र्धं)भ्रामरी सर्वदिक्षि(क्वि)ति देवविमानप्रस्थानगृहलक्षणनिगमः ।

इदानीं च(व)सन्तोत्सवाय चक्रदोलालक्षणमुच्यते—

चक्रोद्र्ध्वे स्तम्भमूर्ध्नि त्रिविधपुरवशाद् दोलकाः सर्वदिक्षु
द्व्यष्टावष्टौ ततोऽर्द्धा दिगृतुयुगभुजाधार एष त्रिभूमौ ।
ऊद्र्ध्वेऽधो भ्राम्यमाने भुजधृतकणये योषितामासनानि
अन्तर्बाह्ये निविष्टान्यध उपरिगतान्यष्टदिक्चालितानि ।। १४७ ।।

चक्रोद्र्ध्वं इत्यादि । अत्र पूर्वो(र्वं)रथ-च(व)दष्टचक्राणि मूलपीठञ्च, तदुपरि हस्तिरथस्तम्भायात्मन(यामेन)श्चत्वारः स्तम्भाः, विमानच(वत्) त्रिविधपुरात्मका दोला भवन्ति, चतुश्चतुर्गलोपरि द्व्यष्टावष्टौ, ततो द्वाविंशति (अर्धं इति)[5] प्रथमपुरे चतुर्दिक्षु षोडश द(दो)लका भवन्ति, द्वितीये अष्टौ, तृतीये चत्वारः । दिक्दशभुजैरर्गलोपरि स्थितैः सव्याव(प)सव्यैः पूर्वापरस्थैः दोलका प्रथमपुरे; द्वितीये ऋतुभिः षड्भिः भवति, तृतीये चतुर्भिरिति दोलकानां भुजा आरा (आधारा)स्त्रिभूम्यामिति द्वयोर्द्वयोभुजयोरेकैककणयो च्छिद्राधारे प्रविष्टा । एकैककणये चतुश्चतुरासनानि योषितां भवन्ति, अन्तर्बाह्ये निविष्टानि अध उपरिगतान्यष्टदिक्चालितानीति चक्रदोलालक्षणनियमः ।

इदानीं वाटिकादिसिञ्चनार्थं जलयन्त्रलक्षणमुच्यते ऊर्ध्वं इत्यादि—

ऊद्र्ध्वाधो वक्रमानं भवति च नलिकाकारयन्त्रं समन्तात्
नालाग्रे कुम्भमुखं शु(सु)षिरमपि यदा नाडिरन्ध्रप्रमाणम् ।
तोयाकृष्टिं करोति स्खलितमपि जलं मोक्षितं कुम्भरन्ध्रा
उद्याने वाटिकायां व्रजति सममहो नीयते यत्र तत्र ।। १४८ ।।

१-२. अयमंशो ग. पुस्तके नास्ति; भोटानुवादादत्र उद्धृतः; तत्र तु एवमागतम्—"bŚi pa Ni Khru gSum Gyi Cha la ḥGyur ro (चतुर्थी त्रिहस्तविभागे) । ३. भोटानुसारं चतुश्चतुरिति द्विवारम्—bŚi bŚi । ४. ग. ०विमाणे । ५. भो. Phyed de Śes pa ni (अर्धं इति) ।

ऊर्द्ध्वेऽधो वामदक्षिणे यन्त्रं च(व)क्रनालाकारौ(रं), मध्ये सच्छिद्रं मध्यं चतुर्हस्तं
T 295 वा मूलयन्त्रम्, तस्य नालाग्रे कुम्भमुखं ग्रीवा नालाग्रे प्रवेश(श्य)माना अधः कुम्भे च्छिद्रं नालिरन्ध्रप्रमाणं यन्त्रपृष्ठनालाग्रे अपरनलिका जलमध्ये प्रविष्टा कर्त्तव्या; ततः कुम्भच्छिद्रं जलगति(त)नालिकाच्छिद्रम् अग्रतो वा नालिकाच्छिद्रं मुद्रयेत्; ततो मूलयन्त्रच्छिद्रेण जलं प्रवेशयेत् यावज्जलपूर्णं यन्त्रं भवति। ततो [89b] जलमध्यबिन्दु(च्छिद्रं) कुम्भच्छिद्रं वा नालिकाच्छिद्रं यौगपद्येन कुम्भं तोयाकृष्टिं शरतः(स्तः) करोति, तदेव जलमुद्याने वाटिकायां व्रजति समभूम्यां नीयते यत्र तत्र व्रजतीति जलशो(षे)कयन्त्रलक्षणनियमः ।

इदानीं मञ्जुश्रियः सूर्यरथनियमामन्त्रन(ण)मुच्यते दुष्टानामिति—

दुष्टानां साधनार्थं प्रवरभुवि तले धार्मिकानां जयार्थं
पूर्वोक्तं चादिबुद्धे त्रिभुवनगुरुणा यत् सुचन्द्रस्य सर्वम् ।
तन्मध्ये किञ्चिदत्र स्फुटमिह विषये देशितं ते मयाद्य
स्वस्थाने रक्षणार्थं कुरु सकलमिदं द्वेषलोभैर्न्न सूर्यः ।। १४९ ।।

इह दुष्टानां साधनार्थं पूर्वोक्तमादिबुद्धे यत् त्रिभुवनगुरुणा शाक्यसिंहेन सुचन्द्रस्य वज्रपाणिनिर्मितकायस्य सर्वस्वरोदययन्त्रलक्षणम्, तन्मध्ये, तस्य स्वरोदययन्त्राध्यायस्य मध्ये, किञ्चिदत्र स्फुटमिह विषये सम्भलाख्ये देशितम्, ते सूर्यरथस्य मया मञ्जुश्रिया यशोनरेन्द्रेण, अद्य स्वस्थाने रक्षणार्थं कुरु सकलमिदं द्वेषलोभैर्न्नं सूर्यं इति सूर्यरथस्य नियमो यथा तथान्येषामपि कालचक्रपरिज्ञानानि नाम यमपि नियमो भगवतः ।

इति श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां द्वादशसाहस्रिकायां
लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां विमलप्रभायां
स्वरोदययन्त्रविधिनियममहोद्देशः[1] दशमः[2] ।।१०।।

(११) म्लेच्छधर्मोत्पाटनबुद्धधर्मप्रतिष्ठापनमेवादि

इदानीं महाचक्रवर्त्तिनो म्लेच्छधर्मोत्पाटनबुद्धधर्मप्रतिष्ठापनमेवादि सुबोधमिति तेनोक्तं (तेन नोक्तं) टीकायां लोकधातुर्न्नाम प्रथमपटलः*—

T 19
मद्यक्षीराब्धिमध्ये** मुनिमहिवलये संस्थितां कर्मभूमिं
त्रैलक्षे योजने च भ्रमति नरपतिः सूर्यखण्डान् क्रमेण ।

१-२. ग. स्वरोदययन्त्रविधिनियमो महोद्देश इति ।

* अतः परं टीका नास्ति; क पुस्तके मूलमात्रमस्ति; अत एव मूलमात्रं प्रस्तूयते ।

** अतः परं मूलस्य भोटानुवादस्य 'पृष्ठसंख्यासङ्केतः' 'मार्जिन'स्थाने प्रस्तुतः ।

[ ] कोष्ठके पाण्डुलिपिपृष्ठसंख्यासंकेतः क. पुस्तकात् प्रदत्तः ।

खण्डैकं योजनानां वसुदलसहितं पञ्चविंशत्सहस्रं
कैला(स)शस्तस्य मध्ये वरहिमगिरिणाऽऽवेष्टितः सर्वदिक्षु ॥ १५० ॥

भूमौ कैलाश(स)खण्डं हिमगिरिसहितं तत्त्रिभागं समन्तात्
बाह्ये चैकैकपत्रं दिनकरविषयैर्भूषितं द्वीपदेशैः ।
सव्यार्द्धे सम्भलाख्ये मुनिवरनिलयं ग्रामकोट्याधिवासं
कोटिग्रामैर्निबद्धो भवति हि विषयो मण्डलं ग्रामलक्षैः ॥ १५१ ॥

एकद्वित्र्यब्धिभेदैः शररसविजनैः पञ्चलोकादिभेदै-
र्भिन्नश्चक्री नरेन्द्रो भ्रमति भुवि तलेऽन्वेषणीयः स विज्ञैः ।
चक्री चार्द्धी च खण्डी विषयनरपतिः मुद्रहस्तस्ततोऽन्यः
बाह्ये कालस्य भेदः खलुः भवति यथा लोकनाथस्य तद्वत् ॥१५२॥

सप्ताब्ध्यद्रिवारा मुनय इह तथा सात्विका दिव्ययोनि-
र्मत्स्यः[1] कूर्मो वराहो नरहरिसहितो वामनो यामदग्निः ।
रामः कृष्णस्तथाष्टौ दनुकुलभयदा राजसा भूतयोनि-[2]
र्द्वात्रिंशद् विष्टरान्ते भवति दनुरिपुश्चक्रपाणिः शतायुः ॥ १५३ ॥

आद्रोऽनोघो वराही दनुभुजगकुले तामसान्येऽपि पञ्च T 20
म्लेच्छोऽसौ श्वेतवस्त्री मधुमतिमथनी योऽष्टमः सोऽन्धकः स्यात् ।
सम्भूतिः सप्तमस्य स्फुटमखविषये बागदादौ नगर्य्यां
यस्यां लोकोऽसुरांशो निवसति बलवान् निर्दयो म्लेच्छमूर्तिः ॥१५४॥

उष्ट्राश्वौ गाश्च हत्वा सरुधिरपिशितं शुद्धपक्वं हि किञ्चित्
गोमांसं सूततोयं घृतकटुकसमं तण्डुलं शाकमिश्रम् ।
एकस्मिन् वह्निपक्वं नवफलसहितं यत्र [84b] भोज्यं नराणाम्
पानञ्चाण्डं खगानां भवति नरपते तत्पदं चासुराणां ॥ १५५ ॥

बिन्दुः शक्त्याञ्जनेयो गरुडसुरसरिन्नारदः कामधेनुः
दुर्गा विद्वत्सु विद्याक्षरपरमकलादिव्यभाषाशरीराः ।
एते सञ्चाररूपैरवतरति विभुर्ज्ञानकायो जिनस्य
भूतं भव्यं भविष्यत् प्रवदति सकलं वेदतर्कादिशास्त्रम् ॥ १५६ ॥

१. क. पुस्तके नास्ति; भोटानुवादादुपलब्धपाठाच्च पूरितः ।

श्रीमान् राजन् कलापे कतिपयदिवसैः सम्भलाख्ये प्रसिद्धे
शैलावेष्टे चतुर्दिक् शरगुणितशते योजनानां प्रमाणे ।
स्वस्थाने यास्यसि त्वं प्रवरनृपतिं स्थापयित्वा सुरेशं
सप्त श्रीशाक्यवंशे प्रकटनृपतयश्चाष्टमः श्रीयशश्च ॥ १५७ ॥

सोऽयं श्रीमञ्जुवज्रः सुरवरनमितो वज्रगोत्रेण कल्की
दत्वा व्रजाभिषेकं सकलमुनिकुलान्येककल्कं करिष्यत् ।
सम्यग् यानाधिरूढो दनुकुलभयदः श्रीयशः सेल्लपाणिः
सत्त्वानां मोक्षहेतोः प्रकटमपि महौ कालचक्रं करिष्यत् ॥ १५८ ॥

तन्मध्ये पञ्चविंशत्क्रमपरिगणिते विष्टराणां युगान्ते
कल्कीगोत्रे सुरेशः सुरवरनमितो रौद्रकल्की भविष्यत् ।
साधूनां शान्तरूपः सुखद इति तथैवान्तको म्लेच्छजातेः
शैलाश्वारूढचक्री हनदरिसकलं सेल्लहस्तोऽर्कतेजाः ॥ १५९ ॥

कल्कीगोत्रस्य मध्ये करगुणितयुगे पुत्रपौत्रेऽप्यतीते
तस्मिन् काले भवद् वै खलु मखविषये म्लेच्छधर्मप्रवृत्तिः ।
यावन्म्लेच्छेन्द्रदुष्टः सुरवरनमितो रौद्रकल्की च यावत्
तस्मिन् काले द्वयोश्च क्षितितलनिलये रौद्रयुद्धं भविष्यत् ॥ १६० ॥

युद्धे म्लेच्छान् हनन् यः सकलभुवि तले चातुरङ्गैः स्वसैन्यैः
कैलासाद्रौ युगान्ते सुररचितपुरे चक्रवर्त्यागमिष्यत् ।
रुद्रं स्कन्दं गणेन्द्रं हरिमपि च सखीन् दास्यते कल्किना च
शैलाश्वान् वारणेन्द्रान् कनकरथनृपान् शस्त्रहस्तान् भटांश्च ॥१६१॥

शैलाश्वैर्वायुवेगैर्गुणगुणितगुणैः कोटिविर्भिश्ववर्णै-
र्वेदाख्यैर्लक्षसंख्यैर्मदमुदितगजैः स्यन्दनैर्भूतलक्षैः ।
षड्भिश्चाक्षौहिणीभी रसनवतिकुलैर्मौलिबद्धैर्नरेन्द्रै-
रेतत् सैन्येन कल्की हरिहरसहितो म्लेच्छनाशं करिष्यत् ॥ १६२ ॥

हन्तव्यं म्लेच्छवृन्दं वरकटुकभटैर्वारणेन्द्रैर्गजानां
शैलाश्वैः सैन्धवानां समविषमरणे पार्थिवैः पार्थिवानाम् ।
अश्वत्थामा महाचन्द्रतनयहनू[85a]मांस्तीक्ष्णशस्त्रैर्हनिष्यत्
रुद्रो म्लेच्छेन्द्रनाथं सकलदनुपतिं कृन्मती रौद्रकल्की ॥ १६३ ॥

हत्वा म्लेच्छांश्च युद्धे हरिहरसहितः सर्वसैन्यैककल्की
कैलाशा(सा)द्रौ व्रजिष्यत् सुररचितपुरे संस्थितो यत्र चक्री ।
तस्मिन् काले धरण्यां सकलजलकुलं धर्मकामार्थपूर्णं
शस्यान्यारण्यजानि स्थिरफलनमितास्ते भविष्यन्ति वृक्षाः ॥ १६४ ॥

उच्छिन्ने म्लेच्छवृन्दे परिजनसहिते मानवाब्दे शतार्द्धे
कल्की सिद्धिं व्रजिष्यत् सुररचितपुरे तुङ्गकैलाश(स)पृष्ठे ।
पुत्रो ब्रह्मा सुरेशस्त्रिदशनरगुरोर्युग्मधर्मे भवेतां
ब्रह्मा पृष्ठैकखण्डे भवति नरपतिः सव्यभूम्यां सुरेशः ॥ १६५ ॥

कृत्सव्यान्(न्ध्यां) म्लेच्छधर्मं त्रिभुवनगुरुक(भिः)च्छेदियत्वा
सिद्धा(च्छित्वा)ब्दाष्टौ शतानि व्रजति सुखपदं ब्राह्मणं (ब्रह्माणं)
स्थापयित्वा ।
भूयस्तस्यैव मध्ये भवति नरपते वर्णभेदः सुतानां
तेषां मध्येऽसुरेन्द्रा नरपतिमुनयः प्राकृताऽन्ये भवन्ति ॥ १६६ ॥

म्लेच्छानां नाशहेतोर्व्रजति सुरपतिर्द्वादशेन्द्राभियुक्तः
खण्डे खण्डे च चक्री व्रजति सुखपदं म्लेच्छधर्मं निहत्य ।
पुत्रो ब्रह्मा सुरेशस्त्रिदशनव(र)गुरोः पृष्ठतश्चात्र तद्वत् (अग्रतश्च)
पृष्ठे ब्रह्मादिवंशे विविधभुवि तलेऽनेकभेदा भवन्ति ॥ १६७ ॥

ब्रह्मादौ मानवाब्दाष्टदशशतयुगं(तं) चाम्व(यु)रेतन्नराणां
तस्यार्द्धं काश्यपस्य प्रवरभुवि तले नारसिंहस्य चार्द्धम् ।
षष्ट्या हीनं तथैव प्रतिदिन(युग)समये वामनादौ हरेश्च
कल्क्यन्तं यावदायुः प्रभवति च शतैकाब्दसंख्या जनस्य ॥ १६८ ॥

एवं सर्वेषु खण्डेष्वपि युगसमयो म्लेच्छधर्मप्रवृत्ति-
र्वर्षास्तै(ष्टै)कशतं वै स्थितिरपि च ततो म्लेच्छधर्मस्य नाशः ।
तस्माद् विंशत्सहस्रं करशतरहितं बुद्धधर्मप्रवृतिः
कृत् त्रेता द्वापरं वै वहति कलियुगं शक्तिमानेन भूम्याम् ।। १६९ ।।

उत्पत्तिर्लोकधातोर्ग्रहचरणसमा सम्भवश्चक्रिणश्च
म्लेच्छानां धर्मनाशः परमसुखपदे कल्किनो मार्गदानम् ।
एतत् सर्वं यथार्थं कथितमपि मया ते सुचन्द्र त्रिकालाद्
भूयः किं पृच्छसि त्वं सकलजनहितार्थं च मां मोक्षहेतोः ।। १७० ।।

इति श्रीमदादिबुद्धोद्धृते श्रीमहाकालचक्रे
लोकधातुविन्यास.

प्रथमपटलः ॥१॥

२. अध्यात्मनाम द्वितीयपटलः

(१) कायवाक्चित्तोत्पत्ति-चतुरार्यसत्यनिर्णय-महोद्देशः

नमः[1] शाक्यमुनये[2] ।

गर्भाधानमिदं करोति महतां यः पाचनार्थं नृणां
निर्मुक्तो भवबन्धनैरपि भवं(न्)[3] मार्गाय च प्राणिनाम् ।
नानाजातकमालिका गुणवती सत्त्वार्थिनो दृश्यते
प्राग् बुद्धस्य महर्द्धिकस्य चरितं तस्मै नमस्तायिने ॥
प्रणम्य वज्रसत्त्वं श्रीशाक्यसिंहं तथागतम् ।
अध्यात्मपटले टीका पुण्डरीकेण लिख्यते ॥
मञ्जुश्रीचोदितेनैव सुगतव्याकृतेन च ।
मया श्रीलोकनाथेन जगतः करुणात्मना ॥

इह[4] श्रीमहाकालचक्रमण्डलगृहपूर्वद्वारावसाने श्रीमति महारत्नमण्डपे रत्नसिंहासनस्थः सूर्यरथाध्येषितः सन् मञ्जुश्रीभगवान् निर्मितकायो यशो नरेन्द्रोऽध्यात्मपटलदेशनार्थं परमादिबुद्धात् सुचन्द्राध्येषणं शाक्यमुनेर्भगवतः प्रथमवृत्तेनाह; तद्यथा—

न ज्ञातं विश्वमानं जिनजनक मया यत् त्वया देशितं च
भूयोऽहं श्रोतुकामस्त्रिभुवनसकलं देहमध्ये कथं स्यात् ।
श्रुत्वा सौचन्द्रवाक्यं प्रवदति सुगतः साधुकारं प्रदाय
सत्त्वानां मोक्षहेतोः परमकरुणया विश्वमानञ्च देहे ॥ १ ॥

इहाध्यात्मपटलेऽध्येषकदेशकसंग्रहवृत्तम्; मञ्जुश्रिया सङ्गीतिकारेण लघुतन्त्रनिर्देशितं[5] वितनोमि **न ज्ञातमित्यादिना**—

इह देहमध्ये न ज्ञातं विश्वमानम्, जिनजनक इति वज्रसत्त्वः शाक्यमुनिः, निरावरणस्कन्धानां जनको जिनजनकस्तस्यामन्त्रणं हे जिनजनक, **त्वया देशितं** बाह्ये विश्वमानं तद्देहे न ज्ञातम्, अतो **भूयोऽहं श्रोतुकामस्त्रिभुवनसकलं देहमध्ये कथं** केन प्रकारेण[6] भवेदिति । अतोऽध्येषणं **सौचन्द्रवाक्यं श्रुत्वा** प्रकर्षेण **वदति सुगतः साधुकारं प्रदाय** सुचन्द्राय **सत्त्वानां मोक्षहेतोः परमकरुणया विश्वमानं च देहे** । चकारात् सर्वतन्त्रान्तरमपि देहे वदति । द्वितीयपटलदेशनायै अध्येषकदेशकसंग्रहोद्देशः ।

१-२. भो. dPal Dus Kyi ḥKhor Lo La Phyag ḥTshal Lo (नमः श्रीकालचक्राय) । ३. Srid Pa (भव) । ४. क. ख. इति । ५. क. ख. ०निर्देशं । ६. ख. कारणेन ।

देशनावृत्तमाह [86a] **पृथ्वीत्यादि**—

पृथ्वीतोयाग्निवाताः कुलिशसुरधनुर्वायवो राशिचक्रं
चन्द्रार्कौ राहुमेरुफणिमनुजसुरा राशिवक्राः सताराः ।
संक्रान्तिर्मासपक्षा दिननिशितिथयो देहमध्ये समस्तं
ज्ञातव्यं स्वस्ववर्णैस्त्रिविधविभुगतिर्योगिना शून्यभेदैः ।। २ ।।

इह **देहमध्ये** पृथिव्यादिकं **समस्तं ज्ञातव्यं स्वस्ववर्णैरि**ति । दन्त्यवर्णैः पृथ्वी ज्ञातव्या, औष्ठ्यैः स्तोत्रम्, मूर्द्धन्यैरग्निः, तालव्यैर्वायुरिति **पृथ्वीतोयाग्निवाताः** । **कुलिशं** विद्युत् पुनर्मूर्द्धन्यैः । **सुरधनु**रिन्द्रधनुर्दन्त्यैः । **वायवो** दश तालव्यैः । **राशिचक्रम्**, आदिकाद्यैः समस्तैश्च **चन्द्रो** बिन्दुनाऽर्को विसर्गेण, **राहु**र्व्यञ्जनेन अस्वरेण, **मेरु**र्नामाक्षरेण, **फणिनां** वास ओँकारेण, **मनुजा**वासो मर्त्यलोक आःकारेण, **सुरा**वासः स्वर्गः हूँकारेण । **वक्रा** ग्रहा मङ्गलादयो दक्षिणवामबीजैः पूर्वोक्तैः **संक्रान्ति**र्द्वादशवर्गभेदैः; **मासा** अप्येवम्; **पक्षाः** षड्वर्गार्द्धभेदैः; **दिननिशितिथयः** काद्यैः सस्वरैः पूर्वोक्तैरिति **देहमध्ये समस्तं ज्ञातव्यं योगिना** । **त्रिविधविभुगतिर्योगिना शून्यभेदैः** । पूर्वोक्तक्रमेण वज्रसत्त्वस्य[1] त्रिविधस्य कामरूपारूपस्वरूपस्य गतिरपि त्रिविधा, महासुखेन सर्वात्मनि स्थितत्वादिति । सा च शून्यभेदैरिति बोधिचित्तचतुर्बिन्दुभेदैर्ज्ञातव्या इति देहे विश्वसंग्रहोद्देशनियमः ।

इदानीं मनुष्यशरीरोत्पत्तये कार्यकारणसामग्रीसंग्रहवृत्तं तृतीयमाह[2] **देहे इत्यादि**—

देहेऽस्मिन् धातुवृन्दं भवति हि सकलं षड्रसाहारपानाद्
भूतेभ्यः षड्रसाश्च प्रकटितनियतं भूतवृन्दं खधातौ ।
शून्ये ज्ञानं विमिश्रं भवति समरसं चाक्षरं शाश्वतं च
एवम्भूतस्थशान्तं त्रिविधभवगतं वेदितव्यं स्वकाये ।। ३ ।।

इह **देहे धातुवृन्दमि**ति लोमत्वक्रक्तमांसास्थिमज्जादिकं धातुवृ[86b]न्दं **भवति हि सकलं षड्रसाहारपानादि**ति लवणमधुरकटुतिक्तकषायाम्लाः षट् रसाः, एषामाहारपानवशाद् धातुवृन्दं भवति । **भूतेभ्यः षट् रसा** इति पृथ्व्यप्तेजोवायुरसेभ्यः षड् रसाश्च भवन्ति । **भूतवृन्दं खधाता**विति पृथ्व्यप्तेजोवायुरसवृन्दं खधातौ पूर्वोक्तिपरमाणुधर्मे भवन्ति । **शून्ये ज्ञानं विमिश्रमि**ति इह व्याप्यव्यापकसम्बन्धेनावस्थितं संवृत्या यत् स्वशरीरे सर्वसत्त्वानां विज्ञानम्, तदेव शून्ये शून्यताबिम्बे भावनाबलेन
T 296 ग्राहकचित्तं ग्राह्यचित्ताभासे विमिश्रं **समरसं चाक्षरं शाश्वतं भवति** । अत्र शाश्वतं निरावरणमुच्यते । **एवम्भूतस्थशान्तं** महासुखं **त्रिविधभवगतं वेदितव्यं स्वकाये**

१. ग. चित्तवज्रसत्त्वस्य । २. क. ख. द्वितीय० ।

योगिनेति । इहाध्यात्मपटले अस्य वृत्तस्य संक्षेपविवरणं वक्ष्यमाणे ज्ञानपटले परमाक्षरज्ञानसिद्धौ विस्तरेण वक्तव्यमिति शरीरोत्पत्तये कार्यकारणसामग्रीनियमः ।

गर्भाधानादिकमाह **बीजमित्यादिना**—

बीजं धत्ते धरित्री कमलगतमतो रोहयत्यम्बु पश्चात्
तेजो बोधं करोति ग्रसति रसरसं मारुतो वृद्धिमस्य ।
वृद्धेः खं चावकाशं ददति नरपते कालतः सिद्धिरेवं
दिव्याः कुर्वन्त्यवस्थाः प्रसवनसमये बालकादौ च काले ।। ४ ।।

इह द्वीन्द्रियसंयोगाद् यच्च्युतं भगरक्तं गुह्यकमले तद् **बीजमि**त्युच्यते । तद् **बीजं धत्ते धरित्री**, गुह्यकमले यः पृथ्वीधातुः स इत्यर्थः । **कमलगतमिति** गुह्यकमलगतम्, **अतो** गुह्यकमलाद् **रोहयत्यम्बु पश्चात् तेजो बोधं करोतीति**, अस्य बीजस्य अम्बुना प्ररोहितस्य[1] तेजः प्रबोधं करोति । **ग्रसति रसरसमिति** षड्रसं मातृभक्षितं पीतञ्च यत् तद् ग्रसति रसरसं तेजः । **मारुतो वृद्धिमस्य** बीजस्य करोति । **वृद्धेः** सकाशात् **खं** शून्य**मवकाशं ददाति** । नर[87a]पते इत्यामन्त्रणम् । **कालतः सिद्धिरेवम्** । एवमनेन क्रमेण मत्स्यादेः सिद्धिर्गर्भनिष्पत्तिर्भवति । **दिव्याः कुर्वन्त्यवस्था** इति दिव्या धूमादयो दशावस्थास्ताः कुर्वन्ति । गर्भबालकौमारादिका दशावस्थाः, **प्रसवनसमये बालकादौ च काल** इति गर्भाधाननियमः ।

बीजस्य स्वधातुकृत्यमाह **बीजस्येत्यादि**—

बीजस्य क्ष्मा करोति स्फुटगुरुघनतां तोयमेव द्रवत्वं
तेजः पाकं करोति प्रवरदशविधो मारुतो वृद्धिमस्य ।
वृद्धेर्भूयोऽवकाशं ददति हि गगनं कालतः सृष्टिरेव-
न्नानाभावैरनेकैः सतनुरवमनः शक्तयः स्फारयन्ति ।। ५ ।।

इह या **बीजस्य** शुक्ररक्तस्य **क्ष्मा** सा गुह्यकमलगतान् षड् रसान् भक्षयित्वा **स्फुटं गुरुघनतां** करोति, शरीरस्योत्पत्तये **तोयमेवं द्रवत्वं** करोति, **तेजः पाकं करोति** भक्षितानां रसानाम्, **प्रवरदशविधो मारुतः** प्राणादिर्वृद्धिं करोति, **अस्य बीजस्य** शरीराय, **वृद्धेर्भूयो**[2]**ऽवकाशं ददति हि गगनम्, कालतः सृष्टिरेवम्**, पूर्वोक्तविधानतः । **नानाभावैरनेकैः सतत(नु)रवमन**[3] इति कायवाक्चित्तानि शक्तयो[4] धूमादयः कायवाक्चित्तधर्मिण्यः **स्फारयन्तीति** बीजधातुकृत्यकथनम् ।

---

१. क. ख. पुरोहितस्य; भो. Rab tu bsDus paḥi (प्ररोहितस्य) ।
२. क. वृद्धं० । ३. भो. Lus bCas (सतनु०) । ४. क. ख. सक्तयो ।

अध्यात्मचित्तवज्रधरविष्णोर्दशावस्था उच्यन्ते गुह्येत्यादिना—

गुह्याब्जे रक्तमध्ये पतितमपि यदा बोधिबीजं सजीवं
मत्स्यः कूर्मो वराहो भवति नरहरिर्वामनो रामरामौ ।
कृष्णो बुद्धो नरेन्द्रो भवति दशविधा(:)चाप्यवस्था दशैता
गर्भे तिस्रस्तथैका प्रसवनसमये बालकालेऽपि च द्वे ॥६॥ [87b]

कौमारे यौवनेऽन्या प्रभवति विपुलैका च सम्यक् तथैका
वृद्धत्वेऽप्येकशान्ता भवन(ति) निधनता चान्तिमा गर्भजानाम् ।
मत्स्याकारस्तु मात्स्ये भवति कतिदिनं कूर्मभावश्च कौर्म्ये
वाराह्ये तस्य सूर्यायतनमपि भवेन्नारसिंहे प्रसूतिः ॥७॥

इह **गुह्याब्जे रक्तमध्ये पतितमपि यदा बोधिबीजमिति** शुक्रं **सजीवमालय**विज्ञानसहितं गुह्याब्जे पतितं यदा, तदा दशावस्थालक्षणं भवति । तेषु **गर्भमध्ये मत्स्यकूर्मवराहावस्थास्तिस्रो** भवन्ति; **तथैका प्रसवन**काले **नरसिंहावस्था; बालकालेऽपि च द्वे**, दन्तोत्थानाद् **वामनावस्था**, दन्तोत्थानाद् दन्तपातं यावत् **परशुरामावस्था** ।

कौमारे यौवनेऽन्या इति दन्तपातात् षोडशवर्षावधेः प्रथम**विपुला** रामावस्था, तथा अपरा **विपुला** षोडशवर्षात् पलितोत्पत्ति यावत् कृष्णावस्था, पलितोत्पत्तेः मरणदिवसं यावद् बुद्धावस्था[1], मरणदिने सर्वभूतस्यैकलोलीभूतत्वाच्छरीरे कल्क्यवस्था भवति । **वृद्धत्वेऽप्येकशान्ता भवन(ति)**[2] **निधनता चान्तिमा गर्भजानामिति** दशावस्थानियमः ।

अध्यात्मनि चित्तवज्रधरविष्णोर्दशावस्थाकृत्यमुच्यते **मत्स्येत्यादिना**—

इह **मात्स्ये** भावे **मत्स्याकारो भवति** बोधिचित्तवज्रो[3] विष्णुः **कतिदिनं** ऋतुदिनं यावत्; ततः **कौर्म्ये** भावे **कूर्मभावो** भवति, **च**कारादपरऋतुदिनं यावत्; **वाराह्ये** भावे बोधिचित्तविष्णोः **सूर्यायतनं** द्वादशायतनोद्भवो भवति, तृतीयऋतुदिनं यावत्; एवं सप्तमासाज्जातदिनं[4] यावत् **नारसिंहे** भावे **प्रसूतिर्भवति**, कराभ्यां योनिविदारणात् ।

वामन्ये बालभावो द्विनृपतिदशनान्युद्भवं यान्ति राम्ये
भूयो राम्ये पतन्ति स्फुटमपि कपटं कारयेत् सैव कार्ष्ण्ये ।
बौद्धे शान्तिं करोति व्रतमपि नियमं* याति मृत्युं च काल्क्ये
शुक्रे मज्जास्थिनाडी भवति रजसि वै चर्मरक्तं च मांसम् ॥८॥

---

१. ग. बौद्धा० । २. भो. Srid pa (भवति) । ३. ग. वज्रधरविष्णुः ।
४. ग. सप्तम० ।
* क. नियतं ।

रक्तं बीजं प्ररोहत्यमृतरसगतं गर्भमध्यैकमासे
पश्चाद् बीजाङ्कुरस्य सुहृदि दशविधा नाडिकात्यन्तसूक्ष्मा ।
नाभौ [88a] चाष्टाष्टकान्याः करचरणमुखेषूर्ध्वतः सर्प्यमाणा
मासे पूर्णे द्वितीये करचरणमुखोद्देशनं किञ्चिदत्र ॥९॥

वामन्ये भावे बालभावो भवति पूर्वोक्तः, द्विनृपति द्वात्रिंद्दशनान्युद्भवं यान्ति राम्ये, परशुराम्ये भावे[1] पतन्ति[2] । स्फुटमपि कपटं कारयेदिति स एव बोधिचित्तविष्णुः काष्ण्ये भावे मायां कारयेत्, बौद्धे भावे शान्तिं करोति । सत्त्वानां व्रतमपि नियमं[3] याति मृत्युं च काल्क्ये । काल्क्ये भावे पूर्वोक्तविधिना मरणं यातीति दशावतारः । इह वाक्ये यन्मत्स्यादिकं पुराणं रचितं दुष्टब्रह्मर्षिभिस्तद् बालानां वञ्चनाय नरकावाप्तिहेतुकमिति वक्ष्यमाणायां परमाक्षरज्ञानसिद्धौ विस्तरेण वक्तव्यम् ।

मातृगर्भस्थयोः शुक्ररजसोर्विकाराः गर्भाधानमारभ्य प्रसूतिपर्यन्ता उच्यन्ते शुक्र इत्यादिना—

इह शरीरे षट् कोषा जातकस्य[4] भवन्ति—शुक्रे मज्जा भवति, अस्थीनि भवन्ति, नाड्यश्च स्नायवो भवन्ति, रजसि चर्मरक्तं च भवति, मांसं च भवति, एकस्माद्[5] रक्ताद् रक्तबीजप्ररोहना(णा)दिति ।

अत्र गर्भे मासमेकं यावद् रक्तं बीजं प्ररोहति पञ्चामृतरसगतम्, पश्चाद् बीजाङ्कुरस्येति, ततो मासादूर्ध्वं बोधिचित्तस्याङ्कुरीभूतस्य हृदयमध्यस्थाने दशविधा नाड्यः प्राणादिवाय्वाधारा भवन्ति; ताश्चात्यन्तसूक्ष्मा बालप्रमाणा; नाभौ नाभिप्रदेशेऽष्टाष्टकाश्चतुःषष्टिदण्डवाहिन्यो भवन्ति; अतिसूक्ष्मा अनुकाऽपि द्वादशराशिसंक्रान्तिवशाच्चतुःषष्टीनामाधारभूता द्वादश ताः[6] नाड्यो[7] भवन्ति; तथात्यन्तसूक्ष्मास्ताः सर्वाः पूर्वोक्ता नाभिनाड्यः करचरणमुखस्थानकरणाय ऊर्ध्वतः सर्प्यमाणाः करचरणमुखस्थानेषु, ततः सर्प्यमाणप्रभावात् । द्वितीये मासे पूर्णे सति मुखकरचरणोद्देशनं किञ्चिदत्र इह प्राङ्मत्स्यावस्थादिने गते स[88b]ति कूर्मावस्थायां मुखकरचरण[8]-स्थानेषु पञ्च स्फोटका भवन्ति ।

हस्तौ पादौ च कण्ठो भवति समशिरः पूर्णमासे तृतीये
सूक्ष्मा मासे चतुर्थे करचरणमुखे नाडिका कण्ठदेशे ।

---

१. ग. 'पुनराम्ये भावे' इत्यधिकः पाठः ।

२. भोटानुवादानुरोधेन 'परशुराम्ये द्विनृपति द्वात्रिंशद्दिनानि उद्भवं यान्ति, राम्ये पतन्ती'ति क्रमः ।

३. क. नियतं । ४. क. ख. जातस्य । ५. क. ख. कस्मात् । ६–७. ख. तनायो ।

८. भो. gDoṅ Daṅ rkaṅ pa Daṅ Lag pa (मुखचरणकर) ।

मांसान्याश्रित्य चास्थीनि खरसशिखिनः पञ्चमे सन्धयश्च
षष्ठे मासे च मांसं भवति च रुधिरं वेदना सौख्यदुःखम् ॥१०॥

हस्तौ पादौ च कण्ठो भवति समशिरः कूर्मः, अपरा **सूक्ष्मनाड्यः करचरणमुखे** कण्ठदेशे करचरणानां षट्सन्धिषु मुखकण्ठे सहजसम्भोगनाड्योऽतिसूक्ष्माश्चतुर्थे मासे पूर्णे सति भवन्तीति **कूर्मा**वस्था। **पञ्चमे** मासे वाराह्ये भावे **मांसान्याश्रित्य चास्थीनि खरसहुतभुगिति** षष्ट्युत्तरत्रिशतान्यस्थीनि **सन्धयश्च** तावत् यः **षष्ठे मासे च** चकारात् वाराह्ये भावे **मांसं रुधिरं भवति**, वेदना भवति, सुखदुःखं च वेत्ति, अभिज्ञा-
T 297 बलेन पूर्वनिवासानुस्मृतिं च, स्वचित्तेन वैराग्यं करोति, भवदुःखं निन्दयति, बुद्धमार्गं प्रशंसयति।

भ्रूकेशा रन्ध्ररोमाण्यपि मुनिवरे नाडिकाः सावशेषा
मासादूर्ध्वं हि जाताः प्रतिदिनसमये शून्यशून्याक्षिसंख्या।
मर्माण्यस्थीनि मज्जा भवति च रसना मूत्रगूथेऽष्टमे च
रन्ध्राख्ये घोरदुःखं प्रसवनसमये योनिना पीडितस्य ॥११॥

ततो **भ्रूकेशा रोमरन्ध्राणि** चक्षुरादीनि। **अपि च** वाराह्ये भावे **मुनिवरे** सप्तमे मासे पूर्णे सति सम्पूर्णान्यायतनानि भवन्ति। इह गर्भ**मासादूर्ध्वं प्रतिदिनसमये शून्यशून्याक्षिसंख्या** द्विशतसंख्याः **प्रत्यहं** नाडिका भवन्ति। ततः षष्ट्युत्तरत्रिशत**मर्माणि अस्थीनि**, तन्मध्ये **मज्जा भवति रसना** जिह्वा जिह्वेन्द्रियोत्पादाय, [89a] पूर्वंचक्षुरादयो भवन्ति कठिनाः। ततो रसनोत्पादकालादिह **मूत्रगूथे चाष्टमे** मासे भवतः। वाराह्ये भावे ततो **रन्ध्राख्ये** नवमे मासे पूर्णे सति क्वचिद् दशमे, एकादशे द्वादशे वा वाराह्यभावावसाने **घोरदुःखं** भवति **प्रसवनकाले योनिना पीडितस्य** नारसिंहे भावे गर्भजातकस्येति गर्भोत्पत्तिनियमः।

चतुरार्यसत्येषु संसारिणां दुःखसत्यमाह गर्भ इत्यादि—

गर्भे गर्भस्थदुःखं प्रसवनसमये बालभावेऽपि दुःखं
कौमारे यौवने श्री (स्त्री)[1]धनविभवहतं क्लेशदुःखं महद् यत्।
वृद्धत्वे मृत्युदुःखं पुनरपि भयदं षड्गतौ रौरवाद्यं
दुःखाद् गृह्णाति दुःखं सकलजगदिदं मोहितं मायया च ॥१२॥

इह संसारिणां प्रथमं तावत् **गर्भे** स्थितानां **गर्भस्थदुःखं** कुम्भीपाकसदृशं भवति **प्रसवनसमये** मुद्गरयन्त्रपीडितवत्, **बालभावेऽपि** विष्ठाभक्षणं शूकरवत्, **कौमारे यौवने** च **श्री(स्त्री)**[1]वियोगदुःखं **धनविभवहतं** दुःखम्, तदभावात्। **वृद्धत्वेऽपि** जरामरणदुःखम्, पुनरपि मरणान्ते **षड्गतौ भयदं रौरवाद्यम्**। आदितः प्रेततिर्यग्गतौ रौद्रं दुःखं भवति पापवशाद् दशा(श)कुशल[2]परित्यागात्। एवं **दुःखाद् गृह्णाति दुःखं सकल-**

१. भो. Bud Med (स्त्री)। २. भो dGe ba bCu (दशकुशल)।

जगदिदं मोहितं मायया च । इह संसारे मायया मोहितमहङ्कारममकारात्मिकया नरक-प्रेततिर्यग्गतौ दुःखं गृह्णातीति ।

मार्गसत्यमाह **संसार** इत्यादि—

संसारे मानुषत्वं क्वचिदपि तु भवेद् धर्मबुद्धिः कदाचित्
तस्माद् बुद्धेऽनुरागो भवति शुभवशादादियाने प्रवृत्तिः ।
तस्माद् श्रीवज्रयाने क्वचिदखिलमतिर्वर्त्तते भावनायां
तस्यां बुद्धत्वमिष्टं परमसुखपदेऽहो प्रवेशोऽतिकष्टः (कष्टम्) ।।१३।।

[89b] इह षट्गत्यात्मके **संसारे मानुषत्वं क्वचिदपि तु भवेत्**, ततो **धर्मबुद्धिः कदाचिद्** भवति नराणां तीर्थिकदानादिधर्मेषु । **तस्माद् बुद्धेऽनुरागः** कदाचित् **शुभवशाद्** भवति, दानाद्यनुरागोऽपि । ततोऽपि **शुभवशादादियाने प्रवृत्तिर्भवति** श्रावकप्रत्येक-बुद्धयाने । **तस्मात् श्रीवज्रयाने** प्रवृत्तिः, वज्रमभेद्यमच्छेद्यं महदिति । तदेव यानं **मन्त्र**-नयं **पारमितानयं** फलहेत्वात्मकम्, एकलोलीभूतम्, तस्मिन् प्रवृत्तिर्वज्रयाने प्रवृत्तिः । ततः **क्वचिदखिलमतिर्वर्त्तते भावनायाम्**, कस्याञ्चित्[1] सालम्बनशून्यतानिरालम्बन-करुणात्मिकायां पुण्यज्ञानवशेन, **तस्यां** भावनायां **बुद्धत्वमिष्टं** भवति । एवं **परमसुख-पदेऽहो प्रवेशोऽतिकष्टः** (ष्टम्) दूराद् दूरतरः संसारिणां संसारसुखाभिलाषिणामिति ।

समुदयसत्यमाह **गर्भे** इत्यादिना—

गर्भे संशुद्धकायः प्रसवनसमयाद् दन्तभावोऽर्थे (भावे च)[2] धर्मः
दन्तानां वै प्रपातः प्रभवति नृप सम्भोगकायो जिनस्य ।
तस्मान्निर्माणकायः प्रकटितनियतो मृत्युसीम्नो नराणां
गर्भे बाह्ये चतुर्धा भवति पुनरसौ ज्ञानविज्ञानभेदात् ।। १४ ।।

इह प्रथमं लोकसंवृत्या **विशुद्धकायादिकं** गर्भजातस्य शरीरे संदृश्यते; पश्चाद् तद् **वै धर्मेण बुद्धस्य** भगवतः सुविशुद्धकायादिकं योगिभिर्वेदितव्यम् । अत्र मातृगर्भे यावत् तिष्ठति तावत् पञ्चाभिज्ञो **संशुद्धकायो** भवति शरीरिणः । ततः **प्रसवनसमयमारभ्य** यावद् **दन्तोत्थानं** तावद् धर्मकायो भवति । ततो दन्तोत्थानाद् यावद् **दन्तप्रपातो** भवति तावत् **सम्भोगकायो जिनस्य** बोधिचित्तवज्रस्य । **नृपे**त्यामन्त्रणम् । **तस्माद्** दन्तपाता-**न्निर्माणकायः प्रकटितो नियतो मृत्युसीम्नो नराणां** गर्भजानामिति । **गर्भे बाह्ये चतुर्धा भवति, पुनरसौ** कायसमूहः, इह **ज्ञानभेदात्** गर्भे षड्विज्ञानभेदात् **बाह्ये, ज्ञानविज्ञान-भेदादिति** । [90a]

---

१. क. ख. कस्याचित्ते ।
२. भो. So Ni sKyes Pa Dag Kyaṅ (दन्तोत्थानं) ।

विज्ञानं चन्द्रसूर्यावपि कमलगताः शुद्धकायः स गर्भे
धातुस्कन्धोद्भवो यो भवति दशविधो धर्मकायो जिनस्य ।
तस्मात् सम्भोगकायो भवति गुणवशाच्छोत्रशब्दादिजाते
तस्मात् केशादिजाते प्रसवनसमयश्चात्र निर्माणकायः ।। १५ ।।

अत्र **गर्भे** तावद् **विज्ञानमालयविज्ञानं** सत् सौख्यं ज्ञानमिति । **चन्द्रसूर्यौ** शुक्ररजसी **अपि कमलगता** मातृकमलगतास्त्रयः एकीभूता गर्भनिष्पत्तये; **शुद्धकायः स गर्भे** भगवत(ता) उच्यते, मात्रापित्रा(त्र्या) लयविज्ञानैकसुखावस्थातः । **धातुस्कन्धानामुद्भवो यो दशविधः**, स **धर्मकायो जिनस्य** बोधिचित्तवज्रस्य । अतोऽध्यात्मश्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां **शब्दादीनां** विषयाणां **जाते** सति **गुणवशाद्** दिवसवशात् **सम्भोगकायो भवति** । **तस्मात् केशादिजाते** आदितः लोमविट्मूत्रनिष्पत्तिः । **प्रसवनसमयो** योनेरुत्पादो **निर्माणकाय**[1] उच्यते गर्भे ।

जाते श्वासोद्भवो यः भवति निर्गुणः शुद्धकायः स एव
तस्मात् दन्तोद्भवो योऽस्फुटमपि वचनं धर्मकायस्तथैव ।
तस्मात् पातो द्विजानां प्रसवति नृप सम्भोगकायो जिनस्य
दन्तेभ्यः मृत्युसीम्ने भवति जिनपतेर्बाह्यनिर्माणकायः ।। १६ ।।

ततो बाह्ये कायचतुष्टयं(ये) **जाते** सति **श्वासस्य** प्रथम **उद्भवो यो** मध्यनाड्यां **भवति, स निर्गुणो** वाग्वज्रविषये संशुद्धकायः, **स एव** सपादषट्पञ्चाशत्श्वाससमूहं यावत् तावत् शुद्धकायो मध्यमाप्रवाहतः । **तस्मात्** प्राणसञ्चारवशाद् **दन्तोद्भवो योऽस्फुटमपि वचनं** यत् तत् संज्ञालक्षणम्, स वाग्वज्रविषये **धर्मकायः** । **तस्मात् पातो द्विजानां** दन्तानां पातो भवति, यावत् **सम्भोगकायो**ऽष्टवर्षपर्यन्तं परिस्फुटवचनात् । **दन्तेभ्यः** पतितेभ्योमृत्युपर्यन्तं **निर्माणकायो बाह्ये** भवति । इह गर्भे काय[90b]भेदेन चतुर्विधः कायभेदः । बाह्ये प्राण[सं]चारभेदेन चतुर्धा कायभेदो ज्ञानं विज्ञानं च देहे (अन्तः)[2] बाह्येऽपि कायप्राणयोः सहायः । अत्र कायभेदः शुक्रसम्बन्धी, वाग्भेदो रक्तसम्बन्धी; एवं व्याप्यव्यापकसम्बन्धेन चित्तभेदेन चतुर्विधः कायभेदो, जाग्रदादिलक्षणेन, ज्ञानभेदेनापि चतुर्विधः कायभेदः, आनन्दादिना चतुर्विधस्वभावेनेति देहे बाह्ये सहजादिकायोत्पादनियमः ।

कायवाक्चित्तज्ञानोत्पत्तिमाह **गर्भे** इत्यादिना—

गर्भे श्रीकायवज्रं प्रथममिह भवेद् वाकस्वरूपं प्रसूते
चित्तं दन्तोद्भवे वै पुनरपि पतनादुद्भवे ज्ञानवज्रम् ।
ज्ञानं विज्ञानमिश्रं रविशशिसहितं ज्ञानवज्रादिसर्वं
गर्भे रूढं क्रमेण प्रभवति बलवत् कायवज्रादिना च ।।१७।।

---

१. क. ख. निर्माण । २. भो. Naṅ (अन्तः) ।

इह मातृगर्भे ज्ञानं सहजानन्दं विज्ञानमिश्रितमालयविज्ञानम्, रविशशिसहितं रजःशुक्राभ्यां सहितं ज्ञानवज्रादिसर्वं सहजानन्दादिकं भवति। गर्भे रूढं क्रमेण प्रभवति बलवत् कायवज्रादिना च। अत्र प्रथमं[1] गर्भे[2] श्रीकायवज्रं भवति प्रसूत्यवधिं यावत्, कायावयवनिष्पत्तिरित्यर्थः। ततः प्रसूते वागवज्रं प्राणसंचारः प्राणोत्पत्तिः। ततश्चित्तं[3] संज्ञाग्राहकं[4] द्वात्रिंशद्दन्तोभवे सति भवति। वै इत्येकान्तनिश्चितमित्यर्थः। T298 पुनरपि दन्तपतनात् द्वात्रिंशद्दन्तोद्भवे सति स्त्रीणां द्वादशवर्षावधि ज्ञानवज्रं शुक्रच्युत्यवस्थालक्षणं सहजानन्दलक्षणं[5] नराणां षोडशवर्षावधेर्वेदितव्यमिति कायवाक्चित्तज्ञाननिष्पत्तिकथनम्।

आधाराधेयसम्बन्धमाह पृथ्वीत्यादि—

पृथ्वीगर्भो हुताशो भवति च (न)[6] धरणीमारुतौ शून्यगर्भो
वायोर्भूमेश्च गर्भो भवति हि सलिलं निःस्वभावःस्वभावम्।
भूमेराधार अम्बु ज्वलनमपि जलस्यानिलः पावकस्य
वायोः शून्यं नरेन्द्र प्रभवति हि तथाधार आधेयभूतः॥ १८ ॥[91a]

इह पृथ्व्या गर्भो हुताशोऽग्निर्भवति, न तत्कुली, पृथ्वीगुणस्वभावाभावात्। आकाशगर्भे[7] शून्यमध्ये तिष्ठतो धरणीमारुतौ न[8] तत्कुलजातौ, आकाशगुणाभावात्। एवं वायुगर्भे(:) भूमेश्च गर्भे(:) सलिलं भवति; तदेव वायुगर्भे निःस्वभावानुरूपेणावस्थितम्[9]; यत्र यत्र वायुः संसरति, तत्र तत्र तेन सार्द्धं व्रजति। यद् भूमिमध्ये व्यवस्थितं तत् स्वभावं द्रवरूपं खन्यमानं दृश्यते भूम्यामिति। अत्र पुनः सर्वेषां पृथ्व्यादीनामाकाशमाधारः, पृथिव्यादयो भूता आधेयाः। अत्र यथाक्रममाधाराधेयौ भवतः। भूमेराधारमम्बु भूमिमण्डलस्य बाह्ये यथा जलमण्डलमाधारः तथा शरीरेऽपि। ज्वलनमप्यग्निमण्डलं जलस्येति जलमण्डलस्याधारः। अनिल इति वायुमण्डलम्। पावकस्याग्निमण्डलस्य वायुरिति वायुमण्डलस्य शून्यमाकाशमाधारः। एवं सर्वेषां भूतानां पृथिव्यादीनां शून्यमाधारो भवति॥

समूहाधाराधेयमाह स्कन्ध इत्यादि—

स्कन्धाधारो हि भौतो भवति वरतनौ भूतवृन्दस्य नाड्यो
नाडीनां प्राणवायुर्भवति दशविधश्चेतना प्राणवायोः।
तच्चित्तं द्विस्वभावं भवति गुणवशात् सस्वभावास्वभावं
भर्त्ताधारस्तयोश्च त्रिभुवननमितोऽनाहतः सर्वगो यः॥ १९ ॥

१-२. ख. प्रथमगर्भे। ३-४. क. ततश्चित्तसंज्ञाग्राहकं। ५. क. सहजानन्दक्षणं। ६. भो. Ma yin (न)। ७. क. ख. ०गर्भो। ८. भो. Ma yin (न)। ९. क. ख. निःस्वभावमन्दरूपेण; ग. ० मण्डरूपेण।

इह शरीरे पञ्चस्कन्धानामाधारो हि भौतं (तो) पृथिव्यादिभूतसमूहं (हो) भवति। तत्कस्य हेतोः? इह पृथिव्यादिप्रकृतेरभावात् प्रत्ययो नास्त्यविद्यादिकः। अविद्यासंस्कारविज्ञानादिप्रत्ययाभावे रूपादिस्कन्धाभावः। यतश्चतुर्भूतात्मकं रूपम्, षड्धात्वात्मको महापुरुषपुङ्ग(द्ग)लः, अतः स्कन्धाधारो हि भौतं(तो)भवति। **वरतनौ भूतवृन्दस्य नाड्यो** द्वासप्ततिसहस्रसंख्या भवन्त्याधारास्तासां **नाडीनामपि प्राणवायुराधारः**, संस्कारकारणात्। स च दशविधो वक्ष्यमाणो वक्तव्यः। **चेतना** [91b] **प्राणवायोराधारः**; सा चेतना **तदेव द्विस्वभावं चित्तं भवति, गुणवशादिति** सत्त्वरजोवशात् (स)स्वभावं[1] जाग्रत्स्वप्नलक्षणम्, तमोगुणवसान्निःस्वभावं सुसु(षु)प्तलक्षणं निरिन्द्रियं भवति। **तयोश्च** सस्वभावास्वभावयो**र्भर्त्ताधारः** सुखदुःखावस्थाधावी(धारी)[2] संसारिणाम्। स च सुखदुःखाभ्यां रहितस्त्रि**भुवननमितो यः** सोऽनाहतः **सर्वगो भवति** सुखदुःखान्तकृन्निष्ठ इति।

गन्धोत्पत्तिर्धरण्यामपि शिखिनि रसस्योदके रूपधातोः
वायौ स्पर्शस्य शान्ते त्वपि भवति रवस्याम्बरे धर्मधातोः।
शून्यं गृह्णाति शब्दं खलु जिनजनको धर्मधातुं च वायुः
गन्धं वह्निश्च रूपं रसमपि सलिलं स्पर्शमेव धरित्री ॥ २० ॥

धातूनां[3] जन्यजनकसम्बन्धमाह **गन्ध** इत्यादिना—

इह बाह्ये वाऽध्यात्मनि **गन्धोत्पत्तिर्धरण्यां** भवति मुख्यतः, रसादीनां पुनर्गौणत इति। **अपि** सम्भावने, **शिखिन्य**ग्निधातौ **रसस्य** षट्प्रकारस्याग्नेः परिपाकहेतुतो रसस्योत्पत्तिर्भवति, यतस्तस्मादु**दके रूपधातोः**। इहाङ्कुरादीनां प्ररोहादिकं नानावर्णं नानासंस्थानमुदकाद् भवति मुख्यतः, गौणतः पुनः रसादीनामप्युत्पत्तिः। एवं **वायौ** वायुधातौ **स्पर्शस्यो**त्पत्तिर्भवति; **शान्ते** ज्ञानधातौ **रवस्ये**ति शब्दोत्पादः। **अम्बरे** पञ्चात्मकरसधातौ शूतके (सूचके)[4] धर्मधातोर्बोधिचित्तधातोरुत्पत्तिर्भवति सुखावस्थाया इति।

इदानीं ग्राह्यग्राहकसम्बन्ध उच्यते—

इह परकुलालिङ्गनतः कार्यसिद्धिर्भवति, स्वकुलालिङ्गनेन स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। अतः परकुलालिङ्गनं शरीरोत्पत्तिकारणं भवति। तेन **शून्यमिति** शून्यकुलोद्भूतं श्रोत्रेन्द्रियं **गृह्णाति शब्दं** ज्ञानधातूद्भूतम्। **खलु जिनजनक** इति निश्चितं ज्ञानधातूद्भूतं मनइन्द्रियं गृह्णाति, **धर्मधातुमा**काशधातूद्भूतविषयम्। **वायुरिति** जन्यजनकाभेद्यत्वेन वायूद्भूतं घ्राणेन्द्रियं भूमिधातूद्भूतं **गन्ध**विषयं गृह्णाति। **व**[92a]**ह्नि-**

---

१. भो. Ran bSin Can (सस्वभावं)। २. ग. भो. hdzin Pa (धारी)।
३. अत्र ख. पुस्तके 'गन्धोत्पत्तिर्धरण्यामपि शिखिनि रसस्योदके रूपधातोः वायौ इत्यादिश्लोकः' इत्यधिको लिखितः। ४. भो. gSal Bar Byed Pa (सूचके)।

श्चेति अग्निधातूद्भूतं चक्षुरिन्द्रियं गृह्णाति तोयधातुजनितं रूपविषयम्। वह्निधातुजनितं रसविषयं जलधातूद्भूतं रसनेन्द्रियं गृह्णाति। **धरित्री** पृथ्वीधातूद्भूतं कायेन्द्रियं गृह्णाति वायुधातूद्भूतं स्पर्शविषयमिति विषयविषयिणां ग्राह्यग्राहकलक्षणनियमः।

लोकसंवृत्या रूपादीनां स्कन्धानां प्रत्येकधातौ सिद्धिमाह **सिद्धमित्यादि**—

सिद्धं रूपं धरण्यां त्रिभुवननिलये चोदके सिद्धसंज्ञा
वह्नौ वै वेदना च प्रभवति पवने सिद्धसंस्कार एव।
विज्ञानं ज्ञानमिश्रं सगगनकुलिशे सिद्धमेवात्र काये
धातुस्कन्धादिसर्वं भवति च रजसा बोधिचित्तादियोगात्॥ २१॥

इह धातुस्कन्धानामैक्यं **सिद्धमुच्यते**; अत्र **धरण्यां** मुख्यतो **रूपं सिद्धम्**, संज्ञादयो गौणतः सिद्धाः। **त्रिभुवननिलये** त्रैधातुकविषये, न निर्वाणधर्मे भवतीति। **चकारादुदके संज्ञा सिद्धा** भवति। इह संज्ञानामस्वरधर्मचन्द्रः, शुक्रं तोयप्रकृतिः, तोयप्रकृतित्वात् संज्ञा सिद्धा भवति, **उदक** इति निश्चयः। **वह्नौ वै वेदना चेति** इह वह्निप्रकृतिः सूर्यो रजः, कालिः सूर्यरजः कालिस्वभावा वेदना। अतो वह्नौ वेदना सिद्धा भवति मुख्यतः, शेषा गौणतः **प्रभवन्ति**। **पवने सिद्धः** **संस्कारस्कन्धः**, एवमत्र वायुः कायवाक्चित्तसंचालकः संस्कारजनकः, तेन वायुप्रकृतिः संस्कारः सिद्धः। एवं **विज्ञानं ज्ञानमिश्रं** ज्ञानसहितम्। यथाक्रमं **सगगनकुलिशे** आकाशे विज्ञानं सिद्धं श्रोत्रविज्ञानादिलक्षणम्। **कुलिशे** ज्ञानधातौ ज्ञानं **सिद्धं** बोधिचित्तच्यवनान्ते सुखवक्षणात्मकम्। **अत्र काये** षड्धात्वात्मके महापुरुषपुंग(पुद्ग)ले। कस्माद् **धातुस्कन्धादिसर्वमित्याह**। **रजसा बोधिचित्तादियोगात्** इह शरीरे धातुस्कन्धादिकं यत् सर्वं तद् रजः शुक्रालयविज्ञानसुखक्षणावस्थासंयोगाद् भवति [92b]।

श्रोत्रादीनां ग्राहकाणां शब्दादिविषयग्राहकत्वेन तत् स्वभावत्वमाह **श्रोत्रमित्यादि**—

श्रोत्रं वज्रस्वभावं भवति नरपते चित्तमाकाशभावं
घ्राणो भूमिस्वभावो भवति च रसना वह्निभावा तथैव।
चक्षुस्तोयस्वभावं त्रिभुवननिलये वायुभावश्च कायः
एवं श्रोत्रादिसर्वं भवति गुणवशात् ज्ञानविज्ञानयोगात्॥ २२॥

इह शरीरधर्मे **श्रोत्रं** ग्राहकत्वेन शून्यलक्षणं ग्राह्यविषयग्रहणेन **वज्रस्वभावं** शब्दस्वभावमिति। अत्र ग्राहको धर्मः कायभेद उच्यते, ग्राह्यो धर्मो भावभेदः। अतो ग्राह्यस्वभावेन जन्यजनकस्वभावो विज्ञेयो **नरपत** इत्यामन्त्रणम्। **चित्तं** मनः **आकाशस्वभावं** धर्मधातुस्वभावम्, धर्मधातुविषयग्राहकत्वात्। **घ्राणो भूमिस्वभावो** गन्धस्वभावः, गन्धग्रहणाद्। **भवति च रसना वह्निस्वभावा तथैव**, यथा पूर्वे वह्निजन्म-

(न्य)रस(स्व)भावो[1] रसग्रहणात् । चक्षुस्तोयस्वभावम्, तोयजनितरूपग्रहणात् । त्रिभुवन-
T299 निलये, न निर्वाणे । वायु[स्व]भावश्च काय इति कायेन्द्रियं वायुजनितं स्पर्शविषयग्रहणात् । एवमुक्तक्रमेण श्रोत्रादिकं सर्वं भवति गुणवशादिति शब्दधर्मधातुगन्धरसरूपस्पर्शवशात् । श्रोत्रं मनो घ्राणो जिह्वा चक्षुः कायः—एते षडिन्द्रियधातवः ज्ञानविज्ञानयोगाद् विज्ञेया इति ।

षड्धातुवशेन मात्सर्यादयः (दीन्) षट् चित्तविकारानाह मात्सर्यमित्यादि—

मात्सर्यं ज्ञानधातौ भवति वरतनौ चाम्बरे द्वेषवज्रं (चित्तम्)
ईर्ष्याचित्तं हि वायौ प्रकटितमनले रागचित्तं तथैव ।
तोये श्रीमानवज्रं(चित्तं) प्रकृतिगुणवशान्मोहवज्रं (चित्तं) धरण्यां
वागहस्तौ पादपायू मरुदनलजलक्ष्मासु सर्वे बभूवुः ॥ २३ ॥

इह शरीरे चित्तस्य मात्सर्यं ज्ञानधातौ, पञ्चम्यर्थे सप्तमी; ज्ञानधातुवशात्, मात्सर्यचित्तं सत्त्वाना[93a]मित्यर्थः । अम्बरे द्वेषवज्र(चित्त)मिति आकाशधातुवशात् सत्त्वानां द्वेषचित्तम् । एवं वायुधातुवशादीर्ष्याचित्तम्, अनलधातुवशाद् रागचित्तम्, तदेव प्रकटितं मुनिना । तथैव तोयधातुवशान्मानचित्तम्, पृथ्वीधातुवशान्मोहचित्तम्, प्रकृतिर्ज्ञानादिधातुधर्मस्तस्य गुणाः स्वभावास्तत्स्वभाववशान्मात्सर्यादयो भवन्ति चित्ते संसारिणाम् ।

धातुवशेन कर्मेन्द्रियाण्याह—वागित्यादि । इह वागिन्द्रियं वायुधातोर्भवति, पाणीन्द्रियं तेजोधातोः, पादेन्द्रियं तोयधातोः, पृथ्वीधातोः पाय्विन्द्रियम्, अनुक्तत्वात्, आकाशधातोः गुह्येन्द्रियम् । षोडशवर्षान्ते ज्ञानधातौ दिव्येन्द्रियं भवतीति षट्कर्मेन्द्रियनियमः ।

षड्धातुभ्योऽपानादयो वायवो भण्यन्ते अपानेऽत्यादिना—

आपानो ज्ञानधातौ त्रिविध इति भवेत् प्राणवायुश्च शून्ये
वायोर्मध्ये समानः शिखिनि पुनरुदानोऽम्भसि व्यान एव ।
भूम्यां नागोऽथ कूर्मोऽपि कृकरपवनो देवदत्तो धनञ्ज-
श्चत्वारो वायुवह्न्योरपि पयसि महो संभ्र(भ)वन्ति[2] क्रमेण ॥ २४ ॥

इह शरीरे अपानवायुर्ज्ञानधातोर्भवति; अत्रापि पञ्चम्यर्थे सप्तमी । स च विण्मूत्रशुक्रकर्षणतस्त्रिविध इति भवेत् प्राणवायुश्च शून्ये, आकाशधातोः, चकारात् सोऽपि त्रिविधो वामदक्षिणमध्यनाडीप्रवाहतः । वायोर्मध्ये वायुधातुस्वभावात् समानो भवति । शिखिन्यग्निधातौ पुनरुदानोऽम्भसि उदकधातौ व्यानः । भूम्यामिति भूधातौ नागः ।

१. भो. Raṅ bSin (स्वभाव) । १. भो. Yaṅ Dag ḥGyur (संभवन्ति) ।

अथ अनन्तरं कूर्मादयश्चत्वारः वायुधातोः कूर्मो भवति, तेजोधातोः कृकरः, उदकधातोर्देवदत्तः, पृथ्वीधातोर्धनञ्जयः। षोडशवर्षान्ते आकाशधातोरानन्दवायुः, ज्ञानधातोः सहजानन्दवायुः [93b]।

धातुवशाच्छरीरे हस्तादिसन्धौ चक्रादीन्युच्यन्ते उष्णीषमित्यादिना—

उष्णीषः शून्यधातौ भवति सुरनृणां ज्ञानधातौ च गुह्यं
हृत्पद्मं वायुधातौ प्रकटशिखिनि वै कण्ठचक्रं स्फुरद्धि।
तोये भ्रूमध्यपद्मं वसुवसुदलकं नाभिचक्रं च भूम्यां
षट्सन्धिः पादपाण्योर्महिजलहुतभुग् मारुतेषु त्रिसंख्या ॥ २५ ॥

अत्र आकाशातोरुष्णीषकमलं चक्रं वा भवति। दलसंख्या वक्ष्यमाणे वक्तव्या। सुरनृणां ज्ञानधातोश्च गुह्यं भवति, गुह्यकमलमित्यर्थः। हृत्पद्मं वायुधातोर्भवति। प्रकटशिखिनः कण्ठचक्रं भवति। स्फुरत् (स्फुटम्[1]), हिर्निश्चये, तोयधातौ भ्रूमध्यपद्मम्। वसुवसु चतुःषष्टिदलकं नाभिचक्रं (पद्म[2])भूमिधातौ भवति। षट्सन्धिरिति बहुवचने एकवचनम्। पादपाण्योर्वामपादे तिस्रो भूमिधातोः सत्त्वरजस्तमोगुणानां भेदात् भवन्ति। महीति ह्रस्वो भूपर्यायः। दक्षिणपादे तिस्रः उदकधातोर्गुणत्रयभेदात् इति; वामहस्ते तिस्रोऽग्निगुणत्रयभेदादिति; दक्षिणहस्ते तिस्रो वायुगुणत्रयभेदात् मारुतेषु त्रिसंख्येति द्वादश चक्राणि वक्ष्यमाणे वक्तव्यानीति अष्टादशचक्रनियमः।

इदानीं धातुवशादङ्गुल्यो(ल्यु)त्पादमाह भूमीत्यादिना—

भूम्यादौ पञ्चधातौ त्रिविधगुणवशात् पादपाण्योर्बभूवुः
अङ्गुल्योऽङ्गुष्ठकाद्यास्त्रिगुणितदशकाः पर्वरूपाः समस्ताः।
संग्राह्यास्ता नखान्ताः पुनरपि दशनान्ये च तत्त्वप्रभेदै-
रन्यद् यल्लोमकान्तं भवति वरतनौ तत् तदेवञ्च धातौ ॥ २६ ॥

इह हस्तपादयोरङ्गुष्ठकाद्याः कनिष्ठान्ताः; वामे दक्षिणे च पञ्चधातुगुणत्रयस्वभावेन त्रिपर्वात्मिकाः। ततः[94a]पृथ्वीधातुवशादङ्गुष्ठको भवति, पृथिवीधातुगुणत्रयवशाङ्गुष्ठपर्वाः त्रयः। एवं तोयधातुस्वभावेन तर्जनी, तथा तेजोधातुस्वभावेन मध्यमा; एवं वायुधातुस्वाभावेनानामिका, आकाशधातुस्वभावेन कनिष्ठिका। यथा वामहस्ते तथा दक्षिणेऽपि। एवं पादयोर्विज्ञेया इति। हस्तद्वये पादद्वयेऽपि त्रिगुणितदशकास्त्रिंशत् पर्वरूपाः समस्ता संग्राह्यास्ता नखान्ताः।

दशनान्युच्यन्ते—अत्र यदि प्रथमं बालस्योर्ध्वे दन्तद्वयं भवति, तदा दक्षिणदन्तभूमिस्वभावं भवति, वामं तोयस्वभावम्। अथाधो भवति, तदा दक्षिणवह्निस्वभावम्,

---

१. भो. gSal Bar (स्फुटं)। २. भो. Pad'Ma (पद्म)।

वामं वायुस्वभावः(वम्)। एवं पुनरूर्ध्वं तेजोवायुस्वभावौ, अधः पृथिवीतोयस्वभावौ, पुनरधो वायुतेजःस्वभावौ, पुनरूर्ध्वे पृथ्वीतोयस्वभावौ। एवमनुलोमविलोमेनोर्ध्वाधश्चतुर्धातुस्वभावेन द्वात्रिंशद् दन्ता वेदितव्या। यदा वक्रदन्तास्तदा आकाशधातुः। एवं लोमकेशानीति धातुभेदात् ज्ञेयानि।

अन्यद् यल्लोमकान्तं भवति वरतनौ तत्[1] **तदेव** पञ्चधातौ[2] वेदितव्यम्, कायविवेकं सार्द्धत्रिकोटिभेदं यावद् धातुविकाराः। रजःशुक्रवशाद् धातुविकारः, समुदयसत्यं कायविधै(वे)केनेति[3] भगवतोक्तम्।

इति श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां[4] लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
कायवाक्चित्तोत्पत्तिदुःख-मार्ग-समुदय-निरोधसत्यनिर्णयमहोद्देशः
प्रथमः ॥ १ ॥

(२) समुदयसत्यादिमहोद्देशः

इदानीमाधाराधेयसमुदाय उच्यते गुह्येत्यादिना—

गुह्योष्णीषे च नाभौ सहजजिनतनुर्निःस्वभावस्वभावा
हृच्चक्रे धर्मकायो भवति हि नृप सम्भोगचक्रे जिनस्य।
बिन्दौ निर्माणकायो भवति गुणवशाच्चाधिदैवक्रमेण
हृच्चक्रं कण्ठचक्रं शिरसि च कमलं धर्मसम्भोगशुद्धम् ॥ २७ ॥

इह शरीरे षट् चक्राण्याधारभूतानि, चत्वारः काया आधेयाः; तेषु सहजकायस्त्रिकमलेषु स्वभावास्वभावभे[94b]देन। अतो **गुह्यकमले उष्णीषकमले नाभिकमले** विशुद्धकायोऽधिदेवता **निःस्वभावा**, अकल्पनास्वभावा, प्रतिसेनोपमा। **हृदये धर्मकायः**, कण्ठाब्जे **सम्भोगकायो**ऽधिदेवता कायभेदेन। **बिन्दाविति** शिरसोऽब्जे शुद्धचक्रे **निर्माणकायो**ऽ**धिदेवता**। कायभेदेन **नाभौ** निर्माणचक्रे निर्माणकायोऽधिदेवता इति कायभेदे नियमः। **गुणवशादिति** चक्राणां गुणः; ज्ञानाकाशभूमिगुणः सहजकायाधाराणाम्; वायुगुणो धर्मकायाधारस्य; तेजोगुणः सम्भोगकायाधारस्य; उदकगुणो निर्माणकायाधारस्येति आधाराधेयभावः। उक्तक्रमेण **हृच्चक्रं कण्ठचक्रं शिरसि च कमलं धर्मसम्भोगशुद्ध**मिति।

नाभौ कण्ठे च गुह्ये शिरसि च हृदये तद्वदुष्णीषमध्ये
मातुर्भर्त्तुः क्रमेण त्रिविधमपि भवेत् कायवाक्चित्तवज्रम्।
चक्रं रत्नं खपद्मं जलजमसिवरं षट्कुलं वज्रयुक्तं
तान्यूर्ध्वाधस्त्रिनाड्यस्त्रिविधपथगताश्चन्द्रसूर्याग्निभेदैः ॥ २८ ॥

१-२. ग. तत्तदेवञ्च धातौ। ३. भो. dBen Pas (विवेक)। ४. क. ख. मूल०।

कायाधारभेदेन षट्कुलान्युच्यन्ते नाभावित्यादिना—

इह शरीरे षड्धातुवशेन षट्चक्रेषु षट्कुलानि भवन्ति यथासंख्यम्—मातुः कुलानि त्रीणि, भर्त्तुः पितुः कुलानि च । **नाभौ पृथिवीचक्रे चक्रकुलं** भवति, **कण्ठे** अग्निपद्मे **रत्नकुलं** भवति, **गुह्ये** ज्ञानकमले **कर्तिकाकुलं** भवति, मातुर्यथासंख्यं कायो(य) वाक्चित्तञ्च । एवं **शिरसि तोयक**मले **कमलकुलं** भवति; **हृदये** वायुकमले **खड्गकुलं** भवति । **तद्वदुष्णीषमध्ये आकाश**धातुकमले **वज्रकुलं** भवति । भर्त्तुः कायवाक्चित्तञ्च यथाक्रमं रजःशुक्रयोः कुलं भवति । पृथिव्यादिधातूत्पन्नानां विकाराणां यथानुक्रमेणेति । T 360

वायुनाडीभेदेन तान्येवाह **तानीत्यादि**—

इह प्राणापानत्रिनाडिकाभेदतः त्रिनाडीसंज्ञाल [95a] क्षणानि भवन्ति–विड्नाडी **चक्रकुलमपाने**, सूर्यनाडी **रत्नकुलं** प्राणे, शुक्रनाडी **कर्तिकाकुलम्** अपाने इति मातुस्त्रिकुलानि कायवाक्चित्तानि; तथा चन्द्रनाडी प्राणे **कमलकुलम्**, अपाने मूत्रनाडी **खड्गकुलम्**, प्राणे मध्ये राहुनाडी **वज्रकुलमिति** भर्त्तुः कायवाक्चित्तानीति षट्कुलनियमः ।

काये भावप्रवेश-धातुवर्णा उच्यन्ते **काय इत्यादिना**—

काये भावप्रवेशः खमिव समरसो भावमध्ये च कायो
ज्ञातव्यो योगयुक्तैः प्रकृतिगुणवशाद् धातुवर्णादिभेदैः ।
पीतः कृष्णश्च वर्णस्त्वरुण इति सितो भूमिवाताग्नितोये
ज्ञानाकाशे च नीलो भवति च हरितः कायभावप्रभेदैः ॥ २९ ॥

इह शरीरे ग्राह्यग्राहकभेदो धातूनां परस्परं भवति । तत्र यो ग्राहको धातुः सामग्रीवशात् स कायसंज्ञो भवति; यो ग्राह्यः सामग्रीवशात् स भावसंज्ञो भवति । तेन ग्राह्यग्राहकयोः परस्परमेकत्वं समरसत्वम्, अतः **काये भावप्रवेशः । खमिव समरसो भावमध्ये च कायो, ज्ञातव्यो योगयुक्तैः प्रकृतिगुणवशाद् धातुवर्णादिभेदैरिति** । अत्र प्रकृतयः पृथिव्यादिधातवः कायेन्द्रियादीनां गन्धादिविषयाणां चतुर्णां भवन्ति । अत्र कायभेदेन कायेन्द्रियम्, गन्धविषयम्, पाय्विन्द्रियम्, आलापः पृथिवीकायस्वभावतः[1] **पीतवर्णाः** भाववशात्, वायुप्रकृतितः **कृष्णवर्णाः** । एवं घ्राणेन्द्रियम्, स्पर्शः, वागिन्द्रियम्, विट्स्रावो वायुप्रकृतयः कायभेदेन कृष्णवर्णाः; पृथिवी भावभेदेन पीताः; चक्षुरिन्द्रियम्, रसः, पाणीन्द्रियम्, गतिस्तेजः प्रकृतयः कायवशाद् रक्तवर्णा भवन्ति, भाववशादुदकप्रकृतयः **सिता** भवन्ति । एवं जिह्वेन्द्रियम्, वर्णो[2]रूपम्[3] (वर्णरूपम्), पादेन्द्रियम्, आदानमुदकप्रकृतयः कायभेदेन सितवर्णा भवन्ति, अग्निप्रकृतिभाववशाद् रक्तवर्णा भव[95b]न्ति । **भूमिवाताग्नितोये** भूप्रकृतौ वातप्रकृतौ अग्निप्रकृतौ तोयप्रकृतौ वर्णो वेदितव्यः । एवं श्रोत्रेन्द्रियम्, घर्मधातुविषयम्, भगेन्द्रियम्, शुक्रच्यवनम्, एते आकाशप्रकृतयः कायभेदेन **हरितवर्णाः**,

१. ग पृथिवीप्रकृतयः । २-३. भो Kha Dog Gi gZugs (वर्णरूपं) ।

ज्ञानप्रकृतिभावभेदेन **नीलाः**। तथा मनेन्द्रियम् (मन इन्द्रियम्), शब्दः, दिव्येन्द्रियम्, मूत्रस्रावः, एते ज्ञानधातुप्रकृतयः काल(य)[1]भेदेन नीलवर्णाः आकाशप्रकृतयो भावभेदेन हरिताः। अतो **ज्ञानाकाशे च नीलो भवति च हरितः कायभावप्रभेदैरिति** कायभावप्रकृतिवर्णनियमः।

प्रज्ञोपायालिङ्गनमस्थिमांसादिधातूनामाह **प्रज्ञेत्यादि**—

प्रज्ञोपायोऽस्थिमांसं ससलिलरुधिरं पावको मूत्रमेव
वातो विट्शून्यशुक्रं भवति वरतनौ श्रीरजश्चित्तमेव।
श्रोत्राच्छब्दादयोऽन्ये स्वजिनकुलवशाद् वाक्स्वरूपादयश्च
एवं देव्यः सबुद्धा विषयविषयिणो मण्डले वेदितव्याः ॥३०॥

इह शरीरे **प्रज्ञा अस्थिधातुः**, **उपायो मांसधातुः**, तयोः परस्परं संयोगः पृथिवीसंस्कारयोः, यत् कठिनतत्वं तत् पृथिवीधातुरिति ज्ञापकात् **प्रज्ञोपायास्थिमांसमिति**। एवं प्रज्ञोपायः **ससलिलरुधिरमुदकधातुना** सार्द्धं वेदनास्कन्धः। तथा **पावक** इति उष्णता **मूत्रमिति** संज्ञा, अनयो प्रज्ञोपायतः[2]। ननु शुक्रधातुः संज्ञास्कन्धः, कथं मूत्रमित्युच्यते ? इह शरीरे या संज्ञा सा जातमात्रस्य बालस्य मूत्रस्रावतः, यन्महासुखज्ञानं तत् षोडशवर्षावधेर्भवति शुक्रच्यवनधर्मतः। अतो मूत्रं संज्ञाधर्मः, शुक्रं ज्ञानधर्म इति विशेषात् मूत्रं संज्ञास्कन्ध इति। एवं* **वातो विट्** प्रज्ञोपायवायुधातु रूपस्कन्ध इति। **शून्यमिति** रजोधातुः, **शुक्रमिति** विज्ञानधातुः प्रज्ञोपाय इति। **भवति वरतनौ श्रीरजो** धर्मधातुविषयं[3] **बोधिचित्तमेव**+। एवं **श्रोत्रात् शब्दादयोऽन्ये** इति। शब्दः प्रज्ञा श्रोत्र उपायः, गन्धं प्रज्ञा घ्राणोपायः (घ्राण उपायः), रूपं प्रज्ञा चक्षुरुपायः, रसः प्रज्ञा जिह्वोपायः, स्पर्शः प्रज्ञा काय उपायः, धर्मधातुः प्रज्ञा म[96a]न उपायः, विट्स्रावः प्रज्ञा गुद उपायः, गति प्रज्ञा पाद उपायः, आदानं प्रज्ञा कर उपायः, आलापः प्रज्ञा वागिन्द्रियमुपायः, मूत्रक्रिया प्रज्ञा भग उपायः, लिङ्गं वा शुक्रच्यवनप्रज्ञा शङ्खिनीन्द्रियमुपाय इति।

स्वजिनकुलवशात् वाक्स्वरूपादयश्च कर्मेन्द्रियाद्या इति। **एवमुक्तक्रमेण देव्यः** पृथिव्यादयः **सबुद्धा**[4]वैरोचनादिभिः सार्द्धं **विषयविषयिणो मण्डले** वक्ष्यमाणे वक्तव्या इति परस्परं प्रज्ञोपायालिङ्गनविधिनियमः।

इदानीं चन्द्रसूर्यशुक्ररजःकृत्यमुच्यते **नाडीत्यादिना**—

नाडीनां षट्सहस्रं दिनकरगुणितं गर्भमध्ये च कृत्वा
वर्षे पूर्णे च वृद्धिं त्यजति शशधरोऽर्कश्च वृद्धिं करोति।

---

१. भो. Lus (काय)। २. क. ख. प्रज्ञोपाय इति। ३. क. पुस्तके नास्ति।
४. ग. सर्वबुद्धा।
*-+ख. पुस्तके नास्ति।

वर्षेषु द्वादशेषु त्यजति दिनकरो धातुवृद्धिं स्वदेहे
नाडीच्छेदं प्रसूते भवति दिनदिनं युग्मसंख्याक्रमेण ॥३१॥

इह शरीरे **गर्भं**मासादेकादूर्ध्वं प्रत्यहं नाडीशतद्वयं भवति; मासमध्ये त्रिंशद्भिर्दिनैः षट्सहस्रसंख्या भवति; दादशमासावधेः षष्ट्युत्तरत्रिशतदिनैर्द्वासप्ततिसहस्रसंख्या भवति। **नाडीनां षट्सहस्रं दिनकरगुणितमिति** द्वादशगुणितं **गर्भमध्ये च**[वृद्धिं][1] कृत्वा। **चकाराद्** बाह्योऽपि द्वादशमासान्तं यावत्। गर्भाधानमे[स्य][2]एकमासं वर्जयित्वा **वर्षे पूर्णे** सति **वृद्धिं त्यजति शशधरः**, चकारात् त्रयोदशभिर्मासैरिति **अर्कश्च वृद्धिं करोतीति**। ततश्चन्द्रशुक्रनाडी धातुसंख्यापरिच्छित्तौ सत्यां **धातुवृद्धिं** रजः करोति द्वादशवर्षान्(णि) यावदिति। **चकारात्** शुक्रं च धातुवृद्धिं करोति। **वर्षेषु द्वादशेषु त्यजति दिनकरो धातुवृद्धिं स्वदेहे** स्त्रीणां रजः सम्भवो(वां) यावदिति सूर्यवृद्धिः। पुंसां षोडशवर्षावधेः शुक्रससम्भवो(वां) यावदिति। **चकारः** समुच्चये। एवं **नाडी**[96b]**च्छेदो**ऽपि(मपि) **प्रसूते** सति **भवति प्रतिदिनं युग्मसंख्याक्रमेण**ेति वक्ष्यमाणे विस्तरेण वक्तव्यमिति नाडीधातुवृद्धिनियमः।

इदानीमाकाशादितत्त्वान्युच्यन्ते[3] **श्री भूतानी**त्यादिना—

श्री भूतानीन्द्रियाणि प्रभवति दशकं पञ्च कर्मेन्द्रियाणि
तन्मात्राः पञ्च चोक्ताः सगुणमपि मनो बुद्ध्यहङ्कारदिव्या।
तत्त्वान्येतानि देहे त्रिभुवननिलये भुक्तिरेषा विभोश्च
पञ्चस्कन्धात्मकस्य त्रिविधभवगतस्यात्मकर्मार्जितस्य ॥३२॥

इह शरीरे बालकस्य **श्री भूतानि** पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चाकाशादीनि श्रोत्रादीन्येकत्र **दशकं** भवति। एवं **पञ्च कर्मेन्द्रियाणि तन्मात्रा** इति शब्दतन्त्रमात्रादय इति पञ्च चोक्ताः। **सगुणमपि मनः**, सत्त्वरजस्तमोभिः सहितं मनः। एवं **बुद्धिरपि अहङ्कारो**ऽपि **दिव्या**[4] प्रकृतिरपीति।[5] **तत्त्वान्येतानि** चतुर्विंशतिः **देहे त्रिभुवननिलये बाह्ये भुक्तिरेषा विभोश्च**। किम्भूतस्य? **पञ्चस्कन्धात्मकस्य** लोकसंवृत्या **त्रिविधभवगतस्यात्मकर्मार्जितस्य** भुक्तिर्भवति। चतुर्विंशत्यात्मिका प्रकृतिः पुरुषस्य ग्राह[क]धर्मिणो ग्राह्यधर्मिणी प्रकृतिः। स्वाभाविका पुनर्ग्राह्यधर्मरहिताऽपरा प्रभास्वराऽस्तीति प्रकृतिपुरुषनियमः। T 301

इदानीं शरीरे पृथिव्यादीनां लक्षणमुच्यते **पृथ्वी**त्यादिना—

पृथ्वी काठिन्यमम्बु द्रवमपि हविरुष्णं च वायुर्लघुत्वं
छिद्रं शून्यं दृढास्थि त्वमरगिरवरो वृष्टिरत्रामृतं स्यात्।

---

१. भो. ḥPhel ba (वृद्धि)। २. भो. mÑal bZun baḥi ZLa ba (गर्भाधानस्य मासं)। ३. ग. आह। ४–५. भो. mChog gi Raṅ bSin (दिव्यया: प्रकृतिः)।

वज्रं शब्दश्च वायुं(यु) विडपि च घटिकाः श्वासनिःश्वासयुग्मं
युग्मैः संक्रान्तिरेका द्विगुणनवशतैः ज्योतिषो रन्ध्रभेदाः ।।३३।।

इह शरीरे **पृथिवी कठिनम्, अम्बु द्रवम्** । **अपि हविरुष्णत्वं च** [97a] । **वायुर्लघुत्वम्**, यतः संकोचनं प्रसारणं करोति ।[1] **छिद्रं शून्यं दृढास्थि** पृष्ठास्थिदण्डः कटिमारभ्य स्कन्धपर्यन्तं **अमरगिरिवरो** मेरुरिति । **वृष्टिर्या** बाह्ये तत्र [सा अत्र] शरीरे **अमृतं** जिह्वालम्बिकाभ्यां स्तुकस्रावः[2] । **वज्रं शब्दो** हृदये अन्त्राणां गर्जिर्या । **वायु** (चापः)[3] इन्द्रधनुर्**विडपि** । **घटिका** या बाह्ये षष्टिपाणीपलात्मिका, सा देहे **श्वासनिःश्वासयुग्मं** निर्गमप्रवेशयुग्मं प्राणवायुरिति घटिका । एभि**र्युग्मै द्विगुणनवशतै**रित्यष्टादशशतैः **संक्रान्तिरेका** भवति । बाह्ये संक्रान्तिः मासैस्त्रिशद्भिर्दिनैरिति अध्यात्मनि पञ्च नाड्यः पञ्चमण्डलवाहिन्यः । **ज्योतिष** आदित्यादयो ग्रहास्ते **रन्ध्रभेदा** दश भवन्ति । अत्र गुदरन्ध्रं चन्द्रः, मूत्ररन्ध्रं रविः, शुक्ररन्ध्रं कालाग्निः, मुखरन्ध्रं राहुः, दक्षिणनेत्ररन्ध्रं मङ्गलः, वामनेत्ररन्ध्रं बुधः, दक्षिणघ्राणरन्ध्रं बृहस्पतिः, वामघ्राणरन्ध्रं शुक्रः, दक्षिणकर्णरन्ध्रं मन्दः, वामकर्णरन्ध्रं केतुरिति । एषां पुनर्मङ्गलादीनां षडिन्द्रियभेदो वक्ष्यमाणे पञ्चमपटले वक्तव्य इति पृथिव्यादिनियमः ।

इदानीं नक्षत्रादिकमुच्यते **नक्षत्रमित्यादिना**—

नक्षत्रं दन्तपंक्तिस्त्वनुदिनघटिका सन्धिभेदाद् भवन्ति
नाड्यो नद्यन्त्रमेघास्त्वपरशशिकला धातवो द्विस्वभावाः ।
लोमा यूका च शुक्रं कृमिकुलसहितं भूतयोनिश्चतुर्धा
नन्दाद्यङ्गुष्ठपर्वा(र्वं)कमलमपि शिरो गुह्यपद्मं च शक्तिः ।।३४।।

अभीचिना (अभिजिता) सहाष्टविंशन्नक्षत्राणि सप्तशलाकाचक्रभेदेन । चत्वारि दण्डनक्षत्राणि, चतुःकोणे शलाकानक्षत्राणाम्, एवं द्वात्रिंशदिति । **दन्तानां** क्रमोत्क्रमचारभेदेन चतुर्दश नक्षत्राण्यो(ण्यू)र्ध्वचक्रे चतुर्दशाधश्चक्रे स्थितानि दन्तानां **पंक्तिरूर्ध्वाधो** भवति [97b] अर्द्धचक्रभेदत[4] इति **नक्षत्रं दन्तपंक्तिः** । अत्र **दिनघटिका सन्धिभेदा[द्] भवन्ति** इति प्रत्यहं षष्टिघटिका वर्षानुदिनैः श्वाससंख्या भवन्ति । ता घटिकाः षष्ट्युत्तरत्रिशतदिनानि भवन्ति । तानि च षष्ट्युत्तरत्रिशतसन्धयो भवन्तीति सन्धि[भेदाः] ।

नाड्यो नद्य इति इह लोकधातौ बाह्ये द्वासप्ततिसहस्रनद्यः समुद्रगामिन्यः, अध्यात्मनि द्वासप्ततिसहस्रनाड्यो रसवाहिन्यो भवन्तीति । **अन्त्रमेघाः** । **अन्त्र** इति अविभक्तिकं पदम्, अन्त्राणि मेघा भवन्तीति, रसस्रवणादिति गर्जनलक्षणात् । **अपरशशिकला धातवो द्विस्वभावाः** । अत्र कला द्विधा—**लोमा**दिधातुविकारेणैका, **शुक्र**च्यवनधर्मणेत्यपरा । अनयोः पुनर्या लोमादिधातुविकारेणावस्थिताः, ता अपि द्विधा अपरा

---

१. क. ख. भवति । २. क. ख. श्रुक० । ३. भो. gSu (चापः) । ४. ग. भेदेन ।

शशिकला इति । अत्र सूक्ष्मलोमबृहल्लोमप्रतिपत् द्वितीया, एवं त्वक् तृतीया चतुर्थी, रक्तं पञ्चमी षष्ठी, एवं मांसः सप्तमी अष्टमी, तथा नाड्यो नवमी दशमी, एवमस्थीनि एकादशी द्वादशी, तथा मज्जा त्रयोदशी चतुर्दशी, एवं शुक्रं पञ्चदशी षोडशी कला, धातवो द्विस्वभावा इति नियमः ।

इदानीं भूतयोनिरुच्यते **लोमेत्यादिना**—

इह लोकधातौ **चतुर्धा भूतयोनिः**—इह पृथिवीयोनिः स्थावरा बाह्ये, अध्यात्मनि **लोमानि**; बाह्ये वायुयोनिरण्डजाः, अध्यात्मनि **यूकाः**; बाह्ये उदकयोनिः **कृमिकुलादयः** संस्वेदजाः, शरीरेऽपि कृमिकुलादीनि, बाह्ये जरायुजाः **शुक्रसम्भूता**, अध्यात्मनि **शुक्रमेव**; बाह्येऽनुकत्वादिति आकाशधातुः रसरूपा उपपादुकाः, अध्यात्मन्यण्डरूपा सूक्ष्मप्राणिनः इति भूतयोनिश्चतुर्धा च ।

नन्दाद्यङ्गुष्ठपर्वमि(इ)ति । इह बाह्ये प्रतिपदादयः पञ्चपञ्चतिथयो नन्दादय उच्यन्ते । ते च शुक्लकृष्णपक्षभेदेन कनिष्ठाङ्गुष्ठादिना त्रित्रिपर्वस्वभावेन वामकराङ्गुलीपर्वा(णि) नन्दादयो भवन्ति, आकाशादिधातुभेदेन । दक्षिणकराङ्गुलीपर्वा(णि) पृथिव्यादिभेदेन, वृद्धाङ्गुष्ठादिपर्वभेदेन[1] पञ्चदश; एवं पादाङ्गुलीपर्वा(णि) द्वि[98a]-तीयमासतिथिभेदेन ज्ञेया(नि) इति । एवं प्रत्येकऋतु[2]भेदेन वर्षे षट् परिवर्त्ता भवन्ति षड्ऋतुभिरिति नन्दाद्यङ्गुष्ठपर्वनियमः ।

कमलमपि शिरो नाभिपद्मञ्च शक्तिरिति सहजतनुर्भवतीति पूर्वोक्तविधिनेति शक्तिनियमः ।

इदानीं स्वर्गादय उच्यन्ते **ब्रह्माण्ड**[मि]त्यादिना—

ब्रह्माण्डं स्वर्गलोको वरकरचरणौ मर्त्यपाताललोकौ
अब्धिद्वीपाश्च शैला द्रवमृदुकठिना धातवस्त्रिस्वभावाः ।
क्षाराब्धि मूत्रमेषां शिखिचलवलयं रक्तचर्माणि राजन्
केशाः सिद्धाः समस्तास्त्रिभुवननिलयेऽनेकभेदैश्च सिद्धाः ।।३५।।

इह शरीरे **ब्रह्माण्डमुष्णीषात्** कण्ठचक्रपर्यन्तं **स्वर्गलोको** भवति । **वरकरौ मर्त्यलोको** भवति । **चरणौ पाताललोको** भवति । **अब्धयश्च द्वीपाश्चाब्धिद्वीपाः । शैलाश्च** सप्त यथासंख्यं **द्रवधातवः** ।

शरीरे सप्त समुद्राः । तेषु **क्षारसमुद्रो मूत्रम्**, मद्यसमुद्रः प्रस्वेदः, उदकसमुद्रः स्तुकः[3] दुग्धसमुद्रः स्त्रीणां दुग्धो नराणां श्लेष्मधातुः, दधिसमुद्रः शिरोमस्तिष्कम्, घृतसमुद्रो वसाः, मधुसमुद्रः शुक्रमिति ।

---

१. ग. वृद्धाङ्गुष्ठपर्वादिभेदेन । २. क. ख. ०चित्त; भो. Dus (ऋतु) ।
३. क. ख. श्रूकः ।

तथा द्वीपाः। द्वादशारं जम्बूद्वीपम्, हस्तपादद्वादशखण्डेषु; मांसं रौद्रम्, कालजं क्रौञ्चम्, किन्नरजं बुक्कम्, कुशं मेदम्, सिताभं मूत्रम्, चन्द्र नाड्य इति मृदुधातवः।

शैला इति वज्रपर्वताः पादकरनखाः। शीताद्रिः करास्थीनि, द्रोण उपबाह्व-स्थीनि, मणिकरो बाह्वस्थीनि, निषढः(टः) पादास्थीनि, मन्द्रराद्रिः जङ्घास्थीनि, नीलाभ ऊर्वस्थीनि इति कठिनधातवः सप्तशैलाः। अष्टमो मेरुः, शरीरकङ्कालं कटि-मारम्य स्कन्धपर्यन्तमिति नियमः।

द्रवमृदुकठिना धातवस्त्रिस्वभावाः। **शिखिचलवलय**[98b]मिति शिखिवलयं रक्तम्, वायुवलयं चर्माणि। **राजन्** इत्यामन्त्रणम्। **केशाः सिद्धाः समस्तास्त्रिभुवन-निलयेऽनेकभेदैश्च सिद्धा** इति। इह बाह्ये लोकधातौ त्रिधा सिद्धाः—खेचराः, भूचराः, T 302 पातालवासिनः। तेषु खेचराः शिरोरुहाः, भूचराः कक्षसम्भूताः, पातालवासिनो भग-लिङ्गसम्भूताः। लोमानुक्तत्वात् सार्द्धत्रिकोटिलक्षणा इति स्वर्गादिनियमः।

इदानीमग्नित्रयमुच्यते हृदित्यादिना—

हृत्कण्ठे नाभिपद्मे पविरत्रिशिखिनस्तत् स्फुरन्ति क्रमेण
धन्वाकारे च वृत्ते त्वनुदिनहवने चाब्धिकोणे च कुण्डे।
तेषामूर्ध्वे परोऽग्निः स्फुरदमलकरो ज्ञानमूर्तिस्तमोऽन्ते
यस्मिन् सूर्यो न विद्युत्पतिशशधरो न ग्रहास्तारकाद्याः ॥ ३६ ॥

इह शरीरे दक्षिणाग्निर्गार्हपत्यमावहनीयोऽग्नित्रयम्। यथासंख्यं हृत्पद्मे धन्वा-कारे **पवि(ः)** विद्युदग्निः, **कण्ठकमले वृत्ते** सूर्याग्निर्गार्हपत्यम्, **नाभौ** चतुरस्रे कुण्डे आहवनीयः क्रव्यादाग्निरिति **स्फुरन्ति क्रमेण**। **अनुदिनहवने चाब्धिकोणे च कुण्डे** [इति] नियमः। **तेषामूर्ध्वे परोऽग्निः स्फुरदमलकरो ज्ञानमूर्तिस्तमोऽन्ते** गुह्यकमले ललाटकमलेऽच्छिन्नः। **यस्मिन्** स्थाने **सूर्यो न विद्युत्पतिशशधरो न ग्रहास्तारकाद्याः**, आदितः क्रव्यादाग्निरिति चतुर्थः सत्योऽग्निर्ज्ञानमूर्तिरित्यग्नित्रयनियमः।

[99a] इदानीं वारघटिकादय उच्यन्ते **वारा** इत्यादिना—

वारा हृत्पद्मपत्रे प्रकटितघटिका नाभिपद्मे च षष्टि-
र्भूमध्येऽह्नः पदं वै मनुरपि नृप सम्भोगचक्रेऽपि चर्क्षम्।
ऋक्षाणां नाभिपद्मं पुनरपि घटिका योगिना वेदितव्या
नाड्यः पाणीपलानि स्फुटसकलतनौ हस्तपादादिसन्धौ ॥ ३७ ॥

इह बाह्ये सप्तवाराः। अष्टमी कुलिका भुक्तिः शरीरे ते **हृत्कमलदलेष्वष्टष्वष्टौ** भवन्ति—पूर्वदले आदित्यः, आग्नेय्यां सोमः, दक्षिणे मङ्गलः, नैरृत्ये बुधः, वारुण्ये

बृहस्पतिः, वायव्ये शुक्रः, कुवेरे शनिः, ईशाने कुलिकाभोगे केतुः[1], अपरभोगार्धे राहुरिति प्रकटितघटिका नाभिपद्मे च षष्टिः। दल[2]चतस्रः शून्यघटिकादलानि, शेषाणि षष्टिदलानि षष्टिमण्डलवाहिन्यः दलानि[3] षष्टिघटिका इति प्रत्येकवारस्य षष्टिसंख्या। भ्रूमध्ये षोडशदलेषु दलद्वयं शून्यवाहकम्। चतुर्दशदलेषु चतुर्दश पदानि चन्द्रस्य भूताभूतेष्वित्यादीनि[4]। तत्र प्रथमदले भृता(भूता) इति पञ्चघटिकात्मकं पदम्; एवं द्वितीये तृतीये। वेदा इति चतुर्थघटिकात्मकः चतुर्थदले। शिखि[नि] तिस्रो नाड्यः पञ्चमे पदम्। कर इति द्विघटिकात्मकं पदं षष्ठदले। शशिन इति एकघटिकात्मकं पदं सप्तमं सप्तमे दले। एवं विलोमेनाष्टमे एकघटिकात्मकं[5] पदम्[6], नवमे द्विघटिकात्मकम्, दशमे त्रिघटिकात्मकम्, एकादशमे(शे) चतुर्घटिकात्मकम्, द्वादशमे(शे) पञ्चघटिकात्मकम्, त्रयोदशे चतुर्दशेऽप्येवं ज्ञेयमिति। चन्द्रपदानि मनुसंख्यकानि भवन्ति। नृप इत्यामन्त्रणम्। सम्भोगचक्रे कण्ठचक्रे द्वात्रिंशद्दलेषु दलचतुष्टयं शून्यम्। अन्येष्वष्टाविंशतिदलेषु अभीचि(अभिजित)सहितान्यष्टाविंशत् ऋक्षाणि भवन्ति; तानि वामावर्त्तेन पूर्वसप्तशलाकासु मध्ये मध्यमायां रेवत्यन्तेषु। अश्विनी द्वितीयायाम्, भरणी तृतीयायाम्, कृत्तिका चतुर्थ्याम्; ततो दण्डनक्षत्रं स(श)लाका सप्त सप्तदलसंज्ञा नाड्य इति। तत उत्तरस(श)लाकासु सप्तसु वामावर्त्तेन प्रथमस(श)लाकायां रोहिणी, द्वितीयायां मृगशिरा, तृतीयायामार्द्रा, चतुर्थ्यां पुनर्वसुः, पञ्चम्यां पुष्यः, षठ्यामश्लेषा, सप्तम्यां मघा, तत एवमन्यापि वेदितव्या इति। ऋक्षाणां नाभिपद्मेषु पुनरपि घटिकाः षष्टि वेदितव्येति। नाड्यः पाणोपलानि षष्टिः, षष्टीनां षट्त्रिंश[त् श][7]तानि स्फुटसकलतनौ हस्तपादादिसन्धाविति वक्ष्यमाणे वक्तव्यो विस्तरेणेति वारादिनियमः [99b]।

इदानीं प्राणशक्तेर्नाभ्यादिचक्रमणमुच्यते नाभीत्यादिना—

नाभ्यब्जे सूर्यपत्रे भ्रमति परकला संक्रमन्ती क्रमेण
संक्रान्तिः प्राणयुग्मैर्द्विगुणनवशतैः कर्किलग्ने नरेन्द्र।
यस्मिन् लग्ने स्थितोऽर्को भ्रमति दिननिशं तत्र सा वेदितव्या
ज्ञातव्यं लग्नमानं धनमृणविषुवं चायनं सव्यमानम् ॥ ३८ ॥

इह यथा बाह्ये सूर्यो द्वादशराशिषु वर्षसंक्रान्तिभेदेन भ्रमति, तथाध्यात्मनि द्वादशराशिषु प्रतिदिनं द्वादशसंक्रान्तिभेदेन प्राणशक्तिश्च भ्रमति। नाभ्यब्जे सूर्यपत्रे भ्रमति परकला प्राणशक्तिः संक्रमन्ती क्रमेण द्वादशराशिपत्रेषु। संक्रान्तिः प्राणयुग्मैर्द्विगुणनवशतैरिति। इह बाह्ये सूर्यस्याष्टादशशतैर्दण्डैरेकसंक्रान्तिर्भवति, तथा

---

१. क. ख. सति; ग. शनिः; भो mJug Riṅs (केतु)। २. क. ख. पुस्तके 'दल' इति नास्ति। ३. क. ख. पुस्तके 'दलानि' इति नास्ति। ४. क. ख. भृताभृतेषु; भो. ḥByuṅ Daṅ hByuṅ ba mDaḥ (भूताभूतेषु)। ५-६. क. ख. एकघटिकापदम्। ७. भो. brGya Phrag Sum Cu rTsa Drug (षट्त्रिंशत् शतानि)।

श्वासैरष्टादशशतैः प्राणशक्तिरेकदले संक्रान्तिर्भवति। सा च **कर्क्कि(कर्कट)लग्ने नरेन्द्र**। इह बाह्ये सूर्यस्य कर्कटो जन्मराशिः। एवं सर्वजातकानां यस्मिन् लग्ने जन्म भवति, सा राशिः कर्कटसंज्ञा वेदितव्या 'प्राणजन्मराशि स्थानीया' इति न्यायात्। **कर्क्कि(कर्कट)लग्ने नरेन्द्र** इत्यामन्त्रणम्। **यस्मिन् लग्ने** बाह्ये **स्थितोऽर्कं** उदयकालात् **भ्रमति दिननिशं तत्र सा वेदितव्या** सप्तस(श)लाकाभेदेन। **ज्ञातव्या-(व्यं) लग्नमानं**। यथा बाह्ये सूर्यस्य संक्रान्तिरूनाधिका दिनैर्वेदितव्या, तथाध्यात्मनि ऊनाधिकश्वासैर्वेदितव्येति सूर्यस्य दण्डभेदेन शरीरे श्वासनियमः। प्राणस्य **ऋणधनविषुवं** कर्कटादिषु रविका[पाद]वशेन **ऋणम्**, मकरादिषु **धनम्**। ज्योतिषोक्तविधिना **विषुवं** प्रतिसंक्रान्तिदिनं सपादषट्पञ्चाशद्दण्डात्मकमिति बाह्ये, अध्यात्मनि श्वासात्मकं प्रति-लग्नसंक्रान्तिभेदेनेति द्वादशसंक्रान्तिभ्रमणम्।

इदानीं प्रत्येककमलदले पञ्चमण्डलप्रवाह उच्यते **एकैक** इत्यादिना—

एकैके पद्मपत्रे प्रवहति धरणी पश्चिमे चोत्तरेऽम्बु
वह्निः सव्ये च पूर्वे प्रवहति पवनः पत्रमध्ये च शून्यम्।
संक्रान्ति(:) [100a] पञ्चभेदैः प्रवहति विषुवं होननिःश्वासषष्टिः
एवं संक्रान्तिभेदाः प्रतिदिनसमये लग्नभेदैर्भवन्ति ॥ ३९ ॥

इह बाह्ये सूर्यस्य **एकैकसंक्रान्तौ** पञ्चमण्डलभोगाः। त्रिंशद्दिनैः पञ्चमण्डलभोगः; षड्दिनैः षष्ठ्युत्तरत्रिंशतदण्डैरेकमण्डलभोगः; तथाध्यात्मन्यष्टादशशतैः श्वासैः पञ्चमण्डल-भोगः, षष्ठ्युत्तरत्रिंशतश्वासैरेकमण्डलभोगो भवति(तीति) नियमः। अत्र प्रत्येकसंक्रान्ति-दले पञ्च स्थानानि भवन्ति—दलस्य पश्चिममुत्तरं दक्षिणं पूर्वं मध्यम्। तत्र प्रत्येकं **पद्म-पत्रैकैके प्रवहति धरणी**-मण्डलं **पश्चिमे** दलस्योत्तरेऽम्बुमण्डलं वहति, **वह्नि**मण्डलं **सव्ये** वहति, पुनः **पूर्वे प्रवहति पवन**मण्डलम्। **पत्रमध्ये च शून्य**मण्डलं वहति। प्रत्येकं षष्ठ्युत्तरनिःश्वासशतत्रयं प्राणशक्तिरिति एवं **संक्रान्तिः पञ्चभेदैः** भवति प्रत्येका। एषु मण्डलेषु षष्ठ्युत्तरत्रिशतश्वासमध्ये सपादएकादशैकादशश्वासान् गृहीत्वा **प्रवहति विषुवं** लग्नोदयाभिसन्धौ, **होननिःश्वासषष्टिरिति** सत्रिपादश्वासत्रयोनानुवहति श्वासान् सपाद-षट्पञ्चाशदिति। **एवं संक्रान्तिभेदो (भेदाः)** अध्यात्मनि द्वादश**लग्नभेदैर्भवन्ति**, इति संक्रान्तिनियमः।

इदानीं पञ्चमण्डलाधिदेवा उच्यन्ते **शून्ये**त्यादिना—

शून्याद्यं पञ्च तत्त्वं प्रवहति नियतं चोत्तरे क्ष्मादिसव्ये
राह्वग्नी चन्द्रसूर्यौ बुद्धमहीतनयौ दैत्यमन्त्री गुरुश्च।
केतुर्मन्दश्च खादिष्विति दशपतयः क्षेत्रिणो मण्डलेषु
षण्मासं चन्द्र ईशो भवति नरपते चोत्तरे दक्षिणेऽर्कः ॥ ४० ॥

इह बाह्ये सूर्यस्य मेषादिविषमलग्ने शून्यमण्डलादिभोगः, वृषभादिसमलग्ने पृथिवीमण्डलादिभो[100b]गः; तथाध्यात्मनि **शून्याद्यं पञ्च तत्त्वमिति** शून्यं वायुरग्निस्तोयं पृथिवीमण्डलं **प्रवहति नियतमुत्तरे** वामनासापुटे। **क्ष्मादि**(दी)ति पृथिव्यप्तेजोवायुशून्यमण्डलं **सव्यनासापुटे** वहति। एषु वाम(अपसव्य)सव्येषु दशमण्डलेषु यथासंख्यं T 303 वामे शून्यमण्लं राहुरधिदेवता प्रवाहकाले; दक्षिणे कालाग्निः; वामे वायुमण्डले **चन्द्रः**, दक्षिणे **सूर्यः**; वामे वह्निमण्डले **बुधः**, दक्षिणे **मङ्गलः**; वामे तोयमण्डले **शुक्रः**, दक्षिणे **बृहस्पतिः**; वामे पृथिवीमण्डले **केतुः**, दक्षिणे **मन्दः**[1]; एवं **खादिषु** मण्डलेष्वधिपतयो दश क्षेत्रिणो भवन्तीति। एवं **षण्मासं चन्द्र ईशो भवति**, मेषमिथुनसिंहतुलाधनुःकुम्भराशौ वामनाड्यां चन्द्रः, शुक्रधातुरीश उत्तरे; दक्षिणे वृषभकर्कटकन्यावृश्चिकमकरमीनराशौ; **अर्को** रजोधातुरीशो भवति। **नरपत** इत्यामन्त्रणमिति मण्डलाधिपतिनियमः।

इदानीं प्राणादयो वायव उच्यन्ते **तस्येत्यादिना**—

तस्योर्ध्वं हृत्प्रदेशे वसुदलकमले संस्थितं नाडिचक्रं
प्राणाद्यं वायुवृन्दं रविशशिशिखिनो वामसव्ये च मध्ये।
वामे नाडी शशाङ्को वहति खलु सिता दक्षिणे रक्तसूर्या
मध्ये कालाग्निरूपा प्रवहति विषुवे हीननिःश्वासषष्टिः ॥ ४१ ॥

इह नाभिचक्रे गर्भे चतुर्दलात्मके, तद्बाह्ये अष्टदलात्मके, तद्बाह्ये द्वादशदलात्मके, तद्बाह्ये चतुःषष्टिदलात्मके। **दलशब्देन नाड्यः** श्वासधर्मिण्यो[2] गृह्यन्ते। **तस्य** नाभिचक्रस्योर्ध्वं सार्द्धद्वादशाङ्गुलादूर्ध्वं **हृत्प्रदेशे संस्थितम्**, **नाडीचक्रमष्टारम्** अष्टनाड्यात्मकम्। तेषु **प्राणाद्यं वायुवृन्दं वसुदलकमले शशिरविशिखिनः**। **शिखीति राहुः**। **वामे** चन्द्रनाडी **शशाङ्को वहति** सितवर्णा, **दक्षिणे रक्त**वर्णा सूर्यस्य नाडी व[101a]हति, अष्टसु दलेषु **मध्ये कालाग्निरूपा** नाडी राहुनाडी **प्रवहति, विषुवे** लग्नोदयाभिसन्धौ सपादषट्पञ्चाशत् **श्वासानि**(इ)ति। अस्मिन्नष्टारे हृदब्जे प्रहरसंक्रान्तिनाड्यो वेदितव्याः। नासारन्ध्रे पञ्चमण्डलवाहिन्योऽमी भवन्ति। नाड्या नाड्यां प्राणसञ्चारः सप्तविंशतिशतैः श्वासप्रश्वासैर्भवति सार्द्धसप्तदण्डैरिति।

प्राणोऽपानः समानः कमलवसुदले मारुतश्चाप्युदानो
व्यानो नागश्च कूर्मोऽथ कृकरपवनो देवदत्तो धनञ्जः।
इत्येवं नाडि(डी)चक्रे दशविधपवनाः संस्थिताः कर्मभेदैः
शङ्खिन्यन्तं त्विडाद्यं स्वहृदयकमलं नाभिचक्रं समस्तम् ॥ ४२ ॥

---

१. ख. मण्डः; भो. sPen pa (शनिः)।

२. क. ० र्घमिणो।

तत्र **प्राण** ऊर्ध्वं वहति; **अपानो** नाभ्यधो वहति; **समानः** पूर्वदलेऽधिदेवो रोहिणीनाड्याम्; **उदान** आग्नेयदले हस्तिजिह्वानाड्याम्; **व्यानो** दक्षिणदले पिङ्गलानाड्याम्; **नागो** नैर्ऋत्यदले पूषानाड्याम्; **कूर्मो** वारुण्यदले जयानाड्याम्; **कृकरो** वायव्यदलेऽलम्बुषानाड्याम्; **देवदत्त** उत्तरदले इडानाड्याम्; **धनञ्जय** ईशदले कुहानाड्याम्; सुषुम्नायां प्राणः, दिक्संख्या सं(शं)खिनीया स्रवति बोधिचित्तं तस्यामपानोऽधिदेवता। **इत्येवं नाडि(डी)चक्रे दशविधपवनाः संस्थिताः कर्मभेदैः**। एषां प्राणादीनां सर्वेषां वा द्वासप्ततिनाडीसहस्रेषु व्याप्तिः, किन्त्वष्टस्थानेषु जन्माष्टानामिति। **सं(शं)खिन्यन्तं त्विडाद्यं स्वहृदयकमलं नाभिचक्रं समस्तम्**, जन्मस्थानं समानादीनामिति हृच्चक्रनियमः।

इदानीं प्राणादिकृत्यमुच्यते **प्राण** इत्यादिना—

प्राणः प्राणं करोत्यर्कशशिपथगतस्त्वन्नपानं समस्तम्
आपानो नेत्यधस्तात् सकलसमरसं नेति काये समानः [101b]।
काये स्पन्दत्युदानो मुखकरचरणैर्गीतनाट्यं करोति
व्यानो व्याधिं करोति प्रकृतिगुणवशाद् गात्रभङ्गं तथैव ॥ ४३ ॥

इह शरीरे **प्राणः प्राणं** बलं **करोति अर्कशशिपथगतः** सन्; **अर्कपथः** पिङ्गला, रसना वा; **शशिपथ** इडा, ललना वा; तस्याः पथगत इति। **तु** निपातनार्थम्। **अन्नपानं समस्तम्**, यत् रसं भक्षितमुदकादिपीतम्, तत् **सकलमपानवायुरधो नेतीत्या**गमः। **नयति सकलं समरसं** तुल्यरसं यावत् **काये समानो** नाम वायुः, सप्तधातुषु समरसं करोतीत्यर्थः। **काये स्पन्दत्युदानो** नाम वायु**र्मुखकरचरणैर्गीतनाट्यं करोति**। अत्र शरीरे स एवोदानो मुखेन गीतादिकं हास्यालापादिकं करोति, करचरणैर्नाट्यं करोति, गमनादिकं चेति। **व्यानो व्याधिं करोति प्रकृतिगुणवशा**दिति उदकप्रकृतिवशाद् **गात्रभङ्गं तथैव** करोति यथा व्याधिम्।

नागोऽप्युद्गारमेव स्फुटकरचरणात् संकुचन् कूर्मवायुः
क्रोधं क्षोभं समस्तं स कृकरपवनो जृम्भिकां देवदत्तः।
कायं पञ्चत्वगन्तुं(गतं)त्यजति(न)नरपते वायुरेको धनञ्जः
एवं प्राणादिसर्वे प्रकृतिगतगुणान् वायवो न त्यजन्ति ॥ ४४ ॥

नागोऽप्युद्गारं करोत्येव **स्फुटकरचरणात् संकुचन् कूर्मवायुः**; स इति **क्रोधं क्षोभं समस्तं कृकरो** वायुः करोति; **जृम्भिकां देवदत्तः** करोति; **कायं पञ्चत्वं गतं धनञ्जयो वायुर्न** त्यजति। **नरपते** इत्यामन्त्रणम्। **वायुरेको धनञ्जय** इति। एवमुक्तक्रमेण **वायवः प्राणादयः सर्वे प्रकृतिगतगुणान् वायवो न त्यजन्ति**, [102a] आकाशादिप्रकृतिगुणानिति प्राणादिकृत्यनियमः।

इदानीं नाडीसंज्ञा तीर्थिकसंज्ञाभिरुच्यते पिङ्गेत्यादिना—

पिङ्गाः सूक्ष्मास्त्विडाद्यास्त्रिविधपथगता रोहिणी हस्तिजिह्वा
पूषा षष्ठी जयाऽपि च वसु नवमेऽलम्बुषा श्रीकुहे च।
दिक्संख्या शङ्खिनी या स्रवति नरपते बोधिचित्तं सुखान्ते
एतत् श्रीनाडिचक्रं भवति बहुविधं सन्धिभेदैरनेकैः ॥ ४५ ॥

पिङ्गाः सूक्ष्मास्त्विडाद्यास्तिस्रो नाड्य इडादयः। **त्रिविधपथगता** इति चन्द्रपथगता इडा, सूर्यपथगता पिङ्गला, राहुपथगता सुषुम्ना इति **रोहिणी** चतुर्थी, **हस्तिजिह्वा** पञ्चमी, **पूषा षष्ठी, जयाऽ**पीति सप्तमी, **अपि वसु** अष्टमी, **अलम्बुषा नवमी, कुहा दिक्संख्या शङ्खिनी या** दशमी शङ्खिनी **बोधिचित्तं स्रवति सुखान्ते। एतत् श्रीनाडिचक्रं**[1] **भवति बहुविधं सन्धिभेदैरनेकै**रिति। अत्र शरीरे सन्धिभेदाः षष्ट्युत्तरत्रिशतसंख्यास्तैः सन्धिभेदैः षष्ट्युत्तरत्रिशतनाडीचक्रभेदा भवन्तीति। प्राणादिवायुप्रकृत्यभेदा अप्येवं ज्ञेया इति नाडीचक्रनियमः।

इन्द्रेऽग्नौ याम्यदैत्ये सवरुणपवने यक्षरुद्रे च मध्ये
एषु स्थानेषु शक्तिर्भ्रमति दिननिशं तत्स्वरूपं भजन्ती।
तस्योर्ध्वं कण्ठचक्रे ग्रहगणसहितं संस्थितं चर्क्षचक्रं
ब्रह्माण्डे श्रीललाटे स्वरपरिकरितः (ं) श्वेतबिन्दुं स्रवन् वै ॥४६॥

इदानीं तस्मिन्नेव नाडीचक्रे इन्द्राद्यधिष्ठानमुच्यते इन्द्र इत्यादिना—

इह **इन्द्र**दले प्राणशक्तिरिन्द्रस्वभावं भजति प्रहरमेकं यावत्; **अग्नि**दले अग्निस्वभावम्, **याम्य**दले यमस्वभावम्, **नैर्ऋत्य**दले नैर्ऋत्यस्वभावम्, **वारुण्य**दले वरुणस्वभावम्, **वायव्य**दले वायुस्वभावम्, **धनद**दले[2] धनदस्वभावम्[3], **ईश**दले रुद्रस्वभावम्। **एवमेष्वष्टदलेषु तत्स्वभावं भज**[102b]**न्ती भ्रमति प्राणशक्ति**रिति इन्द्रादिस्वभावनियमः।

इदानीं कण्ठचक्रमुच्यते—

इह **हृत्कमलस्योर्ध्वं** सार्द्धद्वादशाङ्गुलान्ते **कण्ठचक्रे ग्रहगणसहितं संस्थितं चर्क्षचक्रम्**। चत्वारि दण्डनक्षत्राणि, अष्टाविंशति प्रधाननक्षत्राणि; एभिर्द्वात्रिंशद्दलकम्। चतुर्दण्डनक्षत्राणि त्यक्त्वा प्राणस्याष्टाविंशद्दलकेष्वहोरात्रेण[4] संक्रमणं षष्टिदण्डेभ्यो भागेन लब्धं प्रत्येकदले सञ्चार इति। **ब्रह्माण्डे श्रीललाटे स्वरपरिकरितं श्वेतबिन्दुं स्रवन् वै**। तस्यापि कण्ठकमलस्योर्ध्वं सार्द्धद्वादशाङ्गुलान्ते ललाटकमले षोडशदले दलद्वयं त्यक्त्वा चतुर्दशदलेषु प्राणस्याहोरात्रेण सञ्चारः; षष्टिदण्डेभ्यश्चतुर्दशभागलब्धेन प्रत्येकदलत्यागः।

१. ग. श्रीनाभिचक्रं। २-३. क. पुस्तके नास्ति। ४. ग. ० दलेषु०।

T 304 बिन्दुविसर्गौ कर्णिकायां वेदितव्यौ चन्द्रपदवाहेति । पुनर्नाभिचक्रे चतुःषष्टिनाड्यो भीमादिसंज्ञाभिः; हृदये अष्ट इडादिसंज्ञाभिः[1]; कण्ठेऽश्विन्यादिसंज्ञाचतुःसन्ध्यासंज्ञाभिः; ललाटनाड्यां प्रतिपदादिसंज्ञाभिः; उष्णीषे चतुःसन्ध्याभेदेन चतुःतत्त्वसंज्ञाभिः; इत्येषु कण्ठललाटकमलदलेष्वन्तर्भूतमष्टदलं चक्रं वेदितव्यम् । एवं नाभौ हृदये कण्ठे ललाटे अष्टारचक्रं पृथिव्यप्तेजोवायुस्वभावम्; उष्णीषे चतुर्दलं शून्यस्वभावम्; नाभौ चतुर्दलं ज्ञानस्वभावम्; गुह्ये द्वात्रिंशद्दलकम्; बाह्ये षोडशदलेषु स्वरनाड्यः; अन्तर्दशदलेषु स्कन्धधातुनाड्यः; ततोऽन्तर्दलेषु षट् शून्यनाड्य इति । एवं षट्चक्रसंख्या षट्पञ्चाशदधिकैकशतं षट्चक्रेषु वक्ष्यमाणेषु वक्तव्यमि[ति] षट्चक्रनियमः ।

मूले पृथ्व्यम्बु वामे प्रवहति हुतभुक् दक्षिणे मूर्ध्नि वायु-
र्मध्ये व्योमद्वयोश्च प्रवहति विषुवं नासरन्ध्रक्रमेण ।
भिन्दन्त्येतानि शक्तिर्व्रजति परपदं द्वादशान्तं कलान्तं
क्षेत्राद्या हस्तपादे करकमलपुटेऽङ्गुष्ठकान्ताः समस्ताः ।। ४७ ।।

इदानीं नासापुटद्वये पञ्चमण्डलप्रवाह उच्यते **मूल** इत्यादिना—

इह **वाम**नासापुटे **दक्षिणे** च **मूले** अधो भागे **पृथिवी**मण्डलं **वहति**, **अम्बु वामे** वहति **वामे** द[103a]क्षिणे च नासापुटे; नासापुटद्वयमध्यरेखाभिमुखं सर्वेषाञ्चोत्तरस्थो मेरुरिति ज्ञापकात् । **प्रवहति हुतभु**ङ्मण्डलं **दक्षिणे**, दक्षिणं च उभयोत्तरयोर्बाह्यं नासारन्ध्रभागमिति । **मूर्ध्नि वायु**मण्डलं वहति उभयोर्नासापुटयोः, **मध्ये व्योमद्वयो**र्नासापुटयोः पृथ्व्यप्तेजोवायुमण्डलमध्ये व्योममण्डलं वहति; वामलग्नसञ्चारे वामे, दक्षिणलग्नसञ्चारे दक्षिणे मण्डलप्रवाहः । द्वयोर्नासापुटयोः पुनर्यौगपद्येन[2] **विषुवं** ज्ञानमण्डलं वहति प्राणशक्तिरिति । **भिन्दन्त्येतानि** नाभिहृत्कण्ठललाटोष्णीषनासापुटमण्डलानि **भिन्दन्ती** दण्डराशिप्रहरनक्षत्रतिथि[3]सन्ध्यामण्डलभेदैरिति । **शक्तिः** प्राणशक्ति**र्व्रजति परपदं** निरालम्बं **द्वादशान्तं** द्वादशाङ्गुलान्तमिति, **कलान्तं** षोडशकलान्तमिति । इह पृथिवीमण्डलप्रवाहवायुर्नासापुटात् द्वादशाङ्गुलं व्रजति, ततो निवर्तते; उदकमण्डलवायुस्त्रयोदशाङ्गुलं व्रजति, ततो निवर्तते; तेजोमण्डलवायुश्चतुर्दशाङ्गुलं व्रजति, ततो निवर्तते; वायुमण्डलवायुः पञ्चदशाङ्गुलं व्रजति, ततो निवर्तते; शून्यमण्डलवायुः षोडशाङ्गुलं व्रजति, ततो निवर्तते; ज्ञानमण्डलवायुः पृथिवीमण्डलान्तेषु[4] मध्ये प्रविष्टा(ो) द्वादशाङ्गुलं वहति पुटद्वये, आकाशान्ते मध्यमा प्रविष्टा षोडशाङ्गुलं वहति । इह यदा बाह्ये वृद्धिं गच्छति, तदाऽध्यात्मनि ह्रस्वो भवति; यदा षोडशादौ बहिर्ह्रस्वो भवति वायुनाडीवशेन, तदा नाभौ वर्द्धन्ते चतुरङ्गुलानीति प्राणशक्तिप्रवाहनियमः ।

इदानीं क्षेत्रादय उच्यन्ते **क्षेत्र** इत्यादिना–

इह शरीरे क्षेत्रद्वयं बाहुसन्धिद्वये, उपक्षेत्रमुरुसन्ध(न्धि)द्वये, छन्दोहद्वयं उपबाहु-

१. क. ख. इन्द्रादिसंज्ञाभिः । २. क. ख. पुनर्योगपदेन । ३. क. ख. पुस्तके 'तिथि' इति नास्ति । ४, क, ख, ० मण्डलान्ते सा ।

सन्धिद्वये, उपच्छन्दोहं जानुसन्धिद्वये, मेलापकद्वयं करसन्धिद्वये, उपमेलापकं पादसन्धि-द्वये, श्मशानद्वयं करतलद्वये, उपश्मशानद्वयं पादतलद्वये, चतुर्महाश्मशानानि कराङ्गुलि-द्वये, उप(महा)श्मशानानि[1] चत्वारि पादाङ्गुलिद्वये इति क्षेत्रादिनि[103b]यमः।

इति श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां[2] लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां[3]
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
समुदयसत्यादिमहोद्देशो
द्वितीयः ॥ २ ॥

(३) चक्रवर्त्तिम्लेच्छयुद्ध-कालचक्रकुलतन्त्र-नाडीकुलोत्पत्ति-महोद्देशः

इदानीं चक्रवर्त्तिम्लेच्छयुद्धं स्वदेहे उच्यते चक्रीत्यादिना—

चक्री वज्री स्वदेहे सुरवरपतयो द्वादशाङ्गा निरुद्धाः
सम्यग्ज्ञानं हि कल्की गजतुरगरथाः किङ्करार्य्यप्रमाणाः।
प्रत्येकं रुद्रसंज्ञा प्रभवति हनूमान् श्रावकं प्राणिनां च
पापं म्लेच्छेन्द्रदुष्टस्त्वकुशलमपि(पथि) यत् क्रन्मतिर्दुःखदाता ॥४८॥

इह स्वदेहे मनुष्यदेहे यो बाह्ये चक्री प्रथमपटले उक्तः, स देहे वज्री चित्तवज्र इत्यर्थः। ये सुरवरपतयो द्वादश ईश्वरादयः, ते द्वादशाङ्गा निरुद्धा इति। यः कल्की सम्यग्ज्ञानं स्वदेहे हि[4] तस्माद्धेतोः। ये बाह्ये गजतुरगरथाः किङ्करा आर्य-अप्रमाणा[5]-श्चत्वारो देहे, ते[6] यो बाह्ये रुद्रः स देहे प्रत्येकज्ञानसंज्ञी; यो बाह्ये हनूमान् स स्वदेहे श्रावकज्ञानमिति स्वदेहे[7] महा[8]चक्री सपरिवारं कल्की च भवति। तथा यो बाह्ये म्लेच्छेन्द्रदुष्टोऽसौ पापचित्तं शरीरे। यो बाह्ये क्रन्मतिर्दुःखदाता अकुशलपथ इति देहे।

अश्वत्थामा त्वविद्या दनुबलसकलं मारपक्षश्चतुर्धा
संहारस्तस्य युद्धे भवभयनिधनं श्रीजयो मोक्षमार्गः।
कैलाशे (से) धर्मदानं भवभयहरणं द्रव्यपूर्णा च पृथ्वी
पुत्रो ब्रह्मासुरेशस्त्रिदशनरगुरोः पृष्ठतश्चाग्रतो यः ॥ ४९ ॥

मञ्जुश्रीर्लोकनाथस्त्रिभुवनविजयी श्रीरजो बोधिचित्तं
पृष्ठे ब्रह्मादिवंशा विविधमहितलेऽनेकबुद्धा विशुद्धाः।

---

१. भो. Ñe bahi Dur Khrod Chen po (उपमहाश्मशानानि)।

२. क. ख. मूल०। ३. क. ख. लघुतन्त्रराजकालचक्रटीकायां। ४. क. ख. ति।

५. क. ख. प्रमाणा; भो. Tshad Med pa (अप्रमाणा)। ६. भोटे नास्ति।

७-८. भोटे नास्ति।

एवं म्लेच्छेन्द्रयुद्धं भवति हि नियतं देहिनां देहमध्ये
मायारूपं तु बाह्ये खलु मखविषये म्लेच्छयुद्धं न युद्धम् ॥ ५० ॥

यो बाह्ये **अश्वत्थामा** स देहे **अविद्याप्रवृत्तिरिति**; यद् बाह्ये **दनुबलं** हस्त्यश्वपादातिकं स देहे **मारपक्षश्चतुर्धा**। **संहारस्तस्य युद्धे**, यो बाह्ये म्लेच्छेषु तत् स्वदेहे [104a] **भवभयस्य निधनम्**। **श्रीजयो** यो बाह्ये **महाचक्रिणः** कल्किनश्च स स्वदेहे **मोक्षमार्गलाभः**। यद् बाह्ये **कैलाशे(से) धर्मदानं** महाचक्रिणः तत् स्वदेहे **भवभयहरणम्**। या बाह्ये **द्रव्यपूर्णा धरित्री** सा शरीरे धातुसमूहो विशुद्धः। बाह्ये यौ **चक्रिणः पुत्रौ** ब्रह्मासुरेशावभूताम्, **पृष्ठतः** एकखण्डे धर्मदेशकः, **अग्रतोऽग्रखण्डे म्लेच्छधर्मक्षयार्थी**।

स **मञ्जुश्रीर्लोकनाथस्त्रिभुवनविजयी** तत् स्वदेहे **रजो बोधिचित्तं** सुखदमिति प्रणिधानचित्तं प्रस्थानचित्तं च। **पृष्ठे खण्डे ये ब्रह्मादिविविधवंशास्ते** स्वदेहे **अनेकबुद्धा विशुद्धाः** स्कन्धधात्वायतनस्वभावा इति **म्लेच्छेन्द्रयुद्धं भवति हि नियतं देहिनां देहमध्ये**। **मायारूपं तु बाह्ये** खलु **मखविषये म्लेच्छयुद्धं न युद्धमिति**। अस्य विस्तरो वक्ष्यमाणे पञ्चमपटले परमाक्षरज्ञानसिद्धौ वक्तव्य इति।

इदानीं मध्यमा त्रिपक्षं त्रिवर्षभेदैस्त्रिकुलादितन्त्रभेदः समाजादिक उच्यते **कालाब्द** इत्यादिना—

कालाब्दे वह्निसंख्येऽब्ददिनगणहते षट्कुलं चायनाङ्कात्
षट्त्रिंशन्मासभेदाद् रसगुणितरसाद् योगिनीनां कुलानि।
वारच्छेदेन लब्धा प्रकटितनियता देवताः कालचक्रे
पक्षच्छेदेऽभिधानं भवति नरपते देवतादेवतीभिः ॥ ५१ ॥

इह **कालाब्दे** मध्यमा[1]नाडोवर्षे **वह्निसंख्ये** त्रिवर्षसंख्ये अ[104b]**ब्ददिनगणहते** षष्ट्युत्तरत्रिशतदिनैर्हते सति अशीत्युत्तरसहस्रो दिनगणो भवति। तदेव त्रिवर्षं त्रिकुलं कायवाक्चित्तकुलवर्षभेदेन सत्त्वरजस्तमःस्वभावमिति। ततो दिनगणा**दयन**भेदेन अशीत्युत्तरशतभागेन लब्धानि **षट्कुलानि** भवन्ति। पुन**र्मासभेदेन** ततो दिनगणात् T 305 त्रिंशद्भागेन लब्धानि **षट्त्रिंशत् कुलानि** भवन्ति। **रसगुणितरसा**दिति षड्भिर्गुणिताः षट्त्रिंश**द्योगिनीनां कुलानि**। एवं योगिनीनामु[2]पायानामिति। ततोऽशीत्युत्तरसहस्रदिनगणात् **वारच्छेदेन लब्धा प्रकटितनियता देवता कालचक्रे** माण्डलेया इति। चतुःपञ्चाशदधिकशतं शेषं प्रज्ञोपाययुगलम्; एवं षट्पञ्चाशदधिकशतं **कालचक्रम्**; सप्तभागावशेषं कुलिकास्थानाधिदैवं देवतादेवीचक्रं कुलिकालक्षणमिति; पुनस्तस्मात् पूर्वदिन-

---

१. क, ख, ग. पुस्तकेषु 'मध्यमाया' इति दृश्यते; किन्तु 'मध्यमा' इत्येव सम्यक् प्रतीयते; भो. rTsa dBu Maḥi Lo (मध्यमानाडोवर्षे)।

२. भो. rnal ḥByor pa rNam Kyi ḥo (योगिनाम्)।

गणादशीत्युत्तरसहस्रात् **पक्षच्छेदेऽभिधानमिति** पञ्चदशभागेन लब्धाभि**र्देवतादेवतीभिर-भिधानं** भवति। कालचक्राधिपतिमिथुनेन सार्द्धं द्वासप्ततिदेवतादेवतीलक्षणमिति त्रिवर्षभेदैर्योगिनीतन्त्रनियमः; लोकसंवृत्या त्रिकुलषट्कुलषट्त्रिंशत्कुलानि **योगिनीतन्त्र** इति **योगिनीतन्त्रनियमः**।

मायाजालं दिनाङ्गास्त्रि(ङ्गात् त्रि)विधमपि भवेद्रन्ध्रवेदैश्च सम्यक्
भूतो भूतार्णवैः स्याच्छिखिजलनिधिभिः श्रीसमाजर्तुभेदः।
तत्त्वाख्यं षड्भिर्हीनं त्वपरमपि तयोरर्धभेदैर्विभिन्नो-
भूयो मिश्रो द्विभेदस्त्रिदशनवदिशाभिश्च रन्ध्रैः सतत्त्वैः ॥ ५२ ॥

इदानीं क्रियायोग-योगतन्त्राणि त्रिषट्प्रकारभेदेनोच्यते(न्ते) **मायाजालमि-त्यादिना**—

इह मध्यमात्रिपक्षदिनानि पञ्चचत्वारिंशद्दिनानि द्वादशगुणितानि तानि दिनाङ्गानि चत्वारिंशदधिकपञ्चशतसंख्यानि[1] भवन्ति प्रतिदिनद्वादशलग्नभेदादिति। तस्माद् **दिनाङ्गात्** चत्वारिंशदधिकपञ्चशताद्[2] व्यवकलितं **मायाजालं त्रिविध-मपि भवेत्**, एकं **रन्ध्रवेदैरे**कोनपञ्चाशद्भिर्देवतायुग्मैर्भवति, **भूतो** द्वितीयं **भूतार्णवैः स्यादिति** पञ्चचत्वारिंशद्भिर्युग्मैर्देवतानां भवतीति। अपरं **शिखिजलनिधिभिः** त्रयश्च-त्वारिंशद्भिर्देवतायुग्मैरिति। अतो **दिनाङ्गाद्**[3] व्यवकलितस्त्रिभे[105a]दैः सप्तत्रिंशद-धिकशतसंख्या भवन्ति, द्विगुणदेवतादेव्यः चतुःसप्तत्यधिकद्विशतसंख्या भवन्ति, इति **मायाजालनियमः**। अस्य प्रपञ्चार्थः पञ्चमपटले वक्तव्य इति मायाजालक्रियायोगतन्त्र-नियमः।

इदानीं षट्प्रकारः समाजभेद उच्यते—

तस्मात् व्यवकलितावशेषाद् दिनाङ्गात् **श्रीसमाजर्तुभेद** इति। **तत्त्वाख्यमिति** पञ्चविंशत्यात्मकम्, तस्माद् दिनाङ्गात् पञ्चविंशद्भिर्व्यवकलितैर्देवतायुग्मैर्भवति। अपर-मतः पञ्चविंशतिः **षड्भिर्हीनमे**कोनविंशत्यात्मकम्, एकोनविंशतिभिर्देवताभिर्व्यवक-लितैरिति। **अपरमपि तयोः** पञ्चविंशत्येकोनविंशत्यात्मकयो**रर्धभेदैर्विभिन्नो** भेदो भवति। पञ्चविंशत्यर्धः सार्द्धद्वादशैकोनविंशत्यर्द्धः सार्द्धनव, अतोऽर्द्धः सार्द्धं द्वादशे प्रविशति। तत्र एकोनवात्मकः समाजः, अपरस्त्रयोदशात्मकः। **भूयो**ऽपरो **मिश्रो द्विभेदो** भवति **समाजः**। **त्रिदश** इति त्रयोदश। **नवदिशा** एकोनविंशतिः। एभिस्त्रिदशनव-दिशाभिश्च द्वात्रिंशद्भिर्देवतायुग्मै **समाजो** भवति; **रन्ध्रैर्नवभिः सतत्त्वैः** पञ्चविंशद्भिः सहः द्वितीयः **समाजः** चतुस्त्रिंशद्भिर्देवतायुग्मैर्भवति। एवं समाजः षड्भेदभिन्नः।

१–२. क. पुस्तके '०'संख्यानि' इत्यारभ्य ०'पञ्चशताद्' यावत् नास्ति।
३. क. दिनाङ्गा।

एषु षट्सु तन्त्रराजेषु द्वात्रिंशदधिकशतदेवतायुग्मैः संख्या द्विगुणिता देवता-देवतीसंख्या चतुःषष्ट्यधिकद्विशता इति। एवं समाजमायाजालेषु नवसु तन्त्रराजेष्वधिपतियुग्मेन सार्द्धं चत्वारिंशदधिकपञ्चशत[1] दिनाङ्कसंख्या देवतादेवत्यो भवन्ति। एषु तन्त्रेषु स्कन्धधात्वायतनचन्द्रसूर्यचरणनिष्पत्तिभेदेन भेदो गर्भे यथा तथा पञ्चमपटले आसनभेदेन वक्तव्य इति **योगतन्त्रनियमः**।

इह गर्भे जातकस्य स्कन्धधातुनिष्पत्त्या नवात्मकः **समाजः**, तथा स्कन्धधातुसहजधर्मसम्भोगनिर्माणचक्रे निष्पत्त्या त्रयोदशात्मकः, तथा स्कन्धधातुचक्रविषयनिष्पत्त्या एकोऽनविंशत्यात्मकः, तथा स्कन्धधातुचक्रविषयषट्नेत्रादिनिष्पत्त्या पञ्चविंशत्यात्मक इति। तथा स्कन्धधातुचक्रविषयेन्द्रियकर्मेन्द्रियगुह्योष्णीषकमलनिष्पत्त्या द्वात्रिंशदा-[105b]त्मक इति। तथा स्कन्धधातुषट्चक्रविषयेन्द्रियकर्मेन्द्रियदिव्येन्द्रियानन्दोपेत्या (आनन्दानुपेत्य) चतुस्त्रिंशदात्मकः **समाज** इति। गर्भाधानात् षोडशवर्षाविधेर्यावत् षट्प्रकार उत्पादो बालानामिति **समाजनियमः** पञ्चमपटले विस्तरेण वक्तव्यः।

एवं **मायाजाले** स्कन्धधातवो नवलोमाद्यष्टधातवो द्वादशायतनानि चतुश्चक्रसहितानि वातपित्तश्लेष्मसन्निपातधातुसहितानि षट्कर्मेन्द्रियाणीति त्रयश्चत्वारिंशदात्मको **मायाजालः**। उष्णीषगुह्यकमलसहितं पञ्चचत्वारिंशदात्मकमिति रागद्वेषमोहमानेन सार्द्धमेकोनपञ्चाशदात्मकमिति **मायाजालनियमः** पञ्चमपटले विस्तरेण वक्तव्य इति **योगिनीयोगतन्त्रोत्पादनियमः**।

इदानीं बाह्याध्यात्ममुद्रोच्यते —

इह सर्वत्र हेतुना फलं मुद्रणीयम्, फलेन च हेतुर्मुद्रणीय इति। रजोधर्मित्वात् सूर्यः प्रज्ञाहेतुः, शुक्रधर्मित्वाच्चन्द्रः फलमुपायः। परापेक्षिकया शुक्रधर्मित्वाच्चन्द्रः प्रज्ञाहेतुः, रजोधर्मित्वादुपायः सूर्यः फलम्। एवं सर्वत्र प्रज्ञा शून्यताहेतुः, उपायः करुणाफलमिति।

चन्द्रांशे षड् दिना ये(नि) खलु दिवसगणे वारभागेन लब्धाः
षण्मुद्रा वज्रिणस्तास्त्वपरदिनगणः कायवाक्चित्तमुद्राः।
प्रज्ञाकाये त्रिलग्ना प्रकटितनियता योगिनी योगतन्त्रे
शक्तिः क्रोधाः क्रमेण प्रभवति दशकं पञ्चकं बुद्धदेव्यः॥५३॥

अत्र ये **चन्द्रांशे** पञ्चचत्वारिंशद्दिनगणास्तस्माद् **वारभागेन**[2] **लब्धाः षड् दिनानि षण्मुद्रा वज्रिणो** भवन्ति—चक्री कुण्डलं कण्ठिका रुचकं मेखला भस्मयज्ञोपवीतमिति, बाह्यमुद्रा कालचक्रस्य **अपरदिनगणम्**(:)। अवशेषं[3] त्रिसंख्यं **कायवाक्चित्तमुद्रा** अध्यात्मनि वज्रिण इति बाह्याध्यात्मनि नव मुद्रा वेदितव्याः। **प्रज्ञाकाये** प्रज्ञातन्त्रे उपायकाये उपायतन्त्रे **त्रिलग्ना** सत्त्वरजस्तमात्मकाः कायवाक्चित्तलक्षणा[4] इति **योगिनी योगतन्त्रे प्रकटितो** मुद्रानियमः। [106a]

---

१. ग. पञ्चाशत। २–३. ख. पुस्तके नास्ति। ४. क. कायवाक्लक्षणा।

इदानीं कालचक्रदेवतादेवीसंख्या उच्यते **शक्तीत्यादिना**—

इह षट्चक्रनाडीविश्वस्वभावो देवतागणः। **शक्तिः क्रोधाः क्रमेण प्रभवति दशकमिति** दश शक्तयो दश पारमिताः; उष्णीषादयो दशक्रोधा इति प्रत्येकं दशकम्। **पञ्चकं बुद्धदेव्य** इति अक्षोभ्यादयः पञ्च बुद्धाः, वज्रधात्वीश्वर्यादयः पञ्च देव्यः इति प्रत्येकं पञ्चकम्।

रूपाद्यक्ष्यादिषट्कं पुनरपि नृपते देववृन्दं द्विषट्कं
योगिन्यो नागचण्डाष्टकमिति भुवने सर्वमेतद् द्विगुण्यम्।
एतत् श्रीकालचक्रं चतुरधिकशतं तस्य चार्द्धं त्रिधातौ
सूर्यांशे या च षष्टिः प्रतिदिनघटिका निर्गता मासमध्ये ॥५४॥

रूपाद्यक्ष्यादिषट्कमिति। रूपवज्रादयः षट् क्षितिगर्भादयः षट्, एवं प्रत्येकं षट्कं **पुनर्देववृन्दं द्विषट्कमिति** इन्द्रादिकं द्वादशसंख्यम्, **योगिन्यो नागचण्डाष्टकमिति** T306 चर्चिकादीनामष्टकम्, अनन्तादीनामष्टकम्, श्वानास्यादीनामष्टकम्, एतत् समस्तं(ो) देवतागणम्(:) साधनापटले प्रत्येकं नामभेदैर्वक्तव्यमिति। **भुवन** इति बाह्येऽध्यात्मनि **सर्वमेतत्** पुनः प्रज्ञोपायभेदेन **द्विगुण्यम्; एतत् श्रीकालचक्रं चतुरधिकशतं तस्य चार्द्धं** द्वापञ्चाशद्देवतात्मकम्। एवं सूर्यचन्द्रभेदेन पुनस्तदेवैकत्वेन षट्पञ्चाशदधिकैकशतदेवात्मकं **कालचक्रं** वेदितव्यम् इति कमलकर्णिकास्थदेवतागणनियमः।

इदानीं चर्चिकादिकमलपत्रदेव्य उच्यन्ते—

सूर्यांशे द्वात्रिंशद्भागेन श्वासचक्रात् **प्रतिदिने घटिका**द्वयं यल्लब्धं **मासस्य मध्ये** त्रिंशद्दिनैः **षष्टि**नाड्यो भवन्ति कुलिकारूपिण्यः।

योगिन्यस्ताः समस्तास्त्रिभुवननिलये लग्नमिश्रा द्विगुण्या
सूर्यांशेऽह्नः प्रभिन्नं द्विगुणितमपि यद् योगिनीवृन्दमत्र [106b]।
पिण्डीभूताः समस्तास्त्रिगुणरविदिनास्साभिधाना भवन्ति
चन्द्रे पक्षप्रभेदो भवति दिनकरे वर्गभेदः समस्तः ॥५५॥

ताश्च योगिन्यो लग्नमिश्रा लग्नचतुःसन्ध्याकुलिका विमिश्रा चतुःषष्टिर्भवन्ति। ताश्च प्रज्ञोपायभेदेन **द्विगुणिता** अष्टाविंशत्यधिकशतसंख्या भवन्तीति। पुनः **सूर्यांशेऽह्नः प्रभिन्नं** षष्ट्युत्तरत्रिशतदिनप्रभिन्नं चैत्रादितिथिलक्षणं देवतागणम्। तदेव द्वादशलास्यादिभिः सहितं **द्विगुणितमपि** विंशत्यधिकसप्तशतसंख्यं देवतीवृन्दं भवतीति। **पिण्डीभूताः समस्ता** इति एता देव्यः **साभिधाना** द्वासप्ततिदेवताभिः सहिता मुद्राषट्केन सार्द्धं **त्रिगुणरविदिना** त्रिवर्षदिना अशीत्युत्तरसहस्रसंख्या इति त्रिवर्षदिनगणस्वभावा देवतादेव्यो वेदितव्या योगिनीतन्त्रे(इत्य)भिप्रायः। एवं **सूर्यवर्षप्रभेदो भवति शशधरे पक्षभेदः समस्तो** मायाजालसमाजयोर्नवधा चत्वारिंशदधिकपञ्चशतदेवतागणैरिति।

एवं तत्रादिबुद्धे स्वकरनृपतयोः देवतादेवतीनां
प्रज्ञोपायो निशाहो भवति हि समविभागोऽर्द्धरात्रे दिनार्द्धे ।
येन ज्ञातं स्वदेहे दिननिशिसमयैर्माससंक्रान्तिभेदैः
स श्रीमान् मञ्जुवज्रो भवभयमथनो जन्मनीहैव बुद्धः ॥५६॥

एवं सूर्यचन्द्रदेवतागणैरेकीभूतैश्चादिबुद्धं(द्धो) भवति । तस्मिन्नादिबुद्धे स्वकरनृपतयो विंशत्यधिकषोडशशतसंख्या इति, तेषां **देवतादेवतीनां प्रज्ञोपायं**(यो) **निशाह** इति । यथासंख्यं प्रज्ञा रात्रिभागः, उपायो दिवाभागः **समविभागो** मध्याह्ना-दर्द्धरात्रे अर्द्धरात्रान्मध्याह्ने सार्द्धत्रयोदशनक्षत्रैः दशाधिकाष्टशतदण्डै[107a]र्वा घटिका-भिर्वा निशाविभागः; एवं दिवाविभागः । **श्रीमान्न**(ति)क्षत्रमण्डले आदिबुद्धे देवतागणो नक्षत्रनाडीसंख्यात्मको भगवतोक्त इति । यथा बाह्ये नक्षत्रघटिकाभोगः सर्वग्रहाणाम्, तथाध्यात्मनि कायवाक्चित्तज्ञाने षडिन्द्रियधर्माणामिति । **येन ज्ञातं स्वदेहे** । एवमुक्त-क्रमैण प्रज्ञोपायात्मकं **येना**दिबुद्धं (इति) **स्वदेहे** ज्ञातम् । **दिननिशिसमयैः** सन्ध्याप्रहरादि-भेदैः **माससंक्रान्तिभेदै**र्द्वादशभिः स योगी **श्रीमान् मञ्जुवज्रो भवभयमथनो जन्मनीहैव बुद्ध** इति लघुतन्त्रमूलतन्त्रदेवतोत्पादनियमः ।

त्रिंशद्भागेन तस्मात् त्रिगुणितनियता देवताः कालचक्रे
मुद्राषट्कं च बाह्यं पुनरपि नियताश्चक्रनाड्यस्तथैव ।
उष्णीषे द्विः हृदोऽष्टौ शिरसि नृपतयो दन्तसंख्या च कण्ठे
नाभौ चाष्टाष्टगुण्या द्विगुणनृपतयो गुह्यमध्ये प्रसिद्धाः ॥५७॥

इदानीमतः परमादिबुद्धाल्लघुतन्त्रोत्पाद उच्यते **त्रिंशदि**त्यादिना—

इह परमादिबुद्धात् विंशत्यधिकषोडशशतात् **त्रिंशद्भागेन** लब्धाः चतुपञ्चाशद्-देवता भवन्तीति । पुनः कायवाक्चित्तगुणितास्त्रि**गुणा** द्वाषष्ट्यधिकशतं भवति । एषु माण्डलेयाश्चतुःपञ्चाशदधिकशतसंख्या मण्डलेसं(शं) प्रज्ञोपाययुग्मं **बाह्ये मुद्राषट्क**-मिति । **कालचक्रं** परमादिबुद्धान्निर्गतं दशभागेनेडादिसं(शं)खिन्यन्तनाडीभेदेनेति **बाह्यं** नेयार्थमिति लघुकालचक्रनियमः ।

इदानीं कालचक्रनाड्य उच्यन्ते **चक्रनाड्यस्तथैवे**त्यादिना—

इह शरीरे त्रिकुलनाड्यस्तिस्रः कायवाक्चित्तविन्दुधारिण्यः, **नाभौ** गुह्यवज्र-मणाविति तथा षट्कुलनाड्यो ललना-रसना-अवधूती-विण्मूत्र-शुक्रवाहिन्य इति । तथा षट्त्रिंशत् कुलनाड्यः **उष्णीषादिषट्चक्रनाड्यः** षट्, द्वे शब्दग्राहिण्यौ, द्वे स्पर्श-ग्राहि[107b]ण्यौ, द्वे रसग्राहिण्यौ, द्वे रूपग्राहिण्यौ, द्वे गन्धग्राहिण्यौ; एता दश-नाड्यः । नाभिचक्रमध्येऽपरमण्डलेषु द्वादशसंक्रान्तिनाड्यः, अष्टप्रहरनाड्यः । एवं सर्वाः षट्त्रिंशत् कुलनायिका भवन्ति—षड् रसरूपिण्यः, षड् धातुरूपिण्यः, षडिन्द्रियरूपिण्यः, षडविषयरूपिण्य, षट् कर्मेन्द्रियरूपिण्यः, षट् कर्मेन्द्रियविषयरूपिण्यः, एवं षड् रूपप्रवर्तिन्यः

षट् वेदनाप्रवर्तिन्यः, षट् संज्ञाप्रवर्तिन्यः, षट् संस्कारप्रवर्तिन्यः, षड् विज्ञानप्रवर्तिन्यः, षड् ज्ञानप्रवर्तिन्य इति षट्त्रिंशत् कुलनाड्योऽप्याधाराधेयसम्बन्धेन द्वासप्ततिरिति ज्ञेयाः। तथाह—**कालचक्रनाड्यः उष्णीषेऽद्रिरिति** चतुर्दलरूपिण्यः, चतस्र[1]श्चतुःसन्ध्याप्रवर्तिन्यः। **हृदोऽष्टौ** नाड्यो रोहिण्यादयः समानादीनामाधारभूताः। प्रत्यहं प्रहरभेदेन वाराष्टकवाहिन्यः। अत्राध ऊर्ध्वं द्विनाड्योराधेयो वायुरिति। **शिरसि नृपतयः** षोडशतिथिप्रवर्तिन्यः। **दन्तसंख्या च कण्ठ** इति कण्ठचक्रे अष्टाविंशति नक्षत्राणि, चत्वारि दण्डनक्षत्रप्रवर्तिन्यो द्वात्रिंशदिति। **नाभौ** नाभिकमले राशिनाडिकावाह्ये घटीनाड्यः **अष्टाभिरष्टगुणिता**श्चतुःषष्टिनाड्यः षष्टिमण्डलवाहिन्यश्चतुःशून्यप्रवाहिन्यः चतुःषष्टिदण्ड[2]प्रवर्तिन्य इति। **द्विगुणनृपतय** इति। द्वात्रिंशद्**गुह्यमध्ये** गुह्यकमलनाड्यः शुक्रादिद्वात्रिंशद्धातुप्रवर्तिन्य इति।

षण्णाड्यश्चक्ररोधा दशविषयहराः सन्निपातस्वभावा
भूयो भूयो द्विगुण्याः पुनरपि गुणिताः श्लेष्मपित्तानिलांशाः।
एता वै मृत्युनाड्यो गुरुनियमवशादायुरारोग्यदाश्च
षट्चक्रे वायुनाड्यो मरणभयहरा योगिनां नात्र चित्रम् ॥५८॥

एषु षट् नाड्यः षट् चक्ररोधा भवन्ति; **दश विषयहारिण्यो** भवन्ति। ताः **सन्निपातस्वभावा** इति ताः **पुनर्द्विगुण्याः** श्लेष्मांशाः विंशतिः **भूयो द्विगुण्या** पित्तांशाः चत्वारिंशद् भवन्ति, पुनरपि **अनिलांशा**स्ताऽशीतिर्भवन्ति, इति षट्पञ्चाशदधिकशतनाड्यः षट्चक्रेषु व्यवस्थिताः कालचक्रनाड्योऽवगन्तव्याः। **एता वै मृत्यु**[108a]**नाड्यो गुरुनियमवशादायुरारोग्यदाश्च**। **षट्चक्रे** कालनाड्य उक्ता **मरणभयहरा** गुरूपदेशेन भाविताः सत्यो **योगिनां नात्र चित्रम्**िति।

उष्णीषेऽब्धिर्ललाटे जलधिहतयुगाः श्लेष्मधातुप्रकोपाः
कण्ठे दन्ता हृदब्जे नयनहतयुगाः पित्तधातुप्रकोपाः।
नाभौ गुह्येऽब्धिषष्टिर्नृपतिरपि तथा वायुधातुप्रकोपा
गुह्येऽन्यादिक्षट्कं प्रकटितनियताः सन्निपाता निरोधाः ॥५९॥

उष्णीषेऽब्धिश्चतस्रः **जलधिहतयुगा** इति षोडश **ललाटे**, एता विंशति नाड्यः **श्लेष्मधातुप्रकोपा** इति। **कण्ठे दन्ता** इति द्वात्रिंशन्नाड्यः। **हृदब्जे नयनहतयुगा** इति अष्टनाड्यः, एताश्चत्वारिंशन्नाड्यः **पित्तधातुप्रकोपा** इति **नाभौ** च **गुह्ये** च यथासंख्यम् **अब्धिषष्टि**रिति चतुःषष्टिनाड्यः। **नृपतिरपि** गुह्यकमले बाह्ये परिमण्ले नाड्यः षोडश, एता अशीति नाड्यो **वायुधातुप्रकोपा** इति। **गुह्येऽन्यादिक्**[3] चेति[4] दश नाड्यो मध्यपरिमण्डले। अन्या **षट्** च गर्भपरिमण्डले यथासंख्यम्। **सन्निपाताः** सन्निपातप्रकोपा T 307

१. क. ख. ततः प्र। २. क. ख.० दल। ३–४. क.० दिश्चेति।

इति। **निरोधा** इति षट्चक्रनिरोधस्वभावाः। एवं षट्पञ्चाशदधिकशतकालचक्रनाड्यो देवतादेवतीस्वभावेनावस्थिता बालानां मृत्युदायिकाः, योगिनां सुखदायिकाः षड्कुलनाडीभिः सार्द्धं भाविताः सत्यः; द्वाषष्ट्यधिकशतं कालचक्रं षट्चक्रनाड्यात्मकमिति। तासु पुनर्द्वाषष्ट्यधिकशतनाडीषु प्रत्येकनाडी दशवायुप्रचारेण स्कन्धधातुदशस्वभावेन दशविधा भवन्ति। एवं सर्वा दशगुणिता विंशत्यधिकषोडशशतसंख्या भवन्ति सप्तविंशन्नक्षत्रघटिकावाहिन्यः। एवं श्रीमान्नक्षत्रमण्डलपरमादिबुद्धे एतावत्यो देवत्यः प्रज्ञोपायेनेति[1]। अतो विस्तरान्नक्षत्रमण्डलाल्लोकसंवृत्या श्लेष्मादिधातुवाहिन्यो [108b] देवता लौकिकसिद्धिसाधनाय च[2] शरीरसिद्धिसाधनाय वा मञ्जुश्रियोद्धृताः षट्चक्रनायिका इति कालचक्रनाडीसंक्र[3]नियमः।

इदानीं षट्कुलनाडीरक्षणमुच्यते षडित्यादिना—

षण्णाड्यश्चक्ररोधास्त्रिविधपथगताश्चन्द्रसूर्याग्निभेदै-
र्देहे ता रक्षणीयाः गुरुनियमवशान्मृत्युदाः प्राणिनां याः।
षट्सु प्राणप्रवेशो यदि भवति नृणां मृत्युहानिस्तदा वै
सूक्ष्मायां न प्रविष्टे ह्यमरणविषयश्छिद्यते योगिभिश्च ॥६०॥

इह शरीरे याः **षड् नाड्यश्चक्ररोधा** उक्तास्त्रिविधपथगताश्चन्द्रसूर्यराहुवामदक्षिणमध्यपथगताः, ऊर्ध्वमधोविण्मूत्रशुक्रपथगताश्चन्द्रसूर्याग्निभेदेनेति। **देहे ता रक्षणीया** योगिना; कुतः? **गुरुनियमवशा**दिति। गुरुनियमः षडङ्गयोगः, तेन मरणाद् रक्षणीया **मृत्युदाः प्राणिनां याः** षण्मासां प्राणप्रवेश इति। **षट्सु प्राणप्रवेशो यदि भवति नृणां** सर्वकालं **मृत्युहानिस्तदा वै** एकान्तमेषु षट्सु मध्ये सूक्ष्माऽवधूती मध्यमा, तस्यां **सूक्ष्मायां** प्राणे **न प्रविष्टे** सति **ह्यमरणविषयः च्छिद्यते योगिभिश्च**; अपि तु न च्छिद्यते मरणविषय इति।

इति मूलतन्त्रानुसारिण्यां लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायाम्
अध्यात्मनि चक्रवर्त्तिम्लेच्छयुद्ध-कालचक्रकुलतन्त्र-नाडीकुलोत्पत्ति-महोद्देशः
तृतीयः॥ ३ ॥

(४) अरिष्टमरणलक्षण-नाडीच्छेद-महोद्देशः

इदानीं देहिनामकालमरणलक्षणमुच्यते **प्राण** इत्यादिना—

प्राणो यद्येकनाड्यां वहति दिननिशं जीवितं कालवर्षम्
अव्युच्छिन्नैकपक्षं वहति यदि नृणां जीवितं सार्द्धवर्षम्।

१, क, प्रज्ञोपायेति। २, क, श्च। ३, क,० सम्वर।

अव्युच्छिन्नैकमासं वहति नरपते जीवितं च त्रिमासं
एवं योगी स्वेदेहे शशिगतिमरणं ज्ञायते कालचक्रे ।।६१।। [109a]

इह शरीरे नाभिचक्रं द्वादशारं राशिचक्रं मेषादिविषमलग्नात्मकमेकान्तरितम्। एवं वृषभादिसमलग्नात्मकमेकान्तरितं दलम्। अतः प्राणसञ्चारो नासापुटे विषमलग्नेषु मेषादिसु षट्सु वामे भवति। वृषभादिसमलग्नेषु दक्षिणनासापुटे प्राणसञ्चारो भवति। पञ्चपञ्चदण्डैर्द्वादशसंक्रान्तयः प्रत्यहं भवन्ति। एवमहोरात्रेण षष्टिदण्डैर्द्वादश संकान्तयः— षड् वामनासापुटे, षड् दक्षिणनासापुटे, मध्यमायां द्वादशप्रवेशेष्विति। धातुसमत्वं शरीरे रोगरहितानां रोगाभिभूतानां पुनर्वातपित्तश्लेष्मधातूनां वैषम्यम्। अतो वैषम्यात् प्राणस्य वैषम्यम्, तेन **अहोरात्रमेकरात्र्यां(नाड्यां)** वामायां यदि **वहति**, तदा **जीवितं कालवर्षम्**; मध्यमा वर्षशतपूर्णलक्षणं जीवितसंख्यं नराणां भवति। **अव्युच्छिन्नैकपक्षं यदि वहति**, तदा **सार्द्धवर्षमायुर्भवति**[1]; ततो मरणं गच्छति। **अव्युच्छिन्नं** निरन्तरं यदि **मासमेकं** वामनाड्यां वहति, तदा **जीवितं मासत्रयं भवति**। एवं **स्वदेहे योगिना शशिगतिमरणं ज्ञायते कालचक्रे** इति।

अत्रारिष्टविषये कालचक्रं द्वादशारं राशिचक्रं तदेव भूम्यां लिखित्वा प्रथमदलेऽरिष्टदिनं षट्त्रिंशदायुर्मासाः स्थापनीयाः। ततो मासमेकं न वहति, अरिष्टदिनवृद्धिः द्वितीयमासान्ते तृतीयमासप्रवेशे दिनद्वयं वहति वामनाडी तस्मिन्नेव पत्रे[2]। ततस्तृतीयमासं न वहति, चतुर्थमासान्ते पञ्चममासप्रवेशे दिनत्रयं वामनाडी(ड्यां)[3] प्राणो वहति। ततः पञ्चममासात् षष्ठे मासे न वहति। एवं षण्मासैररिष्टदिनास्त्रयः (दिनानि त्रीणि); मध्ये[4] दिनास्त्रयो (दिनानि त्रीणि); अन्ते सव्या वामारिष्टधर्मिणः। अरिष्टं नामाकालमरणम्; रिष्टं वर्षशतावधेर्मरणमिति। एवं षट्त्रिंशन्मासेभ्योऽरिष्टदिनसहितेभ्यो जीवितस्य षड् मासा गताः। ततस्तस्मिन् पत्रे प्रा[ण]वायोरसञ्चारः। एकादशसंक्रान्तिभिरहोरात्रं व्रजति षट्शताधिकैकविंशत्सहस्रश्वासप्रश्वासैरिति। अत्र श्वासचक्रस्योनता [109b] नास्ति राशिपत्रपरित्यागेऽपीति। ततो द्वितीयपत्रे चतुर्दिनं पञ्चदिनं[5] षड्दिते(नं) सप्तमे मासे अष्टमे नवमे च यथासंख्यं वहति। ततस्त्रिंशन्मासराशेरपरमासत्रयं जीवितस्य गतम्। ततः सप्तविंशन्मासान् गृहीत्वा तृतीये पत्रे प्राणः सञ्चरति, पत्रद्वयं त्यजति। दशसंक्रान्तिभिरहोरात्रं करोति, दशपत्रेषु संक्रमति प्राण इति। सप्तविंशतिमासेभ्यः प्रत्येकमासे पुनः सप्तदिनं वामनाडी वहति, अष्टदिनं नवदिनं वहति। ततो मासत्रयमपरमूनं भवति सप्तविंशतिमासेभ्यः। एवं पूर्वोक्तविधिना तृतीयं राशिपत्रं त्यजति। नवपत्रेषु संक्रमणं प्राणः करोति। एवं दशदिनमेकादशदिनं द्वादशदिनं वामनाड्यां वहति। ततश्चतुर्थं पत्रं त्यजति। तत[6]श्चतुर्विंशतिमासेभ्यो मासत्रयमूनं भवति जीवितस्य। एवं त्रयोदशदिनं चतुर्दशदिनं पञ्चदशदिनम्;

१. ख.० वंहति। २. क. ख. ग. यन्त्रे; भो. ḥDab ma La (पत्रे)। ३. भो. rTsar (नाड्यां)। ४. क. ख. सव्या०। ५. ग. पुस्तके नास्ति। ६. भोटानुवादे 'ततः' इति नास्ति।

ततः पञ्चमपत्रं त्यजति; सप्तपत्रेषु संक्रान्ति करोति; एकविंशतिमासेभ्यो मासत्रयमूनं भवति, तथा षोडशदिनं सप्तदशदिनमष्टादशदिनं प्रतिमासं वहति यथाक्रमम् । ततः षष्ठं पत्रं त्यजति; षट्पत्रेषु संक्रान्ति करोति; अष्टादशमासेभ्यो मासत्रयमूनं भवति जीवितस्येति । एवमेकोनविंशतिदिनं विंशतिदिनमेक[1]विंशतिदिनं वहति । ततः सप्तमराशिपत्रं त्यजति, प्राणः पञ्चराशिपत्रेषु संक्रमणं करोति अहोरात्रेणेति । ततः पञ्चदश- T 308 मासेभ्यो मासत्रयमूनं भवति जीवितस्य । एवं द्वाविंशतिदिनं त्रयोविंशतिदिनं चतुर्विंशतिदिनं निरन्तरं यदा[2] वहति, तदा अष्टमपत्रं त्यजति, चतुर्षु संक्रान्ति करोति, द्वादशमासेभ्यो मासत्रयमूनं भवति जीवितस्य । एवं पञ्चविंशतिदिनं षड्विंशतिदिनं सप्तविंशतिदिनं यदा वहति, तदा नवमं पत्रं त्यजति, पत्रत्रये[3] संक्रमणं करोति, नवमासेभ्यो मासत्रयमूनं भवति जीवतस्येति । तथा अष्टाविंशतिदिनमेकोनत्रिंशद्दिनं त्रिंशद्दिनं यदा वहति, तदा दशमं पत्रं त्यजति, पत्रद्वये संक्रान्ति करोति, षण्मासेभ्यो मासत्रयमूनं भवति जीवितस्य । [110a] तथैकत्रिंशद्दिनं द्वात्रिंशद्दिनं त्रयस्त्रिंशद्दिनं यदा वहति, तदा एकादशमं पत्रं त्यजति, एकपत्रे संक्रान्तिं करोति, त्रिमासेभ्यो नवतिदिनानि ऊनानि भवन्ति जीवितस्येति । ततः पूर्वपत्रे अवाहितदिनत्रयं द्वादशमे पत्रे दिन द्वयं वहति । ततो द्वादशमं पत्रं त्यजति, ततः कर्णिकायामेकदिनं वहति, यावत् प्राणचक्रश्वासविच्छेदो भवति । ततो वामनाड्यरिष्टेन मरणं यान्ति अयोगिनो ये नरा इति वामनाड्यां चन्द्रारिष्टनियमः ।

सत्त्वरजस्तमोभेदेन प्रतिमासे[ऽ]रिष्टदिनवृद्धिरेकोत्तरेणेति । अत्र राशिचक्रन्यासः—राशिचक्रं द्विपुटं कृत्वा प्रथमपुटे अरिष्टदिनानि, अपरपुटे अरिष्टदिनशेषा आयुर्मासा इति । अत्र प्रथमचक्रारे अरिष्टदिनानि त्रीणि, मासास्त्रिंशत्, द्वितीयपुटे अरिष्टदिनानि षट्, शेषा आयुर्मासाः सप्तविंशत्(तिः) । एवं तृतीये आरे अरिष्टदिनानि नव, तथा मासाश्चतुर्विंशतिः; चतुर्थे दिनानि द्वादश मासा एकविंशतिः; पञ्चमे दिनानि पञ्चदश, मासा अष्टादश; षष्ठे दिनानि अष्टादश, मासाः पञ्चदश; सप्तमे दिनान्येकविंशतिः, मासा द्वादश; अष्टमे दिनानि चतुर्विंशतिः, मासाः नव; नवमे दिनानि सप्तविंशतिर्मासाः षट्; दशमे दिनानि त्रिंशत्, मासास्त्रयः; एकादशमे चक्रारे अरिष्टदिनानि त्रयस्त्रिंशत्; अवसाने त्रिमासक्षयः ।[4] ततः पूर्वमनारूढं दिनत्रयं प्रथमराशौ चक्रारे पत्र-(यद्) दिनद्वयं द्वादशमे पत्रे दक्षिणनाड्यां वहति दक्षिणनाडीधातुक्षयार्थम्; दिनमेकं मध्यमायामवधूत्यां वहति श्वासचक्रक्षयार्थम् । ततः प्राणोत्क्रान्तिश्चन्द्रारिष्टे वामनाड्यामिति चन्द्रारिष्टनियमः ।

[110b] इदानीं सूर्यारिष्टं दक्षिणनाड्यामुच्यते **पञ्चभ्य** इत्यादिना—

पञ्चभ्यः पञ्चविंशद्दिवसगतिरुहारोहते पञ्चवृद्ध्या
तस्मादेकोत्तरेण त्रिगुणितदशकं त्र्युत्तरं यावदेव ।

---

१. ख. विंशतिएक० । २. क. ख. पुस्तकयोर्नास्ति । ३. क. ख. पत्रद्वये । ४. क. ख. त्रिमासद्वयं ।

कालें पौष्णे समस्तास्त्रिनयनशशिनः षट् त्रियुग्मेन्दवो ये
मासास्तेऽहानिशेषास्तिथिदिगिषुगुणा द्वीन्दवो जीवितस्य ॥ ६२ ॥

इह शरीरे चन्द्रः सूर्यगुणान् सत्त्वरजस्तमो गृहीत्वारिष्टदिनानि दर्शयति; सूर्यश्चन्द्रगुणान् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् गृहीत्वा ह(ह्य)रिष्टदिनानि दर्शयति। पञ्चपञ्चोत्तरेण पञ्चराशिं यावत्, ततो राशिद्वयमेकोत्तरेण, ततो मूलादारभ्य त्रयस्त्रिंशद्दिनानि आरोहति, पञ्चदशदिनैरष्टमराशिं त्यजति, दशभिर्नवराशिं त्यजति, पञ्चभिर्दशमराशिम्, त्रिभिरेकादशराशिम्। एवं त्रयस्त्रिंशद्दिनानि दक्षिणनाड्यां प्राण आरोहते। ततो द्वादशराशौ दिनद्वयं वामनाड्यां वामनाडीधातुक्षयार्थम्, दिनमेकं मध्यनाड्यां श्वासचक्रक्षयार्थम्, ततो मरणं गच्छतीति। तद्यथा **पञ्चभ्योऽवधि-दिनेभ्यः पञ्चविंशतिदिनानि यावद् दिवसगतिरुहारोहते पञ्चवृद्ध्या।** पञ्च दश पञ्चदश विंशति पञ्चविंशति जन्मनः पञ्चराशिषु। **तस्मादेकोत्तरेण** षट्विंशत्सप्तविंशद्दिनानि षष्ठे सप्तमे राशौ यथाक्रमं सत्त्व[र]जसोः क्षयार्थम्। ततः **काले पौष्णे** सति **त्रिगुणितदशकम्** अष्टमे नवमे दशमे राशौ **रोहते** प्राणः; ततः एकादशे **त्र्युत्तरं** मासं भवति **यावदेव**। समा **(समस्ता)** वर्षाऽरिष्टदिनावशेषा राशिचक्रे जन्मराश्यादिषु द्वादशराशिषु **त्रिनयनशशिनः** जन्मराशौ त्रिवर्षा। अरिष्टदिनावशेषा द्वितीये द्विवर्षम्, तृतीये वर्षमेकमिति समारिष्टदिनावशेषा जीवितस्य। ततः **षट्त्रियुग्मेन्दवो ये** इति चतुर्थराशौ षण्मासास्ते, पञ्चमे त्रयो मासाः, षष्ठे मासद्वयम्, सप्तमेऽरिष्टदिनावशेषमासमेकं जीवितस्य। ततो जन्मस्थानात् सप्तमस्थानं **पौष्णं** गर्भजानामाधानमासं(सो) मकरः। तस्मात् सप्तमं प्राणजन्ममासं कर्कटश्चन्द्रनाडीवृद्धिपरित्यागात् द्वादशराश्यन्ते पुनर्मकरो भवति, त्रयोदशमासो गर्भाधानादिति। अतः कर्कटः प्राणस्य जन्मस्थानं न सूर्यस्यैवेति। तत उदयति। तस्माज्जन्मनो मकरोदये सप्तमे राश्युदये सूर्यस्यास्तमनं नाम **पौष्णकालः**। [111a] तस्मात् कालात् प्राणोऽवैवर्तिको भवति, शरीरे स्थिरीकर्तुं न शक्यते देवासुरैर्मनुष्यैः। रात्रिभागे चन्द्रोदयकाल इति; चन्द्रोदयो नाम शुक्रधातौ मृत्युप्रवेश इति। मृत्युरुदयो[1] न शुक्रधातोरिति, अरिष्टवायुप्रवेशादिति। ततः पौष्णकालात् शुक्रक्षयार्थं त्रयस्त्रिंशद्दिनानि प्राणो रोहते दक्षिणनाड्याम्; ततो दिनद्वयं वामनाड्याम्, दिनमेकं मध्यमानाड्यामिति[2]। **अहानि शेषाः, तिथिः** पञ्चदश, **दिगिति** दश, **इषुः** पञ्च, **गुणा** इति त्रयः, **द्वि** इति द्वे, एकदिनं **जीवितस्येति** सूर्यारिष्टे एकव्याख्याननियमः।

इदानीं द्वितीयव्याख्यानमुच्यते **स्वस्थानादित्यादिना**—

स्वस्थानाद् राशिचक्रं त्यजति परकला हानिशेषैश्च तुल्यै-
र्वर्षैर्मासैर्दिनैश्च त्रिनयनशशिभिः षट्त्रियुग्मेन्दुभिश्च।
पौष्णाद् वै हानि तुल्यैस्तिथिदिशि(गि)षु गुणैः कर्णिकायां प्रविष्टैः
षट्त्रिंशद्भिर्दिनान्ते भवति दिनकरारिष्टयोगेन मृत्युः ॥ ६३ ॥

---

१. क. मृत्योरुदयो। २. ग. मध्यमानामनाड्यामिति।

इह शरीरे नाभिकमले द्वादशनाड्यात्मकं राशिचक्रम्। तत्र जन्मस्थानं प्रथमराशिनाडीगर्भोत्पादस्य बालकस्य यल्लग्नं तदेव वृषभादिकं समनाडीस्वभावम्; तस्मात् **स्वस्थानाद् राशिचक्रं** द्वादशारं नाडीचक्रं षष्टिमण्डलात्मकं **त्यजति परकला** प्राणशक्तिः। **हानिशेषैश्च तुल्यैरिति** हानिरारोहणदिवसाः पञ्च दश पञ्चदश पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरिति **हानिः**; **शेषास्त्रिवर्षा**, द्वौ वर्षौ एकवर्ष[1] षण्मासाः त्रिमास(साः) द्वौ मासौ मासमेकमिति हानिशेश(षा)स्तैर्हानिशेषैः प्रथमं पत्रादिकं[2] यावत् सप्तनाडीपत्रं तावत् क्रमो **वर्षैर्मासैरिति त्रिनयनशशिभिवर्षैर्नाडीत्रयं** त्यजति, **षट्त्रियु-**
T 309 **ग्मेन्दुभिर्मासैः** सप्तनाडीं त्यजति। **दिनैश्च पौष्णात् वै हानितुल्यैः** पौष्णकालावधेर्जन्मस्थानात् सप्तमोऽर्कस्यास्तमनकालो रजस इति [111b], तस्मात् पौष्णात् तुल्यैरारोहणार्युदिनै राशिनाडीपरित्यागः प्राणशक्तेः **तिथिः** पञ्चदशदिनैः, **दिक्** दशदिनै**रिषुः** पञ्चदिनै**र्गुणै**रिति त्रिभिर्दिनैरेभिस्त्रयस्त्रिंशद्दिनैरष्टमीनाडीं नवमीनाडीं[3] दशमीनाडीमेकादशीञ्च राशिनाडीं पञ्चमण्डलवाहिनीं सूर्यप्रवाहेण त्यजति एकदक्षिणनाडीप्रवाहेण। द्वादशमी दिनद्वयेन वामनाड्यां मध्यमा[4]यामेकदिनेनेति **कर्णिकायां प्रविष्टः(ष्टैः)**। एवं पौष्णात् **षट्त्रिंशद्दिनैर्भवति दिनकरारिष्टयोगेन मृत्युर्नराणामिति** द्वितीयव्याख्याननियमः।

पूर्वे बाणाग्निलोकं त्यजति दिनगणं सूर्यवर्षत्रयस्य
तस्मात् सारोहणं वै शरयुगशिखिनं खाग्निचन्द्रं तृतीये।
नेत्राहिशैलबाणं वसुकरमपरं सप्तमे रोहणं च
तस्मात् तिथ्यादिसर्वं दिनगणमपि यत् कर्णिका यावदेव ॥६४॥

इदानी पत्रात्[5] पत्रे[6] त्रिवर्षाद् दिनत्याग उच्यते **पूर्वं** इत्यादिना—

इह राशिचक्रे जन्मलग्ननाडी **पूर्वं** इत्युच्यते; तस्मिन् जन्मलग्नपत्रे अशीत्युत्तरसहस्रदिनगणात् मध्ये **बाणाग्निलोक**मिति पञ्चत्रिंशदधिकत्रिंशद्**दिनगणं त्यजति** त्रिवर्षेभ्यः। ततस्तत्पत्रं शून्यीकृत्य द्वितीयपत्रे अवशेषदिनगणं गृहीत्वा प्राणशक्तिः प्रविशति, **तस्माद्** दिनगणात् **सारोहणं** पूर्वादपरपत्ररोहणदिनैर्दशभिः सार्द्धं **शरयुगशिखिनमिति** पञ्चचत्वारिंशदधिकत्रिशतदिनगणं त्यजति द्वितीयपत्रे। ततोऽवशेषं गृहीत्वा तृतीयपत्रे प्रविशति, द्वितीयं शून्यं भवति। पुनस्तत्रैव पञ्चदशारोहणदिनैः सार्द्धं सप्तत्यधिकशतदिनं तृतीयपत्रे त्यजति; अवशेषं गृहीत्वा चतुर्थे प्रविशति, तृतीयं शून्यं भवति। ततो विंशत्यारोहणदिनैः सार्द्धं **नेत्राहि**रिति द्व्यशीतिदिनगणं त्यजति चतुर्थपत्रे; अवशेषं गृहीत्वा पञ्चमे [112a] प्रविशति, चतुर्थं शून्यं भवति। पुनः पञ्चविंशत्यारोहणदिनैः सार्द्धं

---

१. क, ख. एकवर्षा। २. क. ख. पुत्रादिकं। ३. ख. पुस्तके नास्ति। ४. क. ख. मध्यमो। ५–६. क, ख. पत्रास्यते; भो. ḥDab ma bCu gÑis La (द्वादशपत्रे)।

शैलवाणं सप्तपञ्चाशद्दिनगणं त्यजति पञ्चमे[1] पत्रे[2]; अवशेषं गृहीत्वा षष्ठे प्रविशति, पञ्चमं शून्यं भवति। पुनः षड्विंशत्यारोहणदिनैः सार्द्धं अष्टाविंशतिदिनगणं त्यजति षष्ठे[3] पत्रे[4]। ततः सप्तमे पत्रे प्रविशति, षष्ठं शून्यं भवति। ततः **सप्तमे रोहणं** सप्तविंशतिदिनगणं त्यजति; अवशेषं षट्त्रिंशद्दिनगणं गृहीत्वा अष्टमे पत्रे प्रविशति, सप्तमं शून्यं भवति। ततोऽष्टमे पञ्चदशदिनं त्यजति; अवशेषमेकविंशद्दिनं गृहीतत्वा नवमे प्रविशति, अष्टमं शून्यं भवति। ततो नवमे दशदिनं त्यजनि; अवशेषमेकादशदिनं गृहीत्वा दशमे प्रविशति, नवमं शून्यं भवति। ततो दशमे पञ्चदिनं त्यजति; अवशेषं षड्दिनं गृहीत्वा एकादशे प्रविशति, दशमं शून्यं भवति। तत्र दिनत्रयं त्यजति; अवशेषं दिनत्रयं गृहीत्वा द्वादशमे प्रविशति, एकादशमं शून्यं भवति। तत्र दिनद्वयं त्यजति; अवशेषं दिनमेकं गृहीत्वा **कर्णिकायां** प्रविशति, द्वादशमं नाडीराशिपत्रं शून्यं भवति। एवमशीत्युत्तरसहस्रसंख्यैः सूर्यस्य मध्यमात्रिवर्षदिनैः प्राणशक्तिर्द्वादशारं राशिचक्रं त्यजति। ततः **कर्णिकायां** दिनमेकं मध्यमा(यां)[5] वहति। ततः श्वासचक्रं त्यक्त्वा विज्ञानं प्राणवायुना सार्द्धमन्यत्र षड्गतौ संक्रमणं करोति, इति सूर्यस्यारिष्टनियमः।

अत्र न्यासः — पूर्वन्यासवत् द्विपुटे वर्षभेदेन दिनत्यागभेदेनेति पूर्वपुटे अरिष्टदिनन्यासोऽपरपुटेऽवशेषायुर्दिनन्यासः। द्वितीयचक्रे दिनत्यागन्यासः, पूर्वपत्रेषु क्रमेण शून्यन्यास इति सूर्यारिष्टदक्षिणनाड्यां समलग्ने जातानां विषमलग्ने जातानां चन्द्रारिष्टमल्पायूनाम्, इति सूर्यारिष्टनियमः।

इदानीं मध्यमारिष्टं कालाब्दक्रमेण सूर्यस्य यद् बालजनैस्तीर्थिकैरुकसत्त्वानां व्यामोहजनकं वर्षशतावधेस्तस्य प्रतिषेध उच्यते—

इह तीर्थिकैः किलोच्यते—दक्षिणनाड्यां पञ्चनाडीप्रवाहेण व[112b]र्षशतमायुः, षष्ठनाडीप्रवाहेण नवतिवर्षाण्यायुः, सप्तनाडीप्रवाहेणाशीतिवर्षाण्यायुः, अष्टनाडीप्रवाहेण पञ्चाशद्वर्षाण्यायुः, नवनाडीप्रवाहेण त्रयस्त्रिंशद्[6]वर्षाण्यायुः, दशनाडीप्रवाहेण षड्विंशद्वर्षाण्यायुः, पञ्चदशनाडीप्रवाहेण चतुर्दशवर्षाण्यायुः, त्रिशन्नाडीप्रवाहेण द्वादशवर्षाण्यायुः, अहोरात्रप्रवाहेण दशवर्षाण्यायुः, द्विदिनप्रवाहेणाष्टवर्षाण्यायुः, त्रिदिनप्रवाहेण षड्वर्षाण्यायुः, चतुर्दिनप्रवाहेण पञ्चवर्षाण्यायुरिति; ततः पञ्चदिनप्रवाहेण त्रिवर्षाण्यायुरिति तीर्थिकानां नाडीश्वासनियमः दक्षिणमार्गे।

स एव न घटते युक्त्या विचार्यमाणः सर्वज्ञोक्त्या। इह नराणामरिष्टाभावे वामदक्षिणनाड्यां पञ्च समेषु विषमेषु लग्नेषु पञ्च दण्डानि प्राणवायुर्वहति। वर्षशतायुषः पुरुषस्य प्राणस्य वामे सव्ये सप्तवर्षाणि श्वासवृद्धिरयनभेदेन, ततः षष्टिवर्षाणि पाणीपलवृद्धिरयनवृद्धिभेदेन, ततस्त्रिंशद्वर्षाणि नाडीवृद्धिस्त्रिमासभेदेन, ततस्त्रिवर्षैस्त्रिपक्षाणि दिनभेदेन वृद्धिरिति कालवृद्धिन्यायः। अतो न्यायात् यस्याकालमरणं भवति गर्भोत्पादा-

---

१-२. क. ख. भो. पुस्तकेषु नास्ति। ३-४. क. ख. भो. पुस्तकेषु नास्ति।
५. भो. dBu mar (मध्यमायां)। ६. भो. Sum Cu (त्रिंशत्)।

द्वालस्य त्रिवर्षैः पञ्चवर्षैर्वा द्वा[१]दशवर्षैर्वा विंशत्यादिभिर्वा मरणम्, तस्य पञ्चनाड्युपरि षट्सप्तादिनाडीप्रवाहक्रमो निरर्थकः, गर्भोत्पादत्रिवर्षमरणावधेरिति। अत्र यदि मासादूर्ध्वं जातकस्य मरणं भवति, तदा जन्मदिनादारभ्य प्राणावायुः पौष्णकालात् तिथिदिगिषुगुणाद्यमारूढः। एवं द्विमासान्ते मरणं त्रिमासान्ते चतुर्मासान्ते षड्मासान्ते एकवर्षान्ते द्विवर्षान्ते त्रिवर्षान्ते गर्भोत्पादात्त्रयस्त्रिशद्दिनारोहणविलोमेन **यावत्** पञ्चदिनारोहणं दक्षिणनाड्यां शब्दादिपञ्चगुणक्षयभेदेन वामनाड्यां दिनमेकं सत्त्वादित्रिगुणक्षयभेदेनेति। एवं गर्भोत्पादात् प्रथमेऽपि मरणं ज्ञेयं कर्णिकायां प्राणप्रवेशादिति आहोरात्रतः, एवं तृतीये दिने मरणं द्वादशमे पत्रे प्राणोदयात्, एवं षष्ठे दिने एकादशे प[113a]त्रे प्राणोदयात्, एवमेकादशे दिने दशमे राशिपत्रे प्राणोदयात्, एवमेकविंशतिमे दिने नवमे राशिपत्रे प्राणोदयात्, एवं षट्त्रिंशतिमे दिने अष्टमे राशिपत्रे क्रमेण प्राणोदयात्। एवं
T 310 द्विमासे सप्तमे राशिपत्रे प्राणोदयात्, एवं त्रिमासे षष्ठमे[ष्ठे] पत्रे प्राणोदयात्, एवं चतुर्मासे पञ्चमे प्राणोदयात्, एवं षण्मासे विंशतिदिनैः चतुर्थपत्रे प्राणोदयात्, एवं सपक्ष[२]वर्षैके तृतीये प्राणोदयात्, द्विवर्षे दशदिनैः द्वितीये प्राणोदयात्, तृतीये[३] वर्षे[४] प्रथमे प्राणोदयात्, चतुर्थे वर्षे (न)[५] दिनन्यायः[६] गर्भोत्पादाच्छतवर्षावधिं यावदिति सूर्यारिष्टनियमः।

यथा सूर्यस्तथा सत्त्वादिगुणत्रयभेदेन गर्भोत्पादाच्चन्द्रारिष्टनियमः, तथा **कालोत्तरे**[७] ऊर्ध्वधीत्रे उत्क्रमीश्वरेण—

यथा वामा तथाऽवामा मध्यमा च तथैव च।
त्रिवर्षान्ते मखादा।

इति परसिद्धान्तेऽपि कुत्रचिन्नियमोऽस्तीतिचन्द्रसूर्यारिष्टनियमः।

एवं त्रिवर्षान्तमेकदिनमारभ्य बालस्य यन्मरणं चन्द्रमार्गे वा सूर्यमार्गे वा तदशीत्युत्तरसहस्रभेदभिन्नं प्रत्येकदिनमरणभेदेन, नात्र नियमो गर्भजानां कर्मणः। किन्तु नाडिकाश्वासप्रवाहेणारिष्टदिनैः प्राणसंख्या ज्ञायते। अतो(ऽ)रिष्टचक्रं मरणचक्रं राशिचक्रनाडीभ्यः प्राणस्य पञ्चमण्डलप्रवाहपरित्यागोऽनुक्रमेणेति। ततः कर्णिकायां प्रवेशस्तद्दिने मरणमिति न्यायः। इदं त्रिवर्षकाललक्षणं शतवर्षावधेर्मध्यमाप्रवाहेण सूर्यस्य परिकल्पितेन सर्वसत्त्वानां मरणं किल भगवतोक्तम्। तदेव चन्द्रस्य त्रिपक्षधर्मेण चन्द्रस्यारिष्टमरणं न स्यादिति। इह येन चन्द्रस्य धर्मेणारिष्टमरणं न भवति तेन बालैरप्रबुद्धैः प्रकल्पितम्। यथा वामनाड्यामरिष्टमरणं नास्ति चन्द्रधर्मतः दक्षिणायां सूर्यप्रवाहतोऽरिष्टमरणमुक्तं सर्वज्ञेनेति अज्ञानिनां वाक्यम्। इह त्रिवर्षाधिदेवः सूर्यशब्देन प्राणवायुश्चन्द्रशब्देनापानवायुस्त्रिपक्षाधिपतिः। अत्रेडापिङ्गलासुषुम्नामधि[113b]पतिः प्राणः सूर्यो नाभेरूर्ध्वं प्रवाहतः, अपानो विण्मूत्रचन्द्रनाडीनामधिपतिः नाभेरधः

---

१. ख. पुस्तके नास्ति। २. भो Phyogs Dan̊ bCas par (सपक्षे)। ३-४. ग. त्रिवर्षे। ५-६. भो. Rigs pa Ma yin (न दिनन्यायः)। ७, भो. Phyi ma (उत्तरे)।

प्रवाहतः। एवं चन्द्रस्याधो गुणत्रयम्, सूर्यस्योर्ध्वे पञ्चमण्डलविषयगुणपञ्चकम्। तेन त्रिगुणभेदेन वामे चन्द्रारिष्टम्, दक्षिणे पञ्चगुणभेदेन सूर्यारिष्टः, अधोर्ध्वनाड्योरिति चन्द्रसूर्यारिष्टनियमः।

इदानीं मध्यमापरिपूर्णकालमरणलक्षणमुच्यते कालाब्दमित्यादिना—

कालाब्दं यावदेका दिवसगतिवशाद् रोहते संक्रमन्ती
चन्द्राख्ये सूर्यमार्गे विषमसमदिनैरेकवृद्धचा क्रमेण।
भूयः संक्रान्तिभेदो विषमसमदिनैर्द्वादशारे करोति
सार्द्धं मासं हि यावत् त्रिगुणितदशकं जीवितं च त्रिरात्रम्॥ ६५॥

इह शरीरे नरनारीणां सत्त्वरजस्तमोभेदेन प्राणप्रवाहः। सार्द्धदशमासाधिक-षड्नवतिवर्षाणि यावद् वामदक्षिणे पञ्चमण्डलप्रवाहतः। त्रिवर्षत्रिपक्षाणि(न्) यावत् मध्यमकालः वर्षशतायुषां नराणामिति नियमः। तत्र वामदक्षिणमध्यमास्तिस्रो नाड्यः सत्त्वरजस्तमःस्वभाविन्यः; आसु मृत्युस्तमोनाडीप्रवाहसंख्यां गृहीत्वा प्राणापानस्वभावेन। वामायां दक्षिणायां **विषमसमदिने रोहते कालाब्दं** त्रिवर्षत्रिपक्षं यावत्। **दिवसगति-वशात्** दिवसाः पञ्चविंशत्यधिकैकादशशताः, तेषां गतिवशाद्यावद्वायुःक्षयो भवति तावदारोहते **संक्रमन्निति(न्ती)चन्द्राख्ये** वाममार्गे **सूर्यमार्गे** दक्षिणे **विषमसमदिनैरेक-वृद्धचा क्रमेणे**ति एकदिनं वामनाड्यां रोहते यदि मेषादिविषमलग्ने जन्मोऽ(ा)भूत्; दक्षिणे दिनद्वयमारोहते यदि वृषभादिसमलग्ने जन्मोऽ(ा)भूत्। ततो भूयः संक्रान्तिभेदं विषमसमदिनैर्वामारोहणावसाने दक्षिणारोहणावसाने च **करोति**[114a]आरोहणदिनमानेनेति। **द्वादशारे** राशिचक्रे **क्रमेण** पञ्चमण्डलपरित्यागाय वामनाड्यामाकाशादि-मण्डलक्षयार्थं संक्रान्ति करोति, दक्षिणनाड्यां पृथिव्यादिमण्डलक्षयार्थं करोति। अत्र वामे पञ्चदिनारोहणेन संक्रान्तिदिनैर्मेषादिविषमलग्नेषु षट्सु शून्यमण्डलप्रवाहं प्राण-वायुः त्यजति; दक्षिणे षट्दिनारोहणेन षट्संक्रान्तिदिनैर्वृषभादिसमलग्नेषु षट्सु पृथिवीमण्डलप्रवाहं त्यजति प्राणः। एवं वामनाड्यामेकादशदिनैर्वायुमण्डलं त्यजति, दक्षिणदलेषु द्वादशदिनैरुदकमण्डलं त्यजति। एवं सप्तदशदिनैर्वामदलेषु तेजोमण्डलं त्यजति; दक्षिणदलेषु अष्टादशदिनैस्तेजोमण्डलं त्यजति। भूयो वामदलेषु त्रयोविंशति-दिनैरुदकमण्डलं त्यजति; दक्षिणदलेषु चतुर्विंशतिदिनैर्वायुमण्डलं त्यजति। पुनरेकोन-विंशद्दिनैर्वामदलेषु षट्सु पृथ्वीमण्डलं त्यजति। दक्षिणे त्रिंशद्दिनैराकाशमण्डलं त्यजति। एवं विषमसमदिनैर्वामदक्षिणारोहणेनेति[1] त्रिंशद्दिनानां त्रिशत्संक्रान्तिदिनैर्द्वादशलग्न-नाडीदलेषु पञ्चमण्डलपरित्यागः। ततः एकत्रिंशद्दिनारोहणेन वामनाड्यां विषमदलेषु सत्त्वधातुक्षयः। एकत्रिंशत्संक्रान्तिदिनैरपि दक्षिणनाड्यां द्वात्रिंशद्दिनारोहणेन रजोधातुक्षयः। द्वात्रिंशत्संक्रान्तिदिनैरपि। ततस्त्रयस्त्रिंशद्दिनारोहणेन विषम-दलेषु तमोधातुक्षयः, त्रयस्त्रिंशत्संक्रान्तिदिनैरिति। एवं श्लेष्मनाडीक्षयः

१. क. ०णारोहेणेति।

सत्त्वधातुः, पित्तनाडीक्षयो रजोधातुः, वातनाडीक्षयस्तमोधातुरित्युच्यते। त्रयस्त्रिंशद्दिनारोहणेन[1] त्रयस्त्रिंशत्संक्रान्तिदिनैरिति। उभया(य)राशिसंक्रान्तिसंकलितैर्दिनैर्द्वाविंशदधिकैकादशशतदिनानि भवन्ति त्रिवर्षत्रिपक्षदिनत्रयोनानामिति[2] पञ्चमण्डलसत्त्वरजस्तमोनाडी(डि)काच्छेदः। प्राणवायोः स्थानपरित्याग इति। एवं **सार्द्धं मासं हि यावत्** त्रिवर्षदिनानि[3] प्राणारोहणेनेति। **ततस्त्रिदशकमपरं** गर्भाधानमासदि[114b]नगणं त्रिंशद्दिनात्मकं **जीवितस्य त्रिरात्रं** यावदिति दक्षिणानाड्यामारोहणं सर्वसंक्रान्त्यभावः, त्रयस्त्रिंशद्दिनानि यावत् स्कन्धधातूनां विच्छेदः। अत्र रूपादयः पञ्च स्कन्धाः, पृथिव्यादयः पञ्च धातवः, कायेन्द्रियाणि पञ्चेन्द्रियाणि, गन्धाद्याः पञ्च विषयाः, गुदाद्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, आलापादयः

T 3:1 पञ्च कर्मेन्द्रियविषयाः, एतेषां त्रयस्त्रिंशद्दिनैः च्छेदो भवति परस्परसंयोगाभावः, ततः एकदिनं मध्यमायां विशति[4] श्वासचक्रक्षयार्थम्[5]। षष्ठः स्कन्धः[6], षष्ठो धातुः, षष्ठमिन्द्रियम्, षष्ठो विषयः, षष्ठं कर्मेन्द्रियम्, षष्ठकर्मेन्द्रियविषयः, शुक्रच्युतिर्मरणान्ते भवतीति स्कन्धधात्वायतनविच्छेदनियमः।

इदानीं जातकानां मृत्युश्वासारोहणमुच्यते **श्वासानित्यादिना**—

श्वासांल्लिप्तांश्च नाडी दिननिशिसमयान् रोहते संक्रमेण
सप्ताब्दैश्चायनाङ्गादयनगतिवशात् षष्टिसंवत्सरैश्च।
त्रिंशद्वर्षैस्त्रिमासान् दिवसगतिवशात् कालवर्षैश्च पक्षै-
र्द्वात्रिंशत् सार्द्धभक्तैर्भवति दिनगणे रोहणं कालचक्रात् ॥ ६६ ॥

इह शरीरे श्वासचक्रं लिप्ताचक्रं घटिकाचक्रं दिनचक्रं यथा बाह्ये तथा देहेऽपि। तत्र[7] षट्श्वासात्मकं श्वासचक्रम्, षष्टिपाणीपलात्मकं पाणीपलचक्रम्, षष्टिघटिकात्मकं घटिकाचक्रम्; अशीत्युत्तरसहस्रदिनात्मकमरिष्टचक्रम्, षट्पञ्चा(श)दधिकैकादशशतदिनात्मकं कालमृत्युदिनचक्रमिति। एषु चक्रेषु मृत्युः श्वासरूपेण पाणीपलस्वभावेन घटिकास्वभावेन दिनस्वभावेनारोहति वामनाड्यां दक्षिणनाड्यां यथासंख्यमेकोत्तरेण। प्रथमं तावत् श्वासानारोहते। **सप्ताब्दैश्चायनांका(ङ्गा)**[8]**दिति**। इहोत्पन्नस्य यस्यारिष्टं वर्षंशतावधेर्नास्ति कालमरणं भविष्यति, तस्यायनद्वयं वाम[115a]नाड्यां दक्षिणनाड्यां पञ्चमण्डलवाहकः प्राणवायुर्वहति। ततस्तृतीयेऽयने वामनाड्यामाकाशमण्डले एकश्वासमारोहते, चतुर्थे न आरोहते, ततस्तृतीयवर्षे पञ्चमेऽयने दक्षिणनाड्यां पृथिवीमण्डले श्वासद्वयमारोहते, पुनः षष्ठेऽयने न आरोहते। ततः सप्तमेऽयने

---

१. ख. ०रोहणे। २. क. ख. त्रयोमानमिति। ३. क. ख. त्रिवर्षादिना; भो. Lo gSum Gyi Ñin Sag rNams (त्रिवर्षदिनानि)। ४. क. ख. विशवि। ५. क. ख. ०चक्रकुर्यार्थम्। ६. ग. स्कन्धार्थः। ७. क. त च। ८, भो. Yan Lag Las (अङ्गात्)।

वामनाड्यामाकाशमण्डले श्वासत्रयमारोहते, अष्टमे न। एवं नवमे न [द]क्षिणनाड्यां पृथिवीमण्डले श्वासचतुष्टयमारोहते, दशमे न। पुनरेकादशमे वामनाड्यां शून्यमण्डले पञ्च श्वासानारोहते, द्वादशमे न। ततस्त्रयोदशमेऽयने दक्षिणनाड्यां पृथिवीमण्डले षट् श्वासानारोहते, चतुर्दशमेऽयने न। एवं षट्श्वासैश्चक्रं तदेकं लिप्ता पाणीपलं वा भवति अत्र सार्द्धमासोनसप्तवर्षाणि। अतो[1]ऽवधेर्लिप्ताचक्रोर्ध्वं श्वासारोहणं न भवति। लिप्तास्वभावेन लिप्ता आरोहते **अयनगतिवशात् षष्टिसंवत्सरैश्चेति**। ततः सप्तवर्षादूर्ध्वमपरषष्टिवर्षाणि यावत् एकान्तरितायने नैकादिना विषमपाणीपलानि आरोहते।

एकोनषष्टिलिप्तान् यावद् वामनाड्यामाकाशमण्डले, दक्षिणनाड्यां पृथिवीमण्डले द्वितीयादिना समानि षष्टिपाणीपलानि यावत् षट्सु षट्सु दलेषु विषमसमलग्नस्वभावेष्विति। पाणीपलचक्रं षष्टिपाणीपलैः, तदेवैकघटिका भवति। अतः सप्तषष्टिवर्षावधेर्नाडी आरोहते, मृत्युनाडीस्वभावेनेति। **त्रिंशद्वर्षैस्त्रिमासादिति** पुनरेकनाडीमादिं कृत्वा वामनाड्यां दक्षिणनाड्यां विषमसमनाडीमेकान्तरितेनारोहते, अयनार्द्धं त्रिमासैर्वामनाड्यामाकाशमण्डले एकनाडीमारोहते, अपरत्रिमासैर्न। पुनरपरायनार्द्धं त्रिमासैर्दक्षिणनाड्यां पृथिवीमण्डले नाडीद्वयमारोहते। एवं त्रिभिर्मासैः षष्टिनाडीश्च वामदक्षिणं च षट्सु राशिदलेषु आकाशमण्डले पृथिवीमण्डले आरोहते, मृत्युर्नाडीस्वभावेनेति। अतः सार्द्धमासोनसप्तनवतिवर्षावधेर्नाडीचक्रमारोहते, तदेव दिनमेकं भवति[2]। ततो दिनस्वभावेन दिनचक्रं वामदक्षिणनाड्यां पूर्वोक्तेन क्र[115b]मेणारोहते, अतो **दिवसगतिवशात् कालवर्षैश्च पक्षैस्त्रिवर्षैः**। चकारात् त्रिपक्षैश्च, **त्रिंशद्भिरपरदिनैश्चे**त्यत्र मृत्युदिनारोहणसंख्या **द्वात्रिंशतः सार्द्धभक्तैः कालचक्रादिति**। पञ्चविंशत्यधिकैकादशशताल्लब्धं दिनगणं कर्णिकापर्यन्तं वेदितव्यम्। अत्रारोहणदिनानि लब्धानि सार्द्धद्वात्रिंशद्विभागेन चतुस्त्रिंशत्, घटिका षट्त्रिंशत्, पाणीपलानि पञ्चपञ्चाशत्, सार्द्धश्वासद्वयम्, एषु दिनमेकं कर्णिकायामवशेषं वामदक्षिणारिष्टो वेदितव्यः। प्रतिदिनारोहणं घटिकाधिकं भवति, अन्तिमारोहणं दक्षिणनाड्यामिति कालमृत्युनियमः।

इदानीं नाभिचक्रादिनाडिकाच्छेद उच्यते पक्ष इत्यादिना—

पक्षे पक्षे च नाडी नवहतभुजगाश्छिद्यते नाभिचक्रे
सन्धावेकैकनाडीं त्यजति शिखिदिनैः कर्मचक्रे क्रियाख्ये।
कण्ठे नक्षत्रनाडीस्त्यजति दिनदिने मासमध्ये क्रमेण
बिन्दुस्थं पक्षमध्ये त्यजति शशिपदं वारनाडी हृदिस्थः॥ ६७॥

अत्र नाभौ द्वादश राशिनाड्यः षष्टिमण्डलवाहिन्यः षष्टिः, **नवहतभुजगाष्टौ** नवभिर्हता द्वासप्ततिर्भवन्ति। अतो नवहतभुजगे **नाभिचक्रे पक्षे पक्षे च नाडी छिद्यते**। अत्र पक्षोऽष्टादशदिनैर्वेदितव्यः, तेन पक्षेण वामे शून्यादिमण्डलवाहिनी

---

१. ग. ततो। २. क. ख. वहति।

त्रिंशत् नाडीस्त्रिवर्षैस्त्यजति, दक्षिणे पृथिव्यादिमण्डलवाहिनी त्यजति त्रिंशदिति। एवं त्रिंशत्त्रिंशत्पक्षैः षष्टिः परित्यज्यन्ते(ज्यते) प्राणवायुनेति। सर्वत्र मण्डल-नाडीषु त्यक्त्वा षष्ठांशम्, त्रिवर्षपक्षैः पञ्चमण्डलवाहिनीं त्यजति। **सन्धावेकैकनाडीं त्यजति शिखिदिनैः कर्मचक्रे क्रियाख्ये** चेति। इह शरीरे कर्मचक्रं हस्तयोः षट्सन्धिषु, पा[116a]दयोः षट्सन्धिषु, द्वादशभेदभिन्नं द्वादशचक्रात्मकं द्वादशमासभेदतः। प्रत्येकसन्धिचक्रे त्रिंशन्नाड्यः, द्वादशसन्धिषु षष्ट्युत्तर-त्रिशतनाड्यः, तेषु दक्षिणस्कन्धबाहुसन्धौ मकरे त्रिंशन्नाड्यस्त्रिंशत्तिथिभेदतः; वामस्कन्धबाहुसन्धौ फाल्गुने त्रिंशन्नाड्यस्त्रिंशत्तिथिभेदतः। एवं दक्षिणोपबाहुसन्धौ चैत्रनाड्यः, वामोपबाहुसन्धौ वैशाखनाड्यः, दक्षिणकरोपबाहुसन्धौ ज्येष्ठनाड्यः, वामकरोपबाहुसन्धौ आषाढत्रिंशत्तिथिभेदेन त्रिंशन्नाड्य इति। हस्तयोः कर्मचक्रे षट्प्रकारेऽशीत्युत्तरशतनाड्यः षट्सन्धिषु। ततो दक्षिणोरुकटिसन्धौ श्रावणमासतिथि-भेदेन त्रिंशन्नाड्यः, वामोरुकटिसन्धौ भाद्रपदत्रिंशन्नाड्यः। एवं दक्षिणोरुजानुसन्धौ अश्विनत्रिंशन्नाड्यः, वामोरुजानुसन्धौ कार्तिकत्रिंशन्नाड्यः, दक्षिणपादजानुसन्धौ मार्गशीर्षत्रिंशन्नाड्यः, वामपादजानुसन्धौ पुष्यमासत्रिंशत्तिथिस्वभावेन त्रिंशन्नाड्यः।
T 312 एवं पादयोः षट्सन्धिषु कर्मचक्रे अशीत्युत्तरशतनाड्यः, कर्मचक्रं कर्मेन्द्रियक्रिया-प्रवर्तनादिभूतमिति। एतासु नाडीषु शिखिदिनैः प्रत्येकं त्रिभिस्त्रिभिर्दिनैरारोहणात्। एभिस्त्रिवर्षदिनैरशीत्युत्तरसहस्रसंख्यैः षष्ट्युत्तरत्रिशतनाडीस्त्यजति प्राणवायुः। **क्रियाख्ये** इति आदानगमनादिक्रियां करोतीति क्रियाख्यं हस्तपादाङ्गुलीपर्वसन्धिषु षष्टिषु थड्ना-(षड्ना)ड्यात्मकं चक्रं पृथिव्यप्तेजोवायुशून्यज्ञाननाडीस्वभावात्मकं प्रत्येकसन्धौ स्थितं षड्नाड्यात्मकमिति। षष्टिपर्वसन्धिषु षष्ट्युत्तरत्रिशतनाड्यः; तासु प्रत्येकनाडी त्रिभि-स्त्रिभिर्दिनैः परित्यजति यथा कर्मचक्रे। यदा दक्षिणकरोपबाहुसन्धौ त्रिंशन्नाडीं त्यजति, तदा दक्षिणकरे ऊर्ध्वपञ्चाङ्गुलीषु षट्षट्नाडीस्त्यजति। एवं त्रिंशन्नाडीं पञ्चाङ्गुलीषु त्यजति मासदिनैस्तिथिभिरिति। एवं वामे वेदितव्यम्। यदा दक्षिणबाहूपबाहुसन्धौ त्यजति, तदाङ्गुलीमध्यपर्वसन्धिषु त्रिंशन्नाडीं त्यजति। एवं वामेऽपि[1]। यदा दक्षि[116b]णस्कन्धबाहुसन्धौ त्यजति, तदाङ्गुल्यधःपर्वसन्धिषु त्रिंशन्नाडीस्त्रिं-शद्दिनैस्त्यजति नवतिदिनैः। एवं वामेऽपि ज्ञातव्यम्। यदा दक्षिणपादजानुसन्धौ त्रिंशन्नाडीः त्यजति, तदा दक्षिणपादाङ्गुल्यर्द्धपर्वसन्धिषु त्रिंशन्नाडी त्रिंशद्दिनैस्त्यजति। एवं वामेऽपि। यदा दक्षिणजानुसन्धौ त्यजति, तदाङ्गुलीमध्यपर्वसु त्रिंशन्नाडीस्त्यजति। एवं वामपदेऽपि ज्ञेयः। यदा दक्षिणकट्युरुसन्धौ त्यजति, तदा पादाङ्गुल्यधःपर्वसन्धिषु त्रिंशन्नाडीः त्यजति। एवं वामेऽपि ज्ञेयः।

इदानीं नाडीनामधिदैवाक्षराण्युच्यन्ते—

अत्र कवर्गो विलोमेनाकाशादिह्रस्वस्वरभिन्नो वामस्कन्धबाहुसन्धाविति। एवं दक्षिणस्कन्धबाहुसन्धौ ज्ञानादिदीर्घमात्राभिन्नः कवर्गः; वामे आकाशादिह्रस्वमात्रा-भिन्नश्चवर्गो बाहूपबाहुसन्धौ, ज्ञानादिदीर्घषण्मात्राभिन्नो दक्षिणे। वामे आकाशादि-षण्मात्राभिन्नः टवर्गः करोपबाहुसन्धौ, दक्षिणे ज्ञानादिमात्राभिन्नः[2]। एवं षण्मासा

---

१. ख. वामे। २. क. ख. ज्ञानमात्राभिन्नः।

उत्तरायणे इति। ततो दक्षिणकट्युरुसन्धौ ज्ञानादिदीर्घषण्मात्राभिन्नः[1] पवर्गो दक्षिणे, वामे आकाशादिह्रस्वमात्राभिन्नः। एवं जानूरुसन्धौ दक्षिणे ज्ञानादिषण्मात्राभिन्नतवर्गः, वामे ह्रस्वाकाशादिमात्राभिन्नः। एवं दक्षिणपादजानुसन्धौ ज्ञानादिदीर्घषण्मात्राभिन्नः सवर्गः, वामे ह्रस्वाकाशादिमात्राभिन्नो विलोमेनाकाशव्यञ्जनादिना। एवं प्रत्येकवर्गः त्रिंशदक्षरात्मा दीर्घह्रस्वभेदेन कर्मचक्रे द्वादशचक्रेषु त्रिंशदारेष्विति। ततः क्रियाचक्रेषु प्रत्येकं ककारादिव्यञ्जनं ज्ञानादिदीर्घ[2]षण्मात्राभिन्नम्; दक्षिणाङ्गुष्ठादिप्रत्येकसन्धिष्वङ्गुष्ठाधः पर्वसन्धौ षड्नाडिकात्मनि कव्यञ्जनं ज्ञानादिमात्राभिन्नम्; तर्जनीसन्धौ खकारः, मध्यमासन्धौ गकारः, अनामिकासन्धौ घकारः, कनिष्ठासन्धौ ङकारो ज्ञानादिदीर्घषण्मात्राभिन्न इति। वामकनिष्ठाधः पर्वसन्धौ ह्रस्वाकाशादिमात्राभिन्नो ङकारः, अनामिकासन्धौ घकारः, मध्यमासन्धौ गकारः, तर्जनीसन्धौ खकारः, अङ्गुष्ठसन्धौ ककारः ह्रस्वाकाशादिषण्मात्राभिन्न[3] इति। एवं दक्षिणे द्वितीयपर्वपंक्तौ अङ्गुष्ठादिके चवर्गः दीर्घस्वरभिन्नः, वामे ह्रस्वमात्राभिन्नः। एवं दक्षिणतृतीयपर्वपंक्तौ दीर्घस्वरभिन्नः टवर्गः[4], वामे ह्रस्वमात्राभिन्न इति। एवं दक्षि[117a]णपादाङ्गुलीपर्वेषु दीर्घमात्राभिन्नः पवर्गः, वामे ह्रस्वमात्राभिन्नः। दक्षिणमध्यपर्वेषु दीर्घमात्राभिन्नस्तवर्गः, वामे ह्रस्वाकाशादिमात्राभिन्नः। दक्षिण-ऊर्ध्वपर्वसन्धिषु दीर्घमात्राभिन्नः सवर्गः, विलोमेनाकाशादिषण्मात्राभिन्नो वामाङ्गुलीपर्वसन्धिष्विति प्रथमवर्षे, द्वितीये गुणवृद्धया भिन्नाः, तृतीये यणादेशादिभिर्भिन्नाः षड्वर्गा इति। अस्य विस्तारो वक्ष्यमाणे वक्तव्यमिति नेह प्रतन्यते।

कण्ठे नक्षत्रनाडीस्त्यजति दिनदिने मासमध्ये क्रमेणेति। कण्ठचक्रे अष्टाविंशन्नक्षत्राणां नाड्यस्तांस्त्यजन्ति अष्टाविंशतिदिनैः स्वरात्मकैः। **बिन्दुस्थं ललाटस्थं पक्षमध्ये त्यजति शशिपदं** चतुर्दशनाड्यात्मकं चतुर्दशदिनैश्चतुर्दशप्लुतस्वरैः। **वारनाडी अष्टदिनैस्त्यजति** विषयसत्त्वादिगुणैरिति गुह्यस्थस्त्रिंशद्व्यञ्जनात्मिका नाड्यस्त्यजति कालमरण इति नाडीच्छेदनियमः।

इदानीं कर्मचक्रेषु सूर्यस्वभावेन प्राणस्य क्रमोत्क्रमच्छेदो वर्गसंज्ञाभिर्नाडीनामुच्यते **वर्गेभ्य** इत्यादिना—

वर्गेभ्यः सस्वरेभ्यः क्रमति दिनकरश्चायनं राशिभेदैः
पश्चादेकोत्तरेणोत्क्रमति दिनदिने कालवर्षं हि यावत्।
छिन्नेऽब्दे पक्षमध्ये स्वरदिवसवशाद् रोहणं च क्ष(क्र)मश्च
निःश्वासोच्छ्वासहानिर्दिननिशिसमये जीवितस्यैकरात्रम्॥ ६८॥

---

१. क. ख. पुस्तकयोः 'षड्' इति नास्ति। २. ख. दीर्घः। ३. ग. पुस्तके 'षड्' इति नास्ति। ४. क. टकारः।

इह कर्मचक्रे द्वादशारे हस्तपादयोर्द्वादशसन्धिषु प्रत्येकं त्रिंशन्नाड्यात्मकं चक्रम्; तेषु द्वादशचक्रेषु माघमासादित्रिंशत्तिथ्यधिदैवेषु कादयः षड्वर्गाः विसर्गादिषट्दीर्घमात्राभिन्नाः संहारक्रमेण दक्षिणहस्तपादषट्सन्धिषु पृथिव्यादिव्यञ्जनधर्मेण, तथाकाशादिव्यञ्जनधर्मेण सृष्टिक्रमेण प्रत्याहारपाठेन ङादिना आकाशादिह्रस्वस्वरभेदभिन्ना वामहस्तपादयोः षट्सन्धिचक्रेषु षड्वर्गाः। तेभ्यो **वर्गेभ्यः सस्वरेभ्यः क्रमति दिनकरः** प्राणवायुर्मृत्युना सार्द्धं **चायनं राशिभेदैरिति**, अयनं प्रथममु[117b]त्तरायणं मकरादिकमाघमासादिकमिति, तदेवायनं दक्षिणवामभुजयोः षट्सन्धिचक्रेषु भ्रमति। तथा क्रियाचक्रे हस्ताङ्गुलीत्रिंशत्पर्वसन्धिषु चक्रेषु षड्नाड्यात्मकेषु प्रत्येकैकाङ्गुलीपर्वचक्रे कादिव्यञ्जनं षड्दीर्घमात्राभिन्नं दक्षिणकराङ्गुलीपर्वसन्धिचक्रेषु चरति, संहारक्रमेण; वामे सृष्टिक्रमेणाकाशादिव्यञ्जनमाकाशादिस्वरभिन्नम्। एवं दक्षिणायनं पादयोः षट्सन्धिचक्रेषु कर्माख्येष्विति अङ्गुलीपर्वेषु क्रियाख्येष्विति।

T 313 अत्र माघे मकरसंक्रान्तौ तिथिभेदेन चन्द्रः, संक्रान्तिवारभेदेन सूर्यारोहणं ज्ञेयम्। यत्र सूर्यो वर्धते, तत्र चन्द्रक्षयः; यत्र चन्द्रो वर्धते, तत्र सूर्यक्षय इति। एवं मकरादौ[1] सूर्यवृद्धिः, मकरे दक्षिणस्कन्धबाहुसन्धिचक्रे त्रिंशन्नाडीषु त्रिंशत् कादयो दीर्घमात्राभिन्नाः। संज्ञाधर्मिणोऽर्थिदेवाः, प्राणधर्मिण इति प्रथमनाड्यां क्काः। एवं सर्वपर्वेषु त्रिषु त्रिषु यथाक्रमं वर्णाः; तद्यथा—क्काः क्क्लॄ क्कॄ क्कू क्की क्का इति प्रथमषड्नाडीषु; एवं दक्षिणाङ्गुष्ठपर्वाधःसन्धौ षड्नाडीषु क्रियाचक्रे। एवं[2] ख्खाः ख्ख्लॄ ख्खू ख्खॄ ख्खी ख्खा इति कर्मचक्रे द्वितीयषड्नाडीषु क्रियाचक्रे तर्जन्यधःपर्वसन्धौ षड्नाडीषु। तथा ग्गाः ग्ग्लॄ ग्गू[3] ग्गॄ ग्गी ग्गा इति कर्मचक्रे तृतीयषड्नाडीषु क्रियाचक्रे मध्यमाधःपर्वसन्धौ षड्नाडीषु। एवं घ्घाः घ्घ्लॄ घ्घू घ्घॄ घ्घी घ्घा इति कर्मचक्रे चतुर्थे षड्नाडीषु, क्रियाचक्रे ऽनामिकाधःपर्वसन्धौ षड्नाडीषु। एवं ङ्ङाः ङ्ङ्लॄ ङ्ङू ङ्ङॄ ङ्ङी ङ्ङा इति कर्मचक्रे पञ्चमे षड्नाडीषु, क्रियाचक्रे कनिष्ठाधःपर्वसन्धौ षड्नाडीषु। एवं षड्भिः षड्भिर्दिनैः पृथिव्यादिकं मण्डलं सूर्यस्त्यजति। त्रिंशद्दिनैः पञ्चमण्डलानि त्यजति, ततो वामनाड्यां कुम्भे संक्रामति।

तत्राकाशादिक्रमः। कवर्गः कर्मचक्रे क्रियाख्ये चेति। अत्र फाल्गुने कुम्भसंक्रान्तौ वामस्कन्धबाहुसन्धौ कर्मचक्रे त्रिंशन्नाडीषु ङकारादीनि व्यञ्जनानि ह्रस्वाकाशादिस्वरभिन्नान्याकाशमण्डलादिना; तद्यथा—ङ ङि ङृ ङु ङ्लृ ङं इति प्रथमषड्नाडीष्वाकाशादिषण्मण्डललक्षणेषु क्रियाचक्रे वामकनिष्ठाधःपर्वसन्धौ षड्नाडीषु। एवं घ घि घृ घु घ्लृ घं इति द्वितीयषड्नाडीषु वायुमण्डलस्वभावा स्वकर्मचक्रे क्रियाचक्रे अनामिकाधःपर्वसन्धौ षड्नाडीषु। एवं[4] ग गि गृ गु ग्लृ गं इति तृतीयाग्निमण्डलषड्नाडीषु

---

१. क. ख. मकाराद्यैः। २. ग. पुस्तके नास्ति। ३. ख. पुस्तके नास्ति। ४. ख. एवं गति।

कर्मचक्रे क्रियाचक्रे मध्यमाधःपर्वसन्धौ षड्नाडीषु। एवं ख खि खृ खॢ खं इति चतुर्थमुदकमण्डलं षड्नाडीषु; कर्मचक्रे क्रियाचक्रे तर्जन्यधःपर्वसन्धौ षड्नाडीषु; तथा क कि कृ कु कॢ कं[118a]इति पञ्चमे पृथिवीमण्डलषड्नाडीषु कर्मचक्रे षण्मात्रककारस्य क्रियाचक्रेऽङ्गुष्ठाधः प्रथमपर्वसन्धौ षड्नाडीषु। एवमेकऋतौ दक्षिणे वामे मकरकुम्भमासयोः षष्टिकादयो मात्राः संहारसृष्टिभेदेनेति। ततश्च वर्गात् समात्रान् मीनमेषभेदेन क्रमति दक्षिणबाहूपबाहुसन्धौ, कर्मचक्रे त्रिशन्नाडीषु पृथिव्यादि-पञ्चमण्डलेषु षड्दिनभेदेन चवर्गान् सस्वरान् क्रमति।

संहारस्तद्यथा—च्चाः च्चॢ च्चू च्चृ च्ची च्चा इत्यवनौ। छ्छा छ्छॢ छ्छू छ्छृ छ्छी छ्छा इति जले। ज्जाः ज्जॢ ज्जू ज्जृ ज्जी ज्जा इति अग्नौ। झ्झाः झ्झॢ झ्झू झ्झृ झ्झी झ्झा इति वायौ। ञ्ञाः ञ्ञॢ ञ्ञू ञ्ञृ ञ्ञी ञ्ञा इत्याकाशे। त्रिशन्मात्राः कर्मचक्रे क्रियाचक्रेऽपि दक्षिणाङ्गुष्ठमध्यपर्वात् कनिष्ठामध्यपर्वान्ते पञ्चसन्धिषु षट्षट्नाडीषु चादीनि त्रिंशदक्षराणि संहारक्रमेण ज्ञातव्यानि इति। एवं वामभुजोपभुज-सन्धौ कर्मचक्रे त्रिशन्नाडीषु क्रियाचक्रेऽपि कनिष्ठाङ्गुलीमध्यपर्वात् अङ्गुष्ठमध्यपर्वान्ते पञ्चसन्धिषु षट्षट्नाडीषु ञादयो वर्णास्त्रिंशद् भवन्ति; तद्यथा—ञ ञि ञृ ञु ञॢ ञं इति आकाशमण्डले, झ झि झृ झु झॢ झं इति वायौ, ज जि जृ जु जॢ जं इति तेजसि, छ छि छृ छु छॢ छं इति तोये, च चि चृ चु चॢ चं इति पृथिव्याम्। एवं वसन्तऋतौ क्रमति चवर्गः राशि[1]भेदेनेति। ततो दक्षिणकरोपबाहुसन्धौ कर्मचक्रे त्रिशन्नाडीषु क्रियाचक्रे दक्षिणाङ्गुष्ठोर्ध्वपर्वादिपञ्चसन्धिषु षट्षड्नाडीषु संहारक्रमेण टवर्गान् क्रमति वृषभेदेनेति; तद्यथा—ट्टाः ट्टॢ ट्टू ट्टृ ट्टी ट्टा इति अवनौ, ठ्ठाः ठ्ठॢ ठ्ठू ठ्ठृ ठ्ठी ठ्ठा इत्युदके, ड्डाः ड्डॢ ड्डू ड्डृ ड्डी ड्डा इत्यग्नौ, ढ्ढाः ढ्ढॢ ढ्ढू ढ्ढृ ढ्ढी ढ्ढा इति वायौ, ण्णाः ण्णॢ ण्णू ण्णृ ण्णी ण्णा इत्याकाशे, एवं संहारेण। ततो वामकरोपबाहुसन्धौ सृष्टिक्रमेण कर्मचक्रे त्रिशन्नाडीषु क्रियाचक्रे वामकरकनिष्ठोर्ध्वपर्वादङ्गुष्ठपर्वसन्धिषु षड्नाडीषु आकाशादिमण्डलक्रमेण णकारादीन्यक्षराणि; तद्यथा—ण णि णृ णु णॢ णं [118b] इत्याकाशे, ढ ढि ढृ ढु ढॢ ढं इति पवने, ड डि डृ डु डॢ डं इत्यग्नौ, ठ ठि ठृ ठु ठॢ ठं इत्युदके, ट टि टृ टु टॢ टं इति पृथिव्याम्, वृषमिथुनराशिभेदेन क्रमति ग्रीष्मऋतौ। एवमुत्तरायणे अशीत्युत्तरशताक्षराणि क्रमति दिनकरश्चायनं राशिभेदैरिति।

पश्चादेकोत्तरेणोत्क्रमति दिनदिने इति पश्चाद्दक्षिणायने चन्द्रापानवायौ मृत्युः क्रमति, सूर्य[2] उत्क्रमति[3] हीनो[4] भवति[5]। चन्द्रस्य रात्रे[6]र्वृद्धिर्भवति, यस्य वृद्धिस्तस्य चरणेषु मृत्युः क्रमति इति न्यायात् सूर्य उत्क्रमति हस्ताङ्गुली(लि)मूर्ध्निसन्धिभ्यो

१, क. ख. मात्रासि; ग. मात्राराशि; भो. Khyim Gyi dBye Bas Tsa sDe (राशि)। २-३. क. ख. सूर्यवत् क्रमति। ४-५. भो. dMan par Mi ḥGur (न हीनो भवतीति)। ६. ग. रात्रौ।

यावद् दक्षिणस्कन्धबाहुसन्धिप्रथमनाड्याः पर्यन्तमिति । अत्र दक्षिणायने चन्द्रः[1] क्रमति दक्षिणकट्युरुसन्धौ कर्मचक्रे त्रिंशन्नाडीषु । दक्षिणाङ्गुष्ठाधःपर्वात् कनिष्ठाधःपर्वान्तं यावत् संहारक्रमेण क्रियाचक्रे पञ्चाङ्गुलीपर्वसन्धिषु षट्षड्नाडीषु पवर्गाक्षराणि त्रिंशत् क्रमति, कर्कटभेदेन त्रिवर्षाधिपतिः; तद्यथा—प्पाः प्प्ऌ प्पू प्पृ प्पी प्पा इत्यवनौ, फ्फाः फ्फ्ऌ फ्फू फ्फृ फ्फी फ्फा इति जले, ब्बाः ब्ब्ऌ ब्बू ब्बृ ब्बी ब्बा इति तेजसि, भ्भाः भ्भ्ऌ भ्भू भ्भृ भ्भी भ्भा इत्यनिले, म्माः म्म्ऌ म्मू म्मृ म्मी म्मा इत्याकाशे, एवं कर्कटभेदेनेति । ततो वामकट्युरुसन्धौ सृष्टिक्रमेणाकाशादिमण्डलभेदेन त्रिंशदक्षराणि विलोमेनः; तद्यथा—म मि मृ मु म्ऌ मं इत्याकाशे, भ भि भृ भु भ्ऌ भं इति पवने, ब बि बृ बु ब्ऌ बं इति तेजसि, फ फि फृ फु फ्ऌ फं इत्युदके, प पि पृ पु प्ऌ पं इति पृथिव्यां सिंहसंक्रान्तिभेदेन भाद्रपदं क्रमति । एवं वार्ष्यऋतुं चन्द्रः क्रमति, सूर्यं उत्क्रमति । ततो दक्षिणोरुजानुसन्धौ कर्मचक्रे क्रियाचक्रे पादाङ्गुष्ठमध्यपर्वात् कनिष्ठामध्यपर्वान्तं पञ्चसन्धिषु षड्नाडीषु
T 314 तवर्गः क्रमति तेभ्यो राशिसंहारभेदेन त्रिंशदक्षराणि; तद्यथा – त्ताः त्त्ऌ त्तू त्तृ त्ती त्ता इत्यवनौ, थ्थाः थ्थ्ऌ थ्थू थ्थृ थ्थी थ्था इति जले, द्दाः द्द्ऌ द्दू द्दृ द्दी द्दा इति तेजसि, ध्धाः ध्ध्ऌ ध्धू ध्धृ ध्धी ध्धा इति वायौ, न्नाः न्न्ऌ न्नू न्नृ न्नी न्ना इत्याकाशे, एवं कन्याभेदेन क्रमति चन्द्र इति । त[119a]तो वामोरुजानुसन्धौ कर्मचक्रे क्रियाचक्रे वामपादकनिष्ठामध्यपर्वाङ्गुष्ठपर्यन्तं पञ्चसन्धिषु षट्षड्नाडीषु; तद्यथा—न नि नृ नु (न्ऌ) नं इत्याकाशे, तथा ध धि धृ धु ध्ऌ धं इति वायौ, एवं द दि दृ दु द्ल दं इति तेजसि, थ थि थृ थु थ्ऌ थं इति जले, त ति तृ तु त्ऌ तं इति पृथिव्याम्; एवं तुलाभेदेन वामे सृष्टिक्रमेण चन्द्रः क्रमति, सूर्यं उत्क्रमति शरदृतौ इति । ततो दक्षिणपादजानुसन्धौ कर्मचक्रे त्रिंशन्नाडीषु क्रियाचक्रे दक्षिणाङ्गुष्ठोर्ध्वपर्वात् कनिष्ठोर्ध्वपर्वं यावत् पञ्चसन्धिषु षट्षड्नाडीषु संहारक्रमेण वृश्चिकभेदेन सवर्गान् त्रिंशदक्षराणि समात्राणि क्रमति चन्द्रः; दक्षिणे सूर्यं उत्क्रमति; तद्यथा—स्साः स्स्ऌ स्सू स्सृ स्सी स्सा इत्यवनिमण्डले, य्याः य्य्ऌ य्यू य्यृ य्यी य्या इति जले, ष्षाः ष्ष्ऌ ष्षू ष्षृ ष्षी ष्षा इति तेजसि, श्शाः श्श्ऌ श्शू श्शृ श्शी श्शा इति वायौ, एवं काः क्ऌ कू कृ की का इत्याकाशे षड्नाडीषु त्रिंशदक्षराणि वृश्चिकभेदेनेति । ततो वामपादजानुसन्धौ कर्मचक्रे त्रिंशन्नाडीषु क्रियाचक्रे कनिष्ठाङ्गुल्यूर्ध्वपर्वादङ्गुष्ठोर्ध्वपर्वं यावत् पञ्चपर्वसन्धिषु षट्षड्नाडीषु सृष्टिक्रमेण त्रिंशदक्षराणि चन्द्रः क्रमति, सूर्यो वामभुजायां स्कन्धधातूत्क्रमति धनुराशिभेदेनेति; तद्यथा—क कि कृ कु क्ऌ कं इत्याकाशे, तथा श शि शृ शु श्ऌ [शं] इति वायौ, ष षि षृ षु ष्ऌ षं इति तेजसि, य्य य्यि य्यृ य्यु य्य्ऌ य्यं इत्युदके, एवं स सि सृ सु स्ऌ सं इति पृथिव्याम्, एवं त्रिंशदक्षराणि धनुभेदेनेति । अतः शिशिरऋतोरारभ्य चन्द्रस्य क्रमणाभावः ।

१, क, ख. चन्द्रं ।

पुनर्मकरादौ सूर्यस्य वृद्धिरिति। प्रथमवर्षे सत्त्वगुणभेदेन कालः सूर्यचन्द्राभ्यां सह क्रमि(म)ति, ततो द्वितीये वर्षे रजोभेदेन गुणवृद्धिस्वरैः कादयो वर्णास्त्रिशत् त्रिशन्नाडीषु कर्मचक्रे क्रियाचक्रे पूर्ववद् वेदितव्या इति। मकरे संहारक्रमेण; तद्यथा—क्काः क्काल् क्कौ क्कार् क्कै क्का इत्यवनौ, तथा ख्खाः ख्खाल् ख्खौ ख्खार् ख्खै ख्खा इत्युदके, ग्गाः ग्गाल् ग्गौ ग्गार् ग्गै ग्गा इति तेजसि, घ्घाः घ्घाल् घ्घौ घ्घार् घ्घै घ्घा इति वायौ, ङ्ङाः ङ्ङाल् ङ्ङौ ङ्ङार् ङ्ङै ङ्ङा इ[119b]त्याकाशमण्डले, दक्षिणबाहोः पूर्ववत् मकरभेदेन सूर्यः क्रमति, चन्द्रो दक्षिणपादे उत्क्रमति, तथा कुम्भभेदेन सृष्टिक्रमेण गुणसहितेभ्यः क्रमति, वामबाहुसन्धौ; तद्यथा—ङः ङे ङर् ङो ङल् ङं इत्याकाशे, घ घे घर् घो घल् घं इति वायौ, ग गे गर् गो गल् गं इति तेजसि, ख खे खर् खो खल खं इत्युदके, क के कर् को कल् कं इति पृथिव्याम्, कुम्भभेदेन वामे सृष्टिक्रमेण; एवं मीनमेषयोः यथासंख्यं चवर्गाक्षराणि त्रिशत्-त्रिशत्-संहारसृष्टिक्रमेणेति दक्षिणवामे सन्धिनाडीषु वसन्तऋतौ, तथा टवर्गाक्षराणि ग्रीष्मऋतौ। ततः सूर्य उत्क्रमति, चन्द्रः क्रमति। कर्कटके सिंघे(हे) पादसन्धौ त्रिशन्नाडीषु दक्षिणे वामे पूर्ववत् वृद्धिगुणसहितेभ्यस्त्रिशदक्षरेभ्यः क्रमति। वार्ष्यऋतौ पवर्गाक्षराणि वृद्धिगुणयुक्तानि क्रमति चन्द्रः, शरदि तवर्गाक्षराणि, शिशिरे सवर्गाक्षराणि संहारसृष्टिक्रमेणेति। एवं द्वितीयवर्षे षष्ट्युत्तरत्रिशतमात्रान् चन्द्रसूर्यौ क्रमत इति; ततस्तृतीये वर्षे तमोभेदेन कालः सूर्येण सार्द्धं कादिवर्गेभ्यः सस्वरेभ्यश्चरति[1]।

अत्र यणादेशाः स्वरा उच्यन्ते—

तैः सार्द्धं त्रिशत्-त्रिशदक्षराणि तमोविषयकालश्चरति इति संहारसृष्टिभेदेन पूर्ववद्धस्तपादसन्धिषु कर्मचक्रे क्रियाचक्रेष्विति; तद्यथा—क्क्हाः क्क्ला क्क्वा क्क्रा क्क्या क्क्हा इत्यवनौ मकरभेदेनेति; [तथा[2]] ख्ख्हाः ख्ख्ला ख्ख्वा ख्ख्रा ख्ख्या ख्ख्हा इति जले; तथा ग्ग्हाः ग्ग्ला ग्ग्वा ग्ग्रा ग्ग्या ग्ग्हा इत्यनले; घ्घ्हाः घ्घ्ला घ्घ्वा घ्घ्रा घ्घ्या घ्घ्हा इति वायौ; ङ्ङ्हाः ङ्ङ्ला ङ्ङ्वा ङ्ङ्रा ङ्ङ्या ङ्ङ्हा इत्याकाशे। एवं सूर्यः क्रमति दक्षिणे, ततो वामे सृष्टिक्रमेणेति। ङ्ह ङ्य ङ्र ङ्व ङ्ल ङ्हं[3] इत्याकाशे। घ्ह घ्य घ्र घ्व घ्ल घ्हं[3] इति वायौ। ग्ह ग्य ग्र ग्व ग्ल ग्हं[3] इति तेजसि। ख्ह ख्य ख्र ख्व ख्ल ख्हं[3]इत्युदके। क्ह क्य क्र क्व क्ल क्हं[3]इत्यवनौ। एवं वामे सृष्टिक्रमेण त्रिशन्मात्रांश्चरति सूर्यः शिशिर[4]ऋतौ। एवं वसन्ते चवर्गः, ग्रीष्मे टवर्गः। ततः सूर्य उत्क्रमति षट्सन्धिभ्यः। चन्द्रः पादसन्धौ क्रमति। वार्ष्ये पूर्ववत् पवर्गः। शरदि तवर्गः। हेमन्ते सवर्गः, संहारभेदेन सृष्टिभेदेनेति। एवं तृ[120a]तीये वर्षेऽपि षष्ठ्युत्तरत्रिशतमात्रान् क्रमति दिनकरः।

---

१. ग. स्वस्वरेभ्यः०। २. ग. तद्यथा; भो. De bSin Du (तथा)। ३. भोटे सर्वत्रान्ते सानुस्वारं दृश्यते, संस्कृतेऽपि तथैव। अत एव प्रथमाक्षरतोऽन्तिमाक्षरो भिन्नः; भोटे च ॅ सर्वत्रान्तिमे ज्ञेयः। ४. क. ख. एवं वसन्त०।

कालवर्षं हि यस्मात् तस्मादेवाशीत्युत्तरसहस्रदिन[1]क्षयस्तयोर्वेदितव्य इति त्रिवर्षनाडीच्छेदो व्यञ्जनानामिति नियमः ।

ततः **छिन्नेऽब्दे** सति **पक्षमध्ये** पञ्चचत्वारिंशत् ह्रस्वदीर्घप्लुतस्वरधर्मेण **स्वरदिवसवशात्** पञ्चचत्वारिंशद्दिनवशाद् **रोहणं च** मृत्योः सूर्यभेदेन सूर्यस्य, चन्द्रभेदेन चन्द्रस्य । रोहणमिति कण्ठे अष्टाविंशद् दिनानि, ललाटे चतुर्दशदिनानि पूर्वोक्तानि, गुह्ये त्रिदशकमिति त्रिंशद् दिनानि, ततः कण्ठे दिनचतुष्टयम्, ललाटे दिनद्वयं जीवितस्य त्रिरात्रम् । अपरमत्र स्वरच्छेदे तिथिः षट्पञ्चाशद्दण्डात्मिका ग्राह्या ।

एवं पञ्चचत्वारिंशत्तिथयः स्वरधर्मिण्यः, तिस्रः शून्यधर्मिण्य इति व्यञ्जनधर्मेऽप्येवं दिनद्वयम् । एतासु दिनाष्टकं हृदयकमले आरोहते, ततो दशवायूनां समाहारः । कर्णिकायां निःश्वासोच्छ्वासचक्रस्य यावद् **हानिर्दिननिशिसमये जीवितस्यैकरात्रं** भवतीति । ततः कर्मवशादन्यत्र विज्ञानसंक्रमणमिति नियमो मध्यमामरणे सति प्राणिनां शतायुषामिति नाडीच्छेदनियमः ।

इदानीं निर्माणचक्रादिषु षट्दिनावधेर्मरणादवशेषनाडिका दशवायुवाहिन्य उच्यन्ते **नाभावित्यादिना**—

नाभौ कण्ठे ललाटे स्वहृदयकमले नाडिकाः सावशेषा-
स्तिष्ठत्यर्को रसोऽग्निः स्वहृदयकमले सार्द्धनाडी तथैव ।
पाणेः पादस्य सन्धौ तिथिगुणितयुगाः षड्दिनं यावदेव
अन्ते सर्वत्र सूक्ष्मा प्रवहति दिवसं च त्यजन्ती हृदब्जम् ।। ६९ ।।

इह नाभिचक्रे बाह्यमण्डलवाहिनी नाडीक्षयपरित्यागात् त्रिवर्षोर्ध्वं[2] त्रिपक्षरोहणे व्यञ्जनारोहणे **षड्दिनं यावद्** द्वादशराशिनाड्यः शून्यमण्डलपृथिवीमण्डलात्मिकाः श्वासचारेणावतिष्ठन्ते(ते) **अर्क** इति । एवं कण्ठे षण्मुहू[120b]र्त्तवाहिन्यो **रस** इति ।
T 315 चन्द्रस्यार्द्धप्रहरवाहिन्यः तिस्रो[3]**ऽग्निरिति** । हृत्कमले प्रहरवाहिनी सार्द्धनाडी **स्वहृदयकमले सार्द्धनाडी तथैव सावशेषा** इति । **पाणेः पादस्य सन्धाविति** षष्ट्युत्तरत्रिशतनाडीमध्ये कर्मचक्रे क्रियाचक्रे सन्धिषु । **तिथिगुणितयुगा** इति षष्टिनाड्यो दशवायुवाहिन्य इति । द्वादशसन्धीनां प्रत्येकसन्धौ पञ्चपञ्चनाड्यो दशवायुवाहिन्य इति शेषाः । कालमृत्युर्वायुर्महातमो धर्मो[4] क्रियाचक्रे षष्टिसन्धिषु एकैकनाडी दशवायुवाहिनी पञ्चपञ्चकालमृत्युमहावायुवाहिन्य इति; एवं षड्दिनं यावत् । ततः षड्दिनैरिन्द्रियविषयनाडीक्षयं कृत्वाऽन्ते मरणदिने **सर्वत्र सूक्ष्मा** मध्यमावधूती **वहति** चन्द्रसूर्यविण्मूत्रवाहिनीं त्यक्त्वा महातमः कालवायुर्मरणान्तं वहति यावत् श्वासचक्रक्षयो भवतीति नियमः । **दिवसं च त्यजन्तीति हृदब्जमिति** । एवं सूर्यचन्द्रारोहणनाडी व्यञ्जनकर्मक्रियाचक्रावशेषनाडीश्वासच्छेदकालमरणनियमो भगवतोक्तः ।

---

१. क. ख. ०दिनकर० । २. क. ख. अर्घं । ३. क. ख. त्रिशो । ४. क. ख. कर्म ।

इदानीं चन्द्रसूर्यचारक्षयेण कालवृद्धिरुच्यते **षट्त्रिंशद्भिरित्यादिना**—

षट्त्रिंशद्भिः सहस्रै ध्रुशतदिनगणे रोहते कालनाडी
यां यां सूर्येन्दुशक्तिर्दिननिशिसमये पूरितं स्वस्वचारैः ।
सूर्याऽह्नः सूर्यचारे त्वृणमपि च भवेच्चन्द्रचारे तदर्द्धं
नक्षत्राह्नः प्रभेदे रविशशिचरणं शून्यमासे च मृत्योः ॥ ७० ॥

इह वर्षशते दिनगणे कृते **षट्त्रिंशत्सहस्र**दिनानि भवन्ति । **ध्रुरिति** वर्षसंज्ञा, तैः **षट्त्रिंशद्भिः सहस्रै ध्रुशतदिनगणे रोहते कालनाडी**, मृत्युः नाडीषु वर्द्धते द्वासप्तति-सहस्रेषु मृत्युवायुः प्रविशति । पञ्चमण्डलवायुः क्रमतोऽपसरति षष्ठांशं[1] तत्र स्थापयित्वेति । कां रोहते कालनाडीवायुः ? **यां यां पूरितं सूर्येन्दोर्न शक्तिर्दिननिशिसमये स्वस्वचारैर्न**क्षत्रचारेण सूर्यस्याशक्तिरिति, तिथिचरणैश्चन्द्रस्याशक्तिरिति[121a] । **सूर्याऽह्न** इति द्वादशदिनानि **सूर्यचारे त्वृणमपि भवेच्चन्द्रचारे तदर्द्धं**[2] षड्दिनानि । अत्र प्रतिमासे त्रिंशद्दिनैर्न्न राशिमेकं सूर्यश्चरति, न चन्द्रः षष्टिदण्डानिति द्वौ चरति । अतो **नक्षत्राह्नः प्रभेदे रविशशिचरणं शून्यमासे च मृत्योः**, तयोर्यत्राशक्तिः स शून्यमासो द्वात्रिंशन्मासान्ते, स च चतुःषष्टीनाड्यात्मक इति । तासु चतुःषष्टिनाडीषु शून्यवायुः प्ररोहते, नाभिकमले द्वासप्ततिसहस्राणां मध्ये प्रत्यहं नाडीद्वयं रोहते इति सामान्यश्छूल-(स्थूल)नियमः ।

इदानीं प्रत्यहं श्वासभेदेनारोहणमुच्यते **प्राणा इत्यादिना**—

प्राणा देहेऽधिका ये प्रकटितविषुवे वेदपादोनषष्टिः
सर्वे संक्रान्तिभेदैः प्रतिदिनसमये नाडियुग्मं निहन्ति ।
भूयो भूयोऽब्दमध्ये रविशशिचरणात् शून्यनेत्राद्रिसंख्या
एवं कालः शताब्दैः क्रमति सुरनृणां स्वायुषं स्वस्वमानैः ॥ ७१ ॥

इह षट्शताधिकैकविंशत्सहस्राणां मध्ये ये ज्ञानमण्डलवाहिनो भवन्ति ते **देहे श्वासाधिका**[3] इत्युच्यन्ते । **प्रकटितविषुवे** उभयलग्नमध्ये **पादे वेदोनषष्टिः** सपादषट्-पञ्चाशदिति; ते **सर्वे**[4] द्वादश**संक्रान्तिभेदैः** पञ्चसप्तत्यधिकपुटशतं भूत्वा **प्रतिदिनसमये नाडीयुग्मं निहन्तीत्यागमपाठः**; घ्नन्तीति रूपम् । इदं नाडीयुग्मं वामे दक्षिणे द्वासप्तति-नाडीसहस्राणां मध्ये नाडीयुग्मं घ्नन्ति पञ्चमण्डलवायुसञ्चारविनाशो भवतीति । शेषाः पञ्चचत्वारिंशच्छ्वासाः तिष्ठन्ति **भूयो भूयोऽब्दमध्ये**; एवं प्रतिदिनं नाडीयुग्मं हन्यमाना ऽब्दमध्येऽब्ददिनैः षष्ठ्युत्तरत्रिशतदिने **रविशशिचरणात्** दक्षि[ण]वाममण्डलसञ्चारात् ।

---

१. Drug Cuhi Cha Śas (षष्टचशं) । २. ख. तदुर्ध्वं । ३. क. श्वासादिका । ४. ख. पूर्वे ।

शून्यनेत्राद्रिसंख्या इति विंशत्यधिकसप्तशतानीति। **एवं कालः शताब्दैः षट्त्रिंशद्भिः** सहस्रदिनैः **क्रमति**। **सुरनृणां वा(स्वा)युष[ो]** द्वासप्ततिनाडीसहस्रं पञ्च[121b]मण्डलवाहकम्, चन्द्रादित्यचरणमिति। **स्वस्वमानैः पूर्वोक्तैः** सूक्ष्मतनु[1][ज]भूतदेवादिदिनैरिति नाडीच्छेदनियमः।

इदानीं कालनाडीस्वभाव उच्यते **दष्टमित्यादिना**—

दष्टं व्याधिः प्रहारो यदि भवति नृणां कालनाड्यां कदाचित्
शीघ्रं तेनाश्रयेण प्रविशति सहसा मूलचक्रेषु कालः।
रुद्ध्वा चक्रेषु नाडी रविशशिगमनं छेदयित्वा समस्तं
मध्ये सूक्ष्माश्रितं यद् हरति नरपते जीवितं प्राणिनां च ॥ ७२ ॥

इह शरीरे **कालनाड्यां** मध्यमाप्रवाहकाले **यदि दष्टं भवति, व्याधिर्भवति, प्रहारो** वा **नृणां कदाचित्**; तदा **शीघ्रं तेनाश्रयेण प्रविशति सहसा मूलचक्रेषु** षट्सु **कालो** महातमो वायुः। स च प्रविष्टः सन् **षट्चक्रेषु** षट्पञ्चाशदम[धि]कनाडीशतम्, असौ **रुद्ध्वा रविशशिगमनं** सव्येतरनाड्यां **छेदयित्वा समस्तं मध्ये सूक्ष्माश्रितम्**, अवधूतीनाड्याश्रितं **यज्जीवितं** प्राणवायुः तद्[2] हरति[3] **नरपते जीवितं प्राणिनामि**ति कालनाडीनियमः।

इदानीं धर्मचक्रादौ चन्द्रचरणा[4]न्युच्यन्ते **हृत्पद्म** इत्यादिना—

हृत्पद्मे श्रीललाटे चरति शशिपदं भूतदिग्वासराख्यं
सम्भोगे नाभिचक्रे नवदशसहितं रुद्रयुग्मं जिनाख्यम्।
तत्त्वाख्यं सप्तरात्रात्त्यजति पुनरसावुत्क्रमन् यः शशाङ्को
बिन्दौ पूर्णां प्रकृत्य प्रविशति हृदये शुक्लपक्षे क्रमेण ॥ ७३ ॥

इह चन्द्रस्य चरणभेदेन चतुर्दशभागेन समविषमगतेन तिथिषु वृद्धिर्हानिर्वा। सा सप्तमदिने सप्ततिथिषु[122a] पञ्चविषयगुणा बालकुमारादिभेदेन सप्तमे दिने वृद्धिर्हानिर्वा निवर्तते विंशत्यधिकशतचरणेषु पूर्णेषु।

अत्र विंशत्यधिकशतांशान्युच्यन्ते—

इह चतुर्दशभागावशेषे एकचरणे दृष्टे तद्दिनकलायाः षष्टिनाडिकांशानां मध्ये पञ्चनाडिकांशाः कलाया धनेऽधिका भवन्ति, कृष्णायाः शुक्लाया वा ऋणस्थाने हीना भवन्ति। द्वितीये दिने द्वितीयायाः पञ्चांशाः, प्रथमायाः कुमारभेदेन द्विगुणा ज्ञातव्या

---

१. क. ख. तत्र; भो. Lus sKyes (तनुज)। २-३. क. ख. तद्वति। ४. क. ख. ०वरणा।

इति। एवं तृतीयदिने तृतीयायाः पञ्चांशाः; एवं द्वितीयायाः दश, प्रथमाया वा[यु]भेदेन पञ्चदश। एवं बालप्रभेदेन चतुर्थ्याः पञ्चांशाः, तृतीयाया दश, द्वितीयायाः पञ्चदश, प्रथमाया युवाभेदेनैकोनविंशतिः। एवं पञ्चमे दिने पञ्चम्यां(:) पञ्चांशाः, चतुर्थ्या दश, तृतीयायाः पञ्चदश; द्वितीयाया एकोनविंशतिः, प्रथमाया वृद्धभेदेन द्वाविंशतिः। एवं षष्ठे दिने षष्ठ्याः पञ्चांशाः, पञ्चम्या दश, चतुर्थ्याः पञ्चदश, तृतीयाया एकोनविंशतिः, द्वितीयाया द्वाविंशतिः; प्रथमाया अतिवृद्धि(द्ध)भेदेन चतुर्विंशतिः। एवं सप्तमे दिने सप्तम्याः पञ्चांशाः, षष्ठ्या दश, पञ्चम्या पञ्चदश, चतुर्थ्या एकोनविंशतिः, तृतीयाया द्वाविंशतिः, द्वितीयायाः चतुर्विंशतिः, प्रथमायाः पक्वावस्थाभेदेन सप्तमे दिने पञ्चविंशत्यंशाः धनं वा ऋणं वा चरणवशाद् भवन्ति। एवं बालादिक्रमेण सर्वेषां प्रमेयो ज्ञेयः। एवं सप्ततिथीनां चरणांशान् गृहीत्वा हृत्कमलादिषु विंशत्यधिकशतदलेषु **शशाङ्कः क्रमति, ततः पुनरुत्क्रमति।** शशिपदं स्वकीयं पदमित्यर्थः। हृदयेऽष्टदलेष्वष्टांशाः, **ललाटे** षोडशदलेषु षोडशांशाः, **सम्भोगे** द्वात्रिंशद्दलेषु द्वात्रिंशदंशाः, **नाभिकमले** चतुःषष्टिदलेषु चतुःषष्ट्यंशाः। एवं विंशत्यधिकशतांशान् भुक्त्वा चन्द्रकलाया ह्रानिर्वा वृद्धिर्वा निवर्तते। हृत्पद्मे ललाटे च **भूतदिग्वासराख्यं सम्भोगे नाभौ च नवदशसहितं रुद्रयुग्मं जिनाख्यम्। तत्त्वाख्यं सप्तरात्रात्त्यजति पुनरसौ उत्क्रमन् यः शशाङ्कः।** प्रथमकलायाः T 316 पञ्चविंशत्यंशाः परिपक्वाया भवन्ति; सा चाष्टमे दिने ना[122b]भाव[ा]धिदेवता भवति। पुनः पूर्णमास्यां नाभिहृत्कण्ठललाटेषु पूर्णं करोति। बिन्दुस्थाने **बिन्दौ पूर्णां प्रकृत्य** इति, ततो नाभेः पुनरुत्क्रमन् चतुःषष्टिदलेषु चतुःषष्ट्यंशाः, हृदयेऽष्टांशाः, कण्ठे द्वात्रिंशदंशाः, ललाटे षोडशांशाः; एवं चतुर्दशदिनैः पदानां पूर्णं भवति। तस्मिन् पूर्णां प्रकृत्य **प्रविशति हृदये शुक्लपक्षे** धनपक्षे **क्रमेण।**

भूयः कृष्णे च तद्वद् व्रजति पदपदान् नाभिपद्मे हि यावद्-
ष्टारे षोडशारे हृदि शिरसि तथा कृष्णशुक्ल(ा)ब्जसंज्ञे।
कण्ठे द्वात्रिंशदारं द्विगुणितमपरं रक्तपीतं च नाभौ
द्व्यष्टम्यौ नाभिकण्ठे शिरसि च हृदये श्वेतकृष्णा च पूर्णा॥ ७४॥

आद्यास्त्रिंशत् स्वरा ये ह्यरवलयुता बिन्दुभिः श्रीविसर्गै-
र्भिन्नाः षष्टिर्बभूवुर्युगनृपवसुदन्ताश्च ते केशराग्रे।
बिन्द्वाकारैर्विसर्गैर्वरकमलदले कादिवर्गा विभिन्नाः
विंशत्येकं शतं च प्रहरगतिवशाद् रोहते क्षीयतेऽर्कः॥ ७५॥

भूयः कृष्णे च तद्वद् ऋणपक्षे पूर्ववदुत्क्रमेण वायुपृथिवीतोयाग्निपद्मदलेषु संहारेण यावद् ऋणपूर्णा कृष्णपदानां हृदये भवतीति पदनियमः।

अत्र कमलान्यष्टारं **हृदये** कृष्णम्, **षोडशारं शिरसि शुक्लम्; कण्ठे द्वात्रिंशदारं रक्तम्, द्विगुणितं** तस्यापरं चतुःषष्ट्यारं **नाभौ पीतमिति** पद्मदलनियमः।

इदानीं चतुःपर्वस्ना(स्था)नमुच्यते **द्वचष्टम्यावित्यादिना**—

इह हृत्कमलादिषु वायुतेजउदकपृथ्वीधातुस्वभावेषु चन्द्रः स्वरभेदेन कर्णिका-केशराग्रेषु चरति।

आद्यास्त्रिंशत् स्वरा ये हयरवलयुता बिन्दुभिः श्रोविसर्गैर्भिन्नाः षष्टिर्बभूवु-रिति। इह पूर्वोक्ता ह्रस्वाः पञ्च, गुणरूपाः पञ्च, यणादेशाः पञ्च ह्रस्वाः; एते पञ्चदश **बिन्दु**[123a]**भिर्भिन्नास्त्रिंशद्** भवन्ति। दीर्घवृद्धिस्थानीया हादयः पञ्चदश, त्रिंशद् **विसर्गविभिन्नाः**; एवं **षष्टिर्बभूवुरि**ति। ते **युगनृपवसुदन्ताश्च केशराग्रे** इति। अत्र हृत्क-मले चन्द्रोऽमां कृत्वा पूर्वापरार्द्धकलाभेदेन पञ्चदशतिथिभिस्त्रिशत् स्वरांश्चरति। अत्र हृत्कमले केशराग्रे शुक्लप्रतिपत् पूर्वार्द्धे अ, अपरार्द्धे अं; द्वितीयायां पूर्वार्द्धे इ, अपरार्द्धे ई इति हृदये युगचत्वारः कर्णिकां वर्जयित्वा। ततः कण्ठकमलकेशराग्रे तृतीयायां पूर्वापरार्द्धः ऋ ऋं; एवं चतुर्थ्यां उ ऊं, पञ्चम्यां ऌ ऌं, षष्ठ्यां अ अं, सप्तम्यां ए एं, अष्टम्यां पूर्वार्द्धे अर केशराग्रे, अपरार्द्धे अरं कर्णिकायामिति; नवम्यां ओ ओं, दशम्यां अल अलं इति कण्ठकमले केशराग्रे चरति। ततो ललाटकमलकेशराग्रे एकादश्यां पूर्वापरार्द्धं ह हं, द्वादश्यां पूर्वापरार्द्धे य यं, त्रयोदश्यां र रं, चतुर्दश्यां व वं, पूर्णायां पूर्वार्द्धे ल इति केशराग्रे, अपरार्द्धे लं कर्णिकायामिति। शिरसि पूर्णा चन्द्रस्य सृष्टिक्रमेण वायु-तेज-उदक-कमलकर्णिकासु चरति; ततः पृथ्वी-कमलकर्णिकासु संहारक्रमेण कृष्णपक्षे दीर्घान् सविसर्गान् चरति; तद्यथा—कृष्णप्रतिपदि पूर्वार्द्धं लाः, अपरार्द्धं ला। एवं द्वितीयायां वाः वा, तृतीयायां राः रा, चतुर्थ्यां याः या, पञ्चम्यां हाः हा, षष्ठ्यां आलः आल, सप्तम्यां औः औ, अष्टम्यां आरः, कर्णिकायां आर, नवम्यां ऐः ऐ, दशम्यां आः आ, एकादश्यां ॡः ॡ, द्वादश्यां ऊः ऊ, त्रयोदश्यां ॠः ॠ, चतुर्दश्यां ईः इ, पञ्चदश्यां आः आ। अत्र कर्णिकायां द्वयं शून्यकम्, एतयोः कर्णिकायां न[1] स्वरविसर्गौ[2]। पुनः हृत्कमले अमावस्यान्ते प्रतिपदाद्यं हृतकमलकेशराग्रे **श्वेत-कृष्णा च पूर्णा** नियमः। शुक्लाष्टमी **कण्ठकमलकेशराग्रे** कर्णिकायां च; कृष्णाष्टमी **नाभिकमले** केशराग्रे कर्णिकायाम्, पूर्णा कृष्णा हृदये, पूर्णान्तं शिरसि, हृदय इति अमावस्यान्तप्रतिपत्प्रवेशकाल इति नियमः।

इदानीं सूर्यव्यञ्जनभोगा उच्यन्ते **बिन्द्वित्यादिना**—

इह **कादयो वर्गा बिन्द्वाकारैर्विसर्गैश्चतुर्भि**[123b]**र्भिन्नाः** सन्तो विंशत्यधिका-क्षरशतं भवति, तदेव **वरकमलदले विंशत्यधिकैकशते प्रहरगतिवशाद् रोहते क्षीयतेऽर्कः** संहारसृष्टिभेदेनेति। अत्र प्रहरगतिः चतुःसन्ध्या, तासां गतिवशात् प्रहरगतिवशादिति। अत्र हृत्कमले अमावस्यान्तं प्रतिपदादौ चतुःषष्टिदलेषु चतुर्दलानि शून्यानीति; तेषु प्रतिपत् स्साः स्सा, याः या इति चतुर्दलेषु चतुःसन्ध्या प्रतिपदा स्सादींश्चरति अर्क इति।

x x

एवं द्वितीयायां ष्षाः ष्षा, श्शाः श्शा इति। एवं ततीयायां क्काः क्का, त्ताः त्ता इति;

१-२. क. ख. सस्वरौ विसर्गः; ग. अस्वरौ विसर्गः; भो. dByaṅs Daṅ rNam par bCad pa Med Do (न स्वरविसर्गौ)।

चतुर्थ्यां थ्थाः थ्था, द्वाः द्वा इति; पञ्चम्यां ध्धाः ध्धा, न्नाः न्ना इति; षष्ठ्यां प्पाः प्पा, फ्फाः फ्फा इति; सप्तम्यां ब्बाः ब्बा, भ्भाः भ्भा इति; अष्टम्यां म्माः म्मा, ट्टाः ट्टा इति; नवम्यां ठ्ठाः ठ्ठा, ड्डाः ड्डा इति; दशम्यां ढ्ढाः ढ्ढा, ण्णाः ण्णा इति; एकादश्यां च्चाः च्चा, छ्छाः छ्छा इति; द्वादश्यां ज्जाः ज्जा, झ्झाः झ्झा इति; त्रयोदश्यां ञ्ञाः ञ्ञा, क्काः क्का इति; चतुर्दश्यां ख्खाः ख्खा, ग्गाः ग्गा इति; शुक्लपौर्णमास्यां घ्घाः घ्घा, ङ्ङः ङ्ङ इति । नाभिकमलदलेषु सूर्यः सादिवर्गाक्षरं भुक्त्वा निवर्तते इति । शिरसि स्वचारेण चन्द्रः प्रविशति । ततः सूर्यभुक्तकमले चन्द्र आगच्छति, चन्द्रभुक्तकमलेषु सूर्यो गच्छति, सृष्टिक्रमेण कृष्णपक्षे[सूर्यः][1], चन्द्रः संहारक्रमेणेति । इह सर्वत्र यदा चन्द्रः सृष्ट्या चरति, तदा सूर्यः संहारेण; यदा सूर्यः सृष्ट्या, तदा चन्द्रः संहारेणेति नियमः ।

इदानीं ललाटकमलादिदलेषु सूर्यः ङादिवर्गाक्षरं चरत्युत्क्रमेण, कृष्णप्रतिपदि ङ ङं, घ घं ललाटे चतुर्दलेषु चरति; द्वितीयायां ग गं, ख खं; तृतीयायां क कं, ञ ञं; चतुर्थ्यां झ झं, ज जं । ततः कण्ठकमलदलेषु पञ्चम्यां छ छं, च चं; षष्ठ्यां ण णं, ढ ढं; सप्तम्यां ड डं, ठ ठं; अष्टम्यां ट टं, म मं; नवम्यां भ भं, ब बं; दशम्यां फ फं, प पं; एकादश्यां न नं, ध धं; द्वादश्यां द दं, थ थं; त्रयोदश्यां त तं, क कं हृदयकमलदलेषु; चतुर्दश्यां श शं, ष षं इति । ततो अमावस्यां यें यें, स सं कर्णिकाकेशराग्रे । हृदयममान्तमनाहतं बिन्दु[124a]शून्यं षडक्षरमिति । पञ्चाक्षरं महाशून्यमिति चन्द्रार्क[2]नियमः ।

इदानीं चन्द्रसूर्ययो र्द्धं(ध)नमृणमुच्यते चन्द्र इत्यादिना—

पक्षे चन्द्रः स्वचारैर्ऋणमपि कुरुते वासराख्यं पदं च
भूयो मासद्वयेन त्वपरमपि दिनं वर्द्धते वर्षयोगात् ।
पूर्णेऽब्दे षड्दिनं स्यादपरमपि तथा वर्द्धते मृत्युसीम्नः
एवं सूर्यस्य राजन् द्विगुणमृणमिदं वर्द्धते वर्षवर्षात् ।। ७६ ।।

इह तिथिध्रुवके प्रतिदिनं 'देया हेयाश्च देया' इति वचनात् वारस्थाने षष्टिघटिकात्मिका कला दीयते । तस्या ऋणहेतोर्घटिकास्थाने घटिका ऊना; अत एकघटिकोना कला प्रत्यहं स्थूलमानेन, सूक्ष्ममानेन सपादषट्पञ्चाशत्पाणिपलानि । कुतः ? यतः चतुःषष्ट्या भागलब्धे[3]ऽहर्गणे ऋणं भवति; अतः प्रत्यहं सपादषट्पञ्चाशत्पाणीपलानि चतुःषष्टिदिनैर्दिनमृणं कलाक्षयमित्यर्थः । सूर्यस्य दिनद्वयमिति । एवं पक्षे **चन्द्रः स्वचारैर्ऋणमपि कुरुते वासराख्य पदं च**, पञ्चदशघटिकाख्यं पदमिति । तिथौ चतुर्थभागाख्य- T317

---

१. भोटानुसारमत्र 'सूर्यः' इति अपेक्षितः प्रतीयते, किन्तु संस्कृतप्रतीषु अयं न लभ्यते भोटक्रमश्चेत्थम्—**Nag Pohi Phyog La Nima Syed pahi Rim pas Te Zla Ba sDud pahi Rim pas So** ।

२. क. ख. पुस्तकयोः नास्ति । ३. क. ख. ० लब्धो ।

मिति। **चकारात्** सपादषट्पञ्चाशत्पाणीपलोनमिति। **भूयः** पुनः प्रतिदिनहानिना(न्या) **मासद्वयेनापरमपि दिनं** चतुःषष्टिदिने ऋणं भवति, पुनर्वर्द्धते **वर्षयोगात्। पूर्णेऽब्दे षड्दिनं स्यात्**, पूर्वोक्तविधिनोनम्, **अपरमपि तथा वर्द्धते मृत्युसीम्नः**, मृत्युसीम्नो वर्षशतम्; ततो मृत्युसीम्नः सार्द्धद्वाषष्ट्यधिकशतपञ्चकं दिनगणं ऋणं वर्द्धते। **एवं सूर्यस्य राजन् द्विगुणमृण[1]मिदं वर्द्धते वर्षशतात्(वर्षात्)** मृत्युसीम्नः पञ्चविंशत्यधिक-एकादशशतदिनगणं वर्द्धते मृत्युसीम्न इति ऋणनियमः।

इदानीं श्वासादिभेदेन वर्षसंख्या उच्यते **षट्श्वासैरित्यादिना**—

षट्श्वासैरेकलिप्ता प्रभवति घटिका षष्टिपाणीपलैश्च
षष्टीनाड्यो दिनं स्यात् त्रिगुणितदशभिर्वासरैर्मासमेकम्। [124b]
षण्मासैश्चायनं स्याद् द्विगुणितमयनं वर्षमेकं प्रसिद्धम्
आयुः पुंसां शताब्दादृणगतिषु गतं कालनाडीवशेन॥ ७७॥

इह शरीरे मनुष्याणां श्वासप्रश्वासैः **षड्भिरेकलिप्ता** भवति, सा च पाणीपलमुच्यते। तैः **षष्टिभिः पाणीपलैरेकघटिका** भवत्येकदण्डात्मिका[2]।* ताः **षष्टिनाड्यो दिनमहोरात्रं स्यादिति**, तैर्दशभिस्त्रिगुणितैस्त्रिंशत्**मासमेकं वासरैरिति**। तैः **षण्मासैर्मकरादिभिरयनमेकं** भवति। तदेवायनं **द्विगुणितं वर्षमेकं प्रसिद्धम्**। अतः **शताब्दायुः पुंसामृणगतिषु गतं** तमोनाडीगतिषु **गतं कालो** मृत्युस्तस्य **नाडीवशेना**वधूतीसंख्याधर्मेणेति कालनाडीनियमः।

इदानीमीश्वरादीनां कुशीदत्वमुच्यते **त्रैलोक्य** इत्यादिना—

त्रैलोक्ये नास्ति योगी सुरभुजगनृणां पूरितुं यः समर्थ-
श्चन्द्रादित्यौ स्वदेहे चरति दिनगणं नैव चन्द्रस्वचारैः।
सूर्यश्चर्क्षाणि सर्वाणि चरति भुवने वर्षमध्ये क्रमेण
वर्षे वर्षे त्वृणेन ग्रसति सभुवनं कालचक्रैकवीरः॥ ७८॥

इह **त्रैलोक्ये सुरभुजगनृणां** मध्ये **योगी नास्ति यः समर्थः पूरितुं चन्द्रादित्यौ स्वदेहे**। तत् कस्माद्धेतोः? यतः **स्वचारैश्चन्द्रः** षष्ट्युत्तरत्रिशतदिनगणं **न चरति** वर्षावधेः **सूर्यश्चर्क्षाणि सर्वाणि** सप्तविंशत्न **चरति भुवने** शरीरे **वर्षमध्ये क्रमेण** पूर्वोक्तविधिना; अतः प्रतिवर्षात् प्रतिवर्षे **ऋणेन ग्रसति सभुवनं** शरीरम्। **कालचक्रैकवीर** उत्पादक्षयहेतुभूतः [सं]सारिणां **कालचक्रैकवीरः**; अतः स साधनीयश्चन्द्राकौं

---

१. क. ख. भो. पुस्तकेषु 'ऋणं' इति नास्ति। २. क. दण्डात्मिना।

*. अत्र क. पुस्तके 'इह शरीरे मनुष्याणां श्वासप्रश्वासैः षड्भिरेकलिप्ता भवति का' इति पुर्नलिखितः।

पूरयित्वा[125a] बोधिचित्तरजो धर्मौ प्राणापानौ पूरयित्वा योगिनेति नियमो बुद्धस्य भगवतः।

इदानीं मूत्रादिधातुविकारलक्षणमुच्यते अरिष्टवशात् छिन्नेत्यादिना—

छिन्ना यद्येकनाडी भवति नरपते मूत्रमम्बुत्व(अम्लत्व)मेति
तन्मात्रान् पञ्चरात्रांस्त्यजति परकला पिण्डविच्छेदकाले।
शब्दं कर्णे रसञ्च त्यजति खलु मुखे तारकामक्षिमध्ये
गन्धं घ्राणे नराणां करचरणतनौ चोष्णभावं क्रमेण ॥ ७९ ॥

इह शरीरे **छिन्ना यद्येकनाडी** वामा दक्षिणा वा प्राणप्रवाहरहिता **भवति; नरपते** इत्यामन्त्रणम्; **मूत्रमम्बुत्व**(अम्लत्व)[1]**मेति** षण्मासावधेः। **तन्मात्रान् पञ्चरात्रान् त्यजति परकला** प्राणशक्तिः षड्दिनावधेर्यथाक्रमम्, प्रतिदिने **पिण्डविच्छेदकाले** शब्दविषयं **कर्णात्** त्यजति, **कर्णे** इत्यागमपाठात् पञ्चम्यर्थे सप्तमीति; **रसं च त्यजति खलु मुखे** जिह्वाया इति पञ्चदिनावधेः; **तारकामक्षिमध्यात्** चतुर्दिनावधेः; **गन्धं घ्राणात्** त्रिदिनावधेः; **नराणां करचरणतनावुष्णत्वभावः** स्पर्शभावः द्विदिनावधेः; अन्तदिने धर्मधातुं शुक्रच्युतिं त्यजति श्वासचक्रं चेति।

अपरषड्दिनाभ्यन्तरे मृत्युलक्षणमुच्यते—

नासाग्रं लम्बमानं शिरसि धृतभुजो दृश्यते तत्स्वरूपं
लाक्षारागप्रघृष्टोऽप्युभयकरतले नैव रागं करोति।
आदित्यः कृष्णवर्णः परिणतशशभृद् दृश्यते पीतवर्णः
मूत्रं देहश्च शीतो भवति नरपते तद्दिने मृत्युरेव ॥ ८० ॥

इह शरीरे मरणे प्रविष्टे स्वकीयं **नासाग्रं लम्बमानं** हस्ति[2]कराकारं दृश्यते; **शिरसि धृतभुजः** स्वकीयं **तत्स्वरूपं दृ**[125b]**श्यते**, न सूक्ष्मो दृश्यते[3]; तथा **लाक्षारागप्रघृष्टोऽप्युभयकरतले नैव रागं करोति** करतलचर्मणि; **आदित्यः कृष्णवर्णो दृश्यते, परिणतशशभृत्** पूर्णिमाचन्द्रो **दृश्यते** सम्पूर्ण[4] **पीत** इति षड्दिनावधेः; ततो यस्मिन् दिने **मूत्रं देहश्च शीतो भवति, तद्दिने** तस्मिन् दिने **मृत्युरेव। नरपते** इत्यामन्त्रणम्।

अपरमपि षड्दिनाभ्यन्तरे मृत्युलक्षणमुच्यते—

जिह्वाधः कालसूत्रं प्रभवति नयने ब्रह्मरेखातिसूक्ष्मा
श्वासश्चन्द्रार्कमार्गे स्फुरति नरपते द्वे कपोले तथैव।

---

१. ग. अमृतम्; भो sKur Ba Ñid (अम्लत्वम्), भोटानुसारं अम्बुत्वस्थाने अम्लत्वपाठः सम्यक् प्रतीयते। २. क. ख. हस्त। ३. ख. पुस्तके 'तेन सूक्ष्मो दृश्यते' इत्यधिकः पाठः। ४. क. ख. स पूर्वः।

कक्षाविष्टं स्तनोर्ध्वं ग्रहगणसकलं दृश्यते सस्फुलिङ्गं
स्तब्धग्रीवा सगात्रा भ्रमणमपि तनौ लक्षणं चाष्टमृत्योः ॥ ८१ ॥

इहारिष्टमरणाक्रान्तस्य जिह्वाधः कालसूत्रं कृष्णरेखा भवति, तथा नयने ब्रह्मरेखातिसूक्ष्मा केशप्रमाणरेखा कृष्णरक्तमण्डलभेदिनी भवति, श्वासः चन्द्रार्कमार्गे स्फुरति, द्वे कपोले स्फुरतः। तथैव कक्षाविष्टं स्तनोर्ध्वम्, नाड्यौ कक्षाविष्टौ भवतः, दृश्यते न ग्रहगणसकलं दृश्यते सस्फुलिङ्गम्, स्तब्धग्रीवा तस्य सगात्रा हस्तपादसहिता निश्चेष्टा भ्रमणमपि तनौ भवति लक्षणं चाष्ट[1]मृत्योरेतदुक्तं भवति।

अपरमपि यत् किञ्चित् विपरीतं दृश्यते शरीरे बाह्ये वा छायापुरुषादिकं तत् सर्वं मरणलक्षणं योगिना वेदितव्यम्, तत् ज्ञात्वा दानादिकं कार्यम्। यदि पुण्यबलेन जीवति, तथापि शोभनम्; अथ मरणं गच्छति, तथापि यद् दत्तं तस्य फलमनुभुङ्क्ते। अतः उभयपक्षतो दानं देयं सौगतैः सुखार्थिभिरिति भगवतो नियमः।

इति श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां[2] लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां[3]
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायाम्[4]
अरिष्टमरणलक्षण[5]-नाडीच्छेद-महोद्देशः
चतुर्थः ॥ ४ ॥

(५) क्षणलक्षण-कालचक्रनियममहोद्देशः

इदानीं लोकसंवृत्यां सृष्टिसंहारलक्षणः कर्तोच्यते उत्पत्तिमित्यादिना[126a]—

उत्पत्तिं यः करोति प्रसवनसमयं बालकौमाररूपं
संहारः सैव लोके पुनरपि कुरुते कालचक्री न सूर्यः।
चन्द्रादित्यादिदेवान् ग्रसति स भगवान् रात्रिभागे सभूतान्
भूयो मुञ्चन्त्यनन्तानपि दिनसमये सृष्टिहेतोः क्रमेण ॥ ८२ ॥

इह संसारे यः च्युतिक्षणः सत्त्वानामुत्पत्तिं करोति रजःशुक्रसंयुक्तम् आलयविज्ञानधर्मी गर्भे; ततो गर्भासि(शये) प्रसवनसमयं करोति, बालकौमारादि[6]रूपं करोति; शरीरस्य सृष्टिसंहारं(:)स एव्य(व) च्युतिक्षणो[7] लोके स्वर्गमर्त्यपाताले पुनरपि कुरुते कालचक्री न सूर्यः। सूर्यो रजः चन्द्रः शुक्रम् आलयविज्ञानेन विना कालचक्रेण [कालचक्रेण] विना न करोतीत्यर्थः। इह कस्मान्न करोति ? रजःशुक्रधर्मी सूर्यचन्द्र इति। इह सर्वत्राग्निसूर्यसोमात्मकं जगदिति प्रसिद्धं वाक्यमित्युच्यते। इह यतश्चन्द्रादित्यादिदेवान् ग्रसति स भगवान् रात्रिभागे सभूतानिति इह संसारे रात्रिभागश्चन्द्रः सृष्टिः, दिवाभागः सूर्यः संहारस्तान्। अत्र रात्रिभागे उत्पत्तिकाले स आलयविज्ञानलक्षणो[8]

१. ग. अरिष्ट; भो. ḫDod(इष्ट)। २. क.ख. मूलतन्त्रा०। ३. ग. पुस्तके नास्ति। ४. ग. विमलप्रभाटीकायां। ५. ग. लघुकालचक्रतन्त्रराजस्यारिष्ट०। ६. ख. बालकौमारी०। ७. क. ख. च्युतिकरणो। ८. ग. ० लक्षणे।

मातृगर्भे चन्द्रः शुक्रम् आदित्यो रजः; आदिशब्देन विण्मूत्रसम्भूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वा-
काशधातुसहितान्(नि) ग्रसति रजः शुक्राधारस्थितः कायवाक्चित्तनिष्पादनार्थम्, चन्द्रः
शुक्रमीश्वरः, रजः सूर्यः सदाशिवः, मज्जा रुद्रः, मूत्रं विष्णुः, ब्रह्मा विडिति। चन्द्रादि-
त्यादिदेवान् ग्रसति रात्रिभागे उत्पत्तिकाले। भूयः पुनः मुञ्चत्यनन्तान् शरीरे नाना- T 318
भावैर्ग्रस्ते सति विकुर्वितान् खलु दिवससमये संहारकाले त्यजतीत्यर्थः। सृष्टिहेतोः पुनर-
परोत्पादहेतोर्मुञ्चति, क्रमेण पृथिव्यादिधातुपरित्यागेन नाभिहृत्कण्ठललाटोष्णीषाधारे
क्रमेणेति संवृतिकर्तानियमः [126b]।

इदानीं कर्मकरणादिकं लोकसंवृत्या उच्यते शब्दाद्यमित्यादिना—

शब्दाद्यं कर्मषट्कं भवति हि करणं त्विन्द्रियाणां च षट्कं
वर्षा मासाश्च पक्षा दिननिशितिथयश्चन्द्रसूर्यौ च कर्ता।
एषां संहारकर्ताऽपर इह भवेत् सृष्टिकर्ता न कर्ता
व्योमव्यापी खवज्री विषयविरहितो निर्गुणो निःस्वभावः॥ ८३॥

इह शरीरे निष्पन्ने सति शब्दस्पर्शरूपरसगन्धधर्मधातुषट्कं कर्म भवति, करणमिन्द्रियाणां षट्कं श्रोत्रकायचक्षुर्जिह्वाघ्राणमनःषट्कम्। वर्षा मासाश्च द्वादशराशिभेदेन चन्द्रकलाभेदेन[1], पक्षाश्चतुर्विंशतिः, दिननिशि अहोरात्रम्, तिथयः पञ्चदश, चन्द्रसूर्यौ च करणमेतत् समस्तम्। कर्ता आलयविज्ञानलक्षणः शुक्रच्युतिक्षणः सहजानन्दो लोकसंवृत्येति। एषां च्युतिक्षणादीनां कर्तृकरणकर्मणः संहारकर्ताऽपर इह भवेत्, यतः सृष्टिकर्ता न कर्ता। ततो व्योमव्यापी खवज्री विषयविरहितो निर्गुणो निःस्वभावः सहजकायो निःकलः सवर्गो[2]व्यापी[3] इति। अतः सृष्टिसंहारकर्ता निर्वाणलक्षणो नास्तीत्यर्थः, इति कर्ता(र्तृ)क्षयनियमः।

इदानीं समुदयादिकमुच्यते गन्ध इत्यादिना—

गन्धो वर्णो रसः स्पर्श इति च धरणी तोयवह्निश्च वायु
अष्टौ वै रूपिणः स्युः समुदितविषया एकमुख्याः समस्ताः।
एतत् त्रैलोक्यकृत्स्नं स्फरणनिधनतां याति कालप्रभावात्
शब्दः शून्यं ह्यरूपं भवति नरपते धर्मधातुर्मनश्च॥ ८४॥

इह संसारे समुदयादुत्पादो नैकधर्मादिति। अत्र समुदयो गन्धो वर्णो रसः स्पर्श इति च धरणी तोयो वह्निश्च वायु[127a]रित्येते ऽष्टौ रूपिणः स्युः समुदितविषया एकमुख्याः समस्ताः। एषामष्टरूपिणामेको गुणो मुख्यो भवति; शेषा गौणा भवन्तीति पूर्वोक्तम्। शब्दः शून्यं ह्यरूपं भवति नरपते धर्मधातुर्मनश्चेति चत्वारोऽरूपिणः। अत्र शून्यशब्देन शुक्रधातुरुच्यते। एतत् त्रैलोक्यकृत्स्नं स्फरणनिधनतां याति कालप्रभावाच्च्युतिक्षणप्रभावादित्यर्थः, इति समुदयनियमः।

---

१. ग. पुस्तके नास्ति। २-३. ग. सर्वव्यापी।

इदानीं संसारबन्ध उच्यते **बध्नात्यात्मेत्यादिना**—

बध्नात्यात्मा विकल्पैः प्रकृतिगतगुणैः कोशकीटो यथैव
आत्मानं चात्मना वै पुनरपि मनसा मुञ्चते निर्विकल्पात् ।
तस्माद् राजन् स्वकर्म प्रकृतिगुणगतं दुःखसौख्यं करोति
कः कर्ता किं करोति प्रकृतिविरहितो मुह्यतेऽज्ञानलोकः ।। ८५ ।।

इह शरीरे स्कन्धाहङ्कारमात्रः संसार **आत्मा**, स चात्मानं **बध्नाति विकल्पैः प्रकृतिगतगुणैरिति** । प्रकृतिः स्कन्धधात्वायतनसमूहः, तत्र गतगुणा उत्पादनिरोधलक्षणा गन्धादयः, संसारचित्तस्य भावाभावविकल्पलक्षणाः, तैः प्रकृतिगतगुणैर्विकल्पैर्बध्नात्यात्मानं **कोशकीटो यथैवा**त्मानं गुणैः स्वतनुनिर्गतैस्तन्तुभिर्बध्नाति । **आत्मानं चात्मना वै पुनरपि मनसा मुञ्चते निर्विकल्पादिति** पुनः स आत्मा प्रकृतिगतगुणैर्विकल्पैर्मुक्तो निर्विकल्पो भवति, तस्मान्निर्विकल्पमनसा मुञ्चत्यात्मानं संसारदुःखादिति । **तस्माद् राजन् स्वकर्म प्रकृतिगुणगतं दुःखसौख्यं करोति, कः कर्ता किं करोति प्रकृतिविरहितो**-ऽष्टादशधातुरहितो न करोतीत्यर्थः, इति **मुह्यतेऽज्ञानलोको** मिथ्यात्मकर्तापरिकल्पनयेति कर्मबन्धनियमः ।

इदानीं पृथिव्यादि-अष्टविधा प्रकृतिरुच्यते **पृथ्वीत्यादिना**—

पृथ्वीतोयाग्निवाता गगनमपि मनो बुद्ध्यहङ्कारचित्तं
स्थूला सूक्ष्मा परा च त्रिविधगुणगता वर्णबिन्द्वादिभेदैः । [127b]
स्थूलास्थूलेन्द्रियेषु प्रकृतिरधिगता सूक्ष्मचित्ते च सूक्ष्मा
ज्ञाने च ज्ञानमूर्त्तिः प्रकृतिरविकृतिः जीवभूता न भूता ।। ८६ ।।

इह शरीरे आदावष्टविधा प्रकृतिः, **पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमनोबुद्ध्यहङ्कारा**-त्मिकाष्टविधेति संसार**चित्तस्य** । एषां पुनस्त्रिधा **स्थूला सूक्ष्मा परा च त्रिविधगुणगता** सत्त्वरजस्तमोगुणेषु गता गुणगता इति **वर्णबिन्द्वादिभेदैः स्थूलास्थूलेन्द्रियेषु** गता जाग्रदवस्थाधर्मिणी, **स्थूला** जाग्रद्भावग्रहणादिति स्थूलचित्तस्य जडवासनाग्राहकस्येति । **सूक्ष्मचित्तस्य सूक्ष्मा** स्वप्नावस्थाधर्मिणी, मनोमयेन्द्रियैर्मायोपमभावग्रहणादिति । **सूक्ष्मा परा** च सर्वेन्द्रियनिरोधलक्षणा सुषुप्तावस्थाधर्मिणी, परा सर्वभावपरित्यागादिति, न पश्यतीत्याहुरेकीभूत इत्यादिलक्षणा । एवं त्रिविधा सत्त्वरजस्तमोभेदेन जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त-धर्मिणी प्रकृतिः, **स्थूला**दिवा लक्षणा, **सूक्ष्मा** सन्ध्यालक्षणा, **परा** महानिशालक्षणा इति । **चकारादपरा** चतुर्थी प्रकृतिः **ज्ञानमूर्त्तिः**; सा **ज्ञानचित्तस्य** तुर्याचित्तस्य शुक्रच्युतिकाले तुर्यावस्थाधर्मिणी सत्त्वानामुत्पादनिरोधहेतुभूता[1] यतः, अतो ज्ञानमूर्त्तिः; सा च **प्रकृतिरविकृतिर्जीवभूता** महाप्राणभूता धर्मधातुस्वभावेति । **न भूतेति** पृथिवीतोयतेजोऽनिलशुक्रभूता न भवतीत्यर्थः । एवं संसारचित्तस्य जाग्रदादिभेदेन चतुर्विधो नियमः प्रकृतेः ।

---

१. क. ख. सत्त्वानामनुत्पादनिरोध० ।

इदानीं तुर्यादीनां संज्ञाधर्मा उच्यन्ते आद्येत्यादिना—

आद्याः शून्यानि पञ्च प्रकृतिरविकृतिः श्रीकलाबिन्दुनादं
कालश्चित्तं च बुद्धिः प्रकृतिरपि तथान्ये स्वरा मारुताद्याः ।
स्थूला वर्गाक्षराणि त्रिगुणितदशकं षोडशान्ये विकारा-
स्तेषां मध्ये न वज्री प्रकृतिरविकृतिर्व्यापको निःस्वभावः ॥८७॥

[128a]

इह संसारे वेद्यवेदकयोः संज्ञाऽर्थप्रतिपादकी(दिका), सा च वाच्यवाचकलक्षणेनावस्थितेति । अत्र ज्ञानप्रकृतेराद्याः शून्यानि पञ्च, अनाहताद्याः, अनाहतमध्येऽकारशून्यम्, पूर्वे इकारशून्यम्, दक्षिणे ऋकारशून्यम्, उत्तरे उकारशून्यम्, पश्चिमे ऌकारशून्यम् इति आद्याः शून्यानि पञ्च प्रकृतिरविकृतिः । श्रीकलाबिन्दुनादं कालश्चित्तं च बुद्धिरिति । कला सूर्यः, बिन्दुश्चन्द्रः, नादो राहुः, कालः कालाग्निः, चित्तं बुद्धिरिति । प्रकृतिरपि सुसु(षु)प्तावस्थाधर्मिणी । अन्ये स्वरा मारुताद्याः, आदिशब्देनाकाशाद्या इति अ[1] इ ऋ उ ॠ (ॡ),[2] अ[3] ए[4] अर् ओ अल् ह य र व लाः । एवं दीर्घा इति स्वप्नप्रकृतिः । स्थूला वर्गाक्षराणि द्वादशमात्रासहितानि षष्ट्युत्तरत्रिशतानि जाग्रत्प्रकृतिरिति । षोडशान्ये विकारा स्थूला इति । प्रत्येकैकाक्षरस्य पञ्चदशस्वरग्रहणेन व्यञ्जनेन सार्द्धं षोडशविकारा इति सर्वत्र पञ्चधातवः पञ्चेन्द्रियाणि[5] पञ्चविषया विकारा इति मनसा सार्द्धं षोडश । एषां पृथिव्यादीनां मध्ये वज्री न प्रकृतिर्न्नविकृतिर्व्यापको निःस्वभावः, यतः संसारवासनामुक्तः चित्तधर्मी, अतोऽस्ति तच्चित्तं यच्चित्तमचित्तमिति (अ० सा० प्र० प्रा०, १) । संसारचित्तरहितं निर्वाणचित्तमपरमस्ति, T 319
वज्रीसंज्ञया भगवतोक्तमिति चतुर्विधप्रकृतिनियमः ।

इदानीं सत्त्वानां स्वकर्मफलोपभोग उच्यते संसार इत्यादिना—

संसारे सौख्यदुःखं प्रकृतिगुणगतं चास्ति तत्कर्मजं च
स्थूलं सूक्ष्मं च शान्तं (परं च) त्रिविधमपि भवेत् कर्म चैतन्नराणाम् ।
कर्ता चाहं विकर्म त्वपरपशुपतिः चास्ति कर्तेति कर्म
नाहं कर्ता परो वा प्रकृतिविरहितो ज्ञायते तन्न कर्म ॥८८॥

इह संसारे सत्त्वः सौख्यं वा दुःखं वा सौख्यदुःखं प्रकृतिगुणगतं पूर्वोक्तगुणगतं च स्वयंकृतमित्यर्थः [128b] । अस्ति तत्कर्मजं च स्वकृतकर्मणा जातं कर्मजं भुक्त इत्यर्थः । तदेवात्र कायवाक्चित्तवशात् त्रिविधं स्थूलं सूक्ष्मं परं च । त्रिविधं विकर्म कर्म अकर्म । तेषु यत् कर्ताहमिति चित्तमुत्पद्यते तद् विकर्मसंज्ञम् । अपरः पशुपतिरन्यो

१-२. ग. अ इ ऋ उ ऌ । ३-४. क. ख. अरे ।

५. भो. Las Kyi dBaṅ Po lÑa (पञ्च कर्मेन्द्रियाणि) ।

वा कर्तास्ति यच्चित्तमुत्पद्यते तत् कर्मसंज्ञम्। नाहं कर्ता परो वा प्रकृतिविरहितः स्कन्धादिसामग्रीरहितः यच्चित्तमुत्पद्यते तदकर्मसंज्ञमिति। एवं यद् ज्ञायते आत्मपरकर्ता(तृ)ग्रहरहितं तन्न कर्म कर्त्रा कृतं[1] न कर्तृहेतुभूतमिति। कर्मणा उत्पाद(:) सामग्रीवशात्, यथा शालिबीजाच्छालिनिष्पत्तिस्तथा शुभकर्मणा शुभकर्मफलनिष्पत्तिः, यथा कोद्रवबीजात् कोद्रवनिष्पत्तिस्तथाऽशुभकर्मणाऽशुभफलनिष्पत्तिः। 'न स्वतो नापि परत' इति (मा० का० १,२) वक्ष्यमाणे वक्तव्यमिति कर्मफलनियमः।

इदानीं कर्ता [रं] विना[2] सफलं[3] कर्म उच्यते तस्मादित्यादिना—

तस्मात् कर्ता न कश्चिद् दह(द)ति न हरति प्राणिनां सौख्यदुःखं
संसारे पूर्वकर्म प्रभवति फलदं यत्कृतं त्रिःप्रकारम्।
मूढानां बुद्धिरेषा दह(द)ति स हरते सृष्टिसंहारकर्ता
देहे छिद्रं न पश्यन्त्यपरिमितशुभं हार्यमाणं स्वकाक्षैः ॥८९॥

इह संसारे प्राणिनां सौख्यदुःखं कश्चित् कर्ता न ददते[4] इ(ति) न हरते (ति) यस्मात् पूर्वकर्म स्वयंकृतं प्रभवति फलदं यत्कृतं त्रिःप्रकारम्। तस्मात् कर्ता न कश्चिद् ददति[5] न हरतीत्यर्थः। मूढानां बुद्धिरेषा ददति स हरते सृष्टिसंहारकर्ता इति। कस्माद्? यतः स्वदेहे छिद्रं न पश्यन्ति अपरिमितशुभं हार्यमाणं स्वकाक्षैरिति। स्वेन्द्रियैर्बाह्ये षड्विषयप्रवृत्तैरध्यात्मनि अनाश्र(स्र)वसुखरहितैः [इति] स्वकर्मफलोपभोगनियमः।

इदानीमिच्छादीनां कर्तुः [129a] परस्परसंयोगभाव उच्यते इच्छेत्यादिना—

इच्छाशक्तिः क्रिया या स्वमनसि जगतो ज्ञानशक्तिस्तृतीया
भावालोकं प्रवेशं समरसकरणेऽर्थोपलब्धिं करोति।
भूयस्त्यागं चतुर्थी त्रिभुवननमिताऽद्वया वै क्रमेण
तासां मध्ये न किञ्चिद् ग्रसति नरपते मुञ्चते नैव वज्री ॥९०॥

इह जगतः सत्त्वानां स्वमनसीच्छाशक्तिर्या भावानामालोकं करोति, प्रवृत्तिं[6] मनसः करोतीत्यर्थः। क्रिया भावेषु प्रवेशं करोति; ज्ञानशक्तिर्भावसमरसकरणेऽर्थोपलब्धिं करोति, अर्थनिश्चयं ज्ञाननिश्चयमित्यर्थः। भूयस्त्यागं पूर्वज्ञानस्य त्यागं चतुर्थी त्रिभुवननमिताऽद्वया वै क्रमेण करोति, इति मनसः शक्तयश्चतस्रः; तासां चतसृणां मध्ये न किञ्चिद् ग्रसति। आलोकं प्रवेशं समरसकरणम्, अर्थोपलब्धिं ज्ञानत्यागं वा, मुञ्चति नैव वज्री विशुद्धचित्तात्मा य इति इच्छादिनियमः।

---

१. क. हृतं। २-३. क. ख. विनाशफलं।
४. क. ख. दहते; ग. ददते; भो. sByin (ददते)।
५. क. ख. दहति। ६. क. ग्रहविर्मनसः।

इदानीं दुःखसौख्यप्रदातोच्यते आत्मेत्यादिना—

आत्मा कर्ता न तत्र प्रभवति नृपते दुःखसौख्यप्रदाता
बन्धो मोक्षो न कश्चिद्भवति नरपते चित्तशक्तिं विवर्ज्य ।
आकाशं कुम्भमध्ये व्रजति न च जलं नीयमाने च यद्वद्
व्योमव्यापी खवज्री विषयविरहितो देहमध्ये च तद्वत् ।। ९१ ।।

संसारे आत्मा कर्ता न तत्र प्रभवति नृपते दुःखसौख्योः(ख्य)प्रदाता, दुःखसौख्यप्रदाता न कश्चिदस्ति त्रिभुवननिलये चित्तशक्तिं विवर्ज्य । चित्तशक्त्योऽत्र जाग्रत्स्वप्नसुसु(षु)प्ततुर्यालक्षणा इति, तासां प्रदाता तुर्या उत्पादनिरोधधर्मिण्यवस्था, तां चित्तशक्तिं विवर्ज्य नान्यः कश्चिदात्मा कर्ता वा सौख्यदुःखप्रदातेति । बन्धो मोक्षो वाऽपरः [न][1] कश्चिदस्ति[2] शुक्रच्युतिं विहाय सत्त्वानामिति संसारचित्तं विहायेत्यर्थः । निर्वाणचित्तं पुनः संसारातीतं सर्वदेहे स्थितं न बध्यते न मुच्यते केनचित् । आकाशं कुम्भमध्ये व्रजति न च जलं नीयमाने च यद्वद्; व्योमव्यापी खवज्रीति शून्यतादिविमोक्षविशुद्धं चित्तं खवज्रीति; विषयविरहि[129b]तो निर्गुण इति तन्मात्रादिसत्त्वरजस्तमोरहितं जाग्रत्स्वप्नसुसु(षु)प्ततुर्यारहितमित्यर्थः; निःस्वभावो देहमध्ये च तद्वत्; सा(शा)श्वतो भाव उच्छेदोऽभावः, तौ न विद्येते यस्य स वज्री विशुद्धचित्तमित्यर्थं इति संसारनिर्वाणचित्तनियमः ।

इदानीं कर्मवाद उच्यते एवमित्यादिना—

एवं कर्मास्तिवादी भवति स भगवानेकशास्ता न कर्ता
सर्वज्ञश्चादिबुद्धस्त्रिभुवननमितः कालचक्री न चक्री ।
ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रः शरणमधिगतो यस्य पादाब्जमूले
तं वन्दे कालचक्रं जिनवरजननं निर्गुणं निर्विकल्पम् ।। ९२ ।।

एवमुक्तेन क्रमेण कर्मास्तिवादी कर्ता [इति] नास्तिवादी नैरात्म्यवादी भवति, स भगवान् विशुद्धचित्तात्मा। "न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकं(:)[मा०का०५,२]", एकशास्ता त्रैधातुके न कर्ता । सर्वज्ञश्चादिबुद्धः सर्वज्ञता-सर्वाकारज्ञता-मार्गज्ञता-मार्गाकारज्ञता-प्राप्तस्त्रिभुवननमितः कालचक्री अनाश्र(स्र)वसुखसर्वाकारधर्मी । न चक्री विष्णुः । कुतः ? यतो ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रः शरणमधिगतो यस्य पादाब्जमूले, तं वन्दे कालचक्रमिति सोऽहं मञ्जुश्रीजिनवरजननं निर्गुणं निर्विकल्पं पूर्वोक्तलक्षणमिति शून्यतावादिनियमः ।

[130a]इदानीं मरणान्ते भाववशादुत्पादमाह शान्त इत्यादिना—

शान्ते भावेऽमरत्वं भवति नरपते तामसे नारकत्वं
तिर्यक्त्वं राजसे च प्रवरभुवितले मानुषत्वं च मिश्रे ।

१-२. भो० Ma Yin (न कश्चिदस्ति) ।

भूतत्वं त्रिप्रकारं रजसि तमसि वै सात्त्विकोऽन्योऽन्यमिश्रै-
र्यद्भावं मृत्युकाले स्मरति च मनसा सम्भवस्तत्र जन्तोः ।। ९३ ।।

इह संसारे सत्त्वानां स्वकर्मवशात् सत्त्वगुणादिभावस्तद्भावादुत्पादमाह । अत्र मरणकाले शुभकर्मवशात् **शान्तो भावो भवति** सत्त्वगुणात्मकः, तस्मिन् भावे जाते सति **मरणान्ते अमरत्वं भवति । नरपते** इति सुचन्द्रसम्बोधनम् । अशुभवशाद् रौद्रभावो[1] भवति तमोगुणात्मकः, तस्मिन् **तामसे भावे नारकत्वं** भवति । मध्यमाऽशुभवशाद् राजसो भावस्तस्मिन् **राजसे भावे** सति **तिर्यक्त्वं** भवति मरणान्ते । **प्रवरभुवितले मानुषत्वञ्च मिश्रे**, शुभाशुभसंवलिते मानुषत्वं भवति । **भूतलं(त्वं) त्रिप्रकारं रजसि तमसि वै सात्त्विकेऽन्योन्यमिश्रे** । अत्र सत्त्वाधिके उत्कृष्टाः प्रेताः, रजोऽधिके मध्यमाः, तमोऽधिकेऽधमा[2] इति । असुरास्तु देवान्तर्वर्त्तिन एव; एवं मनुष्याः सत्त्वाधिके सुखिनः, रजोऽधिके दुःखिनः, तमोऽधिके सदादुःखिनः; एवं सर्वत्र स्वर्गादिकेऽपि । अनन्तकर्मफलविपाकः सत्त्वानां स्वकर्मवशाद्भवतीति; अतो **यद्भावं मृत्युकाले स्मरति च मनसा**
T 320 **सम्भवस्तत्र जन्तोरिति** भावोत्पादनियमः ।

इदानीं देवादिभेद उच्यते **देवत्वमित्यादिना**—

देवत्वं चाष्टभेदैः सुरवरनिलये मानुषत्वं यथैकं
तिर्यञ्चोऽब्धिप्रकाराः खलु नरकगतौ नारकत्वं तथैकम् ।
एषु स्थानेषु जन्तुर्भ्रमति रसगतो कर्मपाशैर्निबद्धो
नामुक्तो याति मोक्षं परमसुखपदं जन्मलक्षैरनेकैः ।। ९४ ।।

इह **सुरवरनिलये** स्वर्गे **देवत्वं चाष्टभेदैर्**भवति; पृथ्वीकृत्स्नेनाप्कृत्स्नेन तेजःकृत्स्नेन वायुःकृत्स्नेन शून्यकृत्स्नेन चन्द्रकृत्स्नेन सूर्यकृत्स्नेन राहुकृत्स्नेनेति भावितेन दानादिपुण्यबलेन दशाकुशलपरित्यागेनेति देवत्वं चाष्टभेदैर्भवति । **मानुषत्वं यथैकं** ष[130b]ड्धात्वात्मकम् । **तिर्यञ्चोऽब्धिप्रकाराः**[3] चतुःप्रकाराः । षड्धात्वात्मकम्, **नारकत्वं तथैकं नरकगतौ** षड्धातुवासनोद्भूतं स्वप्नतुल्यमिति । असुरत्वं देवान्तर्भूतम्, प्रेतत्वं नारकान्तर्भूतम्, दुःखोपभोगतः । **एषु** चतुर्दश**स्थानेषु** अष्टैक-चतुरेकजातिषु **जन्तु**रालयविज्ञानधर्मी[4] **भ्रमति रसगता**विति षड्गतौ **कर्मपाशैर्निबद्धः, नामुक्तः** कर्मपाशैर्न **याति मोक्षं परमसुखपदं जन्मलक्षैरनेकैरिति** देवादिभेदनियमः, सत्त्वाशयवशादिति ।

इदानीं बन्धहेतुरुच्यते **स्कन्धैरित्यादिना**—

स्कन्धैर्धात्विन्द्रियैश्च त्रिविधभवभयैः पञ्चकर्मेन्द्रियैश्च
तन्मात्रैः कर्मदोषैः सह गुणमनसा बुद्ध्यहङ्कारकाद्यैः ।

---

१. क. ख. रौद्रो । २. क. ख. अधर्मा । ३. क. ख. द्विप्रकाराः ।
४. ग. जन्तुरालयविज्ञानधर्माबद्धो ।

एतैर्बद्धो हि जीवो भ्रमति रसगतौ सूक्ष्मभावेन भूयः
भावे त्यक्ते प्रयात्यक्षयपरमपदं यत्र जन्मी न भूयः ॥ ९५ ॥

इह षड्गतिसंसारे जीवः प्राणालयविज्ञानधर्मी बद्धो भ्रमति। कैः ? [इ]कन्धभूतैः षड्धातुभिरिन्द्रियैस्त्रिविधभवभयैः षड्विषयैस्तन्मात्रैः पञ्चकर्मेन्द्रियैश्च कर्मदोषैः शुभाशुभैः सह[1] गुण[2]मनसा बुद्ध्यहङ्कारकाद्यैराद्यशब्देन प्राणशक्तिमूलप्रकृतिरिति, एतैर्बद्धो हि जीवो भ्रमति रसगतौ सूक्ष्मभावेन, भूयः पुनश्च्युत्यानन्देनेति बन्धः सूक्ष्म-स्थूलभावो जाग्रत्स्वप्नसुसु(षु)प्ततुर्यालक्षणः। एतस्मिश्च भावे त्यक्ते प्रयात्यक्षयपरमपदं यत्र गतो न भूयो जन्मी संसारी भवति, इति संसारवासना-अविद्यानियमः।

इदानीमस्या विपक्षा विद्योच्यते [वेदः] साङ्ग इत्यादिना—

वेदः साङ्गो न विद्या स्मृतिमतसहितस्तर्कसिद्धान्तयुक्तः
शास्त्रश्चान्यद्धि लोके कृतमपि कविभिर्व्याससवैश्वानराद्यैः[131a]।
विद्येत्यध्यात्मविद्याऽक्षरमपि मुनिभिः प्रोक्तमेवात्र लोके
त्रैलोक्यं यत्र कृत्स्नं भवति नरपते लीयते यत्र भूयः ॥ ९६ ॥

इह संसारे लोकव्यवहारे विद्या या परमार्थतत्त्वविषयेऽविद्या सा। प्रथमं वेदः साङ्गः षड्भिरङ्गैः सह, अङ्गानि च सूत्रं गेयं व्याकरणं छन्दो निरुक्तिं ज्योतिश्चेति, एभिः सहेत्यर्थः। स च स्मृतिमतसहितः स्मृतयो मन्वादयः, तैः सहितः संयुक्तः। तर्को लौकिकवस्तुप्रमाणशास्त्राणि; सिद्धान्ता लौकिकसिद्धिसाधका मण्डलचक्रादिविकल्प-भावनाधर्मास्तैर्युक्त इति विशेषणम्। एवं शास्त्रं चान्यद्धि लोके कृतमपि कविभिर्व्या-सवैश्वानराद्यैरिति व्यासकाव्यं भारतम्, वैश्वानरकाव्यं भावनाधर्मः, आदिशब्देन वाल्मीक(कि)काव्यं रामायणम्, मार्कण्डेयकाव्यं पुराणधर्मादयः संगृहीताः, कृतं कविभिरेभिर्न विद्या। तर्हि विद्या केत्याह—विद्येति अविकल्पिताऽध्यात्मविद्या शून्यता सर्वाकारैरुपेता, अन्यच्चाक्षरमपि विद्याऽनालम्बिनी अनाश्र(स्र)वसुखात्मिका इति। विद्या हेतुफलात्मिका हेतुफलैकलोलीभूता ग्रः(अग्नि)प्रभा दहनैकलोलीभूतवदिति। मुनिभिरतीतवर्तमानैः प्रोक्तमेवात्र लोके धर्मचक्रस्थैः। किंरूपा सेत्याह—त्रैलोक्यं यत्र कृत्स्नमिति, यस्मात् सुखक्षणात्त्रैलोक्यं सकलं भवति उत्पादकाले, लीयते यत्र भूयः, मरणकाले यत्र क्षणे लीयते। भावसमूहः क्षरक्षणे स एव क्षणोऽनाश्र(स्र)वसुखमक्षरमुच्यते। यस्माद् बुद्धा उत्पद्यन्ते धर्मचक्रप्रवर्त्तनाय, यस्मिन् महापरिनिर्वाणो(णं) हि नरपत इति विद्यानियमः।

इदानीं पूर्वयोगाभ्यासबलमुच्यते योगीत्यादिना—

योगीन्द्रोऽप्राप्तयोगः प्रचलितमनसा याति मृत्युं कदाचित्
श्रीमान् मानुष्यलोके प्रवरमुनिकुले जायते योगयुक्तः।

१-२. भो. Yon Tan Dan bCas (सगुण)।

पूर्वाभ्यासेन तेनाहरति पुनरपि ज्ञानयोगं विशालं
लब्धे ज्ञाने प्रयात्यक्षयपरमपदं यत्र जन्मी न भूयः ॥९७॥ [131b]

इह मर्त्ये यदि योगी विद्यायोगमभ्यस्यमानो **मरणमुपैति अप्राप्तयोगः कदाचित् प्रचलितमनसा श्रीमान् मानुष्यलोके प्रवरमुनिकुले** बुद्धबोधिसत्त्वकुले, **योगः** शून्यताकरुणाभिन्नं विशुद्धतत्त्वं विशुद्धचित्तम् ; तेन युक्त इति **योगयुक्तः**, न योगपरिपूर्णः **पुनः पूर्वाभ्यासेन तेनाहरति** अवाप्तो हि **ज्ञानयोगं विशालमिति** न प्रादेशिकं सर्वाकारमिति भावः। **लब्धे ज्ञाने** परिपूर्णे **प्रयाति अक्षयपरमपदमिति;** न विद्यते क्षयो यस्येत्यक्षयपरमपदमिति विग्रहः। किम्भूतं तदित्याह—**यत्र पुनर्जन्मी उत्पत्तिमान्न** भवति, तत् सर्वं बुद्धानां पदं परमपदमिति।

इदानीं **बौद्धानामसुराणां म्लेच्छानां** ज्ञानोत्पत्तिकाल उच्यते **ज्ञान** इत्यादिना—

ज्ञानोत्पत्तिर्जिनानां रविदिनसमये चार्द्धरात्रे निशान्ते
मध्याह्ने चासुराणां शशिनिशिसमये निर्गमे वासव(र)स्य ।
सम्यग्ज्ञाने विभङ्गे प्रभवति वचनं संस्कृतं प्राकृतं च
शान्तं रौद्रं च कर्म त्रिभुवननिलये पौरुषं प्राकृतं च ॥९८॥

इह खलु त्रिविधो योगाभ्यासः बौद्ध आसुरो भौत(तिक)श्च। तत्र बौद्धो योगः शून्यताकरुणात्मकः, आसुरः कल्पनाधर्मः, भौतिको द्विप्रकारः, शाश्वतरूप उच्छेदरूपश्च। एवं त्रिविधो योगी (गो) स एव विद्यते यस्य तद्योगाभ्यासरतत्वादिति। तेषु दिवाभागे बौद्धयोगिनां ज्ञानोत्पत्तिः, रात्रिभागे आसुरयोगिनाम्, चतुःसन्ध्यारहिते काले भौत(तिक)योगिनां ज्ञानोत्पत्तिरिति। अत्र कालविभागः **ज्ञानोत्पत्तिर्जिनानां रविदिनसमये चार्द्धरात्रे निशान्ते, मध्याह्ने चासुराणां शशिनिशिसमये निर्गमे वासव(र)स्य।** भौतानामनुक्तत्वादपि सन्ध्यारहितकाले। अत्रार्द्धरात्रे पूर्वसन्ध्यायां वाग्ज्ञानाधिष्ठानं भवति बौद्धानाम् [132a], असुराणां मध्याह्नसन्ध्यायां अष्टङ्ग(स्तङ्ग)तसन्ध्यायां वाग्ज्ञानाधिष्ठानं भवति। भूतानामपरचतुःप्रहरसन्ध्यायां दिवाभागे शाश्वतज्ञानाधिष्ठानम्, रात्रिभागे उच्छेदज्ञानाधिष्ठानम्, अनयोर्बौद्धासुरयोर्यथासंख्यम्; सम्यग्ज्ञानं बौद्धानां
T 321 भवति, विभङ्गं तद्धर्मविरोधि भवति असुराणाम्। सम्यग्ज्ञानं दिवालोकवत् सर्वदर्शि, विभङ्गज्ञानं रात्र्यालोकवत् किञ्चित् सत्त्वानां जीवमरणदर्शीति। कथं ज्ञायत इत्यत आह—धर्मदेशनया इति, इह **सम्यग्ज्ञाने विभङ्गे प्रभवति वचनं संस्कृतं प्राकृतं चेति**। सम्यग्ज्ञानोत्पन्नानां संस्कृतवाक्यं सर्वरुतात्मकमिति, विभङ्गज्ञानोत्पन्नानां प्राकृतं वाक्यं भवति देशकानाम् एक[1]विषयभाषान्तरेणेति[2]। **शान्तकर्म**देशकं बौद्धानां ज्ञानं सर्वसत्त्वकरुणात्मकम्, **रौद्रकर्म**देशकं असुराणां ज्ञानं तिर्यक्सत्त्वापकारिमांसभक्षणायेति।

१-२. क. ख. आत्मविषय०; भो. Yul gCig Gi sKad gCig Gi Khyad Par Gyis (एकविषये एकभाषायां भाषान्तरेण)।

त्रिभुवननिलये पौरुषं कर्म बौद्धानां ज्ञानं देशयति, क्षितौ **प्राकृतं कर्म** असुराणां ज्ञानं देशयति। भूतानां विमिश्रं कर्म देशयति पृथिव्यामिति ज्ञानदेशनानियमः।

इदानीं बौद्धासुरयोर्भुक्तिकाल उच्यते **मध्याह्नादित्यादिना**—

मध्याह्नादर्द्धरात्रं दिननिशिसमये भुक्तिकालस्तयोश्च
अन्नं गोमांसभोज्यं बहुविधरसदं पानमण्डस्य शुक्रम्।
रक्तं श्वेतं च वस्त्रं रविशशिगतिवत् स्वर्गपातालवासः
धर्मोऽहिंसा च हिंसा गुरुनियमवशाद् वज्रदैत्यासनं च ॥९९॥

इह प्रतिदिने **मध्याह्नदारभ्यार्द्धरात्रं** यावद्दिनसमयम्(:)। अर्द्धरात्रादारभ्य मध्याह्नपर्यन्तं निशिसमयः। **तस्मिन् दिननिशिसमये** स्वस्वसमयस्य परार्द्धे **भुक्तिकालः तयोर्बौद्धम्लेच्छयोर्यथासंख्यं** तपस्विनाम्, न गृहस्थानामिति नियमः। बौद्धासुरयोः पुनः खानपानं य[132b]थासंख्यम्। **अन्नं** विशिष्टतरं बौद्धानाम्, **गोमांससहितं** म्लेच्छानाम्। **पानं** यथासंख्यं **बहुविधरसदं** मिष्टं बौद्धानाम्, कुक्कुटादीनाम**मण्डस्य शुक्रपानं** म्लेच्छानामिति। परिधानं यथासंख्यं **रक्तवस्त्रं** बौद्धानाम्, **श्वेतं** म्लेच्छानां तपस्विनाम्; गृहस्थानां न नियमः। तथा मरणान्ते आवासो यथासंख्यम्, **रविशशिगतिवदिति** रवेरूर्द्ध्वं गतिः, चन्द्रस्याधो गतिः, तयोर्गतिवत् **स्वर्गवासो** रविगतिर्बौद्धानाम्, **पातालवासो**ऽसुराणां चन्द्रगतिवदिति। यथा मूलतन्त्रे सेकोद्देशे[1] भगवानाह—

"अधश्चन्द्रामृतं याति मरणे सर्वदेहिनाम्।
ऊर्द्ध्वे सूर्यं रजो राहु विज्ञानं भावलक्षणे"॥

तथा धर्मो यथासंख्यम्। बौद्धानां **धर्मोऽहिंसा**, म्लेच्छानां **हिंसा**, **चकाराद्** भूतानाम्। **गुरुनियमवशाद्** भावनाकाले इष्टदेवतास्तुतिकाले यथासंख्यं बौद्धानां **वज्रासनं** प्रशस्तम्, म्लेच्छानां **दैत्यासनं** प्रशस्तम्, चकारादपरं सामान्यमिति तस्य न विधिर्न निषेध इति। अत्र दैत्यानां भूतले वामजानुप्रसारतः, वामजानूर्द्ध्वं दक्षिणपादः, दक्षिणजानूर्द्ध्वप्रसारो वामपादोर्द्ध्वम्, दक्षिणपादश्चकारादधः दक्षिणपाद ऊर्द्ध्वम्, पादतलेऽपि **चकारात्** पृष्ठे कटिनिषण्ण इति वज्रासनादिवक्ष्यमाणे वक्तव्यमिति बौद्धासुरक्रियानियमः।

भूतानां मिश्रकर्म प्रभवति वचनं मिश्रपैशाचिकं च
धर्मोऽहिंसा च हिंसा खलु गुरुनियमाज्जीवघातादिदोषाः।
यागाद्यर्थं प्रवृत्तिर्भवति नरपते वा निवृत्तिः कदाचित्
खाद्यं पेयं च मिश्रं रविशशिगमनान्मिश्रमार्गः परत्र ॥१००॥

---

१. क. ख. शक्रोद्देशे।

भूतानां पुनः पूर्वोक्तमिश्रकर्म। तदत्र[1] वृत्ते न विस्पष्टं कथितम्; तद्यथा—भूतं वा (भूतानां) मिश्रकर्म प्रभवति वचनं मिश्रपैशाचिकं च, धर्मोऽहिंसा च हिंसा खलु गुरु[133a]नियमाज्जीवघातादिदोषः। योगार्थं (यागाद्यर्थं[2]) प्रवृत्तिरिति यो (या)-गाद्यर्थमादिशब्दात् संग्रामार्थं हिंसाप्रवृत्तिः, फलार्थं निवृत्तिरहिंसाप्रवृत्तिर्भवति। नरपते वा निवृत्तिः कदाचिदिति। खाद्यं पेयं च मिश्रं रविशशिगमनात् मिश्रमार्गः परत्र इति व्यामिश्रमार्गो भूतानां सर्वो वेदितव्यः, इति भूतक्रियानियमः।

इदानीं मार्गं वक्तुकाम आह ज्योतिरित्यादिना—

ज्योतिः सूर्याचिरब्धौ(सूर्योऽर्चिरध्वो) सितदिनमयनं चोत्तरं चार्द्धवर्षं
चन्द्रो ज्योतिर्निशा चासितमयनमिदं दक्षिणे धूममार्गे।
अर्चिः स्वर्गे सुराणामपि भवति तनौ नागलोकेऽसुराणां
व्यामिश्रो मर्त्यलोके भवति नरपते प्रेततिर्यङ्नराणाम् ॥१०१॥

इह खलु त्रिविधो मार्गः—ज्योतिर्मार्गो धूममार्गो विमिश्रमार्गः। एषु अर्चिरथे-(ध्वो)[3] ज्योतिः सूर्यः। शि(सि)तदिनमयनमुत्तरं दिवावृद्धिलक्षणम् अर्द्धवर्षं बाह्ये, अध्यात्मनि मकरादिषड्लग्नात्मकमिति, उदयास्तमनमिति संज्ञितम्। धूममार्गो ज्योतिश्चन्द्रो निशा चा[4]शि(सि)तमयनमिदं दक्षिणे[5]धूममार्गे कर्कटादिकं षण्मासदक्षिणायनम्, यत्र रात्रेर्वृद्धिस्तद् दक्षिणायनम्; अस्तमनादुदयं यावन्नियम इति। अत्रार्चिः स्वर्गे सुराणां मार्गगमनाय। असितमयनं धूममार्गो नागलोकगमनायासुराणामिति। व्यामिश्रो दिवा-रात्रिधर्मा मर्त्यलोकगमने प्रेततिर्यङ्नराणा[6]मुत्पत्तये प्रकटित इति मार्गनियमः, सत्त्वरजस्तमोगुणस्वभावेन पूर्वजन्मवासनाजनितेनेति।

इदानीं सत्त्वानां वासनाग्रहमुच्यते श्रावकबौद्धासुरभूतकर्मरतानां यो यन्मध्य इत्यादिना—

यो यन्मध्ये प्रविष्टो व्रतनियमरतः कर्मपाशैर्निबद्ध-
स्तन्मध्ये स्वस्वभावाद् भवति नरपते तत्कुले तद्ग्रहेण।
याव[133b]च्चित्तस्य भावस्त्रिविधभववशाद् वेदना सौख्यदुःखं
तावत् संसारघोरे भ्रमणमिह नृप स्वर्गमर्त्ये त्वधश्च ॥१०२॥

इह संसारे जन्म कर्मवासनाबलेन देवासुरभूतक्रियानुरक्तो यो यन्मध्ये प्रविष्टो भवति व्रतनियमरतः कर्मपाशैर्निबद्धः, तस्य धर्मस्य क्रियाभिर्बद्ध इति; तन्मध्ये स्व-स्व-भावाद् भवति; नरपते इत्यामन्त्रणम्। तत्कुले देवासुरभूतकुले। तद्ग्रहेणेति तद्भाव-ग्रहेण। तेन देवासुरभूतकुले जन्मी भवति, सत्त्वरजोतमोहङ्कारेण पूर्वोक्तविधिनेति याव-

१. ग. तदनु। २. ग. यागादिष्वर्थं; भो. mChod sByin La Sogs Don Du (यागाद्यर्थम्)।

३. क. ख. ग. अर्चिरथे; भो. Lam (०अध्व)। ४. क. वा। ५. क. ख. दक्षिणां।

६. क. ख. सुराणां; भो. Mi rNams (नराणां)।

च्चित्तस्य भावस्त्रिविधभववशादिति । इह संसारचित्तस्य त्रिविधभववशादिति कामरूपारूपभववासनावशात् वेदना सौख्यदुःखं सांसारिकम्, तावत् संसारे दुःखलक्षणं भ्रमणं चित्तस्यापि, नृप स्वर्गमर्त्येषु, अधश्च देवमनुष्यनरकादिषड्गतिषु भ्रमणमालयविज्ञानस्येति वासनाग्रहनियमः । अतस्त्रिधा वासनातीतः—

"संसारपारकोटिस्थः कृत्यकृत्यस्थले स्थितः" (ना० स० ६, १३) ।

ज्ञानकायो भगवान् सम्यक्सम्बुद्धो देवासुरनागादिभिर्नमस्कृतचरणारविन्दः कालचक्र इति वासनापगमनियमः ।

इदानीं यथा गर्भे व्यञ्जनस्वरोत्पादोऽभूत्, तथा मृत्युलक्षणमुच्यते काद्यानित्यादिना—

काद्यान् वर्गान् समात्रानपि गुणगुणितान् यान् त्रिपक्षस्वरांश्च
त्रिंशद् वै व्यञ्जनानि त्रिविधगतिवशाद् रोहते तानि मृत्युः ।
चारान् पञ्चग्रहाणां रविशशिचरणं राहुकेत्वोः पदं च
द्वात्रिंशद्वर्षपक्षानपि गुणगुणितांश्चन्द्रसूर्याग्निभिन्नान् ॥१०३॥

इहाधानकाले रजस्त्रिंशद्व्यञ्जनात्मकम्, शुक्रं त्रिंशत्स्वरात्मकम् । अनयोः संयो-[134a]गः, आलयविज्ञानाधिष्ठितयोः । अत्र गर्भोत्पादे प्रथमपक्षे त्रिंशद्व्यञ्जनानि ककारादीनि ह्रस्वस्वराधिष्ठितानि, अपरपक्षे दीर्घस्वराधिष्ठितानि, इति व्यञ्जनपक्षद्वयं मरणे प्रकटितं भवति । एवं शुक्रस्याकाशधातुप्रवेशः; रजसि शुक्लपक्षे[1] कृष्णपक्षे पृथ्वीधातुप्रवेशः । एवं रजसोऽप्युद्भूतानुद्भूतयोः पृथिव्याकाशधात्वोः शुक्रधातौ प्रवेशः । एवं द्वितीयमास[2]प्रथमपक्षे इकाराधिष्ठितानि व्यञ्जनानि रजसि वायुधातुप्रवेशः, अपरपक्षे T 322 ऊकाराधिष्ठितानि उदकधातुप्रवेशः । तृतीयमासप्रथमपक्षे ऋकाराधिष्ठितानि तेजोधातुप्रवेशः, अपरपक्षे ॠकाराधिष्ठितानि तेजोधातुप्रवेशाय । चतुर्थमासप्रथमपक्षे उकाराधिष्ठितानि उदकधातुप्रवेशाय, अपरपक्षे ईकाराधिष्ठितानि वायुधातुप्रवेशाय । पञ्चममासप्रथमपक्षे ऌकाराधिष्ठितानि पृथिवीधातुप्रवेशाय, अपरपक्षे दीर्घाकाराधिष्ठितानि आकाशधातुप्रवेशायेति । सृष्टिसंहारभेदेनाकाशादिपृथिव्यादिप्रवेशः शुक्ररजसोः परस्परमिति । तत् इन्द्रिय-कर्मेन्द्रियाधिष्ठानार्थं गुणवृद्धिह्रादयो ह्रस्वदीर्घा व्यञ्जनेषु प्रवेशं कुर्वन्ति । षष्ठमासस्य पूर्वपक्षार्द्धे अ, पूर्वपक्षापरार्द्धे ह, अपरपक्षार्द्धे आल, अपरपक्षार्द्धे ला, सप्तमस्यैवं ए य औ वा, अष्टमस्य अर र आर् रा, नवमस्य ओ वा ऐ या, दशद(म)स्य अल[3] ल आ[4] ह्रा ला, इति त्रिंशद्व्यञ्जनेषु प्रवेशं दशमासैः स्कन्धधात्वायतनादीनां निष्पत्तिरिति गर्भमासादूर्ध्वमिति शुक्ररजःसंयोगः, स्कन्धधात्वायतनादीनां स्फरणं सृष्टिसंहारक्रमेण । एवमेकादशे मासे बिन्दुना त्रिंशदधिष्ठितानि, द्वादशे मासे विसर्गाधिष्ठितानि भवन्ति । अतश्चन्द्रधातुशुक्रधातूनां नाडीमज्जास्ती(स्थी)नामुत्पादपरिच्छेदः । अर्को रजो वृद्धिं करोति द्वादशवर्षाणि प्रज्ञायाः, उपायस्य षोडशवर्षाणि, ततो

१. क. ख. शुक्रपक्षे । २. क. पुस्तके 'मास' इति नास्ति ।
३-४. क.ख. अल अल् आ ।

ज्ञानधातुपाकः । प्रज्ञाया रजःपाकः, उपायस्य शुक्रपाकः, ततः[1] प्रज्ञायाऽपरद्वादशवर्षाणि, उपास्यापरषोडशवर्षाणि पृथिवीधातुपाकः । अतो[2]ऽवधेः सत्त्वभागो मध्यमो भवति [134b] । प्रज्ञायाऽपराष्टादशवर्षतोयधातुपाकः, उपायस्य सार्द्धद्वाविंशतिदिनमासैकाधिकं षोडशवर्षं पूर्ववत् तोयधातुपाकः । पूर्ववत् प्रज्ञाया अग्निपाकः, उपायस्यापि पूर्ववत् । एवं वायुधातुपाकः, आकाशधातुपाकः; षण्णवतिवर्षे सार्द्धदशमासैः सर्वधातूनां पाकः सत्त्वरजस्तमोभेदेन । ततो मध्यनाडी वर्षपक्षमानेन दिनमानेन त्रिंशद्व्यञ्जनमानेन पञ्चपञ्चाशदधिकैकादशशतदिनगणेन कालः प्ररोहति ।

कान्वान् वर्गान् समात्रान् पूर्वोक्तानपि गुणगुणितानशीत्युत्तरदिनसहस्रभूतान् यान् त्रिपक्षस्वरांश्च ह्रस्वदीर्घप्लुतान् पञ्चचत्वारिंशत्त्रिंशद्व्यञ्जनानि । त्रिविधगतिवशादिति वामदक्षिणमध्यमागतिवशाद् रोहते तान्(नि) मृत्युरिति । एवं चारान् पञ्चग्रहाणां मङ्गलादीनां चतुःत्रिंशदधिकैकादशशतान् पूर्वोक्तानिति । रविशशिचरणं रसयुगशशिनम् एकादशपदात्मकं राहुकेत्वोः पदं सार्द्धसप्तात्मकं मासपरिच्छिन्नात्मकं केतोरुदयपदं प्रतिदिनं द्विघटिकात्मकम् । एते पद[3]घटिकात्मकास्त्रिवर्षस्त्रिपक्षत्रिंशद्व्यञ्जनदिनसंख्यास्तानेवारोहते मृत्युरिति । एवं द्वात्रिंशद्वर्षपक्षानपि गुणगुणितान् चन्द्रसूर्याग्निभिन्नान् सत्त्वरजस्तमोभिन्नानिति षण्णवतिवर्षेऽपरे सार्द्धदशमासपक्षानिति ।

पक्षा वर्षत्रयाणामपि शशिनि गुणाः कालवह्निद्विपक्षाः
ऊनीभूताः शताब्दे समविषमगतौ शे[ष]पक्षा रवीन्द्वोः ।
लोकाक्ष्यग्न्यक्षिसंख्या दिननिशिसमयान् भर्तृहीनान् समस्तान्
वर्गान् मात्रान् रवीन्द्वोर्ग्रसति गतिवशाद् व्यञ्जनादीनि मृत्युः ॥१०४॥

वामदक्षिणनाडीपक्षा[4] वर्षशतपक्षाणां मध्ये पक्षा वर्षत्रयाणां द्वासप्ततिः, शशिनः अपि गुणास्त्रिपक्षाः, कालवह्निद्विपक्षाः; एवं सप्तसप्ततिपक्षा ऊनीभूताः शताब्दे शता-[135a]ब्दपक्षराशौ चतुर्विंशतिशतसंख्ये, शेषपक्षा रवीन्द्वोः सव्यावसव्ययोरिति । लोकाक्ष्यग्न्यक्षिसंख्या इति त्रयोविंशत्यधिकत्रयोविंशतिशताश्चेति । एवं दिननिशिसमयान् भर्तृहीनान् समस्तान्, वर्षशतस्य षट्त्रिंशत्सहस्रांश्च, भर्तृहीनान् त्रिवर्षत्रिपक्षव्यञ्जनमासदिनहीनान् वामे दक्षिणे भक्षते मृत्युः । वर्गान् मात्रान् रवीन्द्वोर्ग्रसति गतिवशाद् व्यञ्जनादीनि मृत्युः, अरिष्टादारभ्य मध्यमाकाले भक्षते इति ।

सार्द्धा वै चक्रनाडीः शशिपदरहिता वारनाडीविहीनाः
प्रज्ञोपायप्रभेदैर्दिननिशिसमयैर्भक्षते तांश्च मृत्युः ।
एवं वर्गान् समात्रान् स्वरगणसहितान् व्यञ्जनान्येव वारान्
हीने वा मध्यमेष्टे शशिरविमरणे व्यञ्जने चाधिदेवे ॥१०५॥

---

१. भो.पुस्तके 'प्रज्ञाया' इत्यतः पूर्वं 'sNa Ma bSin Du (पूर्ववत्)' इति अस्ति ।
२. ग. ततो । ३. क. धारा; ग. वारा; भो. rKan Pa (पद) । ४. ग. पुस्तके 'पक्षा' इति नास्ति ।

एवं सार्द्धा वै चक्रनाडीः सार्द्धचक्रमष्टादशराशि संख्यां पञ्चविंशदधिकशतगुणिता घटिका त्रिंशदधिकचतुर्विंशतिशतसंख्या इति; शशिपदानि क्रमोऽक्रम[1]भेदेन भूताभूतेषु वेदादीनि शतसंख्यानि, तै रहिताः शशिपदरहिता वारनाडी सप्त, तैर्हीनाः समस्तास्त्रयोविंशत्यधिकत्रयोविंशतिशतसंख्याः, प्रज्ञोपायप्रभेदैः संहारसृष्टिभेदैर्दिननिशिसमयैर्भक्षते तांश्च मृत्युः। एवं वर्गान् समात्रान् स्वरगणसहितान् व्यञ्जनान्येव वारान्, हीने वा मध्यमेष्टे शशिरविमरणे व्यञ्जने चाधिदैवे इति हीने चन्द्रारिष्टमरणे, मध्यमे सूर्यारिष्टमरणे, व्यञ्जने चाधिदेव इति मध्यमेष्टमरणे पूर्वोक्तनियमः।

द्वात्रिंशच्चैकरक्तं सशशिरविगतौ नाडिकाच्छेद एषः
भूयस्त्रिंशत्त्रिरात्रैस्त्यजति सकुलिशान् स्कन्धधात्विन्द्रियादीन्।[135b]
त्यक्त्वा चन्द्रार्कनाडीं प्रविशति शि(शं)खिनीं प्राणवायुर्दिनैकं
विच्छेदं यावदेव क्षितिजलहुतभुग्(ङ्)मारुताकाशधातोः ॥१०६॥

ततो द्वात्रिंशच्चैकरक्तमिति त्रयस्त्रिंशद्[2]दिनानि शशिरविगतौ वामगत्या सार्द्धं दक्षिणगतौ नाडिकाच्छेद एष(:) चन्द्रसूर्यारिष्टे साधारणः, कालमरणे भूयः पुनः त्रिंशत्त्रिरात्रैः[3], त्रयस्त्रिंशद्दिनैस्त्यजति सकुलिशान् कायवाक्चित्तसहितान् स्कन्धधात्विन्द्रियादीन्। ततस्त्यक्त्वा चन्द्रार्कनाडीं ललनारसनां प्रविशति शि(शं)खिनोमवधूतीं प्राणवायुर्दिनैकं विच्छेदं यावदेव क्षितिजलहुतभुग्(ङ्)मारुताकाशधातोः। इह मध्यमायां मरणदिने प्राणप्रविष्टः कालवाताक्रान्तः सन् नाभौ पृथ्वीधातुं पञ्चगुणस्वभावं त्यजति, ततः पृथ्वीधातोर्विच्छेदो भवति; हृदये तोयधातुं चतुर्गुणस्वभावं त्यजति, तोयधातु(तो)र्विच्छेदो भवति; कण्ठे तेजोधातुं त्रिगुणस्वभावं त्यजति, ततस्तेजोधातोर्विच्छेदो भवति; ललाटे वायधातुं द्विगुणस्वभावं त्यजति, ततो वायुधातोर्विच्छेदो भवति; उष्णीषे एकगुणस्वभावमाकाशधातुं त्यजति, ततः शून्यधातोर्विच्छेद इति। प्राणस्य धातोः परित्याग ऊर्ध्वंस्। अधो नाभौ कायबिन्दुधर्मंमपानं[4] त्यजति, ततो जाग्रदवस्थाक्षयो भवति; गुह्ये वाग्बिन्दुधर्मं त्यजति, ततः स्वप्नावस्थाच्छेदो भवति; मणौ चित्तबिन्दुधर्मं त्यजति, ततः सुसु(षु)प्तावस्थाच्छेदो भवति। ऊर्ध्वेऽप्येवं रजोधातुबिन्दून् प्राणांस्त्यजति, ततो हि कायवाक्चित्तविच्छेदो भवति। संक्रान्तिकाले ज्ञानधातुं षष्ठं त्यजति; सर्वाङ्गे शुक्रमधस्त्यजति, रज ऊर्ध्वं त्यजति, तुर्यावस्थाविच्छेदो भवति। एवं गर्भजानां मरणकालनियमः।

इति श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां[5] लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
लोकसंवृत्योत्पादनिरोधहेतुभूत-क्षणलक्षण-कालचक्रनियममहोद्देशः
पञ्चमः ॥५॥

---

१. क. ख. क्रमोक्तम०। २-३. ख. पुस्तके नास्ति। ४. क. ख. धर्मंमयानं।
५. क. ख. मूलतन्त्रा०।

(६) रसायनादिबालतन्त्रमहोद्देशः

T 323 इदानीं लौकिकलोकोत्तरसिद्धिहेतोस्तनुरक्षणमुपदिशन्नाह आदावित्यादि—

आदौ संरक्षणीया सकलजिनतनुर्मन्त्रिणा सिद्धिहेतोः
कायाभावे न सिद्धिर्न च परमसुखं प्राप्यते जन्मनीह ।
तस्मात् [136a] कायार्थहेतोः प्रतिदिनसमये भावयेन्नाडियोगं
काये सिद्धेऽन्यसिद्धिस्त्रिभुवननिलये किङ्करत्वं प्रयाति ॥१०७॥

इह खलु संसारे सत्त्वानां प्राणोऽपानश्च संहारक्रमेण निर्गच्छति, सृष्टिक्रमेण प्रविशति शरीरे यथा तथा मूलतन्त्रे भगवान्नाह सेकोद्देशे—

"नाभ्यब्जे हृदये कण्ठे ललाटोष्णीषपङ्कजे ।
भूतो याग्नि मरुच्छून्यं संहारेण प्रवाहिनी ।
निर्गच्छन्ती विशन्ती सा सृष्टिना विशति क्षितौ" ॥

तथाऽपानशक्तिः

"नाभौ गुह्ये च मण्यब्जे कायवाक्चित्तवाहिनी ।
निर्गच्छन्ती विशन्ती सा संहारसृष्टिरूपिणी" ॥

अतः कारणात् आदौ संरक्षणीया सकलजिनतनुः पञ्चस्कन्धादितनुर्मन्त्रिणा सिद्धिहेतोः, कायाभावे न सिद्धिर्न च परमसुखम् अनास्रवं सुखं प्राप्यते जन्मनीह, तस्मात् कायार्थहेतोः, कायार्थं इति बोधिचित्तम्, तस्य रक्षणहेतोः प्रतिदिनसमये भावयेन्नाडी(डि)योगम्, ललनारसनयोर्योगान्नाडियोगं मध्यमायां भावयेत् प्राणवायुम्, अपानं सं(शं)खिन्यां विण्मूत्रनाडियोगमिति । दिननिशिसमये द्वादशलग्ने इह[1] नाडी(डि)योगं भावयेत् । अनेन भावितेन कायसिद्धिः, काये सिद्धे सति अन्या सिद्धि लौकिकी किङ्करत्वं प्रयातीति लौकिकसिद्धिसाधननियमः ।

इदानीं लोकोत्तरसिद्धिसाधनमार्गं उच्यते शून्य इत्यादिना—

शून्ये धूमादिमार्गं गुरुनियमवशाद् भावयेद् विश्वसीम्नो
नाडीचक्रेषु तस्मात् स्थिरमपि कुरुते प्राणमापानवायुम् ।
पश्चादिन्दो(न्द्वो)र्निरोधं ग्रह इव कुरुते बोधिचित्तस्य योगी
तस्माद् यत् किञ्चिदिष्टं कतिपयदिवसैः प्राप्यते जन्मनीह ॥ १०८ ॥

इह शून्ये धूमादिमार्गं गुरुनियमवशात् वक्ष्यमाणक्रमादिति । भावयेद् विश्वसीम्नो विश्वं सर्वाकारं वि[136b]श्वं तत्पर्यन्तं चित्तमिति । नाडीचक्रेषु तस्मादवधेः स्थिरमपि कुरुते प्राणमापानवायुं नाभिचक्रे योगी । पश्चादिन्दो(न्द्वो)र्निरोधमिति[2] ग्रह इव राहुरिव

---

१. क. इदं; भो. ḥDi (इयम्) । २. क. ख. पश्चान्निरोधमिति; भो. Phyis Nas zLa Ba Ṅes Par ḥGog Pa (पश्चादिन्दोनिरोधम्) ।

कुरुते बोधिचित्तस्य योगी । प्राणापानयोः परस्परं संयोगो योगः, स यस्यास्ति(स्तीति) योगी; बोधिचित्तस्य च्युतिक्षणस्य निरोधमुपस(श)मं निष्यन्दादिकमक्षरं करोति । **तस्माद् यत् किञ्चिदिष्टमिति** तस्मान्निष्यन्दाद् विपाकपुरुषकारवैमल्यमिष्टं यत् किञ्चिद-वाच्यं तत् **कतिपयदिवसैः प्राप्यते जन्मनीह ।** कतिपयदिनानि त्रिवर्ष-त्रिपक्ष-कालचक्र-दिनानि, तैरिति महामुद्रासिद्धिः प्राप्यते एभिः स्कन्धैः शून्यादिविमोक्षशोधितैरिति महामुद्रासिद्धिसाधनमार्गनियमः ।

इदानीमकालमरणवञ्चनोच्यते **मार्त्तण्ड** इत्यादिना—

मार्त्तण्डेन्द्वोर्निरोधः समविषमगतौ मध्यमेऽग्नौ प्रवेशः
प्राणापानद्वयोश्च प्रथमदिनगते वञ्चनाकालमृत्योः ।
प्राणेनापूरयित्वा सह करचरणैरङ्गुलिपर्वान्नखान्तान्
षट्चक्रे बुद्धदेव्योऽभयकरकमला योगिना भावनीयाः ॥ १०९ ॥

इह यदाऽकालमरणलक्षणं पश्यति योगी तदा **मार्त्तण्डेन्द्वोर्निरोधः** दक्षिणवामनाड्योर्निरोधः । **समविषमगताविति** संहारसृष्टिगतौ **मध्यमे** अग्नाविति राहुकालाग्नौ मध्यनाड्यां प्रवेशः कर्तव्यः । **प्राणापानद्वयोश्च प्रथमदिनगते** मध्यमाप्रवाहैकदिनगते सति **वञ्चना** साऽकालमृत्योर्भवति योगिनामिति । **प्राणेनापूरयित्वा** पञ्चमण्डलवाहिना प्राणेन मध्यमायोगेन **सह करचरणैरङ्गुली(लि)पर्वान्नखान्तान्** पूरयित्वा **षट्चक्रे** उष्णीषादिके **बुद्धदेव्योऽभयकरकमला योगिना भावनीया** वक्ष्यमाणक्रमेण इत्यकालमरण-वञ्चनानियमः ।

इदानीं वातरोगादिशमनमुच्यते **अपाने**त्यादिना—

आपानाकुञ्चनेष्टं भवति वरतनौ वातरोगे समस्ते
प्राणायामः कफे स्यात् पुनरपि च तयोर्मुञ्चनं पित्तदोषे ।
ऊर्ध्वाधः[137a] सन्निरोधो भवति सुखकरः सन्निपाते ज्वरे च
नाभ्यूर्ध्वं प्राणवायुः सकलरुजहरो नाभिमूलेऽपरश्च ॥ ११० ॥

इह शरीरे पूर्वोक्ता[1]ऽशीति नाड्यो वातदोषकारिण्यः, नाभौ गुह्ये च तासां समधातुत्वकरणाय **अपानस्याकुञ्चनमिष्टं** सुखकरं **भवति वरतनौ** मन्त्रिणां **वातरोगे** शूलादिके **समस्ते** इति । तथा ललाटे उष्णीषे विंशति नाड्यः श्लेष्मदोषकारिण्यः । तासां समधातुकरणाय **प्राणायाम** इष्टो भवति । **कफे स्यादिति** कफरोगे जाते सति प्राणनिरोधः कर्तव्यो योगिनेति । **पुनरपि च तयोर्मुञ्चनं पित्तदोषे** इति पित्तदोषे जाते सति तयोः प्राणापानयोर्बाह्ये मुञ्चनं कृत्वा वक्ष्यमाणक्रमेण बाह्यवातं शीत्कारेण गृहीत्वा लम्बिकायां जिह्वामारोप्य अमृतपानं स्तूकादिकं कर्तव्यम् । **पित्तरोगे समस्ते**

१. ख. पुस्तके नास्ति ।

नाड्यः कण्ठे हृदये चत्वारिंशत् पित्तदोषकारिण्यः। तासां धातुसमत्वकरणायासौ योगः कर्तव्य इति। **ऊर्ध्वाधः सन्निरोधो भवति सुखकरः सन्निपाते ज्वरे चेति**। इह गुह्ये दश नाड्यः सन्निपातकारिण्यः; तासां धातुसमत्वकरणायोर्ध्वाधः प्राणापानयोर्निरोध इष्ट इति ज्वरे चेष्टः। कस्माद्धेतोः? यतो **नाभ्यूर्ध्वं**[1] वहति **प्राणवायुः**, अतः **सकलरुजहरो नाभिमूले** अपानो वहति, नाभेरधः सकलरुजहरोऽपरश्चेति वातादिरोगोपशमनियमः।

इदानीं जठररोगोपशमनाय प्रतिविधानमुपदिशन्नाह **आकुञ्च्येत्यादिना**—

आकुञ्च्यापानवायुं त्रिविधपथगतं प्राणमेवोद्ध्र्वतश्च
सङ्घट्टे यावदग्निः प्रभवति बलवान् व्याप्नुवन् सर्वकाये।
जग्री(यकृत्)प्लीहार्ष(र्श)रोगानपि जठरगतान् मासयोगाच्च हन्ति
ऊद्ध्र्वश्वासं च काशं(सं) त्रिविधमपि विषं नेत्ररोगादिकञ्च ॥१११॥

इह जठरे यदा जग्र्यादिकं भवति, तदा **आकुञ्च्यापानवायुम्** अधस्त्रिविधपथगतमिति विण्मूत्रशु[137b]क्रपथगतं **प्राणमेवोर्द्धं(द्ध्र्वं)तश्चाकुञ्चनीयं**[2] चन्द्रसूर्याग्निपथगतम्; तयो **सङ्घट्टे यावदग्निर्जठराग्निः प्रभवति बलवान् व्याप्नुवन् सर्वकाये**। असौऽग्निर्जग्री(यकृत्)प्लीहार्ष(र्श)रोगानपि जलोदरादीन् **मासयोगाच्च हन्ति; ऊद्ध्र्वश्वासं च काशं(सं) च त्रिविधमपि विषं** स्थावरं जङ्गमं कृत्रिमञ्च **नेत्ररोगादिकं** शिरःशूलं हन्तीति जठररोगोपशमनियमः।

T 324 कक्षात् सव्यावसव्यात् स्तनमपि बलवत् पीडितं प्राणरोधात्
सव्याद् वामा न नाडी प्रवहति सहसा वामकक्षा च सव्या।
मासार्द्धेनाप्यरिष्टं हरति मरणदं योगयुक्तश्च योगी
पादौ वज्रासनस्थौ धृतकरकमलौ पृष्ठशूलस्य नाशम् ॥ ११२ ॥

इदानीमरिष्टवञ्चनाय नाडीबन्धकरणमुच्यते **कक्षादित्यादिना**—

इह यदा योगी मध्यमायामहोरात्रं प्राणं प्रवेष्णं(ष्टुं) न शक्नोति, तदा वामारिष्टे दक्षिणे सञ्चारं प्राणस्य करोति, दक्षिणारिष्टे च वामे सञ्चारं करोति, मासार्द्धं मासमेकं यावदिति। अनेनोक्तेन कारणेन **कक्षात् सव्यावसव्यात् स्तनमपि बलवत् पीडितं प्राणरोधात्**। सव्ये स्तने पीडिते **न वामनाडी वहति, वामकक्षात्** पीडिते **न सव्या** नाडी वहति; एवं **मासार्द्धेनाप्यरिष्टं हरति मरणदं योगयुक्तश्च योगीति**, योगः पूरकरेचकयोरेकता कुम्भक इति, तेन युक्तो योगयुक्त इति; हरतीत्यपनयतीत्यकालमरणवञ्चनानियमः।

---

१. क. ख. नात्यूर्ध्वं; ग. नास्त्यूर्ध्वं; भो. lTe Bahi sTeṅ Du (नाभ्यूर्ध्वं)।

२. क. प्राणमेवोर्द्धतं चाकुञ्चनीयं।

इदानी पृष्ठशूलनाशकरणमुच्यते—

पादौ वज्रासनस्थ(स्थौ) इति वज्रासनं सव्योरुमूर्ध्नि वामपादं वामोरुमूर्ध्नि दक्षिणपादम्, तौ पादौ पृष्ठस्थबाहुवज्रबन्धेन वामकरेण दक्षिणपादो धृतो दक्षिणेन वामपादः, तौ पादौ धृतकरकमलौ पृष्ठशूलस्य नाशं कुरुत इति ।

उद्ध्वौं पादौ शिरोऽधो व्यपहरति तनौ श्लेष्मरोगं समस्तं
प्रस्रावः प्राणरोधात् कतिपयदिवसैर्मूत्रकृच्छ्रं निहन्ति ।
प्रत्यूषेऽनामिकाभ्यां जलविगतमुखे दन्तपंक्ति प्रघृष्य
नेत्राणामञ्जनं स्यान्नयनरुजहरं ताडनं वा जलेन ॥ ११३ ॥ [138a]

ऊद्ध्वौं पादौ शिरोऽधो व्यपहरति तनौ श्लेष्मरोगं समस्तमिति । प्रस्रावः प्राणरोधात् कतिपयदिवसैर्मूत्रकृत्स्नं(कृच्छ्रं) निहन्ति । प्रत्यूषे अनामिकाभ्यां जलविगत-मुखेऽप्रक्षालिते दन्तपंक्ति प्रघर्षण (प्रघृष्य) घृष्ट्वा नेत्राणामञ्जनं स्यान्नयनरुजहरं भवति । प्रत्यूषे ताडनं वा जलेन नेत्रयो रुजहरं भवतीति ।

सुप्तो(प्ते)नोत्तार(न)नाभिर्द्धृ(भिधृ)तकरकमलाऽजीर्णशूलं निहन्ति
गण्डानामुद्भवे वै सह घृतलवणैः स्वेदनं वृद्धिनाशः ।
अर्कक्षीरप्रलेपस्त्वथ भवति कदाचिद् दन्तकीटः सशूलो
व्याघ्रोबीजस्य धूमो धृतमिह नलिकाद्यैश्च कीटादिनाशः ॥ ११४ ॥

सुप्तो(प्ते)नोत्तार(न)नाभिर्वामकरे धृता या सा धृतकरकमलाऽजीर्णशूलं निहन्ति प्राणायामसहितेति । गण्डानामुद्भव इति गण्डपिटकादीनामुद्भवकाले सह घृतलवणैर्वस्त्रबद्धैः स्वेदनं वृद्धिनाश एव । अर्कक्षीरप्रलेपस्त्वथ गण्डादीनामुद्भव इति नियमः; कदाचिद् दन्तकीटः सशूलो भवति, तदा व्याघ्रोबीजधूमो धृतो नलिकाद्यैः कीटाविनाश एव । व्याघ्रोति कण्ठ(ट)कारीति सामान्यरोगोपशमननियमः ।

इदानीं कुष्ठरोगोपशमनाय प्रतिविधानमुच्यते वर्षेत्यादिना—

वर्षार्द्धे श्वेतकुष्ठं हरति वरतनौ मन्त्रिणां किं तदन्यत्
प्रज्ञासङ्गे सु(स्व)चित्तं सुलि(स्खलि)तमपि सदा प्राणवायोर्निरोधात् ।
सप्तत्यब्दां जरां वै सपलितां च द्विवर्षप्रपूर्णे
मुद्रासिद्धि(र)तदूर्ध्वं भवति कतिदिनैर्मार्गचित्तप्रसङ्गात् ॥ ११५ ॥

असौ महायोगः पूर्वंधूमादिनिमित्तेन प्राणायात्मन(यामेन) साधितोऽक्षरसुखक्षणः, बोधिचित्तं मुद्रासङ्गेन स्खलु(ल)यित्वा तदेव बोधिचित्तं मुद्रायोगेन स्खलितं समु(सु)खं प्राणापानयोर्निरोधात् वर्षार्द्धे श्वेतकुष्ठं हरति वरतनौ मन्त्रिणां किं तदन्यत् । यदि कुष्ठं न हरति तदा षोडशाब्दिकां मुद्रां सेवयति योगी [138b] प्रत्यहं मांसभोजनमद्यपानम्,

तस्य षड्मासाभ्यन्तरेण योनिमन्थाने बोधिचित्तं स्खलितं विधृतं सत् कुष्ठरोगं हरति, कुम्भकयोगेन, अत्र नास्ति सन्देहस्तथागतवचने। न केवलं कुष्ठं हरति, अपि तु सप्तत्यब्दां जरां वै सपलितां द्विवर्षप्रपूर्णे मुद्रासङ्गे बोधिचित्तं स्खलितमिति। अनेनैव योगेन योगिनः कतिपयदिवसैः कालचक्रत्रिवर्षैस्त्रिपक्षदिनैस्तदूर्ध्वमिति जराविनाशोर्ध्वं मुद्रासिद्धिर्भवति मार्गचित्तप्रसङ्गादिति कुष्ठोपशमननियमः।

यच्छब्दो हृत्प्रदेशे भवति वरनृणां श्रूयते श्रोत्ररन्ध्रै-
स्तस्मादूर्ध्वं हि मुष्टी(मूर्च्छां)व्रं(व्र)जति समरसं त्याजितं चैकभूतम्।
यच्छब्दं जीवलोके भवति (वदति) च बलजं (भवजं) तत्तु देव(:)श्रृणोति
विज्ञानं चैव दूरा[त्]श्रवणमपि विभो यो(भोर्यो)गिनाभावनीयम्*॥११६॥

कृत्वा पर्यङ्कबन्धं विकसितवदनोऽन्योऽन्यदन्तं स्पृशेन्न
आकृष्टो बाह्यवातस्त्वमृतरससमो नाभिचक्रे प्रविष्टः।
सन्तापं क्षुत्पिपासां हरति वरतनौ सन्निरुद्धो विषं च
श्वेतो बिन्दुर्ललाटे सु(स्व)रपरिकरितो मुञ्चमानोऽमृतं वा॥ ११७॥

घ्राणे रन्ध्रद्वयेन त्वपि वि(पि)हितमुखे बाह्यवातः समस्तः
प्राणेनाकृष्य वेगात् तडिदनलनिभो घट्टितोऽपानवायुः।
काले नाभ्यां स योगाद् (काले नाड्या संयोगाद्) व्रजति समरसं
चन्द्रसूर्याग्निमध्ये
अन्नाद्यां क्षुत्पिपासां हरति वरतनौ (अन्नाद्यं क्षुत्पिपासामपहरति तनौ)
चामरत्वं ददाति॥ ११८॥

---

* ११६ तः १२१ पर्यन्तं षट्श्लोकानामनुवादो भोटानुवादे (कञ्जूरसंग्रहे) नोपलभ्यते; तेषामुपरि विमलप्रभाव्याख्या च संस्कृतप्रतीषु भोटानुवादेषु वा नोपलभ्यते। अथ चैतद्विषये आचार्य-खेस्-ड्रुब-जे तत्पूर्ववर्त्तिभिः बु-तोन्—मी-फ़म्-रिन्पोछे-आदि-आचार्यैरपि स्व-स्व-व्याख्यानेऽत्र शङ्का नोत्थापिता, अतस्तैः मौनमेवाचरितम्। सम्भावये तत्र हेतुः तथाविधसंस्कृतप्रतीनां भोटदेशे अप्राप्तिः यत्रैषां षण्णां सन्निवेशः स्यात्। अस्मिन् विषये प्राप्तसंस्कृतप्रतीनामपि द्विधा स्थितिः—कुत्रचिदुपलब्धिः षण्णां कुत्रचिन्नेति। प्रस्तुतसंस्करणस्याधारभूतायां प्रतौ यथा षट्श्लोका उपलब्धा दृश्यन्ते एतादृशा एव च अन्या अपि द्वि-त्रि-प्रतयः सन्त्येव डा० लोकेशचन्द्रसंरक्षित-प्राचीनग्रन्थसंग्रहालये। किन्तु बिहारराज्ये पटनास्थितकाशीप्रसादजायसवाल-अनुसन्धान-संस्थान-संरक्षितायां पुरातन्यां विभूतिचन्द्रलिखितायां प्रतौ श्लोका एते नैव प्राप्यन्ते, स्युस्तथाविधा अन्या अपि काश्चित् प्रतयः। एतस्यां स्थितौ अप्राप्तिवशादेव भोटानुवादो भोटविद्वद्भिर्न कृतः स्यात्।

स्वच्छायामातपस्थामपरमुखरवेः स्तब्धदृष्टयावलोक्य
पश्चाद् व्योमाभिवीक्ष्ये(क्षे)त् समरसपुरुषो(षा) दृश्यते धूम्रवर्णः ।
षण्मासाभ्यासयोगादवनिगतनिधिं दर्शये(द्)च्छिद्रभूर्मि (भूमिच्छिद्रं)
वृक्षच्छायां प्रविश्यत्तथ(श्य त्वपि) गगनतले भाविता
बिन्दुमाला ॥११९॥

या शक्तिर्नाभिमध्याद् व्रजति प(व)रपदं द्वादशान्तं कलान्तं
सा नाभौ सन्निरुद्धा[त्] तदिदननमिता (तडिदनलनिभा)
दण्डरूपोत्थिता वा (च) ।
चक्राच्चक्रान्तरं वै मृदुललितगतिन्धारिता(गतिश्चालिता) मध्यनाड्यां
यावच्चोष्णीषरन्ध्रं स्पृशति हठतया सूचिबद्धा ह्यचर्मं ॥१२०॥ [139a]

आपानं तत्र काले परमहठतया प्रेरयेदूर्ध्वमार्गे
उष्णीषं भेदयित्वा व्रजति प(व)रपुरं वायुयुग्मे निरुद्धे ।
एवं वज्रप्रबोधात् सतनु(मनसि) स विषया[त्] खेचरत्वं प्रयाति
पञ्चाभिज्ञास्वभावा भवति पुनरियं योगिनां विश्वमाता ॥ १२१ ॥

इदानीं प्राणायामनियम उच्यते—

प्राणायामं प्रकुर्याद् हृदि शिरसि तथा यावदग्निर्व्यथाऽभूत्
तस्मादूर्ध्वं हि मूर्च्छां व्रजति सुकमलेऽयन्त्रितो वा बलेन ।
उष्णीषं भेदयित्वा व्रजति परपुरं (हि मरणं) स्कन्धधातून् विहाय
मुद्रासङ्गप्रणष्टो न हि सुखफलदो जन्मनीहैव पुंसाम् ॥ १२२ ॥

इह शरीरे **प्राणायामं** कुम्भकं **कुर्यात् मन्त्री हृदि शिरसि तथा यावदग्निर्व्यथाभूत्** तावद् हृदयं दह्यते, शिरसि च व्यथा भवति। तत ऊर्ध्वं न कुर्यादिति नियमः, यदि करोति **तस्मादूर्ध्वं हि मूर्च्छां व्रजति सुकमले**, नाभिकमले प्राणो मूर्च्छां व्रजतीति। **अयन्त्रितो वा बलेनोष्णीषं भेदयित्वा व्रजति हि मरणं स्कन्धधातून् विहाय** [य]तः, अतो **मुद्रासङ्गप्रणष्टो न हि सुखफलदः** प्राणायामो **जन्मनीहैव पुंसामिति** प्राणायाम-नियमः ।

मुद्रोक्ता भावनार्थं दिननिशिसमये नैव रागक्षयार्थं
वाग्वज्रं तर्पणार्थं न खलु मदकरं मन्त्रिणामुक्तमेवम् ।

अतोऽत्यधिकमेतद् विचारणीयं यत् संस्कृतप्रतिषु तत्र सत्स्वपि षट्श्लोकेषु तेषां व्याख्या कथं न लभ्यत इति। अस्मिन् विषये अनेकाविधाः सम्भावनाः समुदिताः भवेयुः। एतत् सर्वं तथ्यजातमाधृत्य आलोचनीयं भूमिकायाम्, तदत्र विरम्यते ।

सर्वाहारः सुखार्थं प्रतिदिनसमयेऽजीर्णहेतोर्न चोक्तः
श्रीचर्यासिद्धिहेतोर्भ्रमणमपि चित्तौ (तौ) कीलनार्थं न रात्रौ ॥१२३॥

[इदानीं* योगिनां मुद्रास्वादनाहारचारनियम उच्यते मुद्रेति—

इह भगवता **मुद्रोक्ता** योगमुद्रोक्ता **भावनार्थम्**, **नैव/रागक्षयार्थं** हेतोः **दिननिशिसमये स्त्रीक्रीडाम्**; तथा मद्यपानं किञ्चित् **मुखतर्पणार्थम्**, न कलशादिवत्। न हि मदः योगीन्द्राणां मोक्षदः भवति; तथा आहारकरणमत्र **सर्वाहारः सुखार्थम्**, यत् किञ्चिदाहारकरणं तत् सर्वं स्वल्पसुखाय भवति। तेन **प्रतिदिनसमयेऽजीर्णहेतोर्न** कर्त्तव्य इत्याहारनियमः। **श्रीचर्या** योगचर्या **सिद्धिहेतोरिति** सिद्धेर्हेतोः। तेन श्मशानोपश्मशानादिषु **भ्रमणं रात्रौ न क्रीडार्थमित्यर्थः**। योगचर्यानियमः।]**

---

*-**. मुद्रोक्ता भावनार्थमित्यादिश्लोकस्य व्याख्या संस्कृतप्रतिषु मया न दृष्टा; किन्तु भोटानुवादे सा लब्धा। अतो भोटानुवादात् पुनः संस्कृतेऽनूद्य सा मया उपरि कोष्ठके प्रस्तुता। भोटानुवादः तन्जूरसंग्रहे एवं विद्यते—

"Da Ni Phyag rGya S̄es Pa La Sogs Pas rNal ḥByor Pa rNams Kyi Phyag rGya Daṅ Myaṅ Ba Daṅ Kha Zas Daṅ rGyu Baḥi Ṅes Pa gSuṅs Te. hDir bCom lDan ḥDas Kyis Phyag rGya gSuṅs Pa Ni bsGom Paḥi Don Du rNal ḥByor Gyi Phyag rGya gSuṅs Pa sTe. Chag Pa Zad Paḥi Don Te rGyur Ṅin mTshan Du Bud Med Daṅ Rol Par gSuṅs Pa Ni Ma Yin No. De bS̄in Du chaṅ Gi bTuṅ Ba Ni Cuṅ Zad Kha Tshim Par Byed Pa sTe. Bum Pa La Sogs Pa bS̄in Du Ma Yin Te. Myon Byed Ni rNal ḥByor Gyi dBaṅ Po rNam La Thar Pa sTer Bar Byed Par Mi ḥGyur Ro. De bS̄in Du Kha Zas Byed Pa Ni ḥDir Kha Zas Tham Cad bDe Baḥi Don Te. Gaṅ Cuṅ Zad Kha Zas Byed Pa De Tham Cad Śin Tu Chuṅ Bar bDe Bar ḥGyur Te. Deḥi Phyir Ṅin S̄ag So Soḥi Dus Su Ma S̄u Baḥi rGyur Mi Byaḥo S̄es Pa Ni Kha Zas Kyi Ṅes Paḥo. dPal lDan sPyod Pa sTe rNal ḥByor sPyod Pa dṄos Grub rGyur S̄es Pa dṄos Grub Kyi rGyur Te. Deḥi Phyir mTshan Mo Dur Khrod gNas Daṅ Ṅe Baḥi gNas La Sogs Par ḥKhyam Pa Dag rTsed Moḥi Don Du Ni Ma Yin No S̄es Paḥi Don Te. rNal ḥByor Gyi sPyod Paḥi Ṅes Paḥo" (T 324, 3-4).

अस्य श्लोकस्य व्याख्या संस्कृतप्रतिषु नोपलभ्यते, किन्तु भोटानुवादे सा लब्धा, अत्र को हेतुरिति विवेचयता आचार्य-खेस्-ड्रब-जे महाभागैरुक्तं यत् व्याख्यायाः विशुद्धभारतीयसंस्कृतप्रतिषु 'इदानीं योगिनां मुद्रास्वादनाहारचारनियम उच्यते इति सुबोधम्' इति मात्रं लभ्यते एव। सोऽप्यंशो मया संस्कृतप्रतिषु न दृष्टः।

अत्र खेस्-ड्रब-जे-महाभागानां स्वमतमुल्लेखनीयमस्ति। तेन उक्तं यद् अन्येऽपि

इदानीमवधूतयोगिभैषज्यमुच्यते—

अक्षोभ्यं किञ्चिदुष्णं मुखरुजशमनं दन्तशूलस्य चैव
प्रत्यूषेऽक्षोभ्यनस्यं शिरसि रुजहरं तोयनस्यं तथैव ।
कर्णे नेत्रं (त्रे) प्रविष्टं त्वु(ह्यु)भयरुजहरं मूत्रमुष्णं च शीतं
भूतार्त्तेऽक्षोभ्यनस्यं त्रिकटुकसहितं सौख्यदं चापि दष्टे ॥१२४॥

इह यदा योगिनो मुखरोगो भवति, अक्षोभ्यं किञ्चिदुष्णं कृत्वा मुखे धृतं मुखर(रु)जस(श)मनं भवति । दन्तशूलस्य चैवेति चकारा[139b]द् दन्तकीटस्य च । यदा शिरसि रोगो भवति, तदा प्रत्यूषे अक्षोभ्यं नस्यं कृतं शिरसि रुजहरं भवति । तोयनस्यं तथैव योगिनामिति । यदा कर्णरोगो भवति, तदा मूत्रमुष्णं कृतं कर्णे प्रविष्टं नेत्ररोगे शीतं कृतं नेत्रे प्रविष्टं यथासंख्यमुभयरुजहरम्, मूत्रमुष्णं च शीतमिति । भूतार्त्तं इति भूतप्रेतादिग्रस्ते अक्षोभ्यनस्यं त्रिकटुकेन सहितं सौख्यदं चापि दष्टे, सर्पदष्टेऽपि सौख्यदं भवतीति मुखरोगाद्युपस(श)मननियमः ।

विण्मूत्रं शुक्ररक्तं नृपत(ल)लसहितं भक्षितं चायुदं स्यात्
सध्यानं पुष्पनस्यं हरति सपलितानङ्गजातान् जरांश्च ।
भुक्तं पञ्चप्रदीपं सकलरुजहरं मक्षिकाच्छर्दिमिश्रं
स्त्रीपुष्पं शुक्रमिश्रं त्वपहरति रुजं भक्षितं वर्षयोगात् ॥ १२५ ॥

इदानीं पञ्चामृतयोग आयुवृद्ध्यर्थमुच्यते विडित्यादिना—

इह 'यथा बाह्ये तथा देहे',(पृ०४७) इति वचनात् बाह्ये पञ्चद्रव्याणि, अध्यात्मनि पञ्चद्रव्याण्येकीकृत्य पञ्चामृतयोगः, ततः पञ्चामृतं भक्षितं योगिनामायुर्दं स्यादिति ।

भोटाचार्य-श्रीपङ्लो-प्रभृतिभिरपि स्वीक्रियते यत् भोटानुवादे उपलब्धोऽयं व्याख्यांशः मूलसंस्कृतस्य नास्ति, अपि तु केनचिद् भोटदेशीयेन विदुषा भोटानुवादे अयमंश आरोपितः । अस्मिन् विषये खेस्-ड्रुब-जे-महाभागानां यद् वक्तव्यं तदुद्ध्रियते—

"ḥDiḥi rGya dPe Dag Pa Tham Cad La Da Ni Phyag rGya S̄es Pa La Sogs Pas rNal ḥByor Pa rNam Kyi Phyag rGya Daṅ Myaṅ Ba Daṅ Kha Zas Daṅ rGyu Baḥi Ñes Pa gSuṅs Pa Ni Go sLaḥo S̄es ḥByuṅ Gi ḥGrel Paḥi Tshig gS̄an Med Kyaṅ ḥDir ḥByuṅ Ba Ni Bod Mi mKhas Pa S̄ig Gis bCug Par mÑon No S̄es dPaṅ Lo Daṅ Chos rJe Bu La Sogs Pa mKhas Pa Phal Che Ba gSuṅ La. Kha Cig mTshan Bu dKyus Su Śor Paḥo S̄es Zer Ro".

(ḥGrel Chen Dri Med Ḥod Kyi ḥGrel bŚad. The Collected Works of the Lord mKhas Grub rJe dGe Legs dPal bZaṅ Po. Vol. 3. New Delhi, 1980, "Ga", page 141 b).

बाह्ये विट्शब्देन **वैरोचनिर्वंलिर्वलेर्वंशाद्** गन्धको विडुच्यते, अध्यात्मनि विडेव, अनयोस्तुल्यभागः। **मूत्रं** बाह्ये **विष्णु नृपो** भि(भृ)ङ्गराजरसम्, अध्यात्मनि मूत्रमेव। **रक्तं** बाह्ये अभ्रकम्, अध्यात्मनि स्त्रीपुष्पम्, तुल्यभागमिति। **शुक्रं** बाह्ये पारदः, अध्यात्मनि T 325 शुक्रमेव, अनयोः समभागमिति। **नृमांसं बाह्ये** त्रिफला, अध्यात्मनि मज्जा, अनयोरपि समभागमिति। एवं विडेकभागः, मांसस्य पादोनभागः, रक्तार्द्धभागः, शुक्रस्य एकपादः, एतदेकीकृत्य मूत्रेण सप्तवारान् भावयेत्। आतपे भूयो भूयः शोषयित्वा, ततः प्रत्यहं कर्षमात्रं घृत-मधुभ्यां भक्षितं षण्मासावधेरायुर्दं भवति, शाकाम्लतैललवणवर्जनादिति पञ्चामृतनियमः।

इदानीं पुष्पनस्य उच्यते **सध्यानमित्यादिना**—

इह ध्यानं मध्यमायां प्राणप्रवेशः, तेन ध्यानेन सह **सध्यानमिति**। **पुष्पं** स्त्रीरजः, बाह्ये केशराजिका भृङ्गराजः, तस्य रसः स्त्रीपुष्पतु[140a]ल्यं **सध्यानं पुष्पनस्यं** सध्यानानां **हरति सपलितानङ्गजातान् जरांश्च**, षण्मासावधेरिति [नस्य][1] नियमः।

इदानीं पञ्चप्रदीपमुच्यते—

गोश्वदन्तीहयनराणां मांस**मक्षिकाच्छर्दिमिश्रं** मधुना मिश्रं **भुक्तं पञ्चप्रदीपं सकलरुजहरं** भवति; अपरं मक्षिकाच्छर्दिमाधवी, तया सार्द्धं सकलरुजहरं भवतीति नियमः। **स्त्रीपुष्पं शुक्रमिश्रं** पूर्वोक्तं बाह्याध्यात्मिकम्, **अपहरति जरां भक्षितं च वर्ष-मिति** पूर्वोक्तभोजननियमः।

इदानीं वाताद्युपस(श)म उच्यते—

वातघ्नं क्षारमम्बु प्रभवति मधुरं पित्तशत्रुः कषायः
श्लेष्मघ्नं सर्वतिक्तं कटुकमपि तथा चौषधिर्वा रसो वा।
श्लेष्मघ्नं छागदुग्धं त्रिकटुकसहितं माहिषं पित्तशत्रुः
वातघ्नं चोष्ण(चोष्ट्र)दुग्धं त्रिविधरुजहरं गोपयः सर्पिरेव ॥ १२६ ॥

वातघ्नं क्षारमम्बु प्रभवति मधुरं पित्तशत्रुः कषायद्रव्यं* **श्लेष्मघ्नं सर्वतिक्तं** त्रिकटुकसहितम्, **औषधिर्वा रसो वा** भक्षितं पीतमिति। **श्लेष्मघ्नं छागदुग्धं त्रिकटुक-सहितम्, माहिषं** पित्तशत्रु†ः, शर्करासहितम्। **वातघ्नं वो(चो)ष्णदुग्धं**[2](**ष्ट्रदुग्धं**)[3] शै(सै)न्धवसहितं **त्रिविधरुजहरं गोपयो** यथासंख्यम्, सैन्धवादिसहितं वातपित्तश्लेष्मघ्न-मिति। **सर्पिरेव** गोघृतं त्रिविधरुजशमनं ज्वररहितानामिति नियमः।

---

१. भो. rNub Pa (नस्य)।

२. क. ख. वोष्णदुःखं; ग. वोष्णदुग्धम्। ३. भो. rNa Mohi Ḥo Ma (उष्ट्रदुग्धम्)।

*-†. एतावानंशः क. पुस्तके नास्ति, ख. पुस्तकादयं गृहीतः।

इदानीं मुखादिरोगोपस(श)मनार्थं क्वाथतैलाद्युच्यते जातीत्यादिना—

जातीक्वाथाम्बु चोष्णं मुखरुजशमनं दन्तशूलस्य चैवं
तैलं वस्त्वम्बुपक्वं त्रिकटुकलवणैः कर्णरोगस्य नाशः ।
आज्यं क्षीराहिरक्तैः क्वथितमपि सदा घ्राणरोगस्य नाशः
कर्कोटी लाङ्गलीन्द्री हरति सहखरां गण्डमालां प्रलेपात् ॥ १२७ ॥

इह सर्वद्रव्याष्टगुणं तोयं जातीपत्राष्टगुणं तोयं पादावशेषं **जातीक्वाथाम्बु**तोयं किञ्चि**दुष्णं मुखरुजस(श)मनं** भवति । **दन्तशूलस्य चैवं तैलं** तिलतैलं **वस्त्वम्बु** छागमूत्रम्, तेन तुल्यं **पक्वं** तैलावशेषं **त्रिकटुकलवणैः** सपादांशैः पाकावशा(सा)ने प्रदत्तैः, तत्कर्णे प्रविष्टं **कर्णरोगस्य नाश** इति [140b] । **एवमाज्य**गोघृतक्षीरेणाष्टगुणेन क्वाथावसाने अ**हि**र्नागकेशरं **रक्तं** [कुं]कुमं तैः पादांशेन दत्तैरनेन घृतेन नस्यं **घ्राणरोगस्य नाश** एव । **कर्कोटी** वन्ध्यकर्कोटी **लाङ्गली इन्द्री** इन्द्रवारुणी तिक्ता **हरति सहखरां** गर्दतांलतैः (गर्दभाम्बुलिप्तैः[1]) सह **गण्डमालां प्रलेपादि**ति नियमः संक्षेपतः, विस्तरेण वैद्यशास्त्रे ज्ञेय इति ।

इदानीं वज्रकण्ठकोपस(श)मनमुच्यते कुर्याद्धस्तावित्यादिना—

कुर्याद्धस्तौ प्रलम्बौ समपदकमले प्राणवायोर्निरोधं
यावद् भूम्यां प्रपातो न हि भवति तनोर्मुञ्चनं च ज्वरस्य ।
भूयो भूयः समाधौ मरणभयकरान् नाशयेत् कण्टकान् वै
हृत्पद्मे चन्द्रमूर्ध्नि त्वमलशशिनिभा भाविता विश्वमाता ॥ १२८ ॥

इह यदा पापरोगोपद्रवो भवति, तदा प्रथमं ज्वरो भवति, हस्तपादसन्धिषु व्यथा भवति, शिरश्च व्यथते। इदं लक्षणं ज्ञात्वा समाधिमवलम्बयेत् । तत्रायं विधिः–नि(नी)रन्ध्रे गृहे प्रवेश्य ज्वरितः **कुर्याद्धस्तौ** द्वौ **प्रलम्बौ** ऊरुपर्यन्तं **समपदकमले** कुर्यात्, **प्राणवायोनिरोधं** कुम्भकं कुर्यात्, **यावत् प्रया(पा)तो भूम्यां न हि भवति तनोः** तावज्ज्वररोगेण भूम्यां प्रपातो भवति; अथाप्रपातो यावत् पुनः पुनः प्राणायामं कुर्यादिति नियमः । **मुञ्चनं च ज्वरस्य** यावन्न भवति तावत् कार्यम्, ज्वरे मुक्ते सति न कुर्यादिति नियमः । **भूयो भूय**. **समाधौ** स्थितो **मरणभयकरान् नाशयेत् कण्टकान् वै । हृत्पद्मे त्वमलशशिनिभा भाविता विश्वमाता**, प्राणायामेन पद्मवरदहस्ता वज्रपद्मासनस्था[2] चन्द्रमण्डले द्विभुजैकवक्त्रेति नियमः । इति पापरोगोपस(श)मः ।

---

१. भो. Boṅ Buḥi Chu Daṅ bCas Pa Byugs Pas (सह गर्दभाम्बुलिप्तैः) ।

२. क. ख. वज्रपद्मायनस्था ।

इदानीं पापरोगोपस(श)मनार्थं भैषज्यमुच्यते—

पिष्ट्वा शीताम्बुसूर्यो ज्वरविहि(ह)तनृणां कण्टकान् नाशयन्ति
घृष्टं त्वक्षोभ्यमिश्रं हरति भयकरान् वा कपालं ज्वरान्ते ।[141a]
मन्त्रश्चोँकारपूर्वो जलशिखिमरुतां वज्रपूर्वं च नाम
रक्षां तेनैव कुर्यात् शिरसि गलहृदोर्न्नाभिगुह्यादिकेषु ॥ १२९ ॥

इह यदा पापरोगचिह्नं भवति ज्वरितहस्तपादसन्धिषु व्यथा तथा(दा) **पिष्ट्वा शीताम्बुना मसूर्यो ज्वरविहि(ह)त**[1]**नृणां** दत्ताः **कण्टकान् नाशयन्ति**; तथा **ज्वरान्ते** तृतीयदिने कण्टकोत्थानकाले पापरोगेण मृतस्य **कपालम्** अलाभे यथालब्धं पृ(घृ)**ष्टम् अक्षोभ्यमिश्रं** पीतं पुरुषकपालं पुरुषेण, स्त्रीकपालं स्त्रिया। अलाभे यथालब्धं पीतं **हरति भयकरान्** कण्टकान् धा(वा) इति यथालब्धं कपालं ज्वरान्ते इति नियमः। अत्र मसूर्यादीनामभिमन्त्रणाय मन्त्रो भवति। स च ओँकारपूर्वं इति **मन्त्रश्चोँकारपूर्वः। जलशिखिमरुतां** पूर्वम् ओँकारः, जलमिति पवर्गस्य द्वितीयाक्षरं तोयधातुः फ इति, शिखीत्यधो र इति, ऊर्ध्वे एकारः, एषां जलशिखिमरुताम् एकत्वं फ्रेँ, अनुस्वारम् आकाशं सर्वव्यापित्वादिति। **वज्रपूर्वं च** कण्टकानां नाम, रि(र)**क्षां तेनैव कुर्यात्**; यथा मसूर्यादिः सप्तवाराभिमन्त्रितं[2] तथैव रक्षां तेनैव **शिरसि गले हृदये नाभौ गुह्ये; आदिशब्दा**-दुष्णीषे; एषु षट्सु स्थानेषु त्रिसन्ध्यायां रक्षां कुर्यादिति नियमः।

अत्र मन्त्रः—ॐ फ्रेँ विश्वमात[:] वज्रकण्टकान् नाशय नाशय मम शान्तिं कुरु कुरु[3] स्वाहा, पररक्षार्थं देवदत्तस्य शान्तिं कुरु कुरु स्वाहा, इति नियमः। इदं भगवत्या विश्वमातुः सर्वेत्यु(षु उ)पद्रवेष्वात्मपररक्षायां स्मर्तव्यमिति भगवतो नियमः। अनेन मन्त्रेण सप्तवारानभिमन्त्र्य मसूरिकाः शीताम्बुना पिष्ट्वा पातु[तुं] देयाः, ज्वरनष्टस्य कपालम् अक्षोभ्येन पिष्ट्वा देयम्; भूतग्रस्तस्य त्रिकटुकेन सहितम् अक्षोभ्यं पिष्ट्वा देयमिति पापरोगोपस(श)मननियमः।

इदानीं सूर्यातपस(श)मननियमः क्रियते तुल्येत्यादिना—

तुल्यं धात्री च धान्यं त्वपरमपि तथा तिन्तिडीपत्रचूर्णं
तोये चन्द्रार्कजुष्टे खलु विगतमले क्वाथयेत् पादशेषम् ।
तत् [141b] क्वाथं खण्डमिश्रं पुनरपरदिनात् पीतमेतत् त्रिरात्रं
ग्रीष्मे सूर्यांशुदाहं हरति मरणदं सप्तधातौ गतं च ॥१३०॥

इह यदा ग्रीष्मे सूर्यांशुदाहो भवति अध्वनि, तदा **तुल्यं धात्री**ति आमलकीफल-[4]चूर्णम्, **धान्यमिति** कुस्तुम्बुरुः, तेन **तुल्यमपरमिति**; तथा **तिन्तिरी(डी)पत्रचूर्णं** बन्धु-

१. भो. rNam Par bsNun Pa (विहत)। २. ग. ०वाराभिमन्त्रणम्।
३. क. ख. पुस्तकयोर्नास्ति।
४. भो. hDab Ma (०पत्र)।

लीपत्रचूर्णमिति तुल्यम्; एवं सर्वेषां तुल्यभागं कृत्वा, **तोये चन्द्रार्कजुष्टे** इति चन्द्रार्ककिरणैः स्पृष्टे खलु **विगतमल** इति शैवालादिमलरहिते, **क्वाथयेत् पादशेषमिति** क्वाथस्य यावत् पादमेकं भवति, तावद् द्रव्यत्रयं क्वाथयेत्, द्रव्याष्टगुणं तोयं दत्त्वेति। अत्र तुलाया मानं न भवति, क्वाथविषये आढकेन मानं सर्वत्रेति नियमः। **तत्** T 326 **क्वाथपादात् समात्रं खण्डमिश्रं पुनरपरदिनात्** पीतम्, एवमनेन क्रमेण **त्रिरात्रं** प्रत्यूषकाले **ग्रीष्मे सूर्यांशुदाहं हरति मरणदं सप्तधातौ गतं चेति** लोमचर्मादौ गतम्, **च**कारादपरमपीति नियमः।

इदानीमपररसायनमुच्यते **हेमेऽर्कमित्यादिना**—

हेमेऽ(न्य)र्कं कान्तलोकं(हं) पटलजमयसं वाहयेन्मक्षिकेन
बीजार्द्धेनापि पिष्टिर्मलविगतरसे वाहयेत्(कारयेत्) षट्पलैश्च ।
गोतक्रं दारयित्वा खलु खरशिखिना ग्राह्यमेवाग्रम(वात्र) मस्तु
श्रीपिष्ट्या कल्किपात्रे[1] क्वथितमपि पुनर्यावदर्द्धप्रमाणम् ।।१३१।।

इह शरीरे यः कश्चिद् बाह्यरसायनार्थी सिद्धरसाभावे मध्यरसायनमिदं कुर्यात्, अस्य च विधिरुच्यते—**हेम्नीति** विशुद्धस्वर्णे, **अर्कमिति** ताम्रम्, **कान्तं** लोहम्, **पटलज**मभ्रकलोहम्, **अयसं** तीक्ष्णम्, एषां प्रत्येकं समभागकृतानां भागं सुवर्णसमं **माक्षिकचूर्णं** प्रतिवाये(पे)न प्रकटमू[142a]षायां तीव्रवातेन निर्वाहयेत्; यावद् हेमं तिष्ठति, तदेव बीजम्, तेन **बीजेनार्द्धेन** स्वर्णपलद्वयेन रसे चतुःपले **मलविगत** इति सप्तगतनाकृते **पिष्टं षट्पलं** कारयेदिति। ततो **गोत्रक**(गोतक्र[2])मपगतनवनीतं **खरशिखिनेति** तीव्राग्निना **विदारयित्वा**, तस्य विदारितस्य कर्पटेन गालयित्वा स्वच्छं **मस्तु ग्राह्यम्**, कल्कं त्यक्त्वा। तदेव मस्तु अयस्कान्तपात्रे **हेमपिष्ट्या सार्द्धं पुनः क्वाथयेत्, यावदर्द्धप्रमाणं** भवति।

उद्धृत्याशुद्धखण्डाष्टपलमथ नववंत् क्षेपनी(णी)यं हि तत्र
तद्भोज्यं सर्वकालं ह्यस(श)नविरहितं चायनं यावदेव ।
षण्मासैर्दिव्यदेहो वलिपलितगतो यात्यनेनामरत्वं
तस्माद् भोज्यं तदेव प्रतिदिनसमये किन्तु पिष्ट्या विहीनम् ।।१३२।।

तत **उद्धृत्याशुद्धखण्डाष्टपलमिति** तस् अराजादिकानाम् आहारपरिणामवशेन[3] नवादिकं सप्तादिकं च। खण्डस्य चतुःषष्टिभागिकमरिचचूर्णमपि **तत्र क्षेपनी(णी)यमिति** तदेव भोज्यं **सर्वकालम् अस(श)नविरहितं चायनं यावदेव। षण्मासैर्दिव्यदेहो वलिपलितगतो यात्यनेनामरत्वम्।** इह पाने ताम्बूलभक्षणं विहितम्, ताम्बूलकल्कं विहाय **तद्भोज्यं सर्वकालमिति।** तदेव मस्तु तेन विधिना भोज्यं भोजनीयम्। **हेमपिष्ट्या**

---

१. भो. Khab Len sNod (अयस्कान्तपात्रे)।
२. भो. Dar Ba (०तक्रं)। ३. ग. ०भेदेन।

विहीनम्, किन्तु यावत् पिष्टिकाऽस्ति तावत् तया सार्द्धम्। पश्चात् तया विना सर्वकालमिति रसायननियमः।

इदानीं भक्ताद्युपभोगाय हेमार्द्धिकमाह **पूर्वोक्तमित्यादिना**—

पूर्वोक्तं बीजराजं सममपि तु रसे जारितं चार्द्धमात्रं
क्षाराम्लैर्मर्दयित्वा बहु विविधविडैर्यावदेकत्वमेति ।
पित्ताम्लैर्गन्धकायैः(द्यैः) दरदमपि शिलां मर्दयेत् सूततुल्यं
तल्लेपात् तारपत्रं व्रजति कनकतां पक्ष(क्व)मप्यर्द्धिकेन ।। १३३ ।।

इह **पूर्वोक्तं बीजराजं सममपि तु रसे चा(जा)रितं चार्द्धमात्रम्, क्षाराम्लैर्मर्दयित्वा बहु विविधविडैर्वक्ष्य[142b]माणैर्यावदेकत्वमेति**। ततः **पित्ताम्लै**[1]**गंन्धकाद्यैः**[2] **दरदमपि शिलामिति** इह रसक्रामणाय त्रीणि द्रव्याणि रसतुल्यानि रसेन सार्द्धं पित्ताम्लै[1]**र्मर्दयेत्**। गोपित्तं मत्स्यपित्तं वा फलाम्लं वा यथालब्धं बीजपूरकाद्यम्, गन्धकम्, दरदम्, शिलाम्, तालकम्, शशकम्, काक्षी, काशीषं, तुत्थकम्, हेमगिरिकम्; एषां गन्धकादीनामुपरसद्वयम्, महारसं एकम्, त्रीणि रसतुल्यानि। **तस्य लेपात् तारपत्रं** दिनत्रयं चुल्लिकाधः स्थापितं **व्रजति कनकतां पक्वं**[3] चुल्लिकाग्निना, **अर्द्धिकेन** हेम्ना। इति हेमार्द्धिकनियमः।

इदानीं पुष्पक्रियोच्यते **तीक्ष्णमित्यादिना**—

तीक्ष्णं चाकाशजातं त्वललवणयवक्षारसर्जं क्रमेण
वृद्धं चार्के द्विगुण्ये समरसकरणाद् दाहयेदर्कशेषम् ।
भूयः क्षारेण शुद्धं भवति मृदु तथा गोमयाद्ये निषिक्तं
तारे दत्तं त्रिभागं हृतमपि भरितं शुद्धपुष्पत्वमेति ।। १३४ ।।

इह पुष्पशब्देन ड(द्र)म्मरूपक[4] द्रव्यमुच्यते। **तीक्ष्णं तारेण** ताडितं भरितं चेति, तस्येयं दलशुद्धिः। **तीक्ष्णमाकाशजातमित्य**भ्रकसत्त्वम्। **अलमिति** तालकं **लवणं** सैन्धवम्; **यवक्षारम्, सर्ज्जरसम्**; तीक्ष्णाद्यं **क्रमेण वृद्धमिति** एकद्वित्रिचतुःपञ्चषड्भागं यावत्। ततः सर्वमेकीकृत्य **अर्के** ताम्रे **द्विगुणे समरसकरणात्** प्रथममन्धमूषायां धमेत्; ततः प्रकटमूषायां **वा(दा)हयेद**[5]**कंशेकं(शेषं)**[6] यावद् भवति। **भूयः क्षारेण** टङ्कणक्षारेण **शुद्धं भवति, मृदु तथा गोमयाद्ये निषिक्तमिति** गोमयं गोतक्रम्, **आदितः** अर्कमूलम्, वज्रीकनकमूलम्, एरण्डमूलम्, क्षीरकञ्चुकीमूलम्, पीषयित्वा सन्धानं कारयेत्, सप्ताहं यावत्; ततस्तस्मिन् तक्रनिषेकं दद्यात् यावन्मृदुर्भवति। तदेव **तारे दत्तं त्रिभागं हृतमपि भरितं वा शुद्धपुष्पत्वमेति**। इति पुष्पदलनियमः।

---

१. क. पित्ताद्यैः। २. ख. गन्धकायैः। ३. क. ख. पक्षं। ४. क. ०रूषक।
५. भो. bSreg Par Bya (दाहयेत्)। ६. भो. Lhag Ma (शेषम्)।

इदानीं बुद्धबोधिसत्त्वपूजार्थं गन्धधूपादिकक्षपुटमुच्यते एलेत्यादिना—

एला कर्पूरमाला वलघनफलिनी वायसम् अद्रिजं च
कर्कोलं सिंहमूत्रोत्पलफलमृगजा रक्तदैत्यानि पूतिः ।
नागं शीतं रणं पत्रपलजललतान्यम्बरं चक्रमेतत्
पञ्चद्रव्यैस्तु गन्धं कुरु मृगशशिभिर्धूपपुष्पासवाद्यैः ।। १३५ ।।

इह शोधितद्रव्याणि गन्धसा(शा)स्त्रोक्तविधिना पञ्चविंशतिकोष्ठात्मके कक्षपुटे पातयेत् । प्रथमकोष्ठे एला, द्वितीये कर्पूरम्, तृतीये मालेति स्पृक(क्का)पुष्पम्, चतुर्थे वलं सिह्लकचूर्णम्, पञ्चमे घनं मुस्तकम्, षष्ठे फलिनी प्रियङ्गुपुष्पम्, सप्तमे वायसं कृष्णागुरुः, अष्टमेऽद्रिजं शैलेयकम्, नवमे कर्कोलकम्, दशमे सिंहमूत्रम्, एकादशमे उत्पलं कुष्ठम्, द्वादशे फलं जातिफलम्, त्रयोदशमे मृगजा कस्तूरिका, चतुर्दशमे रक्तं कुङ्कुमम्, पञ्चदशमे दैत्यं मुरा, षोडशमे पूतिः पुत्रकेशम्, सप्तदशमे नागं नागकेशरपुष्पम्, अष्टादशमे शीतं चन्दनम्, एकोनविंशतिमे रणम् उशीरकम, विंशतिमे पत्रं तमालपत्रम्, एकविंशतिमे पलं मांसी, द्वाविंशतिमे जलं वा(पा)लकम्[1], त्रयोविंशतिमे लतेति, लता कस्तूरिका, चतुर्विंशतिमेऽम्बरं भेरुण्डविष्ठम्, पञ्चविंशतिमे चक्रं (वक्रं[2]) पिण्डीन(त)गरपुष्पम्, एवमेतद्द्रव्याणि । एभिः पञ्चद्रव्यैर्यथारुचितैः कक्षपुटोद्धृतैः[3] शोभनं गन्धं कुर्विति नयमः । मृगशशिभिरिति कस्तूरिकाकर्पूरसहितैर्धूपैः पातयेत्[4], सुगन्धपुष्पैर्वासयेत्, आसवाद्यैरिति मद्यैः[5] सर्वैर्वक्ष्यमाणैः कर्पूरकस्तूरिकाजातीफलसहितैर्वेधयेदिति द्रव्यपातनियमः ।

इदानीं कक्षपुटपतितानां द्रव्याणां भाग उच्यते नेत्र इत्यादिना—

नेत्रेन्द्वग्न्यब्धिबाणा गुणजलधिशरा हस्तचन्द्रेषु नेत्रा
चन्द्राग्न्यब्धीन्दुकाला युगशरनयनाब्धीषु नेत्रेन्दुलोकाः ।
एलाद्या भागसंख्याः क्रमपरिरचिताः पञ्चपञ्चप्रकोष्ठै-
र्द्रव्यैर्गन्धं भवेत् कक्षपुटपुरगतैः शुद्धभागैर्दिनाख्यैः ।। १३६ ।।

इह प्रथमकोष्ठपतितद्रव्यस्य नेत्रमिति द्वौ भागौ, द्वितीये इन्दुरिति एको भागः, तृतीयेऽग्निरिति[143b]त्रयः, चतुर्थेऽब्धि[रिति] चत्वारः, पञ्चमे बाणा इति पञ्च, षष्ठे गुणा इति त्रयः, सप्तमे जलधिरिति चत्वारः, अष्टमे शरा इति पञ्च, नवमे हस्त इति द्वौ, दशमे इन्दुरित्येकः, एकादशमे इषुरिति पञ्च, द्वादशे नेत्रमिति द्वौ, त्रयोदशे चन्द्र इत्येकः, चतुर्दशे अग्निरिति त्रयः, पञ्चदशे अब्धिरिति चत्वारः, षोडशे[6] इन्दुरित्येकः, सप्तदशे काल इति त्रयः, अष्टादशे युग इति चत्वारः, एकोनविंशतिमे शर T 327 इति पञ्च, विंशतिमे नयन इति द्वौ, एकविंशतिमे[7] अब्धिरिति चत्वारः, द्वाविंशतिमे

१. भो. Pā la Ka । २. भो. ḥKhjog Po (वक्रं) । ३. क. ख. ०दत्तैः । ४. भो. sMin Par Bya (पाचयेत्) । ५. क. ख. महा; भो. Chaṅ (मद्य) । ६-७. ख. पुस्तके नास्ति ।

इषुरिति पञ्च, त्रयोविंशतिमे **नेत्र** इति द्वौ, चतुर्विंशतिमे **इन्दु**रित्येकः, पञ्चविंशतिमे **लोक** इति त्रयः। एवमुक्तक्रमेण **एलाद्या भागसंख्याः क्रमपरिरचिता पञ्चपञ्चप्रकोष्ठेषु; तैः पञ्चद्रव्यैर्गन्धं भवेत्**। **कक्षपुटपुरगतैः, पुर**मिति कोष्ठकं **शुद्धद्रव्यभागैर्दिनाख्यै**रिति पञ्चदशभागैः, एकद्वित्रिचतुःपञ्चभिरेकीभूतैरिति द्रव्यभागनियमो गन्धकक्षपुटे।

जात्याद्येलालतानां दलकलशपुरे पातनीयं क्रमेण
लाक्षासर्जं च दुग्धं पुरमपि च सितं धूपकार्येषु धूपम्।
कुर्यात् कर्पूरखण्डैः कुसुमरसयुतैर्वह्निभागैर्नखैश्च
पिष्टं तद् गन्धतोयैरपि मधुरहितां धूपवर्तिं प्रकुर्यात्॥ १३७॥

इदानीं धूपकक्षपुट उच्यते **जातीत्यादिना**—

इह पूर्वपातितानां कक्षपुटद्रव्याणां मध्ये जात्यादिपञ्चद्रव्याण्युद्धृत्य तेषां स्थाने यथाक्रमेणान्यानि पञ्च देयानि; तत्र **जाती**ति जातीफलम् आदितः, द्वितीया **एला**, तृतीया **लता** कस्तूरिका, चतुर्थं **दलं** तमालपत्रम्, पञ्चमं **कलशं** कक्कोलम्; एषां **पुरे** कोष्ठे **पातनीयं क्रमेण**—जातीफलकोष्ठे **लाक्षा**, एलाकोष्ठे **सर्जरसम्**, लताकोष्ठे **दुःख-(दुग्ध)**मिति श्रीवासम्, दलकोष्ठे **पुर**मिति गुर्गु(ग्गु)लम्, कक्कोलकोष्ठे **सित**मिति कुन्दुरुकम्। एवं **धूपकार्येषु धूपम्**, पञ्चद्रव्यैः पूर्वोक्तभागैः **कुर्या**दिति नियमः। **कर्पूरखण्डैः** सह यत्र खण्डम्, तत्र मधु देयं खण्डेन सार्द्धं **वह्निभागैर्नखैश्च** सार्द्धम्। एवमष्टादश[1]भागैः षडङ्गो धूपो भवति, कर्पूरखण्डमधुकस्तूरिकासहितो दशाङ्ग इति धू[144a]पकक्षपुटे द्रव्यनियमः।

इदानीं धूपवर्तिरुच्यते **पिष्टं तदित्यादि**—

इह धूपकक्षपुटोक्तं **मधूकविरहितं** गन्धोदकेन किञ्चित् खण्डमिश्रेण पिष्ट्वा **धूपवर्तिं** तेन कुर्यान्नाराचाकाराम्, धूपनाय वस्त्रादिकं सद्धर्मप्रतिमार्थमिति नियमः।

नाभ्यादौ सिंहमूत्रे शशिगगनपुरे पातयेत् स्नानयोगे
ग्रन्थि व्याघ्रं हरेणुं हतमपि च तथा शङ्खत्वक्त्रिविभागाः।
धान्यं मुर्वी शताह्वं दममपि मधुरी तद्वदुद्वर्तने च
पूर्वोक्ते चानिवृत्ते जलजमपि तनुर्ग्रन्थिपर्णं च तैले॥ १३८॥

इदानीं स्नानकक्षपुट उच्यते **नाभ्यादावित्यादिना**—

इह पूर्वकक्षपुटपातितद्रव्याणां मध्ये चत्वारि (पञ्च)[2] द्रव्याणि **नाभ्यादी**न्युद्धृत्य तेषां कोष्ठेषु यथासंख्यं स्नानकक्षपुटेऽन्यानि देयानीति। तत्र नाभिकोष्ठे **ग्रन्थिपर्णं** पातयेत्,

---

१. ग. ०ससादश। २. भो. lNa (पञ्च)।

सिहमूत्र[1]कोष्ठे **व्याघ्रं** नखम्, **शशिपुरे हरेणुम्**, **गगनपुरे** हृतमिति[2] कचोरकम्। **अपि च, तथा** यथा धूपकार्ये संख(शङ्ख)मिति नखं तस्य त्रिभागम्, एवं **त्वग्विभागास्त्रयो** देयाः, **स्नानयोगे** स्नानद्रव्याणां मध्ये। एवमष्टादशभागे षड्द्रव्यैः स्नानं भवति। स्नानकक्षपुटे द्रव्यनियमः।

इदानीमुद्वर्तनकक्षपुटमुच्यते—

इह स्नानकक्षपुटोक्तपञ्चद्रव्याणां मध्ये त्वग्वत्[3] त्रयो[4] भागाः पञ्चद्रव्याणां देयाः। **धान्यमिति** कस्तुम्बुरुम्, **मुर्वीति** मरुवकम्, **शताह्वेति** शतपुष्पा, **दमर्मिति** दमनकम्, **मधुरी** एषां पञ्चानां त्रयो भागाः—एवमष्टादशभागेनोद्वर्तनं भवति। उद्वर्तन-द्रव्यनियमः।

इदानीं पक्वतैलार्थं तैलकक्षपुट उच्यते पूर्वेत्यादि—

इह **पूर्वोक्त**गन्धकक्षपुटद्रव्यगणेऽनिवृत्ते **जलजमिति** नखम्, जलजमिव **तनुरिति** त्वक्, **ग्रन्थिपर्णं च**, तयोर्भागत्रयं दत्त्वा गन्धकक्षपुटपञ्चद्रव्यैः सार्द्धं सप्तद्रव्यैरष्टादशभागेन वक्ष्यमाणक्रमेण **तैलं** पचेत्, नानागन्धतैलं भवति। तैलकक्षपुटद्रव्यनियमः।[144b]

एवं **चूर्णादिकम्**—

चूर्णे ग्रन्थि च तद्वद् भवति तनुहृतं पानवासे मुखे च
त्वग्वोलं ग्रन्थिशङ्खं फलदलपुटपाके च हंसादिके च।
एवं त्रिशत्प्रभेदैः सुरचितविविधान् गन्धधूपादियोगान्
कुर्याद् द्रव्यैर्विशुद्धैः फलपुटपचितैर्वासितैर्वेधितैश्च ॥ १३९ ॥

चूर्णे चूर्णविषये **ग्रन्थि च तद्वदि**ति नखवत्पञ्चद्रव्येषु देयं ग्रन्थिपर्णकम्। तत्र(तनु)हृतं **पानवासे** देयं भवति, **मुखवासे** च **त्वग्वोलं ग्रन्थिशङ्ख**मिति द्रव्यचतुष्टयस्य भागत्रयं **फलपाके दलपुटपाके हंसपाके** आदितो दोलाया(पा)के वक्ष्यमाणे देयमिति। एवमुक्त-क्रमेण **त्रिशत्प्रभेदै**स्त्रिशद्गन्धादियोगान् **सुरचितान् विविधान् गन्धधूपादियोगान्** स्नानोद्वर्तनादिकान् **कुर्याद्** गन्धाद्यर्थी, **द्रव्यैः** किम्भूतैः? **विशुद्धैः फलपुटपचितै-र्वासितैर्वेधितै**रिति द्रव्यसंग्रहनियमः।

इदानीं गन्धस्य धूपपाक उच्यते **अष्टांशादा**वित्यादि—

अष्टांशादौ कषायो भवति दलवशात् तद्द्विगुण्योग्रधूपः
पश्चाद् द्रव्यप्रमाणो गुड इति च भवेद् वर्द्धते ग्रीष्मयोगात्।
पादांशं शङ्खधूपं मधुकमपि सितां निर्दहेद् द्रव्यतुल्यां
पिण्डं शङ्खप्रमाणं मलयलघुचलं चन्द्रयुक्तं च तद्वत् ॥ १४० ॥

---

१. क. ख. सिंहसूत्र०। २. क. ख. हृतमिति; भो. Ha Ta (हृत०)।
३-४. क. ख. त्वग्वर्गयोः।

इह गन्धयोगे त्रिविधं **दलम्**—अधममध्यमोत्तमम् । तत्राधमं मुस्तकम्, सै(शै)-लेयम्, उशीरकम्, वा(पा)लकम्,[१] कपित्थम्, विल्वम्, मुरा, मांसीति; एतानि दलान्य-[२]धमानि । एषां **वशाद् दलवशादादौ कषायो** गुडेन मोदितं हरीतकीचूर्णं धूपो भवति; तेन **दलमष्टांशेनादौ** धूपयेद् दिनमेकम्, ततः पुष्पवासं कृत्वा दिनद्वयम्, तृतीये दिने मध्यमदलं मिश्रयेत्; ततस्तद्**द्विगुण्योग्रधूप** इति । तस्य पूर्वापरस्य द्विगुण्य उग्रधूप इति । लाक्षाम्, सर्ज्जरसम्, श्रीवासम्,[३] गुग्गुलुः, कुन्दुरुकम्—एभिः पञ्चोग्रैर्गुडेन मोदितैरुग्रधूपो भवति; कषायस्य द्विगुण्यो देयः, दलस्य **पादांशमिति** ।

अत्र मध्यमदलं पुष्पवर्गम्, चन्दनम्, अगुरुम्; फलवर्गम्, नखम्, त्वग्वर्गम्, निर्यास वर्गमिति । एवं दिनद्वयम् उग्रधूपेन धूपयेत्; एकान्तरितं दिनद्वयं पुष्पवासं कुर्यात्, **पश्चाद् द्रव्यप्रमाणं गुडम्**, अपि च धूपेन सार्द्धं **निर्दहेत्** ग्रीष्मे; ततो **वर्द्धते ग्रीष्मयोगात्**, वार्षे द्रव्यद्विगुण्यः, हेमन्ते त्रिगुण्यो देयः, ततो गुडे दग्धे सति **शङ्खमिति** नखं गुडेन सार्द्धं **पादांशं निर्दहेद्** दिनद्वयं पूर्वविधिना । ततो **मधुकं सितां** स(श)र्करां **द्रव्यतुल्यां निर्दहेत्** पिण्डधूपेन सार्द्धम् । धूपग्रासस्याद्यावसाने केवलं निर्दहेत् । एवं गुडोऽपि प्रतिदिनं ग्रासत्रयं दग्ध्वा विश्रामयेत्, प्रतिदिनं द्रव्यस्याष्टांसं(शं) धूपं निर्दहेत्, अन्यथाऽनेनापक्वो भवति, अधिकेन दग्धगन्धो भवति, अपक्वे अम्लो भवतीति नियमः ।

पिण्डमिति पिण्डधूपम्, कक्षपुटोक्तं कर्पूरसहितम् उग्रद्रव्यवर्जितम्, पञ्चद्रव्यैर्मधुस(श)र्करामोदितैः पिण्डधूपम्; तदेव **संख(शङ्ख)प्रमाणमिति** द्रव्यपादांशं निर्दहेत् । तत्र पुत्रकेशं जातीफलं कर्पूरं नाभिः, अपरं कक्षपुटोक्तमुत्तमं दलं दत्त्वा, **मलयं** चन्दनम्, **लघुमित्यगुरुम्**, **चलमिति**[४] सिह्लकम्, **चन्द्रमिति** कर्पूरम्; तेन **युक्तं**
T382 द्रव्यत्रयम् । **तद्वदिति** पिण्डधूपद्रव्यसदृशं[५] निर्दहेद् मधुस(श)र्करासहितम् । अत्र गुडो वटिकागुडो ग्राह्यः, न द्रव्यपूर्वक इति नियमः ।

पक्वं गन्धं सुपुष्पैः कतिपयदिवसं व्यासयेद् यावदिष्टं
पश्चाद् वेधं शतांशं त्रिफलशशिमदैः कारयेत् सासवैश्च ।
सि(शि)ग्वम्बु छागमूत्रं कुसुमरससमं क्वाथयेत् पुष्पजान्तं
मासैकं धान्यपक्वं भवति मृगसममासवं नाभिविद्धम् ।। १४१ ।।

ततः **पक्वं गन्धं** ज्ञात्वा, अस्य पाकं मर्दितस्य गन्धेन करस्य तलं यदि रक्तं भवति, तदा परिपक्वम्; अथ न पक्वम्, अतो यावत् पाकं न भवति तावच्छीतधूपं न दाहयेदि[145b]ति । एतत् पक्वं गन्धं **सुपुष्पैः** चम्पकाद्यैः सुगन्धैः **कतिपयदिवसं** पक्षार्द्धं पक्षमेकं वा **यावद्** धूपदोषं त्यजति, तत **इष्टं** भवति । **पश्चाद् वेधं सतांसं (शतांशं)**

---

१. भो Pā La Ka (पालक) । २. भो. rZas (द्रव्याणि) ।
३. क. ख. प्रीवासं । ४. भो. Khu Ba (शुक्र); क. ख. निज्जास । ५. क. ख. बलमिति । ६. क. ख. पिण्डद्रव्यधूपसधृशं ।

फल(त्रिफल)मिति जातीफलम्, कक्कोलम्; अथ वा[1] एला कक्कोलस्थाने, लता कस्तूरिका, शशीति कर्पूरम्, मदमिति कस्तूरी, एषां समभागं कृत्वा शतांशेन गन्धस्य वेधं कारयेत् । सासवैरिति वक्ष्यमाणैर्मदासवैः सार्द्धं वेधं शतांशेन दद्यात् । वेधस्याष्टगुणा-सर्वमिति वेधनियमः ।

इदानीं गन्धानां मोदनार्थम् आसवमुच्यते शिग्वित्यादिना—

इह गन्धशास्त्रोक्तविधिना[2] विस्तरो यत्र यादृश आसवादीनां पाकः स तत्रैव गन्धशास्त्रे ज्ञेयः । अत्र च संक्षेपत उक्तः शिग्र्वम्बु इति । शिग्रुरसम्, छागमूत्रम्, कुसुमरसमिति मधु, तेन समं तुल्यमानम् अग्निना क्वाथयेत्, पुष्पजान्तमिति मधु-पर्यन्तम्; तत उद्धृत्य नारिकेलादौ प्रक्षिप्य धान्यराशिमध्ये मासमेकं पक्वं भवति । मृगसमम् आसवं नाभिविद्धमिति अग्निपाकावसाने नाभिरिति कस्तूरी, अनुक्तमपि कर्पूरम्, त्रिफलम्, तेन स(श)तांशं वेधं दत्वा, ततो धान्ये स्थापयेत्; ततस्तेन गन्धस्य वेधं पूर्वोक्तं कारयेदिति नियमः । सर्वस्मिन् गन्धशास्त्रे धूपपाकाय त्रिविधं धूपयन्त्रम्—समम्, डमरुकाकारम्, मूर्ध्नि सरावाकृतिः, मध्येऽङ्गुलद्वयं छिद्रं षडङ्गुलमधमं[3] कषा-योग्रधूपार्थम्; मध्यममष्टाङ्गुलोच्छ्रितम्, नखगुडपिण्डधूपार्थम्; उत्तमं[4] दशाङ्गुलं शीतधूपार्थम्, अस्य यन्त्रस्य तले वालुका[5]सहितं खर्परं चूल्लिका[6]मूर्ध्नि दत्वा द(त)प्त[7]वालि(लु)कायां धूपग्रासं[8] दत्वा, तदुपरि यन्त्रम्, यन्त्रोपरि गन्धकल्कप्रलिप्त-मङ्गुल्यर्द्धमुच्छ्रितं मृत्कपालं स्वल्पकल्के नारिकेलं[9] दत्वा धूपं निर्दहेत्, दण्डैकं दण्डार्द्धं धूपप्रमाणं ज्ञात्वा । तत उद्धृत्य कपालं फलकोपरि वस्त्रं दत्वाऽधोमुखं स्थापयेत्, येन धूपो[10] न गच्छति पाककालेऽपि कपालयन्त्रयोर्मध्ये आर्द्रवस्त्रेण वेष्टयेत् । इति धूपपाक-नियमः ।

फलपाके बीजपूरकस्य गर्भांशस्य[11]मुद्धृत्य, त्वचं परिवर्त्य, मध्ये गन्धकल्कं प्रक्षिपेत्, बाह्ये वल्कलैर्वेष्टयित्वा मृदाङ्गुलैकोच्छ्रितं लेपयेत्; पश्चाद्[12] गो[13]कर्षाग्निना पुटप्रयोगेण पाचयेत्, यावत् तल्लेपोऽग्निवर्णो भवेत् । तत ऊर्ध्वं गन्धनाशो भवति, ततोऽग्नेरुद्धृत्य शीति(ती)भूतं गन्धं नाभ्यादिभिर्वेधयेत् पूर्वोक्तविधिनेति फलपाकनियमः ।

दलपुटपाकेऽपि केतकोपत्रैः [146a] पुटिकां कृत्वा मध्ये गन्धकल्कं क्षिपेत् । शेषं फलपाकवत् ।

हंसपाके स्वर्णकलशं रौप्यं वा गर्भे गन्धकल्केन लिप्तं अङ्गुलैकेनोच्छ्रितेन ताम्र-कटाहे गन्धोदकार्द्धपरिपूरिते प्लवमानं[14] कथनमनुभवन्[15] हंस इव प्लवमानो[16]हंसपाक

---

१. क. ख. ग. पुस्तकेषु नास्ति । २. क. ख. ०विविधा । ३. क. ख. ०गुलमध्यमं । ४. क. ख. डनुभं । ५. क. ख. ग. बालिका । ६. क. ख. चूर्णिका । ७. क. ख. दप्त । ८. भो. bDug Pa ḥDZin Pa (धूपग्राहम्) । ९. ग. नालिकेरं । १०. भो. Du Ba (धूमः) । ११. भो. ḥBras Bu (०फलम्) । १२-१३. क. ख. यश्चाङ्गो । १४. क. ख. पूर्वमानं । १५. क. ख. ०भवन्तु । १६. क. ख. पूर्वमानो ।

इति वेधादिकं पूर्ववदिति हंसपाकनियमः, हंसपाके चेति वचनात् ।

दोलापाकाद्युच्यते—

इह गन्धशास्त्रोक्तानां नवविधद्रव्याणां मध्ये अधमदलानाम् अष्टविधं कर्म शुद्धये— क्षालनम्, स्वेदनम्, उद्वर्तनम्,[1] भर्ज्जनम्, भावनम्, धूपनम्, वासनम्, बन्धनं चेति । तत्र क्षालनं काञ्ज(ञ्जि)केन, स्वेदनं दोलापाकेन, उद्वर्तनं[2] गन्धोदकेन, मर्दितानां भर्ज्जनं[3] गुडतोयादिना, भावनं शिशुछागमूत्रादिभिः, धूपनं कषायोऽग्नैः(ग्रैः), वासनं केतक्यादिपुष्पैः, वेधनं नाभ्यादिद्रव्यैरिति । अधमदलानां मुस्तकादीनां पुष्पगणे क्षालनं श्वे(स्वे)दनादिकं कुर्यात्, भर्ज्जनं वर्जयित्वा । एवं त्वग्गणे मध्यमदलानां मूलगणे काष्ठगणे पत्रगणे जीवगणे नखस्य भर्ज(र्ज्ज)नं पुत्रकेशस्य पुटपाकः । शेषं पुष्पगणवत् ।

फलगणे निर्जा(र्या)सगणे द्रवद्रव्यगणे न किञ्चित् कर्म कार्यमिति । एषामुक्तद्रव्याणां चूर्णं कृत्वा भाण्डमुखे वस्त्रोपरि चूर्णं देयम्, भाण्डं गन्धोदकेनार्द्धपूर्णं चूर्णि(ल्लि)कोपरि दत्वा बाष्पश्वे(स्वे)देन श्वे(स्वे)दयेत् यावच्चूर्णं स्तिमितं भवति; तत उद्धृत्योद्वमनादिकं[4] (द्वर्तनादिकं) कारयेत् । एवं पुत्रकेशस्यापि दोलाश्वे(स्वे)दः; नखस्य श्वे(स्वे)दस्थाने गोमयेन मृदा काथनं भर्ज(र्ज्ज)नम्, कषायोदके निषेचनम्; शेषं पूर्ववदिति पञ्चविधपाकनियमः । शेषं गन्धशास्त्रे ज्ञातव्यं गन्धार्थिनेति ।

इदानीं गन्धादीनां गुह्यमुच्यते गुह्यमित्यादिना—

गुह्यं गन्धेषु पूतिं रसनखचपलं धूपयोगेषु गुह्यं
तद्वत् सी(शी)तं तुरुष्कं गुरुमपि शशिनं वासकार्येषु पुष्पम् ।
वेधे कर्पूरनाभि त्रिफलमदसुरा स्नानयोगे च सम्यक्
गुह्यं त्वग्ग्रन्थिपर्णं वनचरसहितं ग्रन्थिमुद्वर्तनं च ।। १४२ ।।

इह गन्धादीनां शीतधूपपाककाले **गुह्यं गन्धेषु पूतिं** दद्यात् । **रसनखचपल**मिति गुह्यम् । इह धूपपाके अम्लो[146b]भूतानां गन्धानां धूपं दद्यात्, धूपयोगं कृत्वा । **धूपयोग** इति धूपपाकविषये गन्धरसं नखं सिह्लकं गुडेन मोद(शोध)यित्वा[5] दिनैकं दिनद्वयं वा यावदम्लत्वं त्यजति, ततः पिण्डादिकं दद्यादिति नियमः । अथ खरपाकेन गन्धे दग्धे सति निशायां शशाङ्ककिरणैः स्पृशेद् गन्धम्; तदभावे जलतीरे स्थापयेद् यावद् दग्धदोषोपस(श)मो भवति ।

गन्धानां विनाशे कारणमुच्यते—

इह शुद्धाशुद्धद्रव्याणामेकत्वं विनाशे कारणम्, तथा तैलं शा(सा)र्द्रस्थानम्, पललम्, क्षारद्रव्यम्, विण्मूत्रम्, मूषकसंस्पर्शः, वातम्, अत्युष्ण[6]स्थानमिति ।

१. क. ख. उद्वमनं । २. क. ख. उद्वमनं । ३. ख. भञ्जनं ।
४. क. ख. उद्वमनादिकं । ५. क. ख. मोदयित्वा । ६. क. ख. अम्युण ।

तद्वच्छोतमिति चन्दनम्, **तुरुष्कम्**, **गुरुशशिनम्**, गुह्यम्, पुत्रकेशावसाने शीतादिधूपो देयमिति पाकान्ते नियमः। **वासकार्येषु पुष्पं** गुह्यं यावद् धूपदोषोपस(श)मो भवति। **वेध** इति वेधविषये कर्पूरम्, कस्तूरिका, त्रिफलम्, **मदसुरेति** कस्तूरिकासवो गुह्यं यावत् पुष्पवासदोषोपस(श)मो भवतीति गन्धयोगे नियमः। **स्नानयोगे च सम्यगिति** स्नानविषयेऽवश्यं गुह्यमिति देयं स्नानद्रव्यगण[1]मध्ये **त्वग्ग्रन्थिपर्णम्**। **वनचरसहितमिति** पुत्रकेशसहितम्, भागत्रयं पञ्चदशभागमध्ये दातव्यमिति नियमः। **उद्वर्तनयोगे** ग्रन्थिपर्णं देयम्; T 329 स्नाने यथाविभागमिति गन्धकक्षपुटविधिरुक्तः।

इदानीं नाभिभर्ता[2] गन्ध उच्यते **शुद्धाब्ज[मि]त्यादिना**—

शुद्धाब्जं द्रव्यहीनं मधुकविरहितं गन्धतोयेन पिष्टं
पक्वं धूपैः कषायोग्रसमधुकरजैर्ग्रासवृद्ध्या क्रमेण।
द्वौ ग्रासौ खण्डमिश्रौ मलयचपलयोर्लोहकर्पूरयोश्च
ग्रासस्याद्यावसाने मधुकमपि सितां निर्दहेदादिधूपात्॥ १४३॥

इह यदा एकद्रव्येण गन्धराजं कर्तुमिच्छति, तदा **शुद्धाब्जमिति** नखम्, तदेव सामान्येन चतुर्विधम्—गजकर्णम्, अश्वखुरम्, उत्पलपत्रम्, वरद[3](बदर)[4]पत्रं चेति[5]। तेषु गन्धयोगजे गजकर्णाऽ[6]श्वखुरं देयम्, धूपयोगे व(ब)दरोत्पलपत्रं देयम्। अत्र वरर(बदर)[7]पत्रं श्रेष्ठम्, तस्याभावे उ[147a]त्पलपत्रादिकं ग्राह्यम्, शुद्धं गन्धशास्त्रोक्तविधिना कथितं भर्जि(र्जि)तम्, गुडकषायोदकेन षि(सि)क्तं चूर्णितम्, त्रिफलादिभिः प्रलेपितं वासितमिति शुद्धम्। तदेवान्यद्रव्यैर्हीनं **मधुकमित्यासवम्**, तेन **विरहितम्**। **गन्धतोयेन पिष्टमिति** इह गन्धोदकार्थं स्वच्छतोयं गृहीत्वा एला-त्वग्-मांसी[8]-वालकं चन्दनं पोटलिकायां बद्ध्वा कर्षमेक[9]मष्टाढकतोये क्षिपेत्। ततः पादावशेषं क्वाथयेत् यावद् गन्धोदकं भवति। तेनापरमपि गन्धं पीषयेदिति नियमः। **पक्वं धूपैरिति** तदेव शुद्धनखं पिष्टं धूपपाकविधिना पक्वं धूपैः। **कषायोग्रसमधुकरजैर्ग्रासवृद्ध्या क्रमेणेति** मधुस(श)र्करया सहैकग्रासं कषायस्य प्रथमदिने **ग्रासस्याद्यावसाने मधुकमपि सितां निर्दहेदादिधूपादिति** नियमात्। प्रथमं मधुकस(श)र्कराग्रासो देयो मध्ये कषायधूपस्य पुन[10]र्ग्रासावसाने मधुस(श)र्करां निर्दहेत्, द्वितीये दिने पुष्पवासं कारयेत्, एवमेकान्तरितम् उग्रधूपस्य ग्रासद्वयं दिनद्वयेन निर्दहेत्, नखस्य ग्रासत्रयं त्रिभिर्दिनैः। ततो **द्वौ ग्रासौ खण्डमिश्राविति मलयस्य** द्वौ ग्रासौ दिनद्वये। **चपलस्यैकम्**। **लोहकर्पूरयोरपि ग्रासस्याद्यावसाने** मधुस(श)र्करापूर्ववदिति। एवमेकान्तरेण चतुर्विंशतिदिनैर्धूपैः पक्वं भवति।

---

१. ग. गुण। २. क ख. नाभिभर्ता। ३. क. ख. वरद। ४. भो. Ba Da Ra (बदर)। ५. ग. पुस्तके 'वरदपत्रं' इति नास्ति। ६. क. ०कर्णो। ७. भो. Ba Da Ra (बदर)। ८. भो. Pā La Ka। ९. भो. So gÑis (कर्षद्वयम्); क. ख. पुस्तकयोः 'कर्षमेकं कर्षद्वयं' वा नास्ति। १०. ग. पुस्तके 'पुनः' इति नास्ति।

वासं कृत्वा सुपुष्पैः कतिपयदिवसैर्गन्धतोयेन मिश्रं
अश्रा(स्रा)वे मृत्कपाले दृढपिहितमुखे वेष्टिते सिक्थवस्त्रैः ।
कृत्वा विस्तीर्णभाण्डे त्वथ धरणितले पूरिते वालुकाभिः
पक्वं षण्मासयोगाद्भवति जलगतो नाभिभर्ता सगन्धः ।। १४४ ।।

ततो **वासं कृत्वा** दशदिनं **सुपुष्पैः** यावद्धूपदोषोपस(श)मो भवति । **गन्धतोयेन मिश्रमिति** पूर्वविधिना प्रत्यहं गन्धतोयं क्राथयेत्, शीतोदकं न दद्यात् । शीतोदकेनाम्लो भवति, तेन गन्धतोयेन मिश्रं गन्धं कृत्वा **अश्रा(स्रा)वे मृत्कपाले** बाह्यसिल्क(क्थ)वस्त्रेण **वेष्टिते दृढपिहितमुखे** तदेवापरे **विस्तीर्णे भाण्डे** जा[147b]तिकाया**मथ**¹ **धरणितले**, अस्याभावे तस्मिन् भाण्डे प्रक्षिप्य उपरि वालि(लु)कां दद्याद् यावद्भाण्डं कण्ठपर्यन्तं पूरितं भवति । तत्र **वालि(लु)काभिः पूरिते** भाण्डे सामान्यमुदकं सूर्यतप्तं देयम्, तदेव भाण्डं सूर्यतापे स्थापयेत् **षण्मासं** यावत् । एवं **पक्कं षण्मासोपयोगाद्भवति जलगतो नाभिभर्ता गन्ध** इति गन्धराजनियमः ।

इदानीं पुष्पतैलार्थं गन्धतैलाय च तिलशुद्धिरुच्य(च्य)ते कृत्वेत्यादि—

कृत्वा शुद्धिं तिलानां क्वथितदलजलैर्धूपलेपादिभिश्च
पश्चाज्जात्यादिपुष्पैः कतिपयदिवसं वासयेद् यावदिष्टम् ।
यन्त्रे तैलं गृहीत्वा नृप निपुणतया स्थापयेत् काचभाण्डे
स्नाने वाऽभ्यङ्गने वा भवति मदकरं पुष्पतैलं ह्यपक्वम् ।। १४५ ।।

इह तिलान् परिपक्कान् नवान् संगृह्य **क्वथितदलजलैरिति** दलान्याम्रपत्राणि, एवं जम्बू-कपित्थ-मातुलुङ्ग-विल्वानां पञ्चवृक्षाणां पत्राणि, तैः क्वथितं जलं तैर्दलजलैर्मर्दयित्वा तिलानां तुषा²पनयनं प्रथमशुद्धिः । ततो जालायन्त्रोपरि वस्त्रं दत्वा, तदुपरि तिलान-परभाण्डे पिहित्वा धूपयेत्, द्वितीया शुद्धिः । **लेपादिभिरिति** त्रिफलैर्लेपो देयो गन्धतोयेन पिष्टैः, आदितः सूर्यरश्मिभिः शोषयेत् । एवं **तिलानां शुद्धिं कृत्वा पञ्चा(श्चा)ज्जात्यादिपुष्पैः कतिपयदिवसं** पक्षं वा दशदिनं वा निरन्तरं **वासयेद् यावन्**मर्दितानां³ वासितपुष्पगन्धमुद्वहति, तत इष्टं वासनं भवति । ततः कोलु(ल्हु)कयन्त्रेण **तैलं गृहीत्वा, नृप** इत्यामन्त्रणम्, **निपुणतया काचभाण्डे स्थापयेत्** । तत् तैलं **स्नाने वाऽभ्यङ्गने वा भवति मदकरं पुष्पतैलं ह्यपक्क**मिति । अथ पक्कतैलं कर्तुकामः, तदा तदेव तैलं समतोयेन सुगन्धेन क्राथयेद् यावत् तैलं फेनं मुञ्चति । ततोऽवतारणकाले अष्टांशेन गन्धद्रव्यं गन्धोदकेन पिष्ट्वा देयम्, पश्चादवतारयेद् यावत् शीतलं भवति । ततः कस्तूरिकाद्यैर्वेधं दत्वा काचभाण्डे स्थापयेत् । तदे[148a]व मदासवेन पादांशेन मिश्रितं लाक्षाभाण्डे

१. क. कायामध, ग. जाडिकायामथ । २. क. तुला ।
३. ग. यावतार्दितानां; भो. bsGos Pa rNams (०वासितानां) ।

सूर्यंतापैः सप्ताहं तप्तं कस्तूरिकातैलं भवति। वेणुकनलिकायां पक्वं सूर्यपाकं भवति; एवं विलेपनाद्यं वेणुकनलिकायां पक्वं दिव्यविलेपनं भवति नाभ्यादिर्भिविद्धम्। एवं नानाविधं गन्धशास्त्रोक्तं गन्धादियोगं कारयेत्। अत्र संक्षेपत उक्तं भगवतेति गन्धयुक्तिनियमः।

इदानीं गुर्विणीनां प्रसवनार्थं सर्वतश्चतुस्त्रिंशतिकं यन्त्रमुच्यते भूभृदित्यादिना—

भूभृत्सूर्येन्दुमन्वक्षिमदनवसवो रुद्रराजाग्नयश्च
दिग्भूता रन्ध्रषट्कं तिथिजलनिधयः स्थापनीयाश्च कोष्ठे।
संख्याकोष्ठैश्चतुर्भिर्जलनिधिशिखिनो लेखयित्वा समस्तं
श्रीचक्रं मानपृष्ठे प्रसवनसमये दर्शयेद् गुर्विणोनाम् ॥ १४६ ॥

इह यदा गुर्विणीनां प्रसवनकाले गर्भस्तम्भनं भवति बाह्यदूतीदोषेण. तदा इदं यन्त्रं मानपृष्ठे लिखेत्; मानमित्याढकम् ;तस्य पृष्ठे षोडशकोष्ठकान् कृत्वा प्रथमकोष्ठे भूभृव सप्त, द्वितीये सूर्य द्वादश, तृतीये इन्दुरित्येकम्, चतुर्थे मनुश्चतुर्दश, पञ्चमेऽक्षि द्वौ, षष्ठे मदनेति त्रयोदश, सप्तमे वसवोऽष्टौ, अष्टमे रुद्र एकादश, नवमे राजानः षोडश, दशमेऽग्नय इति त्रयः, एकादशे दिगिति दश, द्वादशे भूता इति पञ्च, त्रयोदशे रन्ध्रा इति नव, चतुर्दशे षट्कमिति षट्, पञ्चदशे तिथिरिति पञ्चदश, षोडशे जलनिधय इति चत्वारः; स्थापनीयाश्च[2] कोष्ठे षोडशे। एषामङ्कानां चतुःकोष्ठे स्थितानां संख्या एकपिण्डितं जलनिधिशिखिन इति चतुस्त्रिंशत् सर्वत्र। एतद् यन्त्रं लिखित्वा समस्तं श्रीचक्रं मानपृष्ठे प्रसवनसमये दर्शयेद् गुर्विणोनामिति गर्भमोचननियमः।[148b]

इदानीं गर्भादिबालतन्त्रमुच्यते योगिन्य इत्यादि—

योगिन्योऽष्टाष्टका याः प्रकटमहितले मातरो याः प्रसिद्धा
गर्भाख्या वासराख्या त्रिगुणनवदशैकादशान्यास्त्रिपञ्च।
मासाख्या वत्सराख्या सकलभुवितले ताः प्रगृह्णन्ति बालं
गर्भे शूलं च पीडां प्रसवनसमयेऽप्येव कुर्वन्ति योनौ ॥ १४७ ॥

इह महीतले याः प्रकटाः चतुःषष्टियोगिन्यः, तास्ता (अ)ष्टाष्टका मातरः प्रसिद्धाः, तासां मध्ये गर्भाख्यास्त्रिगुणनव इति सप्तविंशतिः, वासराख्या दश, एकादश मासाख्याः, अन्यास्त्रियं(प)ञ्चेति पञ्चदश वत्सराख्यास्तास्त्रयःषष्टिः बालं गृह्णन्ति सकलभुवितले गर्भे शूलं च पोडां प्रसवनसमयेऽप्येव कुर्वन्ति योनाविति। इह गर्भाख्यानां मध्ये T 330
पञ्चदशाधानदिनमारभ्य पञ्चदशदिनानि यावद् गर्भशूलं प्रकुर्वन्ति, ततो नवमासं यावन्नव, प्रसवनकाले एका, स्तनक्षारोहारिण्यौ द्वे इति गर्भाख्यानां नियमः।

---

१. क. ख. मधु। २. क. ख. अष्ट।

जातानां बालतन्त्रं भवति दिनवशान्मासवर्षप्रभेदात्
पञ्च क्रूराः कुमाराः प्रकृतिगुणवशात् संस्थिताः पर्वसन्धौ ।
बाला(बालं) गृह्णन्ति ते वै स्वतिथिभयगतं नैव मुञ्चन्ति राजन्
तेषां शान्त्यर्थमस्मिन् प्रभवति विविधं मण्डले होमकाद्यम् ।। १४८ ।।

जातानां बालानां **बालतन्त्रं भवति दिनवशान्मासवर्षप्रभेदा**दिति ।

इह बालतन्त्रमिति बालचिकित्सा मातृपीडितानाम्; तत्र वासराख्यानां बलिं वक्ष्यमाणं दद्यात् । **जातानां** जन्मदिनमारभ्य दश[1]दिनं यावत् स्वस्वदिने बालानां पीडां कुर्वतीनां प्रत्येकमासवसा(शा)देकादशता, एकादशमासान् [149a] यावत् । ततः पञ्चदशानां पञ्चदशवर्षान् यावत्, तदुपरि बालकुमारत्वाभावः, षोडशमे(शे) वर्षे शुक्रच्यवनादिति नियमः ।

इदानीं **पञ्च क्रूरा** उच्यन्ते **क्रूरे**त्यादि—

इह भुवितले नन्दादितिथिभेदेन पञ्चतिथीनां सन्धिषु कौमारा आकाशादि**प्रकृतिगुणवशात् संस्थिताः पर्वसन्धौ** । ते **स्वतिथौ भयगतं बालं गृह्णन्ति**, सर्वं सामान्यबलिना **नैव मुञ्चन्ति** बालम् । **राजन्** इत्यामन्त्रणम् । **तेषां शान्त्यर्थमस्मिन् प्रभवति विविधं मण्डले होमकाद्यं**[2] वक्ष्यमाणमिति क्रूरनियमः ।

इदानीं गर्भाख्याभिः पीडितानां गुर्विणीनां भैषज्यमुच्यते **कुष्ठे**त्यादि—

कुष्ठोशीरं कसेरुं तगरकुवलयं केशरं पङ्कजस्य
पिष्ट्वा शीताम्बुना मन्त्रितमपि कुलिशैर्गर्भशूलेषु देयम् ।
गर्भस्तम्भेऽष्टलोमानि ल(न)कुलशिखिनः पीषयित्वा प्रदेयं
दुग्धाज्यं पायसान्नं दधिगुडसहितं दीयते वासरीणाम् ।।१४९।।

इह यदा गुर्विणीनां गर्भशूलं भवति, तदा भैषज्यम्—**कुष्ठम्, उशीरम्, कसेरुम्, तगरमूलम्, उत्पलकन्दम्, पद्मकेशरम्**; एतानि द्रव्याणि **शीताम्बुना** पर्युषितेन **पिष्ट्वा** अभि**मन्त्रितमपि कुलिशै**रिति 'ॐ आः हूँ अमुकाया गर्भशूलं हर हर स्वाहा' इति मन्त्रः, अनेनाभिमन्त्र्य **गर्भशूलेषु देय**मिति नियमः । एवं **गर्भस्तम्भे अष्टरोमाणि नकुलस्य, शिखिनो** मयूरस्य पिच्छं गृहीत्वा, **शीताम्बुना पिष्ट्वा**, पूर्ववद्देयान्यभिमन्त्र्य । क्षीरापहारिण्याः क्षीरवृक्षतले स्नापयेत् । सप्तमल्लिकैर्गोक्षीरपूर्णैः क्षीरभक्तेन बलिं दद्यादिति गर्भाख्यानां नियमः ।

---

१. भो. Drug Cu (षष्टि) ।
२. भो. Khrus Daṅ sByin Sreg Gi Bya Ba (स्नानहोमकार्यम् ।

इदानीं वासरीणां विधिरुच्यते **दुग्धे**त्यादिना—

इह दशदिनाभ्यन्तरे गृहीतस्य बालकस्य शान्त्यर्थं **दुग्धम्, आज्यम्, पायसान्नं दधिगुडसहितं** पोलिका[1]मोदकांश्च गन्धं पुष्पं प्रदीपं[2] **बलौ दीयते वासरीणाम्,** स्नानं धूपं वक्ष्यमाणमिति वासरीणां त्रिरात्रबलिनियमः। [149b]

इदानीं मासाख्यानां विधिरुच्यते **पक्षे(पक्वे)**त्यादिना—

पक्वान्नं पञ्चभिन्नं दधिगुडसहितं पोलिकामोदकांश्च
गन्धं पुष्पं प्रदीपं स्नपनमपि दलैः पञ्चरात्रं प्रकुर्यात्।
गोदन्तं मेषशृङ्गं मृगनखचिकुरं सर्पनिर्मोकधूपं
बालानां मासजानां कथितमपि बलिं पुष्टिहेतोः समस्तम् ॥१५०॥

इह दशदिनादूर्ध्वं मासः, तत एकादशमासान् यावत् **मासजातकानां शान्त्यर्थं** बलिं मातृणां दद्यात्, **पक्वान्नं पञ्चभिन्नमिति** घृतेन पक्वं पूरिका घृतपूरम्; सौमाली सेवाल[3]वटकानिति पञ्चभिन्नम् अपरमोदनं **दधिगुडसहितं पोलिकामोदकांश्च। गन्धमिति** चन्दनम्, सुगन्धपुष्पं तिलतैलेन[4] **प्रदीपं** घृतेन वा। **स्नपनमपि दलैरिति** पञ्चक्षीरवृक्षाणामश्वत्थादीनां पत्रैः किञ्चित् क्वथितोदकेन सोष्णेन बालं स्नापयेत्, **पञ्चरात्रं** यावत् समस्तं **कुर्यात्।** स्नानावसाने बालस्य धूपं दद्यात्, **गोदन्तम्, मेषशृङ्गम्,** मानुष्यनखम्, **मृगरोमम्, चिकुरम्, सर्पनिर्मोचम्**(चकम्)। एतदेकीकृत्वा(त्य) तीव्राङ्गारेण **धूपम्,** देवताबलौ पूर्वोक्तगन्धधूपादिकं देयं चतुर्दिक्षु ग्राममध्ये चेति नियमो **बालानां मासजातानां कथितमपि पुष्टिहेतोः समस्तम्।**

इदानीं संवत्सरीणां बलिरुच्यते **पञ्चान्न**मित्यादिना—

पञ्चान्नं पञ्चखाद्यं जलचरपिशितं गन्धपुष्पं प्रदीपं
मद्यं पूर्वोक्तधूपं स्नपनमपि तथा दिग्बलिं दिग्विभागे।
बालानां वर्षजानां प्रकटितमवनौ पुष्टिहेतोर्नरेन्द्र
गर्भाद् वर्षैस्त्रिपञ्च प्रभवति नियतं योगिनीनां प्रपूजा ॥१५१॥

इह दशमासादूर्ध्वं मासद्वयं वर्षमिह गृह्यते; तस्मात् पञ्चदशवर्षाणि यावत् वर्षजातकानां मा[150a]तृपीडितानां शान्त्यर्थं संवत्सरीणां बलिं दद्यात्। **पञ्चान्नमिति** भक्तं सितं पीतं रक्तं कृष्णं हरितं कृत्वा हरिद्रादिभिः, एतत् पञ्चान्नम्। **पञ्चखाद्यमिति** पक्वान्नं[5] पूर्वोक्तं **जलचरम्,** मत्स्यम्, मांसम्, पिशितमिति; **गन्धाद्यं**

१-२. ख. ग. भो. पुस्तकेषु नास्ति।
३. ग. पुस्तके 'सेवालि' इति नास्ति। ४. ख. तिलेन।
५. क. ख. पञ्चान्नं।

पूर्वोक्तम्। **मद्यं पूर्वोक्तं धूपादिकम्**; सर्वं वंशचङ्गेडिकायां दत्वा त्रिवारान् निर्मञ्च-(ञ्छ)येत् सदीपबलिना। **दिगिति** दशदिनम्। **दशदिग्विभागे** इन्द्रादि-ईशानपर्यन्तम् अध ऊर्ध्वं बलिः ग्राममध्ये चतुःपथे दातव्येति। **बालानां वर्षजातानां प्रकटितमवनौ पुष्टिहेतोः, नरेन्द्र** इत्यामन्त्रणम्। इति संवत्सरीणां पूजानियमः।

एवं **गर्भाद् वर्षत्रिपञ्चेति** पञ्चदशवर्षपर्यन्तं त्रयः(त्रि)**षष्टियोगिनीनां नियतं** पूजा कर्तव्या, अन्यथा बालानां शान्त्यादिकं न भवतीति योगिनीनां पूजानियमः।

इदानीं मातृगृहीतानां दोषलक्षणमुच्यते **अङ्गे**त्यादि—

अङ्गात् क्षयोऽक्षिशूलं मुखकरचरणं पीततां याति सम्यक्
प्रश्रा(स्रा)वः पीतवर्णो ज्वर इति च भवेच्छर्दिशोषं च मूर्च्छा।
ज्ञात्वा चिह्नानि तेषामपि नृप करणं मण्डले होमकार्यं
नोऽदत्ते मुञ्चयन्ति प्रकृतिगुणवशान्मातरो भूतजाश्च ॥१५२॥

इह यदा मातृभिर्गृहीतो बालको भवति, तदा तस्या**ङ्गात् क्षयो** भवति, **अक्षिशूलं** भवति, मुखकरौ चरणौ च **मुखकरचरणं पीततां याति, सम्यक् प्रश्रा(स्रा)वः पीतवर्णो** भवति, **ज्वरो** भवति, **छर्दि**र्भवतीति, **शोषं च मूर्च्छा** भवति; एतानि मातृदोष**चिह्नानि ज्ञात्वा तेषां** बालकानाम्, **अपि**शब्दात् क्रूरग्रहगृहीतानां **मण्डले होमादिकं कार्यम्**; अन्यथा **नोऽदत्ते** बलौ **मुञ्चयन्ति प्रकृतिगुणवशात् भूतजा मातरः** पूर्वोक्ता इति चिकित्सालक्षणम्।

इदानीं चतुःषष्टिमया कुलिकया गृहीतस्य मृत्युलक्षणमुच्यते **श्वेते**त्यादिना—

श्वेताङ्गं यस्य सर्वं भवति नरपते स्फोटकाश्चातिसूक्ष्मा
वक्रग्रीवा सगात्रा स्रवति सरुधिरं वक्त्रगुह्ये गुदे च।
त[150b]स्मिन् पूजां न कुर्याद्भवति हि लघुता मन्त्रिणां मोहितानां
मृत्युस्तस्यास्ति नूनं सुरनरभुजगै रक्षितुं शक्यते न ॥१५३॥

इह चतुःषष्टिमा **कुलिका** सर्वासां योगिनीनां प्रत्येकसन्धौ व्यापकरूपेणास्थिता गर्भदिनमासवर्षाणां सन्धौ। तया गृहीतस्य बालकस्य **श्वेताङ्गं सर्वं भवति; स्फोटकाश्चातिसूक्ष्माः** सर्षपराजिकामात्रा भवन्ति; **वक्रा ग्रीवा** भवति; **सगात्रा** श्र(स्र)**वति रुधिरम्। वक्त्रे** वा, **गुह्ये** वा, **गुदे** वा। ईदृशं लक्षणं दृष्ट्वा **तस्मिन्** विषये **पूजां न कुर्यात्**। यदि करोति तदा **मोहितानां मन्त्रिणां** लोभाद् **लघुता** भवति। कुतः? यतो **नूनं तस्यास्ति मृत्युः सुरनरभुजगै रक्षितुं शक्यते न** इति मृत्युचिह्ननियमः।

इदानीं मण्डले पूजिताः सुखकरा उच्यन्ते नागेत्यादि—

नागा यक्षा ग्रहा येऽपि च दनुकुलजा राक्षसा वै पिशाचाः
शाकिन्यो दुष्टनागा नररुधिररता डाकिनीरूपिकाश्च ।
कुम्भा(कूष्मा)ण्डाः क्षेत्रपालास्त्वपि गणपतयः क्षेत्रवेतालसिद्धाः
सापस्माराः खगेन्द्राः परमसुखकराः पूजिता मण्डले स्युः ॥१५४॥

इह नागादिभिः पीडितानां नागादयः पूजिता वक्ष्यमाणमण्डले सुखकरा भवन्ति। एषां लक्षणान्यनेकानि भूततन्त्रोक्तानि मुद्राबन्धेन ज्ञातव्यानि, अत्रैव वक्ष्यमाणे कियन्तीति ।

इदानीं क्रूरपूजार्थं मण्डलं मण्डलस्थानमुच्यते क्रूराणामित्यादि— T 331

क्रूराणां पूजनार्थं भवति नरपते मण्डलं ग्रामबाह्ये
वृक्षस्थाने श्मशाने सुरवरभुवने सङ्गमे वा नदीनाम् ।
हस्तं वा द्वौ चतुष्कं त्रिदशनवनृपैर्देवतानां प्रमाणै-
र्मध्ये त्वष्टारचक्रं भवति गुणवशान्मण्डलादर्द्धभागम् ॥१५५॥[151a]

इह क्रूराणां पूजनार्थं मण्डलं ग्रामबाह्ये भवति। तत्रैवैकवृक्षस्थाने, श्मशाने, सुरवरभुवन इति शून्यदेवालये, सङ्गमे वा नदीनाम्, हस्तं वा द्वौ चतुष्कमिति। इह विभवानुरूपत एकहस्तं मण्डलम्, द्विहस्तम्, चतुर्हस्तं वेत्यारभ्य यावद् हस्तसहस्रं वा तावद् वर्तयेदाचार्यः। त्रिदशनवनृपैरिति इह नवदेवतानां प्रमाणम् एकहस्तं मण्डलम्, त्रयोदशानां द्विहस्तम्; नृप इति षोडशानां चतुर्हस्तम्, इत्यारभ्य यावद् विंशत्यधिकषोडशशतानां हस्तसहस्रपर्यन्तं वर्तयेत विभवतः। इह सर्वमण्डलानां मध्ये अष्टारं चक्रं वा पद्मं भवति मण्डलादर्द्धभागिकम् ।

द्वारं चक्राष्टभागं भवति खलु तदर्द्धेन वेदी च हाराः
प्राकारा वेदिकार्द्धास्त्रिगुणमपि भवेत् तोरणं द्वारमानात् ।
वृत्तं कुण्डं त्रिभागं सितकमलमयं पूरितं श्वेतरङ्गैः
कुर्यात् श्रीपञ्चरङ्गैः स्वकुलदिशि गतं देवतानां स्वचिह्नम् ॥१५६॥

द्वारं मण्डलचक्राष्टभागम्, द्वारार्द्धे वेदिका हारभूमिश्च, पञ्चप्राकाररेखा वेदिकार्द्धेन रत्नपट्टिकापि, द्वारमानेन निर्यूहं पक्षकं कपोलं चेति, तोरणं त्रिगुणं द्वारात् इति मण्डललक्षणनियमः ।

इदानीं शान्तिककुण्डमुच्यते वृत्तमित्यादि—

इह वक्ष्यमाणकुण्डानां मध्ये वृत्तं कुण्डग्राह्यं शान्त्ये, तदेव त्रिभागमिति वितस्तिद्वयं विष्कम्भम्, वितस्त्येकं गम्भीरम्; शि(सि)तकमलमयमिति गर्भमध्ये

श्वेतरजसा पद्मम्, वेदिकोपरि[1] पद्मावली,[2] बाह्योऽधः पद्मपत्राणि। **एवं पूरितं श्वेतरङ्गैः**। ततः श्वेतपद्मकर्णिकादलेषु **पञ्चरङ्गैर्देवतानां चिह्नं कारयेत्, स्वदिशि गतं** कुलवशात् पञ्चतथागतवशादिति।

वज्रं मध्येऽसि पूर्वे भवति कुलवशाद् दक्षिणे रक्तरत्नं
वामे श्वेतं च पद्मं शतदलसहितं पश्चिमे चक्रचिह्नम्।
आग्ने[151b]य्यां कर्तिका वै कमलदलगता दैत्यकोणेऽङ्कुशः स्याद्
वायव्ये वज्रपाशो भवति नरपते रुद्रपत्रे त्रिशूलम् ॥१५७॥

वज्रं मध्य इति इह वक्ष्यमाणे "वज्रं वा सर्वकर्मणि(सु)"(३.१२) इति वचनात् पद्मकर्णिकायां वज्रं नीलम्, विज्ञानस्कन्धः; असिः **पूर्वपत्रे** कृष्णः संस्कारः; **भवति कुलवशात्, दक्षिणे रक्तरत्नं** वेदना; **वामे** उत्तरपत्रे **श्वेतपद्मं शतदलं** संज्ञा; **पश्चिमे चक्रचिह्नं** पीतं रूपस्कन्ध इति। **आग्नेय्यपत्रे कर्तिका** कृष्णा वायुरिति **कमलदलगता, दैत्यकोणे** नैर्ऋत्येऽङ्कुशो रक्तस्तेज इति, **वायव्ये वज्रपाशः**, पीतः पृथ्वीति। **रुद्रपत्रे** ईशाने **त्रिशूलं** शुक्लं तोयधातुरिति, **मध्ये वज्र**माकाशधातुर्विज्ञानेन सार्द्धमिति।

पूर्वद्वारे च खड्गं कृष्णघननिभं दक्षिणे वज्रदण्डो
वारुण्ये श्रीगदा च प्रभवति नियतं चोत्तरे मुद्गरश्च।
ज्ञात्वा चित्तानुसारं कुरु सुबहुविधं कालचक्रं हि यावत्
वन्ध्यानां पुत्रहेतोर्ग्रहनिहतनृणां शान्तिपुष्ट्यर्थमेतत् ॥१५८॥

पूर्वद्वारे च खड्गम्, कृष्णमीर्ष्यावज्रं क्रोधः; **दक्षिण**द्वारे **वज्रदण्डो** रक्तो रागवज्रः क्रोधः; **वारुण्ये** पश्चिमद्वारे [**श्री**]**गदा** पीता मोहवज्रः क्रोधः; **उत्तर**द्वारे **मुद्गरः** शुक्लो मानवज्रः क्रोधः; मध्ये वज्रं द्वेषवज्रो नीलक्रोधराज इति। **ज्ञात्वा** इत्यादि **पुष्ट्यर्थमेत**दिति पर्यन्तं सुबोधम्।

इदानीं ग्रहपीडितानां स्नानविधिरुच्यते **कुम्भ** इत्यादिना—

कुम्भाष्टाभिः सरत्नैर्दलकमलमुखैः सप्तमल्लैरपक्वै-
स्तोयैः पञ्चामृताद्यैः स्नपनमपि च निर्मुञ्च(मञ्छ)नं सर्षपाद्यैः।
गन्धैर्धूपैः प्रदीपैर्विविधफलरसैः श्वेतपुष्पैश्च वस्त्रैः
कृत्वा पूजां विचित्रां पुनरपि च ततो होमयेच्छान्तिहव्यम् ॥१५९॥
[152a]

१-२. ग. वेदिकापद्मावलि।

इह मण्डलदिक्षु अष्टकलशा वक्ष्यमाणलक्षणोपेताः सरत्नाः पञ्चरत्नसहिताः, वक्ष्यमाणौषध्यादियुक्ताः। दल इति क्षीरवृक्षपल्लवाः कमलमुखाः, तैरिति; तथा सप्तमल्लैरिति सप्तसरावैरपक्वैः, तोयैः पञ्चामृताद्यैः, तैः सहितैः, तोय-दुग्ध-दधि-घृत-मधु-इक्षुरसगन्धोदकैः; एभिः पूर्णैः सप्तमल्लैर्यथाक्रमेण स्नपनं कुर्यात्। ततोऽष्ट(ा)भिः कुम्भैर्जयविजयघटाभ्याम् अपिशब्दादिति। निर्मञ्च(ञ्छ)नं सर्षपाद्यैरिति प्रथमं पञ्चगोमयपिण्डकाभिः, ततो ज्वलत्तृणचूलि(लि)काभिः सर्षपाद्यैः भक्त[1]पिण्डकादिभिरिति कुर्यादेभिर्निर्मञ्च(ञ्छ)नम्। ततो गन्धाद्यैः पूजां कृत्वा, मण्डलप्रतिष्ठां कृत्वा, प्रवेशयेद् मण्डले। तत्राभिषेकं दत्वा मण्डलकलशोदकेनाभिषेकं तोयादिकं कृत्वा, ततो होमयेद् शान्तिहव्यमिति।

दुग्धं धान्यं तिलाद्यं(ज्यं) शरशतसमिधः पञ्चदुग्धाङ्घ्रिपानाम्
अर्घं चावाहनं चाचमनमपि तथैवार्चनं पूजनं च।
कुर्याच्छान्त्यर्थमेतत् प्रवरभुवितले मातृभिः पीडितानां
षट्त्रिंशद्योगिनीनां भवति नरपते सर्वकालं हि पूजा ॥१६०॥

दुग्धमित्यादि सुबोधम्। अपरं यदनुक्तं तत् सर्वमभिषेकपटलोक्तविधिना कार्यमाचार्येणेति सर्वत्र नियमः।

इति श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां[2] लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां[3] विमलप्रभायां[4]
रसायनादिबालतन्त्रमहोद्देशः
षष्ठः ॥६॥

(७) स्वपरदर्शनन्यायविचारमहोद्देशः

नैरात्म्यं कर्मपाकस्त्रिभवऋतुगतिर्द्वादशाङ्गप्रतीतेः
सम्भूतिर्वेदसत्यं द्विगुणितनवकाऽवेणिका बुद्धधर्माः।
पञ्च[152b]स्कन्धास्त्रिकायाः सहज इति तथैवाजडा शून्यता च
यस्मिन्नेतद् वदन्ति प्रकटितनियता देशना वज्रिणः सा ॥१६१॥

प्रणिपत्य जगन्नाथं कालचक्रं महासुखम्।
स्वपरे दर्शने किञ्चिद् मतमुक्तं वितन्यते ॥

१. क. भण्ड। २. क. ख. मूल०। ३-४. क. ख. विमलप्रभायां द्वादशसाहस्रिकायां।

इदानीं परमादिबुद्धात् मञ्जुश्रियोदितं स्वपरदर्शनानुमतं टीकया वितन्यते नैरात्म्येत्यादि। इह लोकसंवृत्या विचार्यमाणः सर्वदर्शनसिद्धान्तः समानो लौकिकसिद्धये; तद्यथा—

येन येन हि भावेन मनः संयुज्यते नृणाम्।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा॥

इति भावसंकल्पः समानः; तथा धात्विन्द्रियादिविचारोऽपि तुल्यः। व्यावहारिकं कर्तृकरणादिकं च तुल्यम्। बौद्धतीर्थिकयोर्विशेषो नास्ति[1]; शून्यतातत्त्वं प्रति विशेषः, स च नैरात्म्येत्यादि।[2]

इह नैरात्म्यं द्विविधम्—पुं(पुद्)गलनैरात्म्यम्, धर्मनैरात्म्यमिति। कर्मविपाकस्त्रिविधः—कायिकवाचिकमानसिकश्चेति। त्रिभवः कामरूपोऽरूपः। ऋतुगतिरिति नरकप्रेततिर्यक्मनुष्यासुरदेवानां गतिः षड्गतिः; द्वादशाङ्गप्रतीतेः साक्षात्[3] सम्भूतिः षड्गतिकानामिति। वेदसत्यमिति चतुरार्यसत्यम्, दुःख-समुदय-मार्ग-निरोधलक्षणं चेति। द्विगुणितनवका इत्यष्टादश आवेणिका बुद्धधर्मा वक्ष्यमाणे(णा) वक्तव्याः। पञ्चस्कन्धा इति रूपादयः। त्रिकाया इति धर्मकायादयः, सहज[काय][4]श्चतुर्थ इति। तथैवाजडा शून्यता सर्वाकारवरोपेता प्रतिसेनोपमेति। यस्मिन्निति यानत्रये एतन्नैरात्म्यादिकं देशका वदन्ति प्रकटितनियतः देशना वज्रिणः सा, बौद्धदृष्टिवसा(शा)त् सत्त्वाशयेनेति तथागतमतनियमः।

इदानीं ब्रह्मविष्णो(ष्ण्वो)र्मतमुच्यते यस्मिन्नित्यादि—

यस्मिन् वेदः स्वयम्भूर्मुखकरचरणादौ च योनिर्जनस्य
नान्यो धर्मोऽश्वमेधात् पर इति भवेद् देशना ब्रह्मणः सा।
कर्ताऽत्मा कर्मकालः प्रकृतिरपि गुणाः शून्यता नष्टधर्मा
कर्ता हेतुः फलस्य प्रकटितनियता देशना सात्र विष्णोः॥१६२॥

[153a]

इह यस्मिन् मते वेदः स्वयम्भूरकृतक आकाशवत्, मुखकरचरणादौ च योनिर्जनस्येति। इह ब्रह्ममुखं ब्राह्मणयोनिः, भुजौ क्षत्रिययोनिः, आदिशब्दादूरुद्वयं वैश्ययोनिः, पादौ शूद्रयोनिरिति। नान्यो धर्मोऽश्वमेधादिति इह स्वर्गसाधनेऽश्वमेधयज्ञात् परो नान्यो दानादिधर्मोऽस्ति इति भवेद् देशना ब्रह्मणः सा इत्यादि ब्रह्ममतनियमः।

---

१. ख. अस्ति। २. क. ख. नैरात्म्येति; भो. Ces Pa La Sogs Pa (इत्यादि)। ३. क. ख. ग. सकाशात्; भो. dNos (साक्षात्)। ४. भो. sKu (कायः)।

इह तदन्तर्भूते गीताधर्मे विष्णुमते, तद्यथा—कर्तास्ति, आत्मास्ति, शुभाशुभ- T 332
कर्मास्ति, कालोऽस्ति, पृथिव्यादिप्रकृतिरस्ति, सत्त्वादयो गुणाः सन्ति, शून्यता[1] नष्टधर्मतास्ति[2]*, न[3] पश्यती[4]त्याहुरेकीभूत इत्यादितः। कर्ता हेतुः फलस्य शुभाशुभकृतस्य दायकोऽस्तीति। प्रकटितनियता देशना सात्र कालचक्रे विष्णोरिति वैष्णवमतनियमः।

इदानीमीश्वरमतमुच्यते षण्मार्गा इत्यादि—

षण्मार्गाः पञ्चतत्त्वं परपदमखिलं चापरं मन्त्रदेहं
विद्यात्मा सच्छिवत्वं त्रिविधपदगतेर्योजनं त्यागभावः।
बिन्दोर्भेदः(दं) शिवत्वं सकलतनुगतं द्वादशग्रन्थिभेदाः
एतत् सर्वं हि यत्र प्रभवति नियता देशना सा शिवस्य ॥१६३॥

इह पूर्वोक्तेन विष्णुमतेन सार्द्धं षण्मार्गादिकं कुतः ?

'एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः'।

१-२. ग. 'शून्यता नष्टधर्मता' इति नास्ति; भो. sToṅ Pa Ñid Ni mÑam Paḥi Chos Ñid De (शून्यता समधर्मताऽस्ति)। ३-४. क. ख. नय इयती।

* मूले टीकायां च 'शून्यता नष्टधर्मा' अय वा 'शून्यता नष्टधर्मता अस्ति' इति पाठो लभ्यते। वैशेषिकपक्षे कथमिदं समञ्जसं स्यादिति विषये प्रयासभेदो दृश्यते; अत एव ग. पुस्तके 'शून्यता नष्टधर्मता अस्ती'ति स्थाने 'नास्ति' इत्येव पाठोऽङ्गीकृतः। टीकाया भोटानुवादे तु 'नष्टधर्मता' इति 'समधर्मता' इत्यनुवादो विहितः। किन्तु मूलं टीकां चाधृत्य स्वाभिप्रायमाविष्कुर्वता खेस्- ड्रुब- जे- महाभागेन यथास्थितं नष्टधर्मता-पाठमङ्गीकृत्यापि कथं वैशेषिकपक्षे 'शून्यता नष्टधर्मता' इत्येव वाक्यं समञ्जसमिति प्रतिपादितम्।

नित्यपरमाणुसंयोगैः सृष्टिमधिगच्छताऽपि तदुपादानकं भौतिकं जगद् अनित्यत्वाद् विनश्यत्येवात एतस्य सृष्टिजातस्य नष्टधर्मतात्वेन शून्यता समधिगता भवत्येवेति खेस् ड्रुब जे महाभागानां मतसारांशः। भोटभाषया चायमित्थं विवृतो भवति—

"sToṅ Pa Ñid Ni dÑos Po Raṅ Grub Dus Las Yun Riṅ Du gNas Pa Yaṅ Ñams Paḥam S̄ig Paḥi Chos Kyi Chod Pa Ñid yod De. dÑos Po Thams Cad rTsa Bar Thim Paḥi sGo Nas gCig Tu Gyur Ba La Sogs Pas. mThar S̄ig sTe Mi mThoṅ Baḥi Phyir Ro" (ḥGrel Chen Dri Med Ḥod Kyi ḥGrel bS̄ad—'Ga', page 161A).

उपरिलिखितभोटांशस्य संस्कृतानुवादः—

"स्वोत्पत्तितः दीर्घकालं यावत् स्थितानां वस्तूनां विनाशभङ्गधर्मोच्छेद्यत्वरूपा वा शून्यताऽस्त्येव, यतो हि स्वोपादाने विलीनीभूतानि एकीकरणादिभिः वस्तूनि विनश्यन्ति, अदृश्यतां च गच्छन्ति"।

इति वचनात् कर्ता आत्मा कर्म कालः प्रकृतिगुणाः शून्यता नष्टधर्मा निर्वाणं काष्ठावस्थातः[1]। एभिः सार्द्धं षण्मार्गादिकं वेदितव्यमिति नियमः*। इह शरीरे षण्मार्गाः षड्विषयेषु प्रवर्तका इति। **पञ्चतत्त्वमिति** आकाशादिधातुसमूहम्; **परपदमिति** षष्ठो ज्ञानधातुः; **अखिलमिति** सर्वधात्वेकलोलीभूतम्; **चकारादपरं मन्त्रदेहमित्यालिकाल्यात्मकं** मन्त्रतत्त्वमिति। **विद्येति** आनन्दादिकामतत्त्वम्; **आत्मेति** आत्मतत्त्वं नित्यम्; **सच्छिवत्वमिति** शिवतत्त्वं[2] सर्वव्यापि। तस्य रूपपरिवर्जितस्य त्रिविधा [153b] पदगतिः—पिण्डस्था, पदस्था, रूपस्था कायवाक्चित्तविकल्पधर्मिणो, **तस्यास्त्रिविधपदगतेर्योजनमिति**। एषां षण्मार्गादीनामुत्पादकाले योजनं मेलापक(नम्) इति, मृत्युकाले **त्यागभावः**, तेषां विघटनमित्यर्थः। **बिन्दोर्भेदं शिवत्वमिति** इह शुक्रबिन्दोर्भेदं च्यवनसुखावस्थालक्षणम्, तदेव शिवत्वम्; **सकलतनुगतमिति** चराचरव्यापि। **द्वादशग्रन्थ(न्थि)भेदा** इति इह प्राणिनां तनुगता द्वादशराशयो ग्रन्थिशब्देनोच्यन्ते, तेषां द्वादशराशीनां भेदा वर्षायन[3]कालयुगऋतुमासपक्षदिनघटिकापाणीपलश्वासा इति। **एतत् सर्वं हि यत्र** सिद्धान्ते **प्रभवति नियता देशना सा शिवस्य**। [इति] शिवमतनियमः।

---

१. क. ख. कायावस्थातः।

२. क. ख. शिवत्वं; भो. S̄i Baḥi De Ñid (शिवतत्त्वं)। ३. ख. वर्षापन।

*. वैष्णवमतानुबन्धेन (शैव)मतस्य कथं समुत्थानमिति प्रश्नं समादधता 'एकमूर्तिस्त्रयो देवा' इत्याद्युक्तं टीकायाम्। तं स्फुटीकुर्वता खेस्-ड्रब-जे- महाभागेनोक्तं यत् गीतावैष्णवमते कर्ताऽस्तीत्यनेन परमाणुकर्तृवादः फलदायकत्वेन चेश्वरकर्तृवादोऽङ्गीकृतः, तदनुरोधेन शैवमतस्य समुत्थानं प्रसङ्गसङ्गतमेवेति। भोटे यत् तदित्थम्—

"ḥDir Deḥi Naṅ Du ḥDus Pa gLuḥi Chos sMra Ba Lha Khyab ḥJug Gi rJes Su ḥJug Paḥi Bye Brag Pa Daṅ Rigs Pa Can Pa Dag gi ḥDod Pa ḥDi lTa sTe. Byed Pa Po Yod Pa Daṅ S̄es Pa Ni ḥJig rTen Thams Cad rTsom Pa Po rDul Phran rTag Pa Cha Med Yod Pa La bŚad dGos Kyi. Thams Cad Byed Pa Po Tshaṅ Paḥam Khyab ḥJug Yod Pa Daṅ Zer Ba Don Ma yin Te. Ḥog Tu ḥDi Dag ḥGog Paḥi sKabs rDul Phran Cha Med Byed Pa Po yin Pa La dGag Pa gSuṅs Kyi Khyab ḥJug Byed Pa Po Yin Pa La dGag Pa Ma gSuṅs Paḥi Phyir Ro." (ḥGrel Chen Dri Med Hoḍ hGrel bŚad—'Ga', page 161A).

उपरिलिखितभोटांशस्य संस्कृतानुवादः—

"अत्र अस्मिन् संगृहीतेषु गीताधर्मवादेषु वैष्णवेषु वैशेषिकनैयायिकयोर्यद् अभिमतम् तत् कर्ता अस्तीति सर्वलोकस्य रचयिता नित्यनिरवयवपरमाणुः अस्तीत्यर्थकम्, न तत्र सर्वकर्ता ब्रह्मा वा विष्णुर्वा अस्तीति अभिमतम्; अत एवाग्रे तयोः खण्डनावसरे निरवयवपरमाणोः कर्तृत्वमेव दूषितम्, नैव तत्प्रसङ्गे विष्णोः कर्तृत्वं खण्डितम्"।

नास्तीशः कर्मपाकोऽपि च गुणविषयान् भूतवृन्दं हि भुङ्क्ते
तस्याभावे फलं न स्फुटममरगुरोर्देशना वेदितव्या ।
कर्ता(र्त्री) सृष्टं समस्तं सचरमचरजं तायि(जि)नां भुक्तिहेतोः
स्वर्गस्तस्य प्रतोषाद् भवति खलु नृणां देशना रह्मणः सा ।। १६४ ।।

इदानीं लोकायतमतमुच्यते नास्तीत्यादि—

इह देहिनां **नास्तीशः**, कर्ता नास्तीति; **कर्मपाकोऽपि च** नास्ति । **गुणविषयानिति** गुणाः सत्त्वादयः, विषया गन्धादयः; **भूतवृन्दमिति** पृथिव्यादिकम्, तान् **भुङ्क्ते; तस्य** भूतवृन्दस्याभावे मरणान्ते कर्मफले (फलं) न । हरीतकीगुडादिसंयोगान्मदिराशक्तिवत् भूतानां संयोगशक्तिः, **तस्याभावे न** कश्चित् परलोकं कायोऽस्तीति **स्फुटममरगुरोर्बृहस्पतेर्देशना वेदितव्येति** लोकायतमतनियमः ।

इदानीं म्लेच्छतायि(जि)नां[1] मतमुच्यते **कर्त्रे**(र्त्रे)त्यादि—

इह **कर्ता(र्त्री)** रह्मणा[2] (रह्मानेन) **सृष्टं समस्तं सचरं** जङ्गमम्, **अचरं** स्थावरं वस्तु । **तायि(जि)नामि**[3]ति म्लेच्छानां श्वेतवासिनां **भुक्तिहेतोः** । **स्वर्गस्तस्य** रह्मणः[4] **प्रतोषात्**, अप्रतोषान्नरको **भवति खलु नृणां** रह्मणः[5] । **सा** पूर्वोक्तक्रियेति तायि(जि)-[6]मतनियमः ।[154a]

इदानीं क्षपणकमतमुच्यते **त्रैकाल्यमित्यादिना—**

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदविहितं जोवषट्कायलेशाः
पञ्चान्ये सन्ति काया व्रतसमितिगतिर्ज्ञानचारित्रभेदाः ।
जीवः कायप्रमाणो ह्यपरिमितभवैर्ब्रह्मचर्येण मोक्षो
यस्मिन् मोक्षप्रमाणं ह्युपरि निगदितं देशना सा जिनानाम् ।।१६५ ।।

इह क्षपणकसिद्धान्ते स्याद्वादे द्रव्यपर्यायाभ्यां नित्यानित्यव्यवहारः । तत्र **त्रैकाल्यमिति** अतीतमनागतं वर्तमानं चेति; **द्रव्यषट्कमिति** जीवः, पुद्गलः, कालः, आकाशम्, पुण्यम् (धर्मः), पापं (अधर्मः) चेति । एषां मध्ये जीवः काल आकाशवत् (आकाशं)[7] नित्यम्; **नवपदविहितमिति** जीवाजीवाश्र(स्र)वसंवरवर्जनम्, (निर्जर)बन्धमोक्षगत्यागतिश्चेति; **जोवषट्कायलेशा** इति पृथ्वीकायलेशाः(श्या), अप्कायलेशाः(श्या), तेजकायलेशाः(श्या), वायुकायलेशाः(श्या), वनस्पतिकायलेशाः(श्या), त्रश(स)कायलेशाः(श्या) इति

---

१. भो. sTag gZig (ताज्ञिनां) । २. क. ख. ब्रह्मणा, ब्रह्मणः; भो. Rahma Ṇa (रह्मण) । ३. भो. sTag gZig (ताजिनां) । ४. क. रक्षणः; ख. ब्रह्मणः; भो. Rahma Ṇa (रह्मण) । ५. क. रक्षणः; ख. ब्रह्मणः; भो. Rahma Ṇa (रह्मण) । ६. भो. sTag gZig (ताज्ञि) । ७. भो. Nam mKhaḥ (आकाशम्) ।

जीवानां षट्कायलेशाः(श्या)। **पञ्चान्ये सन्ति काया** इति आहारिकः कायः, ज्योतिः-कायः, ने(नै)सर्गिककायः, उपपादुककायः, चरमकायश्चेति जीवानाम्। **व्रतसमितिगति-ज्ञानचारित्रभेदा** इति क्षपणकानां व्रतानि पञ्च—अहिंसा प्रथमम्, द्वितोयं सत्यम्, तृतीयं दत्तादानम्, चतुर्थं ब्रह्मचर्यम्,पञ्चमं सर्वपरिग्रहपरित्याग इति; **समितयः** पञ्च—ईर्यासमितिः, भाषासमितिः, पर्येषणासमितिः, आदाननिक्षेपणसमितिः[१], निकटप्रतिष्ठापनासमिति(उत्सर्गसमिति)रिति; **गतिभेदाः** पञ्च—नरक-तिर्यक्-मनुष्य-देव-मोक्षगतिश्चेति; **ज्ञानभेदाः** पञ्च—मतिः, श्रुतिः (श्रुतः), अवधिः, मनःपर्येषणम् (पर्यायः[२]), कैवल्यज्ञानं चेति। **चारित्रभेदास्त्रयोदश**—व्रतभेदाः पञ्च, समितिभेदाः पञ्च, कायगुप्तिः, वाग्गुप्तिः चित्तगुप्तिश्चेति। इत्येतन्मोक्षमार्गमर्हद्भिः प्रोक्तम्। **जीवः कायप्रमाणः। अपरिमितभवैर्नित्यजीवे न मोक्षः। यस्मिन्** सिद्धान्ते **मोक्षप्रमाणं**[३] **ह्युपरि** त्रैलोकस्य **निगदितं** पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षं **छत्राकारम्, सा देशना जिनानामिति** क्षपणकमतनियमः। [154b]

इदानीं तीर्थिकानां मतस्य युक्तिविचारेण दूषणमुच्यते **वेद** इत्यादि—

वेदोऽसौ न स्वयम्भूस्त्रिभुवननिलये वेदशब्दोऽर्थवाची
ब्रह्मा वक्त्रैश्चतुर्भिः प्रकटयति पुरा वेदशब्देन चार्थम्।
शब्दस्यार्थोऽप्यभिन्नस्त्वथ दहति मुखं किन्न शब्दोऽग्निरुक्तः
तस्माद् वै देशकोऽप्यस्त्यविदितविषयेऽनागतार्थेऽप्यतीते ॥ १६६ ॥

इह युक्त्या विचार्यमाणो **वेदः स्वयम्भूर्न** भवति। कुतः? आह—वेदशब्दस्यार्थवाचकत्वात्। इह यः **शब्दोऽर्थवाची** स कण्ठताल्वादिप्रयत्नेन जनितो यस्मात्, तस्मान्न[४] स्वयम्भूरिति सिद्धम्।

अथ नायं वेदशब्दः, अन्यो वेदः कर्णविवरान्तरे सर्वशब्दार्थैकलोलीभूतो नित्यः, तस्यायमभिव्यञ्जक इति सिद्धम्। अत आह—इह यदि सर्वशब्दार्थैकलोलीभूतत्वेनावस्थितो नित्यो वेदस्तदा घट[५] इत्युक्ते सति कर्णविवरान्तरे कोलाहलेन भवितव्यम्; न चैवम्; तस्मादियं प्रतिज्ञा वृथा—नित्यः शब्दोऽपरोऽस्ति व्यापको**ऽर्थस्याभिन्नः**। यदि शब्दार्थयोरेकत्वम्, तदा **अग्निशब्द उक्तः स्वमुखे(खं) किं न दहति**? तस्मान्न वेदस्य नित्यत्वम्, नार्थेन सहैकत्वमिति सिद्धम्। किञ्चान्यत्; इह किल श्रूयते—यदा वेदाभावो
T 333 भवति, म्लेच्छैर्वेदधर्मे उच्छादिते सति, तदा **ब्रह्मा वक्त्रैश्चतुर्भिः प्रकटयति पुरा वेदशब्देन चार्थः(र्थम्)**, 'इन्द्रः पशुरासीत्' इत्यादिपाठेनेति। अतोऽर्थोऽन्यो वेदोऽन्य इति

---

१. भो. bLaṅs Pa Mi ḥDor Ba (आदानानिक्षेपण); "ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः" (तत्त्वार्थसूत्र ९.५)। २. "मतिश्रुताऽवधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" (तत्त्वार्थसूत्र १.९)। ३. "तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्" (तत्त्वार्थसूत्र १०.५)। ४. ख. पुस्तके 'तस्मात्' इति नास्ति। ५. क. ख. पट।

सिद्धम्। तस्माद् **देशको ब्रह्माऽस्ति, अविदितविषयेऽनागतार्थेऽ[प्य]तीत** इति देशकः सिद्धः। आसीत् पाठाद् मुखपाठात्[1] कृतकः सिद्धः।

वेदो नाकाशतुल्यः कृतक इह मुखोच्चारितः स्थानभेदात्
युक्त्या प्रादेशिकश्च द्विजमुखपठितः सर्वगोऽन्ये पठन्ति।
यस्मात् शूद्रादिजातिः पठति लिखति नासर्वगो वेद एष-
स्तस्माद् वेदः प्रमाणं न हि भवति नृणां ज्ञानिनां पण्डितानाम्॥१६७॥
[155a]

अतो वेदो न आकाशतुल्यः कृतक इह मुखोच्चारितः स्थानभेदादिति नियमः। **युक्त्या प्रादेशिकश्च द्विजमुखपठितः सर्वगोऽन्ये पठन्ति**। यस्माच्छूद्रादिजातिः पठति **लिखति नासर्वगो वेद एषः; तस्माद् वेदः प्रमाणं न हि भवति नृणां ज्ञानिनां पण्डिता- नामि**ति वेदः कृतकः सिद्धः संक्षेपतः। विस्तरेण प्रमाणशास्त्रे ज्ञेय इति मञ्जुश्रियो नियमः।

इदानीं पूर्वोक्तं ब्राह्मणादीनां योनिदूषणमुच्यते—

इह किल ब्रह्ममुखं ब्राह्मणानां योनिः, तदुत्पन्नत्वादिति। एवं भुजौ क्षत्रियाणां योनिः। आदिशब्दाद् ऊरुद्वयं वैश्यानां योनिः, पादद्वयं शूद्राणां योनिः; एवं चत्वारो वर्णाः। एषां चतुर्णामन्तिमो वर्णः पञ्चमः चण्डालानाम्; तेषां का योनिर्न ज्ञायते ब्राह्मणैस्तावदिति। किञ्चान्यत्। इह ब्रह्ममुखाद् ब्राह्मणा जाताः, किल सत्यम्? अतः पृच्छामि—किं ब्राह्मण्ये(ण्यो)ऽपि ततो[2] जाताः, यदि स्युस्तदा भगिन्यो भवन्ति, एकयोनिसमुत्पन्नत्वादिति। एवं क्षत्रियादीनामपि विवाहं(हो) भगिन्या सार्द्धं भवति? कथम्? अथ भवति, तदा म्लेच्छधर्मप्रवृत्तिर्भवति। म्लेच्छधर्मप्रवृत्तौ जातिक्षयः, जातिक्षयान्नरकमिति न्यायः।

अपरमपि विचार्यते—

इह यद्येकः स्रष्टा[3] प्रजानाम्, तदा कथं चतुर्वर्णा भवन्तीति? यथा एकस्य पितुश्चत्वारः पुत्रास्तेषां न पृथक् पृथग् जातिः, एवं वर्णानामपि। अथ ब्रह्मणो मुखादिभेदेन भेदः, तदा स एव युक्त्या न घटते। कथम्? यथा उदुम्बरफलानां मूलमध्याग्रजातानां भेदो नास्ति, तथा प्रजानामपि। अपरोऽपि श्वेतरक्तपीतकृष्णवर्णभेदेन भेदो न दृश्यते; तथा धात्विन्द्रियसुखदुःखविद्यागमादिभिर्भेदो न दृश्यते यस्मात्, तस्माज्जातिरनित्ये(रनियते)[4]ति सिद्धम्। एवमश्वमेधादियागफलं शुकेन[5] दूषितम्; तद्यथा—

१. क. ख. पुस्तकयोर्नास्ति।

२. ख. तनो। ३. क. ख. श्रेष्ठाः। ४. भो. Nes Pa Med Pa (अनियता)।

५. ग. शुक्रेन।

"यूपं छित्वा पशुं हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गो नरकः केन गम्यते ॥"

इति [1]शुकवाक्यं प्रसिद्धम्। तस्मान्न वेदः स्वयम्भूः, न मुखादियोनिर्जनस्य, नाश्वमेधात् परतो धर्मोऽन्य इति; सर्वप्रलापं निरर्थकं विचार्यमाणमिति ब्रह्ममतं वैष्णवमतमीश्वरेण सार्द्धं दूषणीयमिति।

इदानीमीश्वरमतस्य दूषणमुच्यते अस्तीत्यादि—

अस्तीशः सर्वकर्ता यदि स च जगतः कर्मभोक्ता न चान्यः
नापीशः कर्मकर्ता यदि स च न भवेत् सर्वकर्ता समन्तात्। [155b]
कर्ताऽन्यः प्रेरितः सन् यदि परमपराधीनता कर्तुरेषा
तस्मात् कर्ता न चेशोऽशुभशुभफलदः प्राणिनां कर्म मुक्त्वा ॥१६८॥

इहास्तीश्वरः सर्वकर्ता यदि भवति, तदा कर्मभोक्ता न चान्य इति। कथम्? अन्यो वटकमश्नाति, अन्यः पिपासया म्रियते। न चैवम्। यः करोति स कर्ता, यत् क्रियते तत् कर्म; तस्य कृतस्य कर्मणः फलभोक्ता कर्मकर्ता। न च कर्मणा विना कर्ता सिद्ध्यति; यथा कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। एवं यः कर्म करोति स कर्तेति न्यायः। आह— नापीशः कर्मकर्ता, स्वतन्त्रः प्रयोजक इति। इह यदि कर्मकर्ता न भवति, तदा सर्वकर्ता समन्तादिति निरर्थकम्। इह कर्ता यदि प्रेरितः सन् कर्म करोति, तदा कर्तुः पराधीनता। यस्य पराधीनता तस्य प्रयोजकः कथं विरुद्धकर्मणि कृते सति निग्रहं न करोति; स्वतन्त्रतया विना, स्वतन्त्रता ईश्वरेण व्याप्ता। एवं कर्मफलाभावः कर्तृवादिनां सिद्धः; न चैवम्; तस्मात् कर्ता न कश्चिद् ईशोऽशुभशुभफलदः प्राणिनां[2] कर्म मुक्त्वेति स्वकर्मफलोपभोगः सिद्धः कर्ता[रं][3] विना[4]।

इदानीं स्वतन्त्रस्य कर्तुः परापेक्षिकत्वमुच्यते पृथ्वीत्यादि—

पृथ्वीतोयाग्निवातार्णव इह यदि खे कर्तुरादौ न सन्ति
द्रव्याभावे न विश्वं विषयविरहितः सर्वकर्ता करोति।
न प्रत्यक्षं परोक्षं विषयविरहितस्यास्य कर्तुः प्रमाणं
संयोगादेव सर्वं भवति नरपते नेच्छया कर्मरूपम् ॥ १६९ ॥

इह यदि खे आकाशे पृथिव्यादिपरमाणवो न सन्ति कर्तुरादौ, तदा द्रव्याभावे न विश्वं करोति। विषयविरहितो निष्कलः, सर्वकर्ता कथम्? अस्य विषयविरहितस्य कर्तुः साधकं न प्रत्यक्षं परोक्षं प्रमाणं यस्मात्, तस्माद् द्रव्यसंयोगादेव सर्वं विश्वं चराचरं भवति, नेच्छया कर्तुः कर्मरूपमिति न्यायः; इतीच्छाप्रतिषेधः कर्तुः।

१. ग. शुक्र०।

२. ख. प्रणिधान। ३-४. भो. Byed Pa Po Med Par (कर्तारं विना)।

इदानीं प्रतीत्योत्पाद उच्यते संयोगादित्यादि—

संयोगादिन्दुकान्तेर्भवति च सलिलं दर्पणे वस्तुबिम्बं
जिह्वाश्रा(स्रा)वोऽम्लहेतोः स्वरवत इतरः शुद्धबीजाङ्कुरः स्यात् ।
कान्ताच्चायःशलाकाभ्रमणमपि भवेन्नेच्छया किञ्चिदेषां
वस्तूनां शक्तिरेषा त्रिभुवननिलये निर्मिता केनचिन्न ॥ १७० ॥

इह सर्ववस्तूनां संयोगादुत्पादः—इदं प्राप्य इदमुत्पद्यते । संयोगादिति चन्द्रकिरणसंयोगाच्चन्द्रकान्तेर्भवति च सलिलम्, चकारात् सूर्यकान्तेरग्निर्भवति । दर्पणे वस्तुसंयोगात् वस्तुप्रतिबिम्बो भवति । अन्यस्याम्लभक्षणसंयोगादन्यस्य जिह्वाश्रा(स्रा)वो भवति, अम्लहेतोः सकाशादिति । कूपादौ स्वरवसंयोगात् प्रतिरवो भवति । शुद्धबीजेऽङ्कुरः स्यात्, पृथ्वीतोयादिसंयोगादिति । कान्तादिति कान्तपाषाणात् अयःस(श)लाकाभ्रमणं भवति, संयोगादिति । नेच्छया किञ्चिदेषां वस्तूनां वस्तु भवति, किन्तु वस्तूनां शक्तिरेषा । त्रिभुवननिलये निर्मिता केनचिन्नेति प्रतीत्योत्पादः सिद्धः ।

आह—इह कारणेन विना कार्यं न भवति यस्मात् तस्मात् कारणमस्तीति, अत ईश्वरादिकं सिद्धमिति ।

आह—इह कारणे कार्यं यद् भवति, तत् किं सत्कार्यम्, असद् वा ? कारणे सत्कार्यं न भवति, विद्यमानस्य घटस्य मृदादयः कारणभूता न भवन्ति, सत्त्वात्; असत्कार्यं न असत्त्वात्, कूर्मरोमवत्, तथा पटस्य [त]न्तु[तु]रीवेमादयः कारणभूता न भवन्ति । उभयात्मकं कार्यं न भवति, परस्य(परस्पर)विरोधात् । यत् सत् तदसन्न भवति, यदसत् तत् सन्न भवति, विरोधात् । अतो न सत्कार्यम्, नासत्कार्यम्, न सदसत्कार्यं[1] कारणे भवतीति सिद्धम् ।

आह—इह कारणस्य प्रतिषेधेन कार्यस्यापि प्रतिषेधो भवति; उभयप्रतिषेधात् सर्वाभाव इति सिद्धम् ।

आह—इह सर्वाभावो न, परापेक्षिकत्वादिति[2] । इह कारणे यत् कारणत्वं तत् कार्यमपेक्ष्य परिकल्प्यते, कार्यं च कारणमपेक्ष्य; एवं परापेक्षिकत्वादुभयोरपि कारणत्व- T 334
प्रसङ्गः । उभयस्य कारणत्वात् कार्याभावः, तदभावे कारणाभावः, कारणस्य[156b] कार्यपेक्षिकत्वाद् अनियतत्वप्रसङ्गः[3] । तस्माद् अनियतत्वाद्[4] अकारणत्वप्रसङ्गः । एवं सर्वेषामीश्वरादीनां कारणानाम् अनियतत्वम्[5] अकारणत्वं सिद्धम् ।

आह—नापेक्षिका सिद्धिः कारणस्य च; यत् कारणं तत् कारणमेव, यत् कार्यं तत् कार्यमिति सिद्धम् ।

---

१. ग. पुस्तके नास्ति । २. ख. परोक्षिकत्वात् । ३. क. ख. ग. अनित्यत्वप्रसङ्गः; भो. Nes Pa Med Pa Ñid (अनियतत्व) । ४. क. ख. ग. अनित्यत्वाद् ।
५. क. ख. ग. अनित्यत्वम् ।

आह—इह तवेच्छातः सिद्धिर्न ममेति वैषमिकत्वम्। यदीच्छातः सिद्धं भवति, तदा ममापीच्छातः। यत् तव[1] सत्[2] तद् ममासत् सिद्धम्, युक्तिविर्वजितत्वात्।

आह—आप्तागमादस्माकं समय एषः। समयोऽसिद्धः। समय इति वक्तुं न लभ्यते, उक्तं शास्त्रविद्भिरिति।

आह—कदाचिद् युक्तिरुच्यते। इह उपादानकारणात् सर्वसम्भवाभावात् शक्तस्य शक्यकरणात् सत्कार्यसिद्धिरिति।

आह—इह युष्माकं हेतुर्वृथा। कथम्? यदि तव पक्षस्य (पक्षः) साधकलक्षणप्राप्तः, तदा ममापि पक्षं साधयिष्यति। अथ दूषणलक्षणप्राप्तस्तव पक्षस्य (पक्षः), तदा ममापि पक्षं दूषयिष्यति, यथाग्निरुभयदाहको नासावेकस्येति।

इह यथा शब्दवादिनां प्रतिज्ञा—नित्यः शब्दः; को हेतुः? अमूर्तत्वादिति। को दृष्टान्तः? आकाशवत्; यथा आकाशममूर्तत्वान्नित्यम्, तथा शब्दोऽपि यस्मात् तस्मात् शब्दो नित्यः सिद्ध इति।

आह—नेयं प्रतिज्ञा, परोऽपि वक्ष्यति—अनित्यः शब्दः। को हेतुः? कृतकत्वादिति। को दृष्टान्तः? घटवत्; यथा घटो मृद्दण्डचक्रसूत्रपुरुषहस्तव्यायामात् कृतकः, तथा शब्दोऽपि कण्ठताल्वादिभिः प्रयत्नतो जनितो यस्मात् तस्मादनित्यः शब्दः सिद्धः। अतो हेतुव्यपदेशमात्रतः कार्यसिद्धिर्न भवति। यस्तु याथातथ्यं ब्रूयात्, तत् प्रमाणं स्यान्न हेतुव्यपदेशत इति। एवं हेतुर्वृथा। अन्यच्च; साध्यानां प्रतिज्ञाविरोधेन हेतुः साधको न भवति। इह यस्मिन् काले प्रतिज्ञा तस्मिन् काले हेतुर्नास्ति; यस्मिन् काले हेतुस्तस्मिन् काले प्रतिज्ञा नास्ति। अथ कस्यासौ हेतुः प्रतिज्ञया विना अयुगपद्धर्मित्वात्। यस्मिन् काले 'प्र'कारस्तस्मिन् काले न 'ति'कारो 'ज्ञा'कारश्च। एवं पकाररेफाकाराः, यथा 'प्र'कारस्याक्षराक्षरस्य। न ह्यजातेन मृतेन वा पुत्रेण पुत्रकार्यं कर्तुं शक्यते, एवं हेतुनापि। तस्मात् कारणोपलम्भात् कार्यं न भवति, अहेतुतः सिद्धत्वात्। अहेतुत इति हेतुः कारणमित्यनर्थान्तरम्। एवं न कारणे कार्यम्, नाप्यहेतुतः कार्यं भवति; अतः कार्यं स्वतो न भवति, परतो न भवति, उभयतो न भवति, अहेतु[157a]कं न भवतीति सिद्धं कर्तृकारणनित्यदूषणमिति।

इदानीमात्मनो दूषणमुच्यते यदीत्यादि—

यद्यात्मा सर्वगः स्यादनुभवति कथं बन्धुविश्लेषदुःखं
नित्यश्चायं यदि स्यान्मदनशरहतोऽवस्थतां किं प्रयाति।
यद्यासीत् सक्रियश्च व्रजति कथमिमां मूढतां सुप्तकाले
एवं वै सर्वगः स्याद् विभुरपि च पुरा सक्रियोऽयं न चात्मा ॥१७१॥

१-२. ख. यत् तदसत्।

इह **यद्यात्मा सर्वगः स्यादनुभवति कथं बन्धुविश्लेषदुःखमिति।** इह य आत्मा सर्वगः स एको भवति, तस्य बन्धुविश्लेषदुःखं न भवतीति। एकसत्त्वस्य दुःखेन सर्वसत्त्वानां दुःखं भवति, आत्मनः सर्वगत्वादिति। अथानेकात्मानः, तदा अनेकात्मनां सर्वगत्वाभाव इति। **नित्यश्चायं यदि स्याद्** [1]**मदनशरहतोऽवस्थतां किं प्रयातीति।** इह यो नित्यस्तस्यावस्थान्तरं नास्ति, विकाररहितत्वादिति, तत् कथमिमां कामावस्थां दशविधां मदनशरहतो गच्छतीति; तस्मादात्मनाऽनित्येन भवितव्यम्, विकारसंयोगादिति। **यद्यासीत् सक्रियश्च व्रजति कथमिमां मूढतां सुप्तकाले इति।** इह यद्यासीत् काले [2]जाग्रदवस्थालक्षणो सक्रियः, चकारान्नित्यश्च, तदा सुप्तकाले मूढतां क्रियारहितः(ततां) कथं व्रजतीति। **एवं वै** एकान्तं विचार्यमाणः **सर्वगः स्यान्न विभुरपि च स्वामी नित्यो न सक्रियो यन्न** चात्मा इति सिद्धम्।

इदानीं बुद्धभगवतः प्रवचनमुच्यते **नास्त्यात्मेत्यादि**—

नास्त्यात्मा सम्भवो वास्त्यशुभशुभफलं चास्ति कर्त्रा विहीनं
गन्ता नास्त्यस्ति मोक्षाय गमनमखिलं चास्ति बन्धो न बध्यः।
भावोऽभावोऽपि चास्ति क्षणिकविरहितो निःस्वभावो भवोऽस्ति
एतन्मे सत्यवाक्यं सुरफणिवचनैः संग्रहैर्हन्यते न ॥१७२॥

इह प्रतीत्यसमुत्पन्नधर्माणां निरोधादुत्पाद उत्पादान्निरोधः। एवं निरोधधर्मणा**मात्मा नास्ति,** आत्मी[157b]याभावात्। उत्पादधर्माणां **सम्भवोऽस्ति,** पुनर्जन्मग्रहणात्। स्वाध्यायादिदृष्टान्तैरेषां सिद्धिरिति वक्ष्यमाणे वक्तव्या। **अशुभशुभफलं चास्तीति** उत्पादधर्माणां शुभाशुभफलमस्ति, निरोधधर्माणामभावेन। **कर्त्रा विहीनं** कर्त्रा विनेत्यर्थः। **गन्ता नास्ति** निरोधधर्मसमूहः, **मोक्षाय** च **गमनमस्ति,** "अन्येषामन्यत् तद्रूपम्" इत्यादिवचनात्; **अखिलं** समस्तम्। **अस्ति बन्धो न बध्य** इति, इहोत्पादधर्माणां बन्धोऽस्ति, बध्यो निरोधधर्मो(धर्माणां)[3] नास्ति। **भावोऽभावोऽपि चास्ति क्षणिकविरहितो निःस्वभावो भवोऽस्तीति।** इह भावाभावैकलोलीभूतो निःस्वभावो द्रव्यविकल्परहितः प्रतिसेनातुल्यः क्षणिकविरहित उत्पादव्ययरहितो भावो बुद्धानां धर्मचक्रप्रवर्तनायास्तीति। **एतन्मे** सर्वग्रहविनिर्मुक्तं **वचनं** यत् तत् **सुरफणिवचनैः संग्रहैर्हन्यते न।** इह यथा ग्रहग्रस्तो मल्लो ग्रहमुक्तमल्लं हन्तुं न शक्नोति, तथा विकल्पग्रहग्रस्तो(स्ता) विकल्पग्रहमुक्तं हन्तुं न शक्नुवन्तीति नैरात्म्यादिसिद्धिः संक्षेपेणात्रोक्ता, विस्तरो विस्तरागमेन ज्ञेय इति नियमः।

इदानीं वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचार-मतदूषणमुच्यते **यस्तत्त्वमित्यादि**—

यस्तत्त्वं पुद्गलाख्यं वदति तनुगतं तत्स्वभावात् स नष्टः
संवृत्या चार्थवादी त्वविदितपरमार्थो ह्यसन्मन्यमानः।

---

१. क. ख. मदनसर०। २. भो. Sad Pa (जाग्रत)
३. भो. ḥGog Paḥi Chos rNam La (निरोधधर्माणाम्)।

विज्ञानं मन्यमानस्त्रिभुवनसकलं चैव विज्ञानवादी
योऽनष्टो नष्टपक्षः स भवति करुणाशून्यताद्वैतवादी ।।१७२।।

इह तीर्थिकबौद्धानामेषां पक्षग्रहः, तेन स्वपक्षग्रहेण परपक्षस्यापि ग्रहणं भवति, तद्धर्मेण तद्वैधर्म्येण वा तेषां बालमतीनाम्। इह **वैभाषिको यस्तत्त्वं पुद्गलाख्यं वदति तनुगतं तत्स्वभावात् स नष्ट** इति। इह यदि पुद्गलान्तर्वर्ती उपपत्त्यङ्गिकः पुद्गलोऽस्ति, तदा स्वभावो वाच्यः, किं ज्ञानस्वभावोऽज्ञानस्वभावो वा ? यदि ज्ञानस्वभावस्तदाऽनित्यः,
T 335 इह घटज्ञाने निरुद्धे पटज्ञानमुत्पद्यते, अतोऽनित्यः। अथ ज्ञानस्वभावस्तदाऽज्ञानस्य सुख-[158a]दुःखाभावः। अतस्तत्स्वभावाद् विचार्यमाणः स नष्टो वैभाषिक इति।

इहास्ति पुद्गलो भारवाहो 'ण णिव्वं (च्चं) भणामि, णाणिव्वं (च्चं) भणामो' ति। यद् भगवतो वचनं तद् ज्ञानपटले विस्तरेण वक्तव्यमिति। **संवृत्या चार्थवादी त्वविदितपरमार्थो ह्यसन्मन्यमान** इति। इह संवृत्या नीलाद्यर्थग्रहार्थवादी नष्टः। कथम् ? अविदितपरमार्थो ज्ञानकायो हि असन् वन्ध्यापुत्रवद् मन्यमानः; तथाह—

"आकाशं द्वौ निरोधौ च नित्यं त्रयमसंस्कृतम्।
संस्कृतं क्षणिकं सर्वमात्मशून्यमकर्तृकम्।।

अक्षजा धीरनाकारा साक्षाद् वेत्त्यणु[1]सञ्चयम्।
स्यात् काश्मीरमताम्भोधिवैभाषिकमतं मतम्।। इति।

स्वा(सा)कारज्ञानजनका दृश्या ते(ने)न्द्रियगोचराः।
वन्ध्यासुतसमं व्योमनिरोधौ व्योमसन्निभौ।।

संस्कारा न जडाः सन्ति त्रैकाल्यानुगमो न च।
असदप्रतिघं रूपमिति सौत्रान्तिका विदुः।।" इति।

[ ]

अतोऽप्रतिघं रूपं त्रैकाल्यवेदकम्। यदि प्रदीपनिर्वाणसमम्, तदा अप्रतिघरूपे असति सर्वज्ञो न भवति; चतुर्भिः कायैर्विना प्रादेसि(शि)ककायेन बुद्धत्वं न भवति। इहाप्रतिघकायेन विना बुद्धस्य सर्वाकारऋद्धिदर्शनं न स्यात्, सर्वरुतवचनं न भवति, परचित्तज्ञानं च न प्रवर्तते, दिव्यचक्षुरादिकं सर्वं निष्फलं भवतीति सौत्रान्तिकग्रहदोषः।

इदानीं योगाचाराणां ग्रहदोष उच्यते—

विज्ञानं मन्यमानस्त्रिभुवनसकलं चैव विज्ञानवादीति; आह—

"न सन्नवयवी नाम न सन्तः परमाणवः।
प्रतिभासो निरालम्बः स्वप्नानुभवसन्निभः।।

ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् विज्ञानं परमार्थसत्।
योगाचारमताम्भोधिपारगैरिति गीयते।।"

[ ]

१. क. ख. साक्षाद्वेदाणु०; भो. Phra Rab....Rig (०वेत्त्यणु०)।

अतो विज्ञानविचारेणैकानेकस्वभावेन विज्ञानवादिनो नष्टा वियोगत इति। इह विज्ञानमात्रं त्रैधातुकम्। यदि ज्ञानादन्यद् बाह्यवस्तुरूपं[1] नास्ति, तदा चक्षुर्विज्ञानस्य ग्राहकस्य बाह्यरूपं कथं ग्राह्यस्वभावेन प्रतिभासत इति ?

आह—अविद्यावासनावसे(शे)नेति।

आह—किमियमविद्याऽपगमो[2] नास्ति विज्ञानस्य ? अविद्या[3] त्रैधातुकलक्षणा न भवति ? यद्यविद्या त्रैधातुकलक्षणा न भवति, तदा संसारातीतलक्षणा भवति, एवं प्रज्ञापारमितेयम्। न चैवम्; तस्मादियमविद्या संसारवासना, संसारोऽपि त्रिभुवनलक्षणः, त्रिभवं त्रैधातुकम्, त्रैधातुकं[4] च विज्ञानमात्रम्। एवमविद्या विज्ञानमात्रा, विज्ञानमात्रं तदात्मकत्वम्, तदात्मि(त्म)कत्वादविद्याऽपगमो नास्ति, विज्ञानस्याविद्यामात्रतः। अथ विज्ञानमात्रं त्रैधातुकं न भवति,तदा प्रतिज्ञाहानिरिति त्रैधा[158b]तुकमात्रत्वमसिद्धम्।

इदानीं क्षणभङ्गोत्पाददोष उच्यते—

इह यो धर्माणामेकक्षणाद् भङ्गोत्पादो भवति, स किं स्थित्या विना ? यदि स्थित्या विना भङ्गोत्पादश्च भवति, तदा शशविषाणस्यापि भविष्यति। अथ उत्पादात् स्थितिः, स्थितेर्भङ्गो भङ्गादुत्पादः, एवं स्थितिभङ्गोत्पादानामेकत्वं नास्ति, भिन्नलक्षणेन भवितव्यम्। इह यस्मिन् काले स्थितिस्तस्मिन् काले नोत्पादभङ्गौ, यस्मिन् काले भङ्गस्तस्मिन् काले नोत्पादस्थिती, यस्मिन् काले उत्पादस्तस्मिन् काले न स्थितिर्न भङ्गः। काल इति क्षणः, सत्येककाले जातिजरामरणानामैक्यमिति।

किञ्चान्यत्। इह य एकक्षणे भङ्गोत्पादो धर्मस्य, स किं पूर्वधर्मनिरुद्धादपरधर्मोत्पादः, अथानिरुद्धधर्मात् ? यदि निरुद्धधर्मादुत्पादस्तदा निरुद्धप्रदीपादपरप्रदीपोत्पादः, अथानिरुद्धादुत्पादस्तदा अनिरुद्धात् प्रदीपात्[5] प्रदीपोत्पादवत् तस्मादपरोत्पादः; एवमुत्पादादुत्पादेन प्रदीपमाला इव विज्ञानमाला भवति। अतः पूर्वविज्ञानस्य निरोधादपरस्योत्पादो वक्तुं न शक्यतेऽनिरुद्धादपि, न मिश्रात्, परस्परविरोधेन [6]तयोरेकत्वाभाव इति। अतो माध्यमिक आह—

"नेष्टं तदपि धीराणां विज्ञानं परमार्थसत्।
एकानेकस्वभावेन वियोगाद् गगनाब्जवत्॥
[159a] न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥" इति।

योऽनष्टो नष्टपक्षः स भवति। कोऽसौ ? करुणाशून्यताद्वैतवादी यः। इह यस्य करुणा निरालम्बा विकल्परहिता शून्यता सर्वाकारवरोपेता त्र्यध्ववर्तिनी त्र्यध्वपरिज्ञानाय इति बौद्धसिद्धान्तनियमः।

१. क. ख. बाह्यरूपं।

२-३. क. ख. भो. पुस्तकेषु 'अपगमो''''अविद्या' इत्यंशो नास्ति। ४. क. ख. भो. पुस्तकेषु नास्ति। ५. ग. पुस्तके नास्ति। ६. क. ख. तत्ता।

इदानीं पूर्वकर्मोपभोगवर्तमानकर्मसञ्चयप्रतिषेध उच्यते जन्तुरित्यादि—

जन्तुः पूर्वाणि कर्माण्यनुभवति कृतान्यैहिकान्यन्यजात्या
यद्येवं कर्मनाशो न हि भवति नृणां जातिजात्यन्तरेण ।
संसारान्निर्गमः स्यादपरिमितभवैर्नैव मोक्षप्रवेश
एतद् वै तायिनां तु प्रभवति हि मतं चान्यजातिप्रहीणम् ।।१७४।।

इह येषां[1] मतं जन्तुः पूर्वकृतानि कर्माणि भुङ्क्ते इह जन्मनि कृतान्यन्यजात्यामिति; यद्येवं तदा कर्मनाशो न हि भवति नृणां जातिजात्यन्तरेण, कर्मफलोपभोगत[2] इति । एवं न[3] संसारान्निर्गमः स्यादपरिमितभवैर्नैव मोक्षे प्रवेशो भवतीति । एतद् वै तायि(जि)[4]नां प्रभवति हि मतम्, किन्तु अन्यजातिप्रहीणमिति तायि(जि)नां म्लेच्छानां मतम् । मनुष्यो मृतः स्वर्गे वा नरके वा अनया मनुष्यमूर्त्या सुखं वा दुःखं वा भुङ्क्ते रह्मणो[5] नियमेनेति । अतोऽन्यजातिप्रहीणमिति नियमः ।

इदानीं चार्वाकमतदूषणमुच्यते भूतैरित्यादि—

भूतैर्यद्येकभूतैः प्रभवति मदिराशक्तिवत् साक्षिचित्तं
वृक्षाणां किन्न हि स्यात् क्षितिजलहुतभुग्मारुताकाशयोगात् ।
नास्त्येषां जन्तुशक्तिस्त्वथ परममृषा भूतसंयोगशक्ति-
रेतच्चार्वाकवाक्यं न हि सुखफलदं मार्गनष्टं नराणाम् ।।१७५।।

इह पूर्वोक्तैर्भूतैः पृथ्व्यादिभिरेकीभूतैर्यदि हरीतकीगुडधातकीसंयोगेन मदिराशक्तिवत् सेन्द्रियं चित्तं नराणामिति सिद्धम्, तदा वृक्षाणां पृथ्व्यादिभिरेकीभूतानां किन्न भवति सेन्द्रियं चित्तमिति भूतसंयोगात् । अथैषां स्थावराणां जन्तुशक्तिर्नास्तीति, तदा परममृषा भूतसंयोगशक्तिरिति; तस्मादेतच्चार्वाकवाक्यं न हि सुखफलदं मार्गनष्टं नराणामिति लोकायतमतदूषणनियमः ।

[159b] इदानीं क्षपणकमतदूषणमुच्यते जीव इत्यादि—

जीवः कायप्रमाणो यदि करचरणच्छेदनान्नस्य(श्य)ते किं
नित्यः कायप्रभावादणुरपि च भवेत् स्थूलतां किं प्रयाति ।
संसारात् कर्ममुक्तो व्रजति सुखपदं यत् स्थितं लोकमूर्ध्नि
त्रैलोक्यं चाणुभिर्यद् रचितमपि सदा शाश्वतं तन्न कालात् ।।१७६।।

---

१. क. ख. एषां । २. ख. ०भोग । ३. क. पुस्तके नास्ति । ४. भो. sTag gZig (तग् ज़िग्) । ५. क. रवनणो; भो. Rahma Ṇa (रह्मण) ।

इह क्षपणकसिद्धान्ते **जीवो** नित्यः, स च **कायप्रमाण** इति सिद्धम्, इति **चेत्**, तदा कायावयवे **करचरणादौ छिन्ने** सति किं **विनस्य(श्य)ते**, छिन्नावयवमूर्तेरभावादिति। **नित्यः कायप्रभावादणुरपि च भवेत्**, सूक्ष्मकायग्रहणात्, स्थूलकायग्रहणात्[1], **स्थूलतां किं प्रयातीति**? इह यो नित्यः सोऽविकारी, यो विकारी सोऽनित्यः सिद्ध इति।

आह—द्रव्यपर्यायाभ्यां नित्यानित्यमिति **स्याद्वादः**।

आह—इह यथा सुवर्णं कुण्डलाभ्यां नित्यानित्यम्, तथा द्रव्यपर्यायाभ्यां जीवद्रव्यं नित्यं विकारोऽनित्य इति, तथा च **स्याद्वादः**। T 336

''कथेइ जीवो होइ वलिओ कथेइ कम्माइ भोन्ति वलिआइ।
जीवस्य(स्स)अ कम्मस्य(स्स)अ पूर्वं(पुब्ब)णिबर्द्धा(णिबद्धा)इ वे(वे)राइ॥ इति।

अस्या गाथाया अर्थमाह—कुत्रचिदिति[2]। मोक्षविषये जीवो बलवान्, कैवल्यज्ञानबलेन। कुत्रचिच्चतुर्गतिसंसारविषये कर्म बलवत्, अज्ञानबलेन; एवं जीवस्यापि कर्मणश्च पूर्वाऽनादिकालनिबद्धानि वैराणीति सिद्धम्। एवं द्रव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इति नान्यथा सिद्धिरिति सिद्धान्तः।

आह—द्रव्यपर्याययोरेकत्वमन्यत्वं वा? इह यद्येकत्वम्, तदा द्रव्यपर्याययोर्भेदो नास्ति; अथान्यत्वम्, तदा द्रव्यैर्विना पर्यायो भवति, न चैवं दृश्यते सूत्रैर्विना पटः। एवं जातिव्यक्त्योरपि नित्यानित्यसंयोगदोष इति। नित्यानित्ययोरेकत्वं नास्ति, परस्परविरोधात्, असदृशसदृशयोर्यथा। अतो जीवजात्यादिद्रव्यमनित्यमिति सिद्धम्।

तथा **संसारात् कर्ममुक्तो व्रजति सुखपदं यत् स्थितं लोकमूर्ध्नीति**। इह क्षपणकसिद्धान्ते एकमेव त्रिभुवनम्, द्वितीयं नास्ति; तेनेदं त्रिभुवनम् अनादिनिधनमुत्पादव्ययरहितं सर्वं वज्रमयं न कदाचित् क्षयं यास्यतीति। यद्यस्य भुवनस्य क्षयो भवति, तदाऽन्यत्रिभुवनाभावात् सर्वे प्राणिनः कुत्र स्थास्यन्ति। तेन कारणेनेदं नित्यम्; जीवोऽपि नित्यः संसारात् कर्ममुक्तः सन् व्रजति मोक्षं पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षं **सुखपदम्**, पुद्गलरहितमिति सिद्धम्।

आह—इह **त्रैलोक्यम् अणुभिर्जातम्**, **नाणुभिर्विना**, **चकारान्मोक्षोऽपि**, **तत् कथं नित्यं भवति, यदणुभी रचितमपि शाश्वतमपि नित्यं सदा** सर्वकालं न भवति, संहारकालवशात् क्षयं यास्यतीति। तत्क्षयात् सिद्धान्तानामपि क्ष[160a]यो भविष्यतीति सिद्धमिति न्यायात्।

किञ्चान्यत्। इह पूर्वोक्तानां षड्जीवकायलेश्यानां[3] मध्ये वनस्पतीनां जीवः; स किं प्रत्येकवनस्पतिकाय एकः सुखं दुःखं वा कर्मवशेनानुभवति, अथानेक इत्याह—

१. क. ख. पुस्तकयोर्नास्ति। २. क. ख. क्षत्रविदित०।
३. क. ख. ०जीवकापरेशानां।

एको जीव एकं पुद्गलं गृह्णाति यस्य प्रभावेन वनस्पतीनां स(श)स्यादीनां जीवितसंज्ञा। यदि जीवो नास्ति, तदा पादप इति कथं सिद्धम्। न चाजीवाः काष्ठा उदकं पीत्वा पुष्पादि ऋतु प्रकुर्वन्तीति सिद्धम्।

आह—यदि इह प्रत्येकपुद्गले प्रत्येकम् एकैको जीवः, तदा इक्षुदण्डे खण्डे खण्डे कृतेऽनेकखण्डानि भवन्ति; तेषां मध्ये एकस्मिन् खण्डे स जीवो नित्यः कर्मवशात् सङ्कुचन् प्रविष्टः। कानि तेन परित्यक्तानि न चैवं युक्त्या घटते। विचार्यमाणः कुतो यतस्तेषां पुनर्भूम्यामारोपितानामङ्कुरादिकं प्रत्येकखण्डे दृश्यते। तस्माद् वस्तुस्वभावो वनस्पतीनाम्[1] अङ्कुरादिशक्तिरिति सिद्धम्[2]। इति क्षपणकमतदूषणनियमः।

विस्तरोऽनेकोऽनेकप्रमाणशास्त्रेण मध्यमकेन निराकरणीयस्तीर्थिकानां सिद्धान्तः। यः संवृत्या विवृत्या वा सम्बुद्धवचनसमः, स न दूषणीय इति कालचक्र आदिबुद्धभगवतो नियमः*। तद्यथा—

इत्यादिज्ञानहेतोः प्रकटयति महौ देशनां कालचक्रः
पुंसां चित्तानुसारां मृदुकठिनपरां वासनाया बलेन।
चित्तं वै भावरागैः स्फटिकवदुपधाद् रागतां याति यस्मात्
तस्माद् धर्मो न कश्चित् स्वपरकुलगतो योगिना दूषणीयः ॥१७७॥

१-२. क. वनस्पतोनाम् अङ्कुरादिकं प्रत्येकखण्डे दृश्यते, तस्माद् वस्तु स्वशक्तिरिति सिद्धम्।

* कालचक्रतन्त्रस्य तट्टीकाया विमलप्रभायाः किमभिप्रायकमिदं वचनद्वयम्, यथा 'यः संवृत्या विवृत्या वा सम्बुद्धवचनसमः, स न दूषणीय इति कालचक्र आदिबुद्धभगवतो नियमः' इति। 'तस्माद् धर्मो न कश्चित् स्वपरकुलगतो योगिना दूषणीयः' (मूले २.१६६) इति च।

वचनाभ्यामेताभ्याम् आपाततः परमतं नैव कालचक्रिणा दूषणीयमित्याभाति। एवं सति प्रर्वतमानेऽस्मिन् स्वपरविचारन्यायमहोद्देशे कथमिह परमतखण्डनं कृतं मूले टीकायां च, कथं चोक्तम् एतन्महोद्देशावसाने टीकायाम्—'मध्यमकेन निराकरणीयस्तीर्थिकानां सिद्धान्तः' इति। आपाततः प्रतीयमानस्यैतद्विरोधस्य निराकरणं भवति खेस् ड्ब जे महाभागानां स्वाभिप्रायाविष्करणेन। तैरुक्तम्—

"Mu sTegs Pa dGag Pa rGya Chen Po rNam Pa Du Mar Tshad Maḥi bsTan bCos Du Ma Daṅ dBu Ma Pas gS̄uṅ Lugs Du Mar bsTan Pa Dag Gis Mu sTegs Pa rNams Kyi Grub Paḥi mThaḥ Sun dByuṅ Bar Bya sTe. Mu sTegs Las gS̄an Pa Gaṅ S̄ig Kun rdZob Bam Don Dam Pa Saṅs rGyas Kyi gS̄uṅ Daṅ mTshuṅ Pa sMra Ba De Ni Sun dByuṅ Bar Mi Byaḥo". (ḥGrel Chen Dri Med Hod ḥGrel bS̄ad, 'Ga', page 208B).

धर्मः सत्त्वोपकारो विषयविरहितश्चापकारोऽप्यधर्मः
हिंसा वेदप्रमाणा न हि सुखफलदा दुःखदा सर्वकालम् ।
सन्मैत्री मूर्खवाक्यात् परमसुखकरा सर्वसत्त्वानुरक्ता
तस्मात् सत्त्वार्थमेकं कुरु नृप मनसा भावनां निःस्वभाव(ा)म् ॥१७८॥

इन्द्रोऽहं स्वर्गलोके त्रिदशनरगुरुर्भूतले चक्रवर्ती
पा[160b] ताले नागराजः फणिकुलनमितः सर्वगश्चोत्तमोऽहम् ।
ज्ञानं बुद्धो मुनीन्द्रोऽक्षरपरमविभुर्योगिनां वज्रयोगो
वेदोऽङ्कारः पवित्रो व्रज मम शरणं सर्वभावेन राजन् ॥ १७९ ॥

इति शरणनियमः ।

इदानीं* सूर्यरथस्य नमस्कारः—

त्वं माता त्वं पिता त्वं जगति गुरुरपि त्वं च बन्धुः सुमित्रं
त्वं नाथस्त्वं विधाता हित(हि त्व)मघहरण त्वं पदं सम्पदां च ।
त्वं कैवल्यं पदं त्वं वरगुणनिलयो ध्वस्तदोषस्त्वमेव
त्वं दीनानाथ चिन्तामणिरपि शरणं त्वां गतोऽहं जिनेन्द्र* ॥१८०॥

इति श्रीमदादिबुद्धोद्धृते श्रीमहाकालचक्रे[1]
अध्यात्मनिर्णयो द्वितीयपटलः[2] ॥२॥

इति सूर्यरथो गुरुनमस्कारेण मञ्जुश्रियं भगवन्तं स्तुत्वा पादद्वयं शिरसि कृत्वा पुनः स्वकीयासने निषन्नः(ण्णः) ।

इति श्रीमूलतन्त्रानुसारिण्यां[1] लघुकालचक्रतन्त्रराजटीकायां
द्वादशसाहस्रिकायां विमलप्रभायां
स्वपरदर्शनन्यायविचारमहोद्देशः सप्तमः[2] ॥७॥

समाप्तेयं टीका अध्यात्मपटलस्येति ॥२॥

उपरिलिखितभोटांशस्य संस्कृतानुवादः—

"प्रमाणशास्त्रेषु माध्यमिकशास्त्रेषु वा निर्दिष्टैर्विस्तृतदूषणप्रकारैस्तैर्थिकाः दूषणीयाः । तैर्थिकेतरे ये संवृतिं वा परमार्थं वा अङ्गीकृत्य बुद्धवचनानुसारेणैव स्वपक्षं स्थापयन्ति, ते नैव दूषणीयाः" ।

१. क. श्रीमहाकालचक्रतन्त्रराजे । २. क. द्वितीयः पटलः ।

श्रीमत्तन्त्रे प्रथमपटले भाजनीभूतलोकः
स्पष्टोद्दिष्ट[ः] प्रभवलयसंस्थानमानादिभेदाः (दः)।
तैस्तैस्तुल्या स्वतनुरतुला स्पष्टदृष्टार्थतत्त्वै-
र्ज्ञेया कैश्चिद् यदिह पटले मुद्रया मुद्रितेव ॥
अध्यात्मनिर्णयकरं पटलं विल्ले(लि)ख्य
श्रीआवुकेन कुशलं यदिहाप्तमुच्चम् ।
तेनास्तु सेकसुखनिर्णयकल्पराज-
बोधिप्रतिष्ठितमतिः सकलोऽपि लोकः* ॥

॥ ॥ शुभम् ॥ ॥

-. 'इदानीं सूर्यरथस्य नमस्कारः' इत्यारभ्य 'त्वं माता त्वं पिते'त्यादिसम्पूर्णः श्लोकः प्रवर्तमानविषयसन्दर्भाद् बहिर्गत इव प्रतीयते, अथापि द्वितीयपटलस्य अन्तिमश्लोकत्वेन १८०तमसंख्यापूरकत्वेन पुस्तकेषु कथं गृहीत इति जिज्ञासासमाधानान्वेषणे आचार्य-खेस्-ड्रुब जे महाभागोऽपि बहिर्गतमेव स्वीकरोतीति ज्ञात्वाऽत्र तदुपन्यस्यते भोटभाषया; उक्तं हि तैः—

"De La Ye Śes Leḥuhi Tshigs bCad Ñis brGya lÑa bCu rTsa gÑis Pa Man Chad bCu Daṅ. Naṅ Leḥi Tshigs bCad Tha Ma sTe bCu gCig Pa De Ni Grags Pa Daṅ Ñi Maḥi Śiṅ rTaḥi gSuṅ Yin Gyi rTsa Baḥi rGyud Las bTus Pa Ma Yin Pas". (ḥGrel Chen Dri Med Hod ḥGrel bŚad, 'Kha' page 35).

उपरिलिखितभोटांशस्य संस्कृतानुवादः—

"तत्र ज्ञानपटलस्य द्विपञ्चाशदुत्तरद्विशततमकारिकातः समाप्तिपर्यन्तं दश-कारिकाः, अध्यात्मपटलस्य अन्तिमा कारिका च, इमा एकादशकारिका यशसः सूर्यरथस्य वा वचनानि सन्ति, न तु ता मूलतन्त्राद् उद्धृताः" ।

१. क. मूलतन्त्रा० । २. क. समासः ।

* द्वितीयपटलस्य पुष्पिकानन्तरं 'श्रीमत्तन्त्रे प्रथमपटले' इत्यारभ्य 'बोधिप्रतिष्ठितमतिः सकलोऽपि लोकः' इति पर्यन्तं श्लोकद्वयमन्यसंस्कृतप्रतिषु नोपलभ्यते; केवलं क. पुस्तके एव उपलभ्यते । मन्ये, लिपिकारेण स्वरचितं श्रद्धयाऽत्र निवेशितमिति ।

LIST OF PUBLICATIONS

CENTRAL INSTITUTE OF HIGHER TIBETAN STUDIES
SARNATH, VARANASI
1987

1. BIBLIOTHECA INDO-TIBETICA SERIES

1. Tibetan Reader by Tulku Dhondup — Rs. 15.00 HB; Rs, 10.00 PB
2. Abhisamayālaṅkāravṛttiḥ Sphuṭārthā by Ācārya Haribhadra (Tibetan Text, Sanskrit restoration) — Rs. 85.00 HB; Rs. 75.00 HB
3. Vajracchedikā Prajñāpāramtaisūtra (in Sanskrit, Hindi and Tibetan) with Commentary of Ācārya Asaṅga (Sanskrit text, Hindi Translation) — Rs. 60.00 HB; Rs. 45.00 PB
4. The Biography of Eightyfour Saints by Acārya Abhayadattaśrī (Tibetan Text, Hindi translation) — Rs. 150.00 HB; Rs. 130.00 PB
5. Vimalakīrtinirdeśasūtra (Tibetan Text, Sanskrit restoration and Hindi Translation) — Rs. 200.00
6. Nyāya Praveśa of Diṅnāga with Haribhadrasūri's Commentary (in Tibetan and Sanskrit) — Rs. 140.00 HB; Rs. 100.00 PB
7. Bodhipathapradīpaḥ of Ācārya Dīpaṅkaraśrījñāna. (Tibetan Text, Hindi, Sanskrit, English translation) — Rs. 70.00 HB; Rs. 50.00 PB
8. Śūnyatāsaptati of Nāgārjuna with Auto-Commentary (Tibetan Text, Sanskrit restoration and Hindi translation) — Rs. 90.00 HB; Rs. 65.00 PB
9. Bhāvanākrama of Ācārya Kamalaśīla (Tibetan text, Sanskrit restoration and Hindi translation) — Rs. 75.00 HB; Rs. 55.00 PB

10. Bodhipathapradīpaḥ of Ācārya Dīpankaraśrijñāna and Bodhipathakramapiṇḍārtha of Ācārya Tsong-Kha-pa (Hindi translation) — Rs. 1.71

11. Vimalaprabhāṭikā of Kalki Śrī Puṇḍarika on Śrī Laghukālacakratantrarāja by Śrī Mañjuśrīyaśa (Vol. 1) — Rs............

II. THE DALAI LAMA TIBETO-INDOLOGICAL SERIES

1. The Social Philosophy of Buddhism (in English) — Rs. 2.00

2. Buddha Samāja Darśana (in Hindi) — Rs. 1,00

3. Pratītyasamutpādastutisubhāṣitahṛdayam of Ācārya Tsoṅkhapa (Tibetan Text, Sanskrit, Hindi and English translation) — Rs. 60.00 HB, Rs. 45.00 PB

4. Dhammapada (Pali text, Sanskrit, Hindi, English and Tibetan transalation) — Rs. 75.00 HB, Rs. 55.00 PB

5. Bauddha Vijnānavāda : Cintana Evam Yogadāna — Rs. 45.00 HB, Rs. 35.00 PB

6. Viṃśati, Bhoṭa Upasarga Prakriyā by K. Angrup Lahuli (Stanzas of main Text in Tibetan and Auto-commentary in Hindi) — Rs. 55.00 HB, Rs. 45.00 PB

7. gTam-rGyud-gSer-Gye-Than-Ma of dGe-ḥDun-Chos-ḥPhel — Rs. 26,00 HB, Rs. 45.00 PB

III. SAMYAG-VAK SERIES :

1. Pratityasamutpāda (Collection of Essays) — Rs. 80.00 HB, Rs. 65.00 PB

2. Mādhyamika Dialectic and the Philosophy of Nāgārjuna (Collection of Essays) — Rs. 60.00 HB, Rs. 45.00 PB

IV. PROF. LAL MANI JOSHI : COMMEMORIAL LECTURE SERIES :

1. Naiḥśreyasa Dharma Rs. 5.00

V. THE RARE BUDDHIST TEXTS SERIES :

1. Dhiḥ (I) : A Review of rare Buddhist text Rs. 65.00



2. Dhıḥ (II) : A Review of rare Buddhist text Rs...........
Mañjuśri : an illustrated catalogue of rare thankas is also available. Rs. 160.00

All communications may please be addressed to :

THE EDITOR

Central Institute of Higher Tibetan Studies,

Sarnath, Varanasi-221007 (INDIA)

